गीता-दर्शन
अध्याय : १,२
भगवान श्री रजनीश

गीता-दर्शन के स्रोत

भगवान् श्री रजनीश परम-ज्ञान को उपलब्ध एक मुक्त चेतना हैं। वे प्रज्ञा के मूलस्रोत के साथ सदा एकरस रहते हैं। वे एक परमशून्य द्वार बन गये हैं, जिसमें से होकर ज्ञानोपलब्धि के विभिन्न मार्गों का उदय होता रहता है।

भगवान् श्री रजनीश एक परमसिद्ध सदगुरु हैं। इक्कीस वर्ष की छोटी उम्र से ही आप भगवत्स्वरुप हो गये हैं। वे [illegible] ही गये हैं। अब तो स्वयं भगवत्ता और भागवत चैतन्य ही उनसे आरपार होकर अपनी दिव्य लीलाएं करती है। प्रत्येक क्षण वे सहज समाधि में, निर्वाण में, परमशून्यता में ——अहंकार-मुक्त, आकाशवत् और दर्पणवत् जीते हैं।

उनके दिव्य जीवन व व्यक्तित्व का प्रकाश व उसकी सुगंधि दूर-दूर तक फैल रही है। सत्य के खोजियों के लिए तो वे एक तीर्थ ही हो गये हैं। उनके प्रेम में लोगों को परमात्मा का सान्निध्य अनुभव होता है और उनकी अमृत-वाणी सुनकर हजारों हृदयों को आध्यात्मिक-प्यास जगी है और प्रभु की ओर गतिमान हो रही है।

वे मनुष्य को उसकी मूर्च्छा और गहरी आध्यात्मिक-निद्रा से हिलाने और जगाने तथा आत्म-साधना और आत्म-जागरण की ओर अग्रसर करने के लिए सतत संलग्न हैं।

अदृश्य आध्यात्मिक शक्तियों के सहारे खिचकर विश्व के कोने-कोने से सत्य-खोजी एवं साधकगण भगवान् श्री के सम्पर्क और सान्निध्य में आ रहे हैं तथा रूपान्तरित और जागृत हो रहे हैं। इस प्रकार एक विश्व-व्यापी धर्म-चक्र-प्रवर्तन की आधारशिला सुदृढ़ हो रही है।

बहु-आयामी एव निष्पक्ष व्यक्तित्व होने के कारण आप गीता, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, लाओत्से, जीसस, मुहम्मद पर तथा योग, तन्त्र, भक्ति, ईसाई, सूफी, हिन्दू, तिब्बती आदि साधना पद्धतियों के गुह्य रहस्यों पर पूर्ण अधिकार से प्रकाश डालते हैं।

आप भी आमन्त्रित हैं——इस महान विभूति, प्रज्ञा-पुरुष, चिन्मय-ज्योति के व्यक्तित्व को समझने एवं जीने के लिए।

गीता-दर्शन

भगवान श्री रजनीश

गीता-दर्शन के स्रोत

भगवान् श्री रजनीश परम-ज्ञान को उपलब्ध एक मुक्त चेतना हैं। वे प्रज्ञा के मूलस्रोत के साथ सदा एकरस रहते हैं। वे एक परमशून्य द्वार बन गये हैं, जिसमें से होकर ज्ञानोपलब्धि के विभिन्न मार्गों का उदय होता रहता है।

भगवान् श्री रजनीश एक परमसिद्ध सदगुरु हैं। इक्कीस वर्ष की छोटी उम्र से ही आप भगवत्स्वरुप हो गये हैं। वे [illegible] ही गये हैं। अब तो स्वयं भगवत्ता और भागवत चैतन्य ही उ.से आरपार होकर अपनी दिव्य लीलाएं करती है। प्रत्येक क्षण वे सहज समाधि में, निर्वाण में, परमशून्यता में—अहंकार-मुक्त, आकाशवत् और दर्पणवत् जीते हैं।

उनके दिव्य जीवन व व्यक्तित्व का प्रकाश व उसकी सुगंधि दूर-दूर तक फैल रही है। सत्य के खोजियों के लिए तो वे एक तीर्थ ही हो गये हैं। उनके प्रेम में लोगों को परमात्मा का सान्निध्य अनुभव होता है और उनकी अमृत-वाणी सुनकर हजारों हृदयों की आध्यात्मिक-प्यास जगी है और प्रभु की ओर गतिमान हो रही है।

वे मनुष्य को उसकी मूर्च्छा और गहरी आध्यात्मिक-निद्रा से हिलाने और जगाने तथा आत्म-साधना और आत्म-जागरण की ओर अग्रसर करने के लिए सतत संलग्न हैं।

अदृश्य आध्यात्मिक शक्तियों के सहारे खिंचकर विश्व के कोने-कोने से सत्य-खोजी एवं साधकगण भगवान् श्री के सम्पर्क और सान्निध्य में आ रहे हैं तथा रूपान्तरित और जागृत हो रहे हैं। इस प्रकार एक विश्व-व्यापी धर्म-चक्र-प्रवर्तन की आधारशिला सुदृढ़ हो रही है।

बहु-आयामी एवं निष्पक्ष व्यक्तित्व होने के कारण आप गीता, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, लाओत्से, जीसस, मुहम्मद पर तथा योग, तन्त्र, भक्ति, ईसाई, सूफी, हिन्दू, तिब्बती आदि साधना पद्धतियों के गुह्य रहस्यों पर पूर्ण अधिकार से प्रकाश डालते हैं।

आप भी आमन्त्रित हैं—इस महान विभूति, प्रज्ञा-पुरुष, चिन्मय-ज्योति के व्यक्तित्व को समझने एवं जीने के लिए।

गीता-दर्शन

(गीता, अध्याय : एक और दो)

प्रवचन:

भगवान् श्री रजनीश

रजनीश पब्लिकेशन्स प्राइव्हेट लिमिटेड,
बम्बई, १९७४.

प्रकाशक :
स्वामी गोविन्द सिद्धार्थ,
अध्यक्ष, महाराष्ट्र राज्य, नव संन्यास अन्तर्राष्ट्रीय,
ए टु जेड इन्डस्ट्रियल एस्टेट, फर्गुसन रोड, लोअर परेल,
बम्बई–४०० ०१३

मुद्रक :
सेलप्रिन्ट, ए टु जेड इन्डस्ट्रियल एस्टेट,
फर्गुसन रोड, लोअर परेल, बम्बई–४०० ०१३

प्रथम संस्करण : एप्रिल १९७४
मूल्य : तीस रुपये

गीता–दर्शन

प्रथम गीता ज्ञान-यज्ञ प्रवचन-माला में दिनांक २९ नवम्बर से ७ दिसम्बर, १९७० तक अहमदाबाद में गीता के क्रमशः प्रथम व द्वितीय अध्याय (विषाद योग तथा सांख्य योग) पर भगवान् श्री रजनीश द्वारा दिये गये १८ अमृत प्रवचनों का संकलन।

पूर्व-शब्द

जीवन है विस्तार—अनन्त रहस्यों का—अनन्त आयामों में। इसलिए जो भी व्यक्ति जीवन को उसकी समग्रता में जीता है, वह स्वयं भी रहस्यमय हो जाता है। और तब, अनन्त आयामों में, उसके व्यक्तित्व से जीवन ही झाँकता है। ऐसे व्यक्ति को समझने, जानने व अनुभव करने के लिए हमें भी अनन्त आयामों में अपने व्यक्तित्व को विकसित करना होता है।

लेकिन कैसे संभव है कि व्यक्तित्व अनन्त आयामों में विकसित हो सके! निश्चित ही इसके लिए **व्यक्ति को मिटना होगा, खोना होगा, विसर्जित होना होगा, तभी वह स्वयं न रह कर अनन्त व असीम हो पाता है।**

कृष्ण ऐसे ही रहस्यमय व्यक्ति हैं, जिन्होंने जीवन को उसकी समग्रता व पूर्णता में जिया है। उनकी सारी लीलाएँ और उनकी सारी अभिव्यक्तियाँ जीवन के इस विराट् सत्य को निःशब्द से तथा शब्द से अभिव्यक्त करने की ही कहानी है।

गीता कृष्ण के कुछ ऐसे ही विशिष्ट वचनों का संग्रह है, जिसमें उन्होंने जीवन के विराट् सत्य व रहस्य को शब्दों में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। इसलिए **असली गीता तो वहाँ शुरु होती है, जहाँ शब्द और विचार खो जाते हैं और अतल मौन में केवल जागृत चेतना ही रह जाती है—अस्तित्व मात्र रह जाता है।**

गीता को सूत्रवत् शब्दों में लिखा गया, अतः बाद में उस पर बहुत-कुछ कहा व लिखा गया है। लेकिन, बहुधा गीता पर कुछ लिखने वाला या प्रवचन करने वाला व्यक्ति स्वयं के व्यक्तित्व व दृष्टिकोणों को गीता पर आरोपित करता रहा है। और **यदि जरा भी आग्रह रहा तो गीता की व्याख्या अनन्त आयामी न होकर विशिष्ट-आयामी हो जाती है।** जैसे आदि-शंकराचार्य ने गीता को ज्ञान से आच्छादित कर दिया है और रामानुजाचार्य ने भक्ति से तथा गांधी और तिलक ने कर्म से।

लेकिन, गीता के सूत्रों के साथ तो केवल वही व्यक्ति न्यायपूर्ण व्यवहार कर सकता है **जिसका स्वयं का व्यक्तित्व कृष्ण जैसा ही बहु-आयामी हो।** जो अब व्यक्ति नहीं, वरन् जीवन का अनन्त विस्तार ही रह गया हो। जो **एक ऐसा महाशून्य रुपी दर्पण** हो गया हो **जिसमें पुनः कृष्ण का सारा व्यक्तित्व प्रतिफलित व प्रति-संवादित हो सकता हो।**

भगवान् श्री रजनीश ने भी गीता पर बोलना शुरु किया है। और यह तो प्रज्ञावान् व सरल-सहज लोग ही समझ व देख पायेंगे कि भगवान् श्री क्या किसी विशेष दृष्टिकोण व आग्रह को लेकर गीता पर बोल रहे हैं अथवा एक मुक्त, आनन्दित व परम-शून्यता में जीनेवाला व्यक्तित्व गीता के सूत्रों के आधार पर कृष्ण के व्यक्तित्व को ही पुनः प्रतिबिम्बित व प्रतिध्वनित कर रहा है।

प्रस्तुत ग्रंथ प्रथम गीता ज्ञान-यज्ञ, अहमदाबाद में गीता के पहले व दुसरे अध्याय पर दिये गये १८ प्रवचनों का संकलन है।

अब तक भगवान् श्री रजनीश गीता के प्रथम १३ अध्यायों पर प्रवचन दे चुके हैं। उनके संकलन अध्यायों के रुप में तैयार किये जा रहे हैं।

इस प्रकार पूरी गीता पर लगभग पाँच-छः हजार पृष्ठों का ऐतिहासिक साहित्य निर्मित हो सकेगा।

सारे प्रवचन यद्यपि एक शृंखला के हिस्से हैं, फिर भी वे अपने-आप में पूर्ण हैं। और जैसा कि प्रत्येक पाठक देख पायेगा, वे प्रवचन आज तक गीता पर लिखे व कहे गये सभी भाष्य व प्रवचनों से अनूठे व अद्वितीय होंगे। इन प्रवचनों में साधक गण अनेक मार्गों का अत्यन्त ही प्रायोगिक व अनुभव-सिद्ध विवरण पायेंगे।

इन प्रवचन-मालाओं से देश की विशाल जनता कृष्ण के व्यक्तित्व को उसके बहु-आयामों में तथा समग्रता में देख व स्वीकार कर पायेगी और जीवन की अनेक अन्तर्विरोधी एवं विवादास्पद समस्याएं उनके समक्ष अपनी पूर्ण स्पष्टता में प्रकट हो सकेंगी तथा अन्तर्दृष्टि, समता व जागरण की ओर प्रेरित करेंगी।

इस आशा के साथ प्रस्तुत है—'गीता-दर्शन' (अध्याय १–२)

—स्वामी योग चिन्मय

स्वामी योग चिन्मय,
मौलश्री आश्रम,
वंदे मातरम बिल्डिंग,
१० वाँ रास्ता चेम्बूर,
बम्बई ४०० ०७१.

पहला प्रवचन

प्रथम गीता ज्ञान-यज्ञ, अहमदाबाद, प्रातः, दिनांक २९ नवम्बर, १९७०

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथम अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले: "हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में इकट्ठे हुए, युद्ध की इच्छा वाले, मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?"

भगवान् श्रीः धृतराष्ट्र आँख से अंधे हैं। लेकिन आँख के न होने से वासना नहीं मिट जाती। आँख के न होने से कामना नहीं मिट जाती। काश! सूरदास ने धृतराष्ट्र का ख्याल कर लिया होता तो आँखें फोड़ने की कोई जरुरत न होती। सूरदास ने आँखें फोड़ ली थीं; इसलिए कि न रहेंगी आँखें, न उठेगी मन में कामना! न उठेगी वासना! पर **आँखों से कामना नहीं उठती, कामना उठती है मन से। इंद्रियाँ खो जायं तो भी वासना का कोई अंत नहीं है।**

गीता की यह अद्भुत कथा एक अन्धे आदमी की जिज्ञासा से शुरु होती है। असल में इस जगत में सारी कथाएं बन्द हो जायं अगर अन्धा आदमी न हो। इस जीवन की सारी कथाएं अन्धे आदमी की जिज्ञासा से शुरु होती हैं। अन्धा आदमी भी देखना चाहता है उसे, जो उसे दिखायी नहीं पड़ता; बहरा भी सुनना चाहता है उसे, जो उसे सुनायी नहीं पड़ता। सारी इंद्रियाँ भी खो जायं तो भी मन के भीतर छिपी हुई वृत्तियों का कोई विनाश नहीं होता है।

पहली बात तो आपसे यह कहना चाहूँगा कि स्मरण रखें, धृतराष्ट्र अन्धे हैं। लेकिन युद्ध के मैदान पर क्या हो रहा है, मीलों दूर बैठे उनका मन उसके लिए उत्सुक, जानने को पीड़ित, जानने को आतुर है। दूसरी बात यह भी स्मरण रखें कि अन्धे धृतराष्ट्र के सौ पुत्र हैं, लेकिन अन्धे व्यक्तित्व की संतति आँख वाली नहीं हो सकती है। भले ही ऊपर से आँखें दिखायी पड़ती हों। अंधे व्यक्ति से जो जन्म पाता है.... और शायद अंधे व्यक्तियों से ही लोग जन्म पाते हैं, तो भला **ऊपर की आंख** हो, **भीतर की आंख** पानी कठिन है।

यह दूसरी बात भी समझ लेनी जरुरी है कि धृतराष्ट्र से जन्मे हुए सौ पुत्र सब तरह से अन्धा व्यवहार कर रहे थे। आँखें उनके पास थीं, लेकिन भीतर की आँख नहीं थी। अंधे से अंधापन ही पैदा हो सकता है। फिर भी यह पिता, "क्या हुआ....?" यह जानने को उत्सुक है।

तीसरी बात यह भी ध्यान में रख लेनी जरुरी है कि धृतराष्ट्र कहते हैं, "धर्म के उस कुरुक्षेत्र में युद्ध के लिए इकट्ठे हुए....।" जिस दिन धर्म के क्षेत्र में युद्ध के लिए इकट्ठा होना पड़े उस दिन धर्मक्षेत्र, धर्मक्षेत्र बचता नहीं है। और जिस दिन धर्म के क्षेत्र में भी लड़ना पड़े, उस दिन धर्म के भी बचने की संभावना समाप्त हो जाती है। रहा होगा वह धर्मक्षेत्र, है नहीं! रहा होगा कभी, पर आज तो वहां एक दूसरे को काटने को आतुर सब लोग इकट्ठे हुए थे।

यह प्रारम्भ भी अद्भुत है। यह इसलिए भी अद्भुत है कि "अधर्म-क्षेत्रों में क्या होता होगा?" इसका हिसाब लगाना मुश्किल है। "धर्मक्षेत्र में क्या होता है?" वह धृतराष्ट्र संजय से पूछते हैं कि वहां युद्ध के लिए आतुर मेरे पुत्र और उनके विरोधियों ने क्या किया है, क्या कर रहे हैं? वह मैं जानता चाहता हूँ।

धर्म का क्षेत्र पृथ्वी पर शायद बन नहीं पाया अब तक, क्योंकि धर्मक्षेत्र बनेगा तो युद्ध की संभावना खो जानी चाहिए। युद्ध की संभावना बनी ही है और धर्मक्षेत्र भी युद्धरत् हो जाता है तो हम अधर्म को क्या दोष दें, क्या निन्दा करें! सच तो यह है कि **अधर्म के क्षेत्रों में शायद कम युद्ध हुए हैं, धर्म के क्षेत्रों में ज्यादा युद्ध हुए हैं।** और अगर युद्ध और रक्तपात के हिसाब से हम विचार करने चलें तो धर्मक्षेत्र ज्यादा अधर्म-क्षेत्र मालूम पड़ेंगे बजाय अधर्म क्षेत्रों के। यह व्यंग भी समझ लेने जैसा है कि धर्म-क्षेत्र पर

अब तक युद्ध होता रहा है। और ऐसा भी न समझ लेना कि आज ही मंदिर और मस्जिद युद्ध के अड्डे बन गये हैं। हजारों साल पहले, जब हम कहें कि बहुत भले लोग थे पृथ्वी पर और कृष्ण जैसा अद्भुत आदमी मौजूद था तब भी कुरुक्षेत्र के धर्मक्षेत्र पर लोग लड़ने को ही इकट्ठा हुए थे! यह मनुष्य की गहरे में युद्ध की जो पिपासा है, यह मनुष्य की गहरे में विनाश की जो आकांक्षा है, यह मनुष्य के गहरे में जो पशु छिपा है, वह धर्मक्षेत्र में भी छूट नहीं जाता, वह वहां भी युद्ध के लिए तैयारियाँ कर लेता है।

इसे स्मरण रख लेना उपयोगी है और यह भी कि जब धर्म की आड़ मिल जाए लड़ने को, तो लड़ना और भी खतरनाक हो जाता है। क्योंकि तब जस्टिफाइड, (न्याययुक्त) भी मालूम होने लगता है। यह अन्धे धृतराष्ट्र ने जो जिज्ञासा की है, उससे यह धर्म-ग्रंथ शुरु होता है। सभी धर्म-ग्रंथ अन्धे आदमी की जिज्ञासा से शुरु होते हैं। जिस दिन दुनिया में अंधे आदमी न होंगे, उस दिन धर्मग्रंथ की कोई जरुरत भी नहीं रह जाती है। वह अन्धा ही जिज्ञासा कर रहा है।

● **प्रश्नकर्ताः** अंधे धृतराष्ट्र को युद्ध की रिपोर्ताज निवेदित करने वाले संजय की गीता में क्या भूमिका है? संजय क्या क्लेरवॉयन्स (दूर-दृष्टि) या क्लेरऑडियन्स (दूर-श्रवण) की शक्ति रखता था? संजय की चित् शक्ति की गंगोत्री कहां पर है? क्या वह स्वयंभू हो सकती है?

भगवान् श्रीः संजय पर निरन्तर संदेह उठता रहा है। स्वाभाविक है। संजय बहुत दूर बैठकर, कुरुक्षेत्र में क्या हो रहा है, उसकी खबर धृतराष्ट्र को देता है। योग निरन्तर से मानता रहा है कि जो आँखें हमें दिखायी पड़ती हैं, वे ही आँखें नहीं हैं। और भी आँखें हैं मनुष्य के पास, जो समय और क्षेत्र की सीमाओं को लाँघ कर देख सकती हैं। संदेह होता है मन को कि इतने दूर संजय कैसे देख पाता है। क्या वह सर्वज्ञ है? नहीं! पहली तो बात यह कि दूर-दृष्टि (क्लेरवॉयंस) कोई बहुत बड़ी शक्ति नहीं है। सर्वज्ञ से उसका कोई संबध नहीं है। यह बड़ी छोटी शक्ति है। और कोई भी व्यक्ति चाहे तो इसे थोड़े ही श्रम से विकसित कर सकता है। और कभी तो ऐसा भी होता है कि प्रकृति की किसी भूल-चूक से वह शक्ति किसी व्यक्ति में सहज ही विकसित हो जाती है।

एक व्यक्ति है अमेरिका में अभी मौजूद, नाम है टेड सीरियो। उसके

संबंध में दो बातें कहना पसन्द करूंगा, तो संजय को समझना आसान हो जायेगा। क्योंकि संजय बहुत दूर है समय में हमसे और न मालूम किस दुर्भाग्य के क्षण में हमने अपने समस्त पुराने ग्रंथों को कपोल-कल्पना समझना शुरु कर दिया है। इसलिए संजय को छोड़ें। अमेरिका में आज जिन्दा आदमी है टेड सीरियो, जो कि कितने ही हजार मील की दूरी पर, कुछ भी देखने में समर्थ है। न केवल देखने में, बल्कि उसकी आँख उस चित्र को पकड़ने में भी समर्थ है। हम यहां बैठकर यह जो चर्चा कर रहे हैं, न्यूयार्क में बैठा हुआ टेड सीरियो, अगर कहा जाय कि अहमदाबाद में इस मैदान पर क्या हो रहा है, तो वह पांच मिनट आँख बंद करके बैठा रहेगा, फिर आँख खोलेगा, और उसकी आँख में आप सबकी बैठी हुई तस्वीर, दूसरे लोग देख सकते हैं। और उसकी आँख में जो तस्वीर बन रही हो, कैमरा उसकी फोटो भी ले सकता है। हजारों फोटो लिये गये हैं, हजारों चित्र लिये गये हैं और टेड सीरियो की आँख कितनी ही दूरी पर, किसी भी तरह के चित्र को पकड़ने में समर्थ है। न केवल देखने में, बल्कि चित्र को पकड़ने में। टेड सीरियो की घटना ने दो बातें साफ कर दी हैं। एक तो यह कि संजय कोई सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि टेड सीरियो बहुत साधारण आदमी है, कोई आत्मज्ञानी नहीं है। टेड सीरियो को आत्मा का कोई भी पता नहीं है। टेड सीरियो की जिन्दगी में साधुता का कोई भी नाम नहीं है, लेकिन टेड सीरियो के पास एक शक्ति है, दूर देखने की। विशेष है वह शक्ति!

कुछ दिनों पहले स्कैंडिनेविया में एक व्यक्ति किसी दुर्घटना में कार से जमीन पर गिर गया। उसके सिर को चोट लग गयी। और अस्पताल में जब वह होश में आया तो बहुत मुश्किल में पड़ा। उसके कान में कोई जैसे गीत गा रहा हो, ऐसा सुनायी पड़ने लगा। उसने समझा कि शायद मेरा दिमाग तो खराब नहीं हो गया? लेकिन एक या दो दिन के भीतर स्पष्ट सब साफ होने लगा। और तब तो यह भी साफ हुआ कि दस मील के भीतर जो रेडियो स्टेशन था, उसके कान ने उस रेडियो स्टेशन को पकड़ना शुरु कर दिया। फिर उसके कान का सारा अध्ययन किया गया और पता चला कि उसके कान में कोई भी विशेषता नहीं है, लेकिन चोट लगने से कान में छिपी कोई शक्ति सक्रिय हो गयी है। आपरेशन करना पड़ा, क्योंकि चौबीस घण्टे 'ऑन-ऑफ' करने का तो कोई उपाय नहीं था।

पिछले दो वर्ष पहले, इंगलैंड में एक महिला को दिन में ही आकाश के तारे दिखायी पड़ने शुरु हो गये। वह भी एक दुर्घटना में हुआ था। छत

से गिर पड़ी और दिन में आकाश के तारे दिखायी पड़ने शुरु हो गये। तारे तो दिन में भी आकाश में होते हैं, कहीं चले नहीं जाते। सिर्फ सूर्य के प्रकाश के कारण ढँक जाते हैं। रात को फिर उघड़ जाते हैं प्रकाश हट जाने से। लेकिन आँखें अगर सूर्य के प्रकाश को पार करके देख पायें तो दिन में भी तारों को देख सकती हैं। उस स्त्री की भी आँख का आपरेशन ही करना पड़ा। यह मैं इसलिए कह रहा हूं कि आंख में भी ऐसी शक्तियां छिपी हैं, जो दिन में आकाश के तारों को देख लें। कान में भी शक्तियां छिपी हैं, जो दूर के रेडियो स्टेशन से विस्तारित ध्वनियों को पकड़ लें। आँख में भी शक्तियाँ छिपी हैं, जो समय और क्षेत्र की सीमाओं को पार करके देख लें। लेकिन अध्यात्म से इनका कोई बहुत सम्बन्ध नहीं है।

तो संजय कोई बहुत आध्यात्मिक व्यक्ति हो, ऐसा नहीं है। संजय विशिष्ट व्यक्ति जरूर है। वह दूर युद्ध के मैदान पर जो हो रहा है, उसे देख पा रहा है। और संजय को, इस शक्ति के कारण, कोई परमात्मा, कोई सत्य की उपलब्धि हो गयी हो, ऐसा भी नहीं है। संभावना तो यही है कि संजय इस शक्ति का उपयोग करके ही समाप्त हो गया हो। अक्सर ऐसा होता है। विशेष शक्तियां व्यक्ति को बुरी तरह भटका देती हैं। इसलिए योग निरन्तर कहता रहा है कि चाहे शरीर की सामान्य शक्तियाँ हों और चाहे मन की 'साइकिक पावर' की विशेष शक्तियां हों, **शक्तियों में जो उलझता है वह सत्य तक नहीं पहुंच पाता है।** पर, यह संभव है। और इधर पिछले सौ वर्षों में पश्चिम में साइकिक रिसर्च ने बहुत काम किया है। और अब किसी आदमी को संजय पर संदेह करने का कोई कारण, वैज्ञानिक आधार पर भी नहीं रह गया है। और ऐसा ही नहीं कि अमेरिका जैसे धर्म को स्वीकार करने वाले देश में ऐसा हो रहा हो, रूस के मनोवैज्ञानिक भी मनुष्य की अनन्त शक्तियों की स्वीकृति निरन्तर करते चले जा रहे हैं।

अभी चाँद पर जाने की घटना के कारण, रूस और अमेरिका के सारे मनोवैज्ञानिकों पर एक नया काम आ गया है। और वह इसलिये है कि यंत्रों पर बहुत भरोसा नहीं किया जा सकता। और जब हम अंतरिक्ष की यात्रा पर पृथ्वी के वासियों को भेजेंगे, तो हम उन्हें गहन खतरे में भेज रहे हैं, और अगर यंत्र जरा भी बिगड़ जायँ तो उनसे हमारे संबंध सदा के लिए टूट जायेंगे। और फिर हम कभी पता भी नहीं लगा सकेंगे कि वे यात्री कहां खो गये। वे जीवित हैं, जीवित नहीं हैं, या वे किस अनंत में भटक गये, हम उनका कोई भी पता न लगा सकेंगे। इसलिए एक 'सब्स्टिट्यूट', एक परिपूरक व्यवस्था

की तरह, दूर से बिना यंत्र के देखा जा सके, सुना जा सके, खबर भेजी जा सके, इसके लिए रूस और अमेरिका दोनों की वैज्ञानिक प्रयोगशालाएं अति आतुर हैं। और बहुत देर न होगी कि रूस और अमेरिका दोनों के पास संजय होंगे। हमारे पास नहीं होंगे।

संजय कोई बहुत आध्यात्मिक व्यक्ति नहीं है। लेकिन संजय के पास एक विशेष शक्ति है, जो हम सबके पास भी है, और विकसित हो सकती है।

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ।। २ ।।

इस पर संजय बोलाः उस समय राजा दुर्योधन ने व्यूहरचनायुक्त पाण्डवों की सेना को देखकर और द्रोणाचार्य के पास जाकर, यह वचन कहा।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ।। ३ ।।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।। ४ ।।

हे आचार्य, आपके बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रों की इस भारी सेना को देखिये। इस सेना में बड़े-बड़े धनुषोंवाले, युद्ध में भीम और अर्जुन के समान बहुत से शूरवीर हैं। जैसे सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ।। ५ ।।

और धृष्टकेतु, चेकितान तथा बलवान काशिराज, पुरुजित् कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एवं महारथाः ।। ६ ।।

अस्माकं तु विशिष्टा ते तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ।। ७ ।।

और पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पांचों पुत्र, यह सब ही महारथी हैं।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, हमारे पक्ष में भी जो-जो प्रधान हैं, उनको आप समझ लीजिये। आपके जानने के लिये मेरी सेना के जो-जो सेनापति हैं, उनको कहता हूं।

भगवान् श्रीः मनुष्य का मन जब हीनता की ग्रन्थि से, 'इनफीरियॉरिटी कॉम्प्लेक्स' से पीड़ित होता है, जब मनुष्य का मन अपने को भीतर से हीन समझता है, तब सदा ही अपनी श्रेष्ठता की चर्चा से शुरु करता है। लेकिन जब हीन व्यक्ति नहीं होते, तब सदा ही दूसरे की श्रेष्ठता से चर्चा शुरु होती है। यह दुर्योधन कह रहा है द्रोणाचार्य से कि पाण्डवों की सेना में कौन-कौन महारथी, कौन-कौन महायोद्धा इकट्ठे हैं। इससे वह शुरु कर रहा है। यह बड़ी प्रतीक की, बड़ी 'सिम्बॉलिक' बात है। साधारणतः शत्रु की प्रशंसा से बात शुरु नहीं होती है। शत्रु की सेना में कौन-कौन महावीर इकट्ठे हैं, दुर्योधन उनसे बात शुरु कर रहा है। दुर्योधन कैसा भी व्यक्ति हो, 'इनफीरियॉरिटी कॉम्प्लेक्स' से पीड़ित व्यक्ति नहीं है, हीनता की ग्रन्थि से पीड़ित व्यक्ति नहीं है। और यह बड़े मजे की बात है कि अच्छा आदमी भी अगर हीनता की ग्रन्थि से पीड़ित हो तो उस बुरे आदमी से बदतर होता है, जो हीनता की ग्रन्थि से पीड़ित नहीं है। दूसरे की प्रशंसा से केवल वही शुरू कर सकता है, जो अपने प्रति बिल्कुल आश्वस्त है। यह एक बुनियादी अन्तर सदियों में पड़ा है। बुरे आदमी पहले भी थे, अच्छे आदमी पहले भी थे। ऐसा नहीं है कि आज बुरे आदमी बढ़ गये हैं और अच्छे आदमी कम हो गये हैं। आज

भी बुरे आदमी उतने हैं, अच्छे आदमी भी उतने ही हैं। अन्तर क्या पड़ा है ?

निरन्तर धर्म का विचार करने वाले लोग ऐसा प्रचार करते रहते हैं कि पहले लोग अच्छे थे और अब लोग बुरे हो गये हैं। ऐसी उनकी धारणा, मेरे ख्याल में, बुनियादी रूप से गलत है। बुरे आदमी सदा थे, अच्छे आदमी सदा थे; अन्तर इतना ऊपरी नहीं है, अन्तर बहुत भीतरी पड़ा है। बुरा आदमी भी पहले हीनता की ग्रन्थि से पीड़ित नहीं था। आज अच्छा आदमी भी हीनता की ग्रन्थि से पीड़ित है। यह गहरे में अन्तर पड़ा है। आज अच्छे से अच्छा आदमी भी बाहर से ही अच्छा है, भीतर स्वयं भी आश्वस्त नहीं है। और ध्यान रहे, जिस आदमी का आश्वासन स्वयं पर नहीं है, उसकी अच्छाई टिकने वाली अच्छाई नहीं हो सकती। बस, 'स्किनडीप' होगी, चमड़ी के बराबर गहरी होगी। जरा सा खरोंच दो और उसकी बुराई बाहर आ जायेगी। **जो बुरा आदमी अपनी बुराई के होते हुए भी आश्वस्त है, उसकी बुराई भी किसी दिन बदली जा सकती है, क्योंकि बहुत गहरी अच्छाई बुनियाद में खड़ी है। वह है स्वयं का आश्वासन।**

इस बात को मैं महत्वपूर्ण मानता हूं कि दुर्योधन जैसा बुरा आदमी एक बहुत ही शुभ ढंग से चर्चा को शुरु कर रहा है। वह विरोधी के गुणों का पहले उल्लेख कर रहा है। फिर पीछे अपनी सेना के महारथियों का उल्लेख कर रहा है।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्थैव च ।। ८ ।।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्र प्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ।। ९ ।।

एक तो स्वयम् आप और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा—और भी बहुत से शूरवीर अनेक प्रकार के शस्त्र अस्त्रों से युक्त मेरे लिये जीवन की आशा को त्यागने वाले सबके सब युद्ध में चतुर हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।। १० ।।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ।। ११ ।।

और भीष्मपितामह द्वारा रक्षित हमारी वह सेना सब प्रकार से अजेय है और भीम द्वारा रक्षित इन लोगों की यह सेना जीतने में सुगम है। इसलिये सब मोर्चों पर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए आप लोग सब के सब ही निःसन्देह भीष्म पितामह की ही सब ओर से रक्षा करें।

● प्रश्नकर्ता: भगवान् श्री! श्रीमद्भगवद्गीता में सारा भार अर्जुन पर है और यहां गीता में दुर्योधन कहता है: "पाण्डवों की सेना भीम अभिरक्षित और कौरवों की भीष्म....।" तो भीष्म के सामने भीम को रखने का ख्याल क्या यह नहीं हो सकता कि अपने प्रतिस्पर्धी के रूप में भीम को ही देखता है?

भगवान् श्री: यह बिन्दु विचारणीय है। सारा युद्ध अर्जुन की धुरी पर है, लेकिन यह पीछे से सोची गयी बात है—युद्ध के बाद, युद्ध की निष्पत्ति पर। जो युद्ध के पूरे फल को जानते हैं, वे कहेंगे कि सारा युद्ध अर्जुन की धुरी पर घूमा है। लेकिन जो युद्ध के प्रारम्भ में खड़े थे, वे ऐसा नहीं सोच सकते थे। दुर्योधन के लिए युद्ध की सारी संभावना भीम से ही पैदा होती थी। उसके कारण थे। अर्जुन जैसे भले व्यक्ति पर युद्ध का भरोसा दुर्योधन भी नहीं कर सकता था। अर्जुन डावाँडोल हो सकता है, इसकी संभावना दुर्योधन के मन में भी है। अर्जुन युद्ध से भाग सकता है, इसकी कोई गहरी अचेतन प्रतीति दुर्योधन के मन में भी है। अगर युद्ध टिकेगा तो भीम पर टिकेगा। युद्ध के लिए भीम जैसे कम बुद्धि के, लेकिन ज्यादा शक्तिशाली लोगों पर भरोसा किया जा सकता है।

अर्जुन बुद्धिमान है। और **जहां बुद्धि है वहां संशय है। और जहां संशय है वहां द्वन्द्व है।** अर्जुन विचारशील है। और जहां विचारशीलता है, वहां पूरे 'पर्सपेक्टिव', पूरे परिपेक्ष्य को सोचने की क्षमता है। वहां युद्ध जैसी भयंकर स्थिति में आँख बन्द करके उतरना कठिन है। दुर्योधन भरोसा

कर सकता है युद्ध के लिए भीम का। भीम और दुर्योधन के बीच गहरा सामंजस्य है। भीम और दुर्योधन एक ही प्रकृति के, बहुत गहरे में एक ही सोच के, एक ही ढंग के व्यक्ति हैं। इसलिए अगर दुर्योधन ने ऐसा देखा कि भीम केंद्र है दूसरी तरफ, तो गलत नहीं देखा, ठीक ही देखा और गीता भी पीछे सिद्ध करती है कि अर्जुन भागा-भागा हो गया है। अर्जुन पलायनवादी दिखायी पड़ा है, 'एस्केपिस्ट' मालूम पड़ा है। अर्जुन जैसे व्यक्ति की संभावना यही है। अर्जुन के लिए यह युद्ध भारी पड़ा है। युद्ध में जाना, अर्जुन के लिए अपने को रूपांतरित करके ही संभव हो सका है। अर्जुन एक नये तल पर ही पहुंचकर युद्ध के लिए राजी हो सका है।

भीम जैसा था, उसी तल पर युद्ध के लिए तैयार था। भीम के लिए युद्ध सहजता है, जैसे दुर्योधन के लिए सहजता है। इसलिए दुर्योधन भीम को केंद्र में देखता है, तो आकस्मिक नहीं है। लेकिन यह युद्ध के प्रारम्भ की बात है। युद्ध की निष्पत्ति क्या होगी? अंत क्या होगा? यह दुर्योधन को पता नहीं—हमें पता है। और ध्यान रहे, अक्सर ही जीवन जैसा प्रारम्भ होता है, वैसा अन्त नहीं होता। अक्सर अंत सदा ही अनिर्णीत है, अंत सदा ही अदृश्य है। अक्सर ही जो हम सोचकर चलते हैं, वह नहीं होता। अक्सर ही जो हम मानकर चलते हैं, वह नहीं होता। **जीवन एक अज्ञात यात्रा है।** इसलिए जीवन के प्रारंभिक क्षणों में, किसी भी घटना के प्रारंभिक क्षणों में जो सोचा जाता है, वह अंतिम निष्पत्ति नहीं बनती, और हम भाग्य के निर्माण की चेष्टा में रत हो सकते हैं, लेकिन भाग्य के निर्णायक नहीं हो पाते हैं। निष्पत्ति कुछ और होती है। ख्याल तो दुर्योधन का यही था कि भीम केन्द्र पर रहेगा। और अगर भीम केन्द्र पर रहता तो शायद दुर्योधन जो कहता है कि हम विजयी हो सकेंगे, सही हो सकता था। लेकिन दुर्योधन की दृष्टि सही सिद्ध नहीं हुई। और आकस्मिक तत्व बीच में उतर आया। वह भी सोच लेने जैसा है।

कृष्ण का ख्याल ही न था कि अर्जुन अगर भागने लगे, तो वे उसे युद्ध में रत करवा सकते हैं। हम सबको भी ख्याल नहीं होता। जब हम जिन्दगी में चलते हैं तो एक अज्ञात परमात्मा की तरफ से भी बीच में कुछ होगा, इसका हमें कभी ख्याल नहीं होता। हम जो भी हिसाब लगाते हैं, वह दृश्य का होता है। अदृश्य भी बीच में 'इण्टरपेनीट्रेट' कर जायगा, अदृश्य भी बीच में उतर आयेगा, इस पर हमें भी कोई ख्याल नहीं होता। कृष्ण के रूप में अदृश्य बीच में उतर आया है और सारी कथा बदल गयी है। जो होता, वह नहीं हुआ और जो नहीं होने की संभावना मालूम होती थी, वह हुआ।

और अज्ञात जब उतरता है तो उसके 'प्रिडिक्शन' नहीं हो सकते, उसकी कोई भविष्यवाणी नहीं हो सकती। इसलिए जब कृष्ण भागते हुए अर्जुन को युद्ध में धक्का देने लगे, तो जो भी इस कथा को पहली बार पढ़ता है, वह 'शॉक' खाये बिना रह नहीं सकता। उसको धक्का लगता है।

जब इमर्सन ने पहली बार इसे पढ़ा तो उसने किताब बन्द कर दी, वह घबड़ा गया। क्योंकि तब अर्जुन जो कह रहा था, वह सभी तथाकथित धार्मिक लोगों को ठीक मालूम पड़ेगा। वह ठीक तथाकथित धार्मिक आदमी का तर्क दे रहा था। जब हेनरी थारो ने इस जगह आकर देखा कि कृष्ण उसे युद्ध में जाने की सलाह देते हैं, तो वह भी घबड़ा गया। हेनरी थारो ने भी लिखा है कि मुझे ऐसा भरोसा नहीं था, ख्याल भी नहीं था कि कहानी ऐसा मोड़ लेगी कि कृष्ण युद्ध में जाने की सलाह देंगे? गांधी को भी वहीं तकलीफ थी, उनकी पीड़ा भी वहीं थी। लेकिन जिन्दगी किन्हीं सिद्धान्तों के हिसाब से नहीं चलती। **जिन्दगी बहुत अनूठी है। जिन्दगी रेल की पटरियों पर दौड़ती नहीं, गंगा की धारा की तरह बहती है, उसके रास्ते पहले से तय नहीं हैं।** और जब परमात्मा बीच में आता है, तो सब डिस्टर्ब कर देता है। जो भी तैयार था, जो भी आदमी ने निर्मित किया था, जो आदमी की बुद्धि सोचती थी, सब उलट-फेर हो जाता है।

बीच में परमात्मा उतर आयेगा इस युद्ध में, इसकी दुर्योधन को कभी कल्पना न थी। इसलिए वह जो कह रहा है, प्रारंभिक वक्तव्य है। जैसा कि हम सब आदमी जिन्दगी के प्रारंभ में जो वक्तव्य देते हैं, ऐसे ही होते हैं। बीच में अज्ञात उतरता चलता है और सब कहानी बदलती चलती है। अगर हम जिन्दगी को पीछे से लौटकर देखें, तो हम कहेंगे कि जो भी हमने सोचा था, वह सब गलत हुआ। जहां सफलता सोची थी, वहां असफलता मिली; जो पाना चाहा था, वह नहीं पाया जा सका। जिसके मिलने से सुख सोचा था, वह मिल गया और दुःख पाया; और जिसके मिलने की कभी कामना भी न की थी, उसकी झलक मिली और आनन्द के झरने फूटे। सब उल्टा हो जाता है, लेकिन इतने बुद्धिमान आदमी इस जगत में कम हैं, जो निष्पत्ति को पहले ध्यान में लें। हम सब प्रारम्भ को ही पहले ध्यान में लेते हैं। काश! हम अंत को पहले ध्यान में लें तो जिन्दगी की कथा बिल्कुल और हो सकती है। लेकिन अगर दुर्योधन पहले अंत को ध्यान में ले ले तो युद्ध नहीं हो सकता। दुर्योधन अन्त को ध्यान में नहीं ले सकता। अंत को मान कर चलेगा कि ऐसा होगा। इसलिए वह कह रहा है बार-बार कि यद्यपि सेनाएं उस तरफ महान

हैं, लेकिन जीत हमारी ही होगी। मेरे योद्धा जीवन देकर भी मुझे जिताने के लिए आतुर हैं। लेकिन हम अपनी सारी शक्ति भी लगा दें, तो भी असत्य जीत नहीं सकता। हम सारा जीवन भी लगा दें, तो भी असत्य जीत नहीं सकता। इस निष्पत्ति का दुर्योधन को कोई भी बोध नहीं हो सकता है। और सत्य, जो कि हारता हुआ भी मालूम पड़ता हो, अंत में जीत जाता है। असत्य प्रारंभ में जीतता हुआ मालूम पड़ता है, अंत में हार जाता है। सत्य प्रारम्भ में हारता हुआ मालूम पड़ता है, अंत में जीत जाता है। लेकिन प्रारंभ से अंत को देख पाना कहां संभव है! जो देख पाता है, वह धार्मिक हो जाता है। जो नहीं देख पाता है, वह दुर्योधन की तरह अन्धे युद्ध में उतरता चला जाता है।

● प्रश्नकर्ता: भगवान् श्री! एक तो अज्ञात का 'विल' (इच्छा) होता है, एक व्यक्ति का अपना 'विल' होता है। दोनों में 'कांफ्लिक्ट' होता है। तो व्यक्ति कैसे जान पाये कि अज्ञात की क्या इच्छा है?

भगवान् श्री: पूछते हैं, व्यक्ति कैसे जान पाये कि अज्ञात की क्या इच्छा है? व्यक्ति कभी नहीं जान पाता। हां, व्यक्ति अपने को छोड़ दे, मिटा दे, तो तत्काल जान लेता है। अज्ञात के साथ एक हो जाता है। बूंद नहीं जान सकती कि सागर क्या है, जब तक कि बूंद सागर में खो न जाय। व्यक्ति नहीं जान सकता कि परमात्मा की इच्छा क्या है। जब तक व्यक्ति अपने को व्यक्ति बनाये है, तब तक नहीं जान सकता है। व्यक्ति अपने को खो दे, तो फिर परमात्मा की इच्छा ही शेष रह जाती है। क्योंकि व्यक्ति की कोई इच्छा शेष नहीं रह जाती। तब जानने का सवाल ही नहीं उठता। तब व्यक्ति वैसे ही जीता है, जैसे अज्ञात उसे जिलाता है। तब व्यक्ति की कोई आकांक्षा, तब व्यक्ति की कोई फलाकांक्षा, तब व्यक्ति की कोई अपनी अभीप्सा, तब व्यक्ति की समग्र की आकांक्षा के ऊपर अपनी थोपने की कोई वृत्ति शेष नहीं रह जाती। क्योंकि व्यक्ति शेष नहीं रह जाता।

जब तक व्यक्ति है, तब तक अज्ञात क्या चाहता है, नहीं जाना जा सकता। और जब व्यक्ति नहीं है, तब जानने की कोई जरुरत नहीं। जो भी होता है, वह अज्ञात ही करवाता है। तब व्यक्ति एक 'इन्स्ट्रुमेंट' हो जाता है, तब व्यक्ति एक साधन मात्र हो जाता है। कृष्ण पूरी गीता में आगे अर्जुन को यही समझाते हैं कि वह अपने को छोड़ दे अज्ञात के हाथों में। समर्पित कर दे, क्योंकि वह जिन्हें सोच रहा है कि यह मर जायेंगे, वे अज्ञात के द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं। वह जिन्हें सोचता है कि उनकी मृत्यु के लिए मैं जिम्मेवार

हो जाऊंगा, उनके लिए वह बिल्कुल भी जिम्मेवार नहीं होगा। अगर वह अपने को बचाता है तो जिम्मेवार हो जायेगा। अगर अपने को छोड़कर साधनवत्, साक्षीवत् लड़ सकता है तो उसकी कोई जिम्मेवारी नहीं रह जाती है। व्यक्ति अपने को खो दे समष्टि में, व्यक्ति अपने को समर्पित कर दे, छोड़ दे अहंकार को तो ब्रह्म की इच्छा ही फलित होती है। अभी भी वही फलित हो रही है। ऐसा नहीं कि हम उससे भिन्न फलित करा लेंगे। लेकिन हम भिन्न फलित कराने में लड़ेंगे, टूटेंगे, नष्ट होंगे।

एक छोटी सी कहानी मैं निरन्तर कहता रहा हूं। मैं कहता रहा हूं कि एक नदी में बहुत बाढ़ आयी है और दो छोटे से तिनके उस नदी में बह रहे हैं। एक तिनका नदी में आड़ा पड़ गया है और नदी की बाढ़ को रोकने की कोशिश कर रहा है और वह चिल्ला रहा है बहुत जोर से कि नहीं बढ़ने देंगे नदी को। यद्यपि नदी बही जा रही है, वह चिल्ला रहा है कि रोककर रहेंगे, यद्यपि रोक नहीं पा रहा है। वह चिल्ला रहा है कि नदी को हर हालत में रोककर ही रहूंगा, जिऊं या मरूं। लेकिन बहा जा रहा है। नदी को न उसकी आवाज सुनाई पड़ती है, न उसके संघर्ष का पता चलता है। एक छोटा सा तिनका, नदी को उसका कोई भी पता नहीं है। नदी को कोई फर्क नहीं पड़ता। लेकिन तिनके को बहुत फर्क पड़ रहा है। उसकी जिन्दगी बहुत मुसीबत में पड़ गयी है। बहा जा रहा है। नहीं लड़ेगा तो जहां पहुंचेगा, वहीं पहुँचेगा लड़कर भी। लेकिन यह बीच का क्षण, यह बीच का काल, दुख, पीड़ा, द्वन्द्व और चिन्ता का काल हो जायेगा। उसके पड़ोस में एक दूसरे तिनके ने छोड़ दिया है अपने को। वह नदी में आड़ा नहीं पड़ा है, सीधा पड़ा है, नदी जिस तरफ बह रही है उसी तरफ, और सोच रहा है कि मैं नदी के बहने में सहायता दे रहा हूँ। उसका भी नदी को कोई पता नहीं है। वह सोच रहा है कि मैं नदी को सागर तक पहुंचा ही दूंगा, मेरे साथ है तो पहुंच ही जायेगी। नदी को उसकी सहायता का भी कोई पता नहीं है। लेकिन नदी को कोई फर्क नहीं पड़ता, उन दोनों तिनकों को बहुत फर्क पड़ रहा है। जो नदी को साथ बहा रहा है, वह बड़े आनन्द में है, वह बड़ी मौज में नाच रहा है और जो नदी से लड़ रहा है, वह बड़ी पीड़ा में है। उसका नाच, नाच नहीं है, एक दुःस्वप्न है। उसका नाच उसके अंगों की टूटन है, वह तकलीफ में पड़ा है, हार रहा है। और जो नदी के साथ बह रहा है, वह जीत रहा है।

व्यक्ति ब्रह्म की इच्छा के अतिरिक्त कुछ भी कर नहीं पाता है। लेकिन लड़ सकता है, इतनी स्वतंत्रता है। और लड़कर अपने को चिन्तित कर सकता

है, इतनी स्वतंत्रता है। सार्त्र का एक वचन है जो बड़ा कीमती है। वचन है —"ह्युमैनिटी इज़ कन्डेम्ड टु बी फ्री"। आदमी स्वतंत्र होने के लिए मजबूर है। विवश है, कन्डेम्ड है, निन्दित है स्वतंत्र होने के लिए। लेकिन आदमी अपनी स्वतंत्रता के दो उपयोग कर सकता है। अपनी स्वतंत्रता को वह ब्रह्म की इच्छा से संघर्ष बना सकता है। और तब उसका जीवन दुःख, पीड़ा, 'एंग्विस', संताप का जीवन होगा। और अन्ततः पराजय फलित होगी। और कोई व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता को ब्रह्म के प्रति समर्पण बना सकता है, तब जीवन आनन्द का, 'ब्लिस' का, नृत्य का, गीत का जीवन होगा। और अंत में विजय के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। वह जो तिनका सोच रहा है कि नदी को साथ दे रहा हूँ, विजयी ही होने वाला है। उसकी हार का कोई उपाय नहीं है। और जो नदी को रोक रहा है, वह हारने ही वाला है, उसकी जीत का कोई उपाय नहीं। ब्रह्म की इच्छा को नहीं जाना जा सकता है, लेकिन ब्रह्म के साथ एक हुआ जा सकता है। और तब, अपनी इच्छा खो जाती है, उसकी इच्छा ही शेष रह जाती है।

● **प्रश्नकर्ता:** भगवान् श्री, वैज्ञानिक सिद्धि में व्यक्ति का अपना कुछ होता है। और ब्रह्म-इच्छा में वैज्ञानिक सिद्धि में कैसे उतरता होगा, यह तकलीफ की बात बन जाती है ?

भगवान् श्रीः ऐसा साधारणतः लगता है कि वैज्ञानिक खोज में व्यक्ति की अपनी इच्छा काम करती है, ऐसा बहुत ऊपर से देखने पर लगता है। बहुत भीतर से देखने पर ऐसा नहीं लगेगा। अगर जगत् के बड़े से बड़े वैज्ञानिकों को हम देखें तो हम बहुत हैरान हो जायेंगे कि जगत् के सभी बड़े वैज्ञानिकों के अनुभव बहुत और हैं। कॉलेज, युनिवर्सिटीज में विज्ञान की जो धारणा पैदा होती है उसका, वैसा अनुभव उनका नहीं है। मैडम क्यूरी ने लिखा है कि मुझे एक सवाल कई दिनों से पीड़ित किये हुए है। उसे हल करती हूं और हल नहीं होता है। थक गयी हूं, परेशान हो गयी हूं, आखिर हल करने की बात छोड़ दी। और एक रात दो बजे वैसे ही कागजात टेबल पर अधूरे छोड़कर सो गयी और सोच लिया कि अब इस सवाल को छोड़ ही देना है।

थक गयी थी क्यूरी। लेकिन सुबह उठकर देखा है कि आधा सवाल जहां छोड़ा है, वह पूरा हो गया है। कमरे में तो कोई आया नहीं, द्वार बन्द थे। और कमरे में भी कोई आकर उसको हल कर सकता था, जिसको मैडम क्यूरी

हल नहीं कर सकती थी, इसकी भी संभावना नहीं है। 'नोबल–प्राइज़–विनर' थी वह महिला। घर में नौकर-चाकर ही थे, उनसे तो कोई आशा नहीं है। वह तो और बड़ा 'मिरेकल' (चमत्कार) होगा कि घर कि में नौकर-चाकर आकर हल कर दें। लेकिन हल तो हो गया है। और आधा ही छोड़ा था और आधा पूरा है। तब बड़ी मुश्किल में पड़ गयी। सब द्वार-दरवाजे देखे। कोई परमात्मा उतर आये, इसकी भी आस्था उसे नहीं हो सकती। कोई परमात्मा ऐसे ऊपर से उतर भी नहीं आया था। लेकिन गौर से देखा तो पाया कि बाकी अक्षर भी उसके ही हैं। तब उसे ख्याल आना शुरू हुआ कि रात वह नींद में, सपने में उठी है। उसे याद आ गया कि वह सपने में उठी है। उसने सपना देखा कि वह सवाल हल कर रही है। वह नींद में उठी है रात में, और उसने सवाल हल किया है। फिर तो उसकी यह व्यवस्थित विधि हो गयी कि जब कोई सवाल हल न हो, तब वह उसे तकिये के नीचे दबाकर सो जाय। रात उठकर कर ले।

दिन भर तो मैडम क्यूरी 'इण्डिवीजुअल' थी, व्यक्ति थी। रात नींद में अहं खो जाता है, बूंद सागर से मिल जाती है। और जो सवाल हमारा चेतन मन नहीं खोज पाया वह हमारा अचेतन, गहरे में जो परमात्मा से जुड़ा है, खोज पाता है।

आर्किमिडीज एक सवाल हल कर रहा था, वह हल नहीं होता था। वह बड़ी मुश्किल में पड़ गया था। सम्राट ने कहा था, हल करके ही लाओ। आर्किमिडीज की सारी प्रतिष्ठा हल करने पर निर्भर थी, लेकिन थक गया। रोज सम्राट का संदेश आता है कि कब तक हल करोगे। सम्राट को किसी ने एक सोने का बहुत कीमती आभूषण भेंट किया था। लेकिन सम्राट को शक था कि धोखा दिया गया है, और सोने में कुछ मिला है। लेकिन बिना आभूषण को मिटाये पता लगाना है कि उसमें कोई और धातु तो नहीं मिली है? उस वक्त तक कोई उपाय नहीं था जानने का। और बड़ा था आभूषण। उसमें अगर कहीं बीच में अन्दर कोई चीज डाल दी गयी हो, तो वजन बढ़ ही जायेगा। आर्किमिडीज थक गया, परेशान हो गया। फिर एक दिन सुबह अपने टब में लेटा हुआ है, पड़ा हुआ है। बस अचानक, जब वह नंगा ही था, सवाल हल हो गया। भागा! भूल गया ! आर्किमिडीज अगर होता, तो कभी न भूलता कि मैं नंगा हूँ। सड़क पर आ गया। और चिल्लाने लगा 'यूरेका, यूरेका', (मिल गया, मिल गया)। और भागा राजमहल की तरफ। लोगों ने पकड़ा कि क्या कर रहे हो? राजा के सामने नंगे पहुँच जाओगे ? उसने

कहा, लेकिन यह तो मुझे ख्याल ही न रहा।

यह जो आदमी सड़क पर पहुंच गया था नग्न, यह आर्किमिडीज नहीं था। आर्किमिडीज सड़क पर नहीं पहुँच सकता था। यह व्यक्ति नहीं था। और यह जो हल हुआ था सवाल, यह व्यक्ति की चेतना में हल नहीं हुआ था। यह निर्व्यक्ति-चेतना में हल हुआ था। वह 'बाथरूम' में पड़ा था अपने टब में—'रिलेक्स्ड', शिथिल। ध्यान घट गया, भीतर उतर गया, सवाल हल हो गया। जो सवाल स्वयं से हल न हुआ था वह टब ने हल कर दिया। टब हल करेगा सवाल? जो स्वयं से हल नहीं हुआ था, वह क्या पानी में लेटने से हल हो जायगा? पानी में लेटने से क्या बुद्धि बढ़ जाती है? जो कपड़े पहने हल नहीं हुआ था, वह नंगे होने से हल हो जायगा? नहीं, कुछ और घटना घट गयी है। **यह व्यक्ति नहीं रहा कुछ देर के लिए, अव्यक्ति हो गया। यह कुछ देर के लिए ब्रह्म के स्त्रोत में खो गया।**

हम जगत् के सारे बड़े वैज्ञानिकों के: आइंस्टीन के, मैक्सप्लाँक के या एडिंगटन के या एडीसन के, इनके हम अनुभव पढ़ें तो इन सबका अनुभव यह है कि जो भी हमने जाना, वह हमने नहीं जाना। निरंतर ही ऐसा हुआ है कि जब हमने जाना तब हम न थे और जानना घटित हुआ है। यही उपनिषद् के ऋषि कहते हैं, यही वेद के ऋषि कहते हैं, यही मुहम्मद कहते हैं, यही जीसस कहते हैं। अगर हम कहते हैं कि वेद अपौरुषेय है, तो उसका और कोई मतलब नहीं। उसका यह मतलब नहीं कि ईश्वर उतरा और उसने किताब लिखी। ऐसी पागलपन की बातें करने की कोई जरूरत नहीं है। अपौरुषेय का इतना ही मतलब है कि जिस पुरुष पर यह घटना घटी, उस वक्त वह मौजूद नहीं था। उस वक्त "मैं" मौजूद नहीं था। जब यह घटना घटी, जब यह उपनिषद् का वचन उतरा किसी पर और जब यह मुहम्मद पर कुरान उतरी और जब बाइबिल के वचन जीसस पर उतरे, तो 'वे' मौजूद नहीं थे।

धर्म और विज्ञान के अनुभव भिन्न-भिन्न नहीं हैं। हो नहीं सकते, क्योंकि अगर विज्ञान में कोई सत्य उतरता है तो उसके उतरने का भी मार्ग वही है जो धर्म में उतरता है, जो धर्म के उतरने का मार्ग है। सत्य के उतरने का एक ही मार्ग है, **जब व्यक्ति नहीं होता तो परमात्मा में सत्य उतरता है—हमारे भीतर जगह खाली हो जाती है, उस खाली जगह में सत्य प्रवेश करता है।** दुनिया में कोई भी, चाहे कोई संगीतज्ञ, चाहे कोई चित्रकार, चाहे कोई कवि, चाहे कोई वैज्ञानिक, चाहे कोई धार्मिक, चाहे कोई 'मिस्टिक'—दुनिया में जिन्होंने भी सत्य की कोई किरण पायी है, उन्होंने तभी पायी है, जब वे

'स्वयं' नहीं थे। यह धर्म को तो बहुत पहले से ख्याल में आ गया था। लेकिन धर्म का अनुभव दस हजार साल पुराना है। दस हजार साल में धार्मिक-फकीर को, धार्मिक-संत को, धार्मिक-योगी को यह अनुभव हुआ कि यह 'मैं' नहीं हूं। यह बड़ी मुश्किल बात है।

जब पहली दफा आपके भीतर परमात्मा से कुछ आता है तब 'डिस्टिंक्सन' (भेद) करना बहुत मुश्किल होता है कि आपका है कि परमात्मा का है। जब पहली दफा आता है तब डांवाडोल होता है मन कि मेरा ही होगा और अहंकार की इच्छा भी होती है कि मेरा ही हो। लेकिन धीरे-धीरे जब दोनों चीजें साफ होती हैं और पता चलता है कि आप और इस सत्य में कहीं कोई ताल-मेल नहीं बनता, तब फासला दिखाई पड़ता है, 'डिस्टेंस' दिखाई पड़ता है। विज्ञान की उम्र नयी है अभी, दो-तीन सौ साल। लेकिन दो-तीन सौ साल में वैज्ञानिक विनम्र हुआ है। आज से पचास साल पहले वैज्ञानिक कहता था: जो खोजा, वह हमने खोजा। आज नहीं कहता। आज वह कहता है: हमारी सामर्थ्य के बाहर मालूम पड़ता है सब। **आज का वैज्ञानिक उतनी ही 'मिस्टिसिज्म' की भाषा में बोल रहा है, उतने ही रहस्य की भाषा में, जितना संत बोले थे।**

जल्दी न करें—और सौ साल, और वैज्ञानिक ठीक वही भाषा बोलेगा, जो उपनिषद् बोलते हैं। बोलनी ही पड़ेगी वही भाषा, जो बुद्ध बोलते हैं। बोलनी ही पड़ेगी वही भाषा, जो अगस्तीन और फ्रांसिस बोलते हैं। बोलनी ही पड़ेगी। बोलनी पड़ेगी इसलिए कि जितना—जितना सत्य का गहरा अनुभव होगा, उतना—उतना व्यक्ति का अनुभव क्षीण होता है। और जितना सत्य प्रगट होता है, उतना ही अहंकार लीन होता है और एक दिन पता चलता है कि जो भी जाना गया है, वह परमात्मा का प्रसाद है। वह 'ग्रेस' है। वह उतरा है। उसमें मैं नहीं हूँ। और जो-जो मैंने नहीं जाना उसकी जिम्मेवारी मेरी है, क्योंकि मैं इतना कमजोर था कि जान नहीं सकता था। और असत्य उतारना हो तो 'मैं' की मौजूदगी जरूरी है।

ब्रह्म—इच्छा से विज्ञान की खोज को बाधा नहीं पड़ेगी। जो खोज हुई है, वह भी अज्ञात के संबंध से हुई है। समर्पण से हुई है। और जो खोज होगी आगे, वह भी समर्पण से ही होगी। समर्पण के द्वार के अतिरिक्त सत्य कभी, किसी और द्वार से न आया है, न आ सकता है।

● **प्रश्नकर्ता:** भगवान् श्री! आपका यह 'स्टेटमेंट' बड़ी दिक्कत में डाल देता

है कि अचेतन मन भगवान् से जुड़ा हुआ होता है। यह तो युंग ने पीछे से बताया, मिथोलॉजी का 'कलेक्टिव-अनकांसस' से संबंध जोड़कर। मगर फ्रायड कहता है कि वह शैतान से भी जुड़ा होता है, तो तकलीफ बढ़ जाती है।

भगवान् श्रीः फ्रायड का ऐसा जरूर ख्याल है कि वह जो अचेतन मन है हमारा, वह भगवान् से ही नहीं, शैतान से भी जुड़ा होता है। असल में भगवान् और शैतान हमारे शब्द हैं। जब किसी चीज को हम पसंद नहीं करते, तो हम कहते हैं शैतान से जुड़ा है और किसी चीज को जब हम पसंद करते हैं, तो हम कहते हैं, भगवान् से जुड़ा है। लेकिन मैं इतना ही कह रहा हूँ कि अज्ञात से जुड़ा है। और अज्ञात मेरे लिए भगवान् है। और भगवान् में मेरे लिए शैतान समाविष्ट है, उससे अलग नहीं है। असल में जो हमें पसंद नहीं है, मन होता है कि वह शैतान ने किया होगा। जो गलत, असंगत नहीं है, वह भगवान् ने किया होगा। ऐसा हमने सोच रखा है कि हम केन्द्र पर हैं जीवन के, और जो हमारे पसंद पड़ता है वह भगवान् का किया हुआ है। भगवान् हमारी सेवा कर रहा है। जो पसंद नहीं पड़ता वह शैतान का किया हुआ है, शैतान हमसे दुश्मनी कर रहा है। यह मनुष्य का 'अहंकार' है जिसने शैतान और भगवान् को भी अपनी सेवा में लगा रखा है।

भगवान् के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। जिसे हम शैतान कहते हैं वह सिर्फ हमारी अस्वीकृति है। जिसे हम बुरा कहते हैं, वह सिर्फ हमारी अस्वीकृति है। अगर हम बुरे में भी गहरे देख पायें तो फौरन हम पायेंगे कि बुरे में भला छिपा होता है। दुख में भी गहरे देख पायें, तो पायेंगे कि सुख छिपा होता है। अभिशाप में भी गहरे देख पायें, तो पायेंगे कि वरदान छिपा होता है। असल में बुरा और भला एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। शैतान के खिलाफ जो भगवान् है उसे मैं 'अज्ञात' नहीं कह रहा, मैं अज्ञात उसे कह रहा हूँ जो हम सबके जीवन की भूमि है, जो अस्तित्व का आधार है। उस अस्तित्व के आधार से ही रावण भी निकलता है, उस अस्तित्व के आधार से ही राम भी निकलते हैं। उस अस्तित्व से अंधकार भी निकलता है, उस अस्तित्व से प्रकाश भी निकलता है।

हमें अंधकार में डर लगता है, तो मन होता है कि अंधकार शैतान पैदा करता होगा। हमें रोशनी अच्छी लगती है, तो मन होता है कि रोशनी भगवान् पैदा करता होगा। लेकिन अंधकार में कुछ भी बुरा नहीं है, रोशनी में कुछ भी भला नहीं है। और जो अस्तित्व को प्रेम करता है, वह अंधकार में भी

परमात्मा को पायेगा और प्रकाश में भी परमात्मा को पायेगा। सच तो यह है कि भय के कारण हम कभी अंधकार के सौंदर्य को जान ही नहीं पाते। उसके रस को, उसके रहस्य को हम कभी जान ही नहीं पाते। हमारा भय मनुष्य निर्मित भय है। कन्दराओं से आ रहे हैं हम, जंगली-कन्दराओं से होकर गुजरे हैं हम। अंधेरा बड़ा खतरनाक था। जंगली जानवर हमला कर देता, रात डराती थी। इसलिए अग्नि जब पहली दफा प्रगट हो सकी, तो हमने उसे देवता बनाया। क्योंकि रात निश्चित हो गयी, आग जलाकर हम निर्भय हुए। अंधेरा हमारे अनुभव में भय से जुड़ गया है। रोशनी हमारे हृदय में अभय से जुड़ गयी है। लेकिन अंधेरे का अपना रहस्य है, रोशनी का अपना रहस्य है।

इस जीवन में जो भी महत्वपूर्ण घटित होता है, वह अंधेरे और रोशनी दोनों के सहयोग से घटित होता है। एक बीज हम गड़ाते हैं अंधेरे में, फूल आता है रोशनी में। बीज हम गड़ाते हैं अंधेरे में, जमीन में। जड़ें फैलती हैं अंधेरे में, जमीन में। फूल खिलते हैं आकाश में, रोशनी में। एक बीज को रोशनी में रख दें, फिर फूल कभी न आयेंगे। एक फूल को अंधेरे में गड़ा दें, तो बीज कभी पैदा न होंगे। एक बच्चा पैदा होता है मां के पेट के गहन अंधकार में, जहां रोशनी की एक भी किरण नहीं पहुँचती। फिर जब बड़ा होता है, तो आता है प्रकाश में। अंधेरा और प्रकाश एक ही जीवन-शक्ति के लिए आधार हैं। जीवन में विभाजन, विरोध, 'पोलेरिटी' मनुष्य निर्मित है।

फ्रायड अचेतन मन को शैतान से जुड़ा हुआ कहता है। फ्रायड स्वयं यहूदी–चिन्तन से जुड़ा था। फ्रायड यहूदी घर में पैदा हुआ था। बचपन से ही शैतान और परमात्मा के विरोध को उसने सुन रखा था। यहूदियों ने दो हिस्से तोड़ रखे हैं – एक शैतान है, एक भगवान् है। वह आदमी के ही मन के दो हिस्से हैं। तो फ्रायड को लगा कि जहां-जहां अचेतन से बुरी चीजें उठती हैं, वे बुरी चीजें शैतान डाल रहा होगा। नहीं! कोई शैतान नहीं है। और अगर शैतान हमें दिखायी पड़ता है, तो कहीं न कहीं हमारी बुनियादी भूल है। धार्मिक व्यक्ति शैतान को देखने में असमर्थ है। केवल परमात्मा ही है। और 'अचेतन'—जहाँ से वैज्ञानिक सत्य को पाता है या धार्मिक सत्य को पाता है, वह परमात्मा का द्वार है। धीरे–धीरे हम उसकी गहराई में उतरेंगे तो ख्याल में निश्चित आ सकता है।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान्॥ १२॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।। १३ ।।

इस प्रकार द्रोणाचार्य से कहते हुए दुर्योधन के वचनों को सुनकर, कौरवों में वृद्ध, बड़े प्रतापी पितामह भीष्म ने उसके हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वर से सिंहनाद के समान गर्ज कर शंख बजाया। उसके उपरान्त शंख और नगाड़े तथा ढोल, मृदंग और नृसिंहादि बाजे एक साथ ही बजे। उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौप्रदध्मतुः ।। १४ ।।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ।। १५ ।।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ।। १६ ।।

इसके अनन्तर सफेद घोड़ों से युक्त उत्तम रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अलौकिक शंख बजाये। उनमें श्रीकृष्ण ने पांचजन्य नामक शंख और अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख बजाया। भयानक कर्म वाले भीमसेन ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया। कुंती-पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक और नकुल तथा सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक नाम वाले शंख बजाये।

● **प्रश्नकर्ता:** भीष्म के गगन भेदी शंखनाद के प्रतिशब्द में कृष्ण शंखनाद करते हैं। तो क्या उनकी शंखध्वनि 'एक्शन' के बजाय 'रिएक्शन' (प्रत्याघात) कहीं जा सकती है? भगवद्गीता के इस अध्याय में कृष्ण का पांचजन्य शंख

या अर्जुन का देवदत्त शंख बजाना यह उद्घोषणा के बजाय कोई और तात्पर्य रखता है क्या?

भगवान् श्री: कृष्ण का शंखनाद, भीष्म के शंखनाद की प्रतिक्रिया है? ऐसा पूछा है। नहीं, सिर्फ 'रिस्पांस' है, प्रतिसंवेदन है। और शंखनाद से केवल प्रत्युत्तर है--युद्ध का नहीं, लड़ने का नहीं, शंखनाद से सिर्फ स्वीकृति है चुनौती की। वह चुनौती जो भी लाये, वह चुनौती जो भी दिखाये, वह चुनौती जहां भी ले जाये, उसकी स्वीकृति है। इस स्वीकृति को थोड़ा समझना उपयोगी है।

जीवन प्रतिपल चुनौती है। और जो उसे स्वीकार नहीं करता वह, जीते जी ही मर जाता है। बहुत लोग जीते जी ही मर जाते हैं। बर्नार्ड शॉ कहा करता था कि लोग मरते तो हैं बहुत पहले, दफनाये बहुत बाद में जाते हैं। मरने और दफनाने में कोई चालीस साल का अक्सर फर्क हो जाता है। **जिस दिन से व्यक्ति जीवन की चुनौती का स्वीकार बन्द करता है, उसी क्षण से मर जाता है। जीवन है प्रतिपल चुनौती की स्वीकृति में।** लेकिन चुनौती की स्वीकृति भी दो तरह की हो सकती है। चुनौती की स्वीकृति भी क्रोधजन्य हो सकती है। और तब वह प्रतिक्रिया हो जाती है, रिएक्शन हो जाता है। और चुनौती की स्वीकृति भी प्रसन्नता, उत्फुल्लता से मुदितापूर्ण हो सकती है। और तब प्रतिसंवेदन हो जाती है।

ध्यान देने योग्य है कि भीष्म ने जब बजाया तो वचन है कि प्रसन्नता से और वीरों को प्रसन्न चित्त करते हुए। आह्लाद फैल गया उनके शंखनाद से। उस शंखनाद से प्रसन्नता फैल गयी। वह एक स्वीकृति है। जीवन जो दिखा रहा है, अगर युद्ध भी! तो युद्ध भी स्वीकार है। जीवन जहां ले जा रहा है, अगर युद्ध में भी, तो वह युद्ध भी स्वीकार है। निश्चित ही इसे प्रत्युत्तर मिलना चाहिए। और पीछे कृष्ण और पाण्डव अपने-अपने शंखनाद करते हैं। यह भी सोचने जैसी बात है कि पहला शंखनाद कौरवों की तरफ से होता है। युद्ध के प्रारंभ का दायित्व कौरवों का है। कृष्ण सिर्फ प्रत्युत्तर दे रहे हैं। यह पाण्डवों की तरफ से प्रतिसंवेदन है, 'रिस्पांस' है। अगर युद्ध ही है, तो उसके उत्तर के लिए वे तैयार हैं। ऐसे युद्ध की वृत्ति नहीं है। पाण्डव भी पहले बजा सकते हैं। नहीं! लेकिन इतना दायित्व, युद्ध में घसीटने का दायित्व, कौरव ही लेंगे।

युद्ध का यह प्रारंभ बड़ा प्रतीकात्मक है। इसमें एक बात और ध्यान देने

जैसी है कि कृष्ण शुरू करते हैं। अगर भीष्म ने शुरू किया था तो कृष्ण को उत्तर देने के लिए तैयार करना उचित नहीं है। उचित तो उनके लिए है जो कि युद्ध के लिए तत्पर योद्धा हैं। कृष्ण तो केवल सारथी की तरह वहाँ मौजूद हैं। वे योद्धा भी नहीं हैं, वे युद्ध करने भी नहीं आये हैं। लड़ने की कोई बात ही नहीं है। पाण्डवों की तरफ जो सेनापति है, उसे शंखनाद करके उत्तर देना चाहिए। लेकिन नहीं, यह बहुत महत्वपूर्ण है। शंखनाद का उत्तर कृष्ण से शुरू करवाया गया है। यह इस बात का प्रतीक है कि **पाण्डव इस युद्ध को केवल परमात्मा के तरफ से डाल गये दायित्व से ज्यादा मानने को तैयार नहीं** हैं। परमात्मा की तरफ से आयी हुई पुकार के लिए वे तैयार हैं। वे केवल परमात्मा के साधन भर होकर लड़ने के लिए तैयार हैं। इसलिए यह जो प्रत्युत्तर है युद्ध की स्वीकृति का, वह कृष्ण से दिलवाया गया है, उचित है।

परमात्मा के साथ लड़कर हारना भी उचित है; परन्तु परमात्मा के खिलाफ लड़कर जीतना भी उचित नहीं है। अब हार भी आनन्द होगी। अब हार भी आनन्द हो सकती है। क्योंकि लड़ाई अब पांडवों की अपनी नहीं है। अगर है तो परमात्मा की है। लेकिन यह 'रिएक्शन' नहीं है, 'रिस्पाँस' है। इस में कोई क्रोध नहीं है। अगर भीम इसको बजाता, तो 'रिएक्शन' हो सकता था। अगर भीम इसका उत्तर देता तो वह क्रोध में ही दिया गया होता। अगर कृष्ण की तरफ से यह उत्तर आया है, तो यह बड़ी आनन्द की स्वीकृति है, कि ठीक है। **अगर जीवन वहां ले आया है, जहां युद्ध ही फलित हो तो हम परमात्मा के हाथों में अपने को छोड़ते हैं।**

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥ १७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥ १८॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥ १९॥

श्रेष्ठ धनुष वाला काशिराज और महारथी शिखण्डी और धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद और द्रौपदी के पांचो पुत्र और बड़ी भुजा

वाला सुभद्रापुत्र अभिमन्यु इन सबने, हे राजन्! अलग-अलग शंख बजाये। और उस भयानक शब्द ने आकाश और पृथ्वी को भी शब्दायमान करते हुए धृतराष्ट्रपुत्रों के हृदय विदीर्ण कर दिये।

अथव्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥ २०॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
अर्जुन उवाच
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥ २१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे॥ २२॥

हे राजन! उसके उपरान्त कपिध्वज अर्जुन ने खड़े हुए धृतराष्ट्रपुत्रों को देखकर उस शस्त्र चलने की तैयारी के समय धनुष उठाकर हृषीकेश श्रीकृष्ण से यह वचन कहा: हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करिये। जब तक मैं इन स्थित हुए युद्ध की कामना वालों को अच्छी प्रकार देख लूं कि इस युद्ध रूप व्यापार में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना योग्य है।

भगवान् श्रीः अर्जुन, जिनके साथ युद्ध करना है, उन्हें देखने की कृष्ण से प्रार्थना करता है। इसमें दो-तीन बातें आज की सुबह के लिए आखिरी समझ लेनी उचित है, फिर हम साँझ बात करेंगे।

एक तो, अर्जुन का यह कहना कि किनके साथ मुझे युद्ध करना है उन्हें मैं देखूँ, ऐसी जगह मुझे ले चलकर खड़ा कर दें। यह इस बात की सूचक है कि **युद्ध अर्जुन के लिए ऊपर से आया हुआ दायित्व है, भीतर से आयी हुई पुकार नहीं है।** ऊपर से आयी हुई मजबूरी है, **भीतर से आयी हुई वृत्ति नहीं है।** युद्ध एक विवशता है, मजबूरी है।

लड़ना पड़ेगा, इसलिए किससे लड़ना है, इसे वह पूछ रहा है कि उनको मैं देख लूं। कौन-कौन आतुर होकर आ गये हैं, कौन-कौन युद्ध के लिए तत्पर हैं, उन्हें मैं देख लूं। जो आदमी स्वयं युद्ध के लिए तत्पर है, उसे इसकी फिक्र नहीं होती कि दूसरा युद्ध के लिए तत्पर है या नहीं।

जो आदमी स्वयं युद्ध के तत्पर है, वह अन्धा होता है। वह दुश्मन को देखता नहीं, वह दुश्मन को 'प्रोजेक्ट' करता है। वह दुश्मन को देखना नहीं चाहता, उसे तो जो दिखायी पड़ता है, वह दुश्मन होता है। उसे दुश्मन को देखने की जरुरत नहीं, वह दुश्मन निर्मित करता है। वह दुश्मनी आरोपित करता है। **जब युद्ध भीतर होता है, तो बाहर दुश्मन पैदा हो जाता है।**

जब भीतर युद्ध नहीं होता, तब जांच-पड़ताल करनी पड़ती है कि कौन लड़ने को आतुर है, कौन लड़ने को उत्सुक है। तो अर्जुन कृष्ण से कहता है कि मुझे ऐसी जगह, ऐसे परिप्रेक्ष्य के बिन्दु पर खड़ा कर दें, जहां से मैं उन्हें देख लूं, जो लड़ने के लिए आतुर, यहाँ इकट्ठे हो गये हैं।

दूसरी बात—जिससे लड़ना है उसे ठीक से पहचान लेना युद्ध का पहला नियम है। समस्त युद्धों का, कैसे भी युद्ध हों जीवन के भीतरी या बाहरी, शत्रु की पहचान, युद्ध का पहला नियम है। और युद्ध में केवल वे ही जीत सकते हैं, जो शत्रु को ठीक से पहचानते हैं।

आमतौर से जो युद्ध-पिपासु है, वह नहीं जीत पाता; क्योंकि युद्ध-पिपासा के धुंए में वह इतना घिरा होता है कि शत्रु को पहचानना मुश्किल हो जाता है। लड़ने की आतुरता इतनी होती है कि किससे लड़ रहा है, उसे पहचानना मुश्किल हो जाता है। और जिससे हम लड़ रहे हैं, उसे न पहचानते हों, तो हार पहले से ही निश्चत है।

युद्ध के क्षण में जितनी शांति चाहिए विजय के लिए, उतनी शांति किसी और क्षण में नहीं चाहिए। युद्ध के क्षण में जितना साक्षी का भाव चाहिए विजय के लिए, उतना किसी और क्षण में नहीं चाहिए। अर्जुन यह कह रहा है कि अब मैं साक्षी होकर देख लूं कि कौन-कौन लड़ने को है। उनका निरीक्षण कर लूं, उनको 'आब्जर्व' कर लूं। यह थोड़ा विचारणीय है।

जब आप क्रोध में होते हैं तब 'आब्जर्वेशन' कम से कम रह जाता है। जब आप क्रोध में होते हैं तब निरीक्षण की क्षमता बिल्कुल खो जाती है। और जब क्रोध में होते हैं तब सर्वाधिक निरीक्षण की जरूरत है। लेकिन बड़े मजे की बात है, अगर निरीक्षण हो, तो क्रोध नहीं होता और अगर क्रोध हो, तो निरीक्षण नहीं होता। ये दोनों एक साथ नहीं हो सकते हैं। अगर एक व्यक्ति क्रोध में निरीक्षण को उत्सुक हो जाय तो क्रोध खो जायेगा। यह अर्जुन क्रोध में नहीं है। इसलिए निरीक्षण की बात कह पा रहा है। यह क्रोध की बात नहीं है। जैसे **युद्ध बाहर-बाहर है, छू नहीं रहा है कहीं**, साक्षी होकर देख लेना चाहता है, कौन-कौन लड़ने आये हैं। कौन-कौन आतुर हैं। यह निरीक्षण की बात कीमती है। और जब भी कोई व्यक्ति किसी भी युद्ध में जाए...चाहे बाहर के शत्रुओं से और चाहे भीतर के शत्रुओं से, तो निरीक्षण पहला सूत्र है, 'राइट आब्जर्वेशन' पहला सूत्र है।

ठीक से पहले देख लेना चाहिए कि किससे लड़ना है। क्रोध से लड़ना है तो क्रोध को देख लेना, काम से लड़ना है तो काम को देख लेना और लोभ से लड़ना है तो लोभ को देख लेना। बाहर भी लड़ने जायें तो पहले बहुत ठीक से देख लेना कि किससे लड़ रहे हैं। वह कौन है? इसका पूरा निरीक्षण तभी संभव है, जब साक्षी होने की क्षमता हो, अन्यथा संभव नहीं है। इसलिए गीता अब शुरू होने के करीब आ रही है। उसका रंगमंच तैयार हो गया है। लेकिन इस सूत्र को देखकर लगता है कि अगर आगे की गीता पता भी न हो, तो जो आदमी निरीक्षण को समझता है. वह इतने सूत्र पर भी कह सकता है कि अर्जुन को लड़ना मुश्किल पड़ेगा। यह आदमी लड़ न सकेगा। इसको लड़ने में कठिनाई आने ही वाली है।

जो आदमी निरीक्षण को उत्सुक है, वह आदमी लड़ने में कठिनाई पायेगा। यह जब देखेगा तो लड़ न पायेगा। **लड़ने के लिए आँखें बन्द चाहिए।** लड़ने के लिए जूझ जाना चाहिए, निरीक्षण की सुविधा नहीं होनी चाहिए। गीता न भी पता हो आगे, तो जो आदमी निरीक्षण के तत्व को समझेगा, वह इसी सूत्र पर कह सकेगा कि यह आदमी भरोसे का नहीं है। यह आदमी युद्ध में काम नहीं पड़ेगा। यह आदमी युद्ध से हट सकता है। क्योंकि जब देखेगा, तो सब बहुत व्यर्थ मालूम पड़ेगा। जो भी निरीक्षण करेगा, सब इतना 'फ्युटाइल', इतना व्यर्थ मालूम पड़ेगा कि वह कहेगा कि हट जाऊँ।

अर्जुन जो बात कह रहा है वह बात उसके चित्त की बड़ी प्रतीक है। वह अपने चित को इस सूत्र में साफ किये दे रहा है। वह यह नहीं कह रहा है कि मैं युद्ध को आतुर हूँ। मेरे सारथी! मुझे उस जगह ले चलो, जहाँ से मैं दुश्मनों का विनाश ठीक से कर सकूं। यह नहीं कह रहा है। वह यह कह रहा है कि मुझे उस जगह ले चलो जहां से मैं देख सकू कि कौन-कौन लड़ने आये हैं और वे कितने आतुर हैं। मैं उनका निरीक्षण कर सकूं। यह निरी-

क्षण बता रहा है कि यह आदमी विचार का आदमी है। और विचार का आदमी दुविधा में पड़ेगा।

युद्ध तो वे लोग कर सकते हैं जो विचारहीन हैं, भीम की तरह, दुर्योधन की तरह। या युद्ध वे लोग कर सकते हैं जो निर्विचार हैं, कृष्ण की तरह। विचार है बीच में। ये तीन बातें हैं। विचारहीनता विचार के पहले की अवस्था है। उसमें युद्ध बहुत आसान है। युद्ध के लिए कुछ करने की जरूरत नहीं है, ऐसी चित्त दशा में आदमी युद्ध में होता ही है। वह प्रेम भी करता है, तो प्रेम उसका युद्ध ही सिद्ध होता है। वह प्रेम भी करता है, तो अन्ततः घृणा ही सिद्ध होती है। वह मित्रता भी करता है, तो सिर्फ शत्रुता की एक सीढ़ी सिद्ध होती है। क्योंकि शत्रु बनाने के लिए पहले मित्र तो बनाना जरूरी होता ही है। बिना मित्र बनाये, शत्रु बनाना मुश्किल है। विचारहीन चित्त मित्र भी बनाता है, तो शत्रुता ही निकलती है। युद्ध स्वाभाविक है।

दूसरी सीढ़ी विचार की है। विचार सदा डाँवाडोल है। विचार सदा कंपित है। विचार सदा 'वेवरिंग' है। दूसरी सीढ़ी पर है अर्जुन। वह कहता है, निरीक्षण कर लूं, समझ लूं, फिर युद्ध में उतरूँ। कभी दुनिया में देख-समझकर युद्ध में उतरा नहीं जा सकता।

तीसरी सीढ़ी पर कृष्ण हैं। वह निर्विचार की है। वहाँ भी विचार नहीं है। लेकिन वह विचारहीनता नहीं है। 'थॉटलेसनेस' और 'नो थॉट,' विचारहीनता और निर्विचार एक से मालूम पड़ते हैं। लेकिन उनमें बुनियादी फर्क है। निर्विचार वह है, जो विचार की व्यर्थता को जानकर 'ट्रान्सेन्ड' (अतिक्रमण) कर गया, बाहर चला गया, पार चला गया। विचार सब चीजों की व्यर्थता बतलाता है। जीवन की भी, प्रेम की भी। परिवार की भी, धन की भी। संसार की भी, युद्ध की भी। **विचार सभी चीजों की व्यर्थतता बतलाता है।** लेकिन अगर कोई विचार करता ही चला जाय, तो अंत में **विचार, विचार की भी व्यर्थता बतला देता है। और तब आदमी निर्विचार हो जाता है।** तब निर्विचार में सब ठीक वैसा ही हो जाता है संभव, जैसा विचारहीन को संभव था। लेकिन 'क्वालिटी', गुण बिल्कुल बदल जाता है।

एक छोटा बच्चा जैसा होता है...जब कोई संतत्व को उपलब्ध होता है बुढ़ापे तक, तो फिर से छोटा बच्चा हो जाता। लेकिन छोटे बच्चे और संतत्व में ऊपरी ही समानता होती है। संत की आँखें भी छोटे बच्चे की तरह ही भोली हो जाती हैं। लेकिन छोटे बच्चे में अभी सब दबा पड़ा है। अभी सब निकलेगा। इसलिए छोटा बच्चा तो एक 'वॉल्केनो' है, एक ज्वालामुखी है। अभी फूटा नहीं है, बस इतना है। उसकी निर्दोषता, उसकी 'इनोसेंस' ऊपर-ऊपर है, भीतर तो सब तैयार है, बीज बन रहे हैं। फूट रहे हैं। अभी काम आयेगा, क्रोध आयेगा, शत्रुता आयेगी, सब आयेगा। अभी सबकी तैयारी चल रही है। छोटा बच्चा तो सिर्फ 'टाइम बाउन्ड' है। अभी समय लेगा और फूट पड़ेगा। लेकिन संत पार जा चुका है। वह सब भीतर जो बीज फूटने थे, फूट गये और व्यर्थ हो गये, और गिर गये। अब कुछ भी भीतर शेष नहीं बचा, अब आँखें फिर सरल हो गई हैं। अब फिर सब निर्दोष हो गया है।

किसी ने पूछा जीसस से कि कौन तुम्हारे स्वर्ग के राज्य का अधिकारी होगा? तो जीसस ने कहा, वे जो बच्चों की भांति हैं। जीसस ने यह नहीं कहा कि जो बच्चे हैं। क्योंकि बच्चे नहीं प्रवेश कर सकते। जो बच्चों की भाँति हैं अर्थात् जो बच्चे नहीं हैं। एक बात तो पक्की हो गयी, जो बच्चे नहीं हैं, लेकिन बच्चों की भाँति हैं। बच्चे प्रवेश करें, तब तो कठिनाई नहीं है, सभी प्रवेश कर जायेंगे। नहीं! बच्चे प्रवेश नहीं करेंगे। लेकिन 'जो बच्चों की भाँति हैं, जो पार हो गये हैं...' इसलिए अज्ञानी और परमज्ञानी में बड़ी समानता है। अज्ञानी जैसा ही सरल हो जाता है परम ज्ञानी। लेकिन अज्ञानी की सरलता के भीतर जटिलता पूरी छिपी रहती है, कभी भी प्रगट होती रहती है। **परम ज्ञानी की सब जटिलता खो गयी होती है।**

जो विचारहीन है उसमें विचार शक्ति पड़ी रहती है, वह विचार कर सकता है, करेगा। जो निर्विचार है, वह विचार के अतिक्रमण में पहुंच गया है, वह ध्यान में पहुँच गया है, समाधि में पहुँच गया है।

तो कठिनाई पूरी गीता में उपस्थित होगी, यह जो पूरा भीतर का अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित होगा उसके कारण अर्जुन दो तरह से युद्ध में जा सकता है— या तो वह विचारहीन हो जाय, नीचे उतर आये। या वहाँ खड़ा हो जाय, जहाँ दुर्योधन और भीम खड़े हैं, तो युद्ध में जा सकता है। और या फिर वह वहाँ पहुँच जाय, जहां कृष्ण खड़े हैं। निर्विचार हो जाय तो युद्ध में जा सकता है। अगर अर्जुन, अर्जुन ही रहे, मध्य में ही रहे, विचार में ही रहे, तो वह जंगल जा सकता है। युद्ध में नहीं जा सकता है। वह पलायन करेगा, वह भागेगा।

* * *

दूसरा प्रवचन

प्रथम गीता ज्ञान-यज्ञ, अहमदाबाद, रात्रि, दिनाँक २९ नवम्बर, १९७०

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ।। २३ ।।

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ।। २४ ।।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ।। २५ ।।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।। २६ ।।

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।। २७ ।।

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।। २८ ।।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।। २९ ।।

और दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में कल्याण चाहने वाले जो-जो ये राजा लोग इस सेना में आये हैं उन युद्ध करने वालों को मैं देखूंगा।

संजय बोलाः हे धृतराष्ट्र, अर्जुन द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर भीष्म और द्रोणाचार्य के सामने और संपूर्ण राजाओं के सामने, उत्तम रथ को खड़ा करके ऐसे कहा कि हे पार्थ, इन इकट्ठे हुए कौरवों को देख।

उसके उपरान्त पृथापुत्र अर्जुन ने उन दोनों ही सेनाओं में स्थित हुए पिता के भाइयों को, पितामहों को, आचार्यों को, मामों को, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को तथा मित्रों को, ससुरों को और सुहृदों को भी देखा।

इस प्रकार उन खड़े हुए संपूर्ण बन्धुओं को देखकर वह अत्यन्त करुणा से युक्त हुआ कुन्तीपुत्र अर्जुन शोक करता हुआ यह बोलाः हे कृष्ण! इस युद्ध की इच्छा वाले खड़े हुए स्वजन समुदाय को देखकर मेरे अंग शिथिल हुए जाते हैं और मुख भी सूखा जाता है और मेरे शरीर में कम्प तथा रोमांच होता है।

भगवान् श्रीः अर्जुन युद्ध से पीड़ित नहीं है। युद्ध-विरोधी भी नहीं है। हिंसा के संबंध में उसकी कोई अरुचि भी नहीं है। उसके सारे जीवन का शिक्षण, उसके सारे जीवन का संस्कार, हिंसा और युद्ध के लिए है। लेकिन, यह समझने जैसी बात है कि जितना ही हिंसक चित्त हो, उतना ही ममत्व से भरा हुआ चित्त भी होता है। हिंसा और ममत्व साथ ही साथ जीते हैं। अहिंसक चित्त ममत्व के भी बाहर हो जाता है। असल में जिसे अहिंसक होना हो उसे मेरे का भाव ही छोड़ देना पड़ता है। **'मेरे' का भाव ही हिंसा है।** क्योंकि जैसे ही मैं कहता हूं मेरा, वैसे ही जो मेरा नहीं है, वह पृथक होना शुरू हो जाता है। जैसे ही मैं कहता हूं मित्र, वैसे ही मैं किसी को शत्रु बनाना

शुरू कर देता हूं। जैसे ही मैं सीमा खींचता हूं अपनों की, वैसे ही मैं परायों की सीमा भी खींच लेता हूं। समस्त हिंसा, अपने और परायों के बीच खींची गयी सीमा से पैदा होती है।

इसीलिए अर्जुन शिथिल-गात हो गया है। उसके अंग-अंग शिथिल हो गये हैं। इसलिए नहीं कि वह युद्ध से विरक्त हुआ, इसलिए नहीं कि उसे होने वाली हिंसा में कुछ बुरा दिखायी पड़ा। इसलिए नहीं कि अहिंसा का कोई आकस्मिक आकर्षण उसके मन में जन्म गया; बल्कि इसलिए कि हिंसा के ही दूसरे पहलू ने उसके भीतर से, हिंसा के ही गहरे पहलू ने, हिंसा के ही बुनियादी आधार ने, उसके चित्त को पकड़ लिया। ममत्व ने उसके चित्त को पकड़ लिया।

ममत्व हिंसा ही है। इसे न समझेंगे तो फिर पूरी गीता को समझना कठिन हो जायेगा। जो इसे नहीं समझ सके, उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि अर्जुन अहिंसा की तरफ झुकता था, कृष्ण ने उसे हिंसा की तरफ झुकाया। जो अहिंसा की तरफ झुकता हो, उसे कृष्ण हिंसा की तरफ झुकाना नहीं चाहेंगे। जो अहिंसा की तरफ झुकता हो, उसे कृष्ण चाहें भी हिंसा की तरफ झुकाना, तो भी न झुका पायेंगे। लेकिन अर्जुन अहिंसा की तरफ रत्ती भर भी नहीं झुक रहा है। अर्जुन का चित्त हिंसा के गहरे आधार पर जा कर अटक गया है। वह हिंसा का ही आधार है।

उसे दिखायी पड़े, अपने ही लोग—प्रियजन, संबंधी। काश! वहां प्रियजन और संबंधी न होते, तो अर्जुन भेड़-बकरियों की तरह लोगों को काट सकता था। अपने थे, इसलिए काटने में कठिनाई मालूम पड़ी। पराये होते तो काटने में कोई कठिनाई नहीं मालूम पड़ती।

अहिंसा केवल उसके ही चित्त में पैदा होती है, जिसका अपना-पराया मिट गया हो। अर्जुन का यह जो संकटग्रस्त हुआ चित्त है, यह अहिंसा की तरफ आकर्षण से नहीं, हिंसा के ही मूल आधार पर पहुंचने के कारण है। स्वभावतः इतने संकट के क्षण में, इतने 'क्राइसिस' के 'मोमेंट' में हिंसा की जो बुनियादी आधारशिला थी, वह अर्जुन के सामने प्रगट हुई। अगर पराये होते तो अर्जुन को पता भी न चलता कि वह हिंसक है, उसे पता भी न चलता कि उसने कुछ बुरा किया। उसे पता भी न चलता कि युद्ध अधार्मिक है। उसके गात शिथिल न होते, बल्कि परायों को देखकर उसके गात और तन जाते। उसके धनुष पर वाण आ जाता। उसके हाथ पर तलवार आ जाती। वह बड़ा प्रफुल्लित होता।

अर्जुन एकदम उदास हो गया था। इस उदासी में उसे अपने चित्त की हिंसा का मूल आधार दिखायी पड़ा। उसे दिखायी पड़ा इस संकट के क्षण में ममत्व! यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अक्सर हम अपने चित्त की गहराइयों को केवल संकट के क्षणों में ही देख पाते हैं। साधारण क्षणों में हम चित्त गहराइयों को नहीं देख पाते। साधारण क्षणों में हम साधारण जीते हैं। असाधारण क्षणों में, जो हमारे गहरे से गहरे में छिपा है, वह प्रगट होना शुरू हो जाता है।

अर्जुन को दिखायी पड़ा– "मेरे लोग!" युद्ध की वीभत्सता में, युद्ध की सन्निकटता में–बस, अब युद्ध शुरू होने को है, तभी उसे दिखायी पड़े, "मेरे लोग!" काश! अर्जुन ने कहा होता, युद्ध व्यर्थ है, हिंसा व्यर्थ है, तो गीता की किताब निर्मित न होती। लेकिन उसने कहा, अपने ही लोग इकट्ठे हैं। उनको मारने के विचार से ही मेरे अंग शिथिल हुए जाते हैं। असल में जिसने अपने जीवन के भवन को, अपनों के ऊपर बनाया है, उन्हें ही मारने के क्षण में उसके अंग शिथिल हों, यह बिल्कुल स्वाभाविक है।

मृत्यु होती है पड़ोस में। छूती नहीं मन को! कहते हैं, "बेचारा मर गया"। घर में होती है, तब इतना कहकर नहीं निपट पाते। तब छूती है। क्योंकि जब घर में होती है, अपना कोई मरता है तो हम भी मरते हैं। हमारा भी एक हिस्सा मरता है। हमारा भी 'इनव्हेस्टमेंट' था उस आदमी में, हमने भी उसमें कुछ लगाया था। उसकी जिन्दगी से हमें भी कुछ मिलता था। हमारे मन के किसी कोने को उस आदमी ने भरा था। पत्नी मरती है तो पत्नी ही नहीं मरती, पति भी मरता है। बेटा मरता है, तो मां भी मरती है! क्योंकि माँ, बेटे के पहले माँ नहीं थी। माँ बेटे के जन्म के साथ ही माँ हुई थी। जब बेटा जन्मता है, तो एक तरफ बेटा जन्मता है और दूसरी तरफ मां भी जन्मती है। और जब बेटा मरता है, तो एक तरफ बेटा मरता है, दूसरी तरफ मां भी मरती है। जिसे हमने अपना कहा है, उससे हम जुड़े हैं, इसलिये हम भी मरते हैं।

अर्जुन ने जब देखा– अपने ही सब इकट्ठे हैं, तो अर्जुन को अगर अपना ही आत्मघात, 'स्युसाइड' दिखायी पड़ा हो, तो आश्चर्य नहीं है। अर्जुन घबड़ाया नहीं दूसरों की मृत्यु से, अर्जुन घबड़ाया आत्मघात की संभावना से। उसे लगा, सब अपने मर जायँ, तो मैं बचूंगा कहां। यह थोड़ा सोचने जैसा है। हमारा "मैं", हमारे अपनों के जोड़ का नाम है। जिसे हम "मैं" कहते हैं, वह "मेरों" के जोड़ का नाम है। अगर मेरे, सब मेरे बिदा हो जायँ तो

मैं खो जाऊंगा। मैं बच नहीं सकता। यह मेरा 'मैं', कुछ मेरे पिता से, कुछ मेरी मां से, कुछ मेरे बेटे से, कुछ मेरे मित्र से, इन सबसे जुड़ा है।

आश्चर्य तो यह है कि जिन्हें हम अपने कहते हैं, उनसे ही नहीं जुड़ा है, जिन्हें हम पराये कहते हैं, उनसे भी जुड़ा है। परिधि के बाहर, लेकिन उनसे भी जुड़ा है। तो जब मेरा शत्रु मरता है तब भी थोड़ा सा मैं मरता हूं। क्योंकि मैं फिर वही नहीं हो सकूंगा, जो मेरे शत्रु के होते, मैं था। शत्रु भी मेरी जिन्दगी को कुछ देता था। मेरा शत्रु, होगा शत्रु, पर 'मेरा' था। उससे भी मेरे 'मैं' का संबंध था। उसके बिना मैं फिर अधूरा और खाली हो जाऊंगा।

अर्जुन को दूसरों का घात होगा, ऐसा दिखायी पड़ता, तो बात और थी। अर्जुन को बहुत गहरे में दिखायी पड़ा कि यह तो मैं अपनी ही आत्महत्या करने को उत्सुक हुआ हूँ। यह तो मैं मरूँगा। 'मेरे' मर जायेंगे, तो मेरे होने का क्या अर्थ है। जब मेरे ही न होंगे तो मुझे सब मिल जाय, तो भी व्यर्थ है।

यह भी सोचने जैसा है। हम अपने लिए जो कुछ इकट्ठा करते हैं, वह अपने लिए कम, अपनों के लिए ज्यादा होता है। जो मकान हम बनाते हैं, वह अपने लिए कम, 'अपनों' के लिए ज्यादा होता है। उन अपनों के लिए भी जो साथ रहेंगे, और उन अपनों के लिए भी जो देखेंगे और प्रशंसा करेंगे, और उन 'पराये-अपनों' के लिए भी, जो जलेंगे और ईर्ष्या से मरेंगे। अगर इस पृथ्वी पर सबसे श्रेष्ठ भवन भी मेरे पास रह जाय और अपने न रह जायं, मित्र भी नहीं, शत्रु भी नहीं, तो अचानक मैं पाऊंगा कि वह भवन झोपड़ी से भी बदतर हो गया है। क्योंकि वह भवन एक 'फसाड', एक दिखावा था। उस भवन के माध्यम से मैं अपनों को, परायों को प्रभावित कर रहा था। वह भवन तो सिर्फ प्रभावित करने की एक व्यवस्था थी। अब मैं किसे प्रभावित करूं!

आप जो कपड़े पहनते हैं, वह अपने शरीर को ढंकने को कम, दूसरे की आँखों को झपने को ज्यादा है। अकेले में सब बेमानी हो जाता है। आप जो सिंहासनों पर चढ़ते हैं, वह सिंहासनों पर बैठने के आनंद के लिए कम, (क्योंकि कोई सिंहासन पर बैठकर कभी किसी आनन्द को उपलब्ध नहीं हुआ है) पर अपनों और परायों में, सिंहासन पर चढ़कर, जो करिश्मा, जो चमत्कार हम पैदा कर पाते हैं, उसके लिए ज्यादा है। सिंहासन पर बैठे होना हास्यास्पद हो गया है। उतर आयेंगे। फिर शायद दुबारा नहीं चढ़ेंगे। अर्जुन को लगा उस क्षण में कि 'अपने' ही इकट्ठे हैं दोनों तरफ। मरेंगे अपने ही। अगर

जीत भी गया तो जीत का प्रयोजन क्या है ? जीत के लिए जीत नहीं चाही जाती। जीत में रस है, अपनों और परायों के बीच जो अहंकार भरेगा, उसका ! साम्राज्य मिलेगा, क्या होगा अर्थ ? कोई अर्थ न होगा ।

यह जो अर्जुन के मन में विषाद घिर गया, इसे ठीक से समझ लेना चाहिए। **यह विषाद ममत्व का है। यह विषाद हिंसक चित्त का है।** और इस विषाद के कारण ही कृष्ण को, इतने धक्के देने पड़े अर्जुन को। अर्जुन की जगह यदि महावीर जैसा व्यक्ति होता, तो बात उसी वक्त खत्म हो गयी होती। यह बात आगे नहीं चल सकती थी। अगर महावीर जैसा व्यक्ति होता, तो शायद यह बात उठ भी नहीं सकती थी। शायद महावीर जैसा व्यक्ति होता, तो कृष्ण एक शब्द भी उस व्यक्ति से न बोले होते। बोलने का कोई अर्थ न था। बात समाप्त ही हो गयी होती।

यह गीता कृष्ण ने कही कम, अर्जुन ने कहलवायी ज्यादा है। इसका असली 'आॅथर' (रचयिता) कृष्ण नहीं हैं, इसका असली लेखक अर्जुन है। अर्जुन की यही चित्त दशा आधार बनी है। और कृष्ण को साफ दिखायी पड़ रहा है कि एक हिंसक अपनी हिंसा के पूरे दर्शन को उपलब्ध हो गया है। और अब हिंसा से भागने की जो बातें कर रहा है, उनका कारण भी हिंसक चित्त है। अर्जुन की दुविधा, अहिंसक की हिंसा से भागने की दुविधा नहीं है।

इस सत्य को भी ठीक से समझ लेना जरूरी है। यह **ममत्व** हिंसा ही है, लेकिन **गहरी हिंसा है। दिखायी नहीं पड़ती।** जब मैं किसी को कहता हूं, 'मेरा', तो 'पजेशन' शुरू हो गया, मालकियत शुरू हो गयी। **मालकियत हिंसा का एक रूप है।** पति पत्नी को कहता है, 'मेरी'। बस ! मालकियत शुरू हो गयी। पत्नी पति से कहती है, 'मेरे,' मालकियत शुरू हो गयी। और जब भी हम किसी व्यक्ति के मालिक हो जाते हैं, तभी हम उस व्यक्ति की आत्मा का हनन कर देते हैं। हमने मार डाला उसे। हमने तोड़ डाला उसे। असल में हम उस व्यक्ति के साथ, व्यक्ति की तरह नहीं, वस्तु की तरह व्यवहार कर रहे हैं। अब कुर्सी मेरी जिस अर्थ में होती है, उसी अर्थ में पत्नी मेरी हो जाती है। मकान मेरा, जिस अर्थ में होता है, उसी अर्थ में पति मेरा हो जाता है। स्वभावतः, इसलिए जहां-जहां मेरे का संबंध है, वहां-वहां प्रेम फलित नहीं होता, सिर्फ कलह ही फलित होती है। इसलिए दुनिया में जब तक पति-पत्नी मेरे का दावा करेंगे, बाप-बेटे मेरे का दावा करेंगे, तब तक दुनिया में बाप-बेटे, पति-पत्नी के बीच कलह ही चल सकती है, मैत्री नहीं हो सकती। मेरे का दावा, मैत्री का विनाश है। मेरे का दावा, चीजों को उल्टा ही कर देता है।

सब हिंसा हो जाती है।

मैंने सुना है, एक आदमी ने शादी की है, लेकिन पत्नी बहुत पढ़ी-लिखी नहीं है। मन में बड़ी इच्छा है कि पत्नी कभी पत्र लिखे। घर से बाहर पति गया है तो उसे समझा कर गया है। थोड़ा लिख लेती थी। इसलिये समझाकर गया था कि क्या-क्या लिखना। सभी पति-पत्नी एक दूसरे को समझा रहे हैं, क्या-क्या लिखना।

उसने बताया था ऊपर लिखना—"प्राणों से प्यारे"। वास्तव में कभी ऐसा होता नहीं है। नीचे लिखना—"चरणों की दासी"। पत्नी का पत्र तो मिला, लेकिन कुछ भूल हो गयी थी उस बेचारी से ! उसने ऊपर लिखा था —"चरणों के दास", और नीचे लिखा, "प्राणों की प्यासी"। जो नहीं लिखते हैं, उनकी स्थिति भी ऐसी ही है। जो बिल्कुल ठीक-ठीक लिखते हैं, उनकी स्थिति भी ऐसी ही है। जहाँ आग्रह है मालकियत का, वहाँ हम सिर्फ घृणा ही पैदा करते हैं और जहाँ घृणा है, वहाँ हिंसा आयेगी ही। इसलिए हमारे सभी संबंधों में हिंसा के संबंध होते हैं। हमारा परिवार हिंसा का संबंध होकर रह गया है।

यह जो अर्जुन को दिखायी पड़ा, मेरे सब मिट जायेंगे तो मैं कहाँ, और मेरों को मिटाकर जीत का, साम्राज्य का क्या अर्थ है? इससे वह अहिंसक नहीं हो गया है, अन्यथा कृष्ण आशीर्वाद देते और कहते बिदा हो जा। बात समाप्त हो गयी। लेकिन कृष्ण देख रहे हैं कि हिंसक वह पूरा है। मैं और ममत्व की बात कर रहा है, इसलिए अहिंसा झूठी है। जो मैं की बात कर रहा हो और अहिंसा की बात भी कर रहा हो, तो जानना कि अहिंसा झूठी है। क्योंकि 'मैं' के आधार पर अहिंसा का फूल खिलता ही नहीं। मेरे के आधार पर अहिंसा के जीवन का कोई विकास ही नहीं होता।

● **प्रश्नकर्ता :** भगवान् श्री ! अर्जुन युद्धभूमि पर गया। उसने स्वजन, गुरुजन, मित्रों को देखा तो शोक से भर गया। विषाद हुआ उसको। उसका चित्त हिंसक था। युद्धभूमि पर दुर्योधन भी था, युधिष्ठिर भी था, द्रोणाचार्य भी थे और भी जो बहुत से थे, उनके भी स्वजन मित्र थे। उनका भी चित्त हिंसा तथा ममत्व से भरा हुआ था, तो अर्जुन को ही विषाद क्यों हुआ ?

भगवान् श्री : निश्चय ही, दुर्योधन भी वहाँ था, और भी योद्धा वहाँ थे, उन्हें क्यों विषाद न हुआ ? वे भी ममत्व से भरे लोग थे। परन्तु उन्हें नहीं

हुआ, कारण है। हिंसा भी अंधी हो सकती है, विचारहीन हो सकती है। ममत्व भी अंधा हो सकता है, विचारहीन हो सकता है। हिंसा भी आँख वाली हो सकती है, विचारपूर्ण हो सकती है। ममत्व भी आँख वाला हो सकता है, विचारपूर्ण हो सकता है।

सुबह मैंने कहा था कि अर्जुन की कठिनाई यही है कि वह विचारहीन नहीं है। वह विचारवान है। और विचार दुविधा में डालता है। विचार ने दुविधा में डाला उसे। दुर्योधन को भी दिखायी पड़ रहा है, लेकिन उसकी हिंसा इतनी अन्धी है कि यह नहीं देख पायेगा दुर्योधन कि इस हिंसा के पीछे में उन सबको मार डालूंगा, जिनके बिना हिंसा भी व्यर्थ हो जाती है। अन्धेपन में यह दिखायी नहीं पड़ेगा। अर्जुन उतना अन्धा नहीं है। इसलिए अर्जुन उस युद्ध के स्थल पर विशेष है। विशेष इन अर्थों में है कि जीवन की तैयारी उसकी वही है जो दुर्योधन की है। लेकिन मन की तैयारी उसकी भिन्न है। मन में उसके विचार हैं, सन्देह हैं, 'डाउट्स' हैं। मन में उसके शक है। वह पूछ सकता है, वह प्रश्न उठा सकता है और जिज्ञासा का बुनियादी सूत्र उसके पास है।

सबसे बड़े प्रश्न वे नहीं हैं, जो हम जगत् के संबंध में उठाते हैं। सबसे बड़े प्रश्न वे नहीं हैं, जो हम पूछते हैं कि किसने जगत् बनाया? सबसे बड़े प्रश्न वे नहीं हैं, जिसमें हम पूछते हैं, "ईश्वर है या नहीं?" सबसे बड़े प्रश्न वे हैं, जो हमारे मन की ही कांफ्लिक्ट, हमारे मन के ही द्वन्द्व से जन्मते हैं। लेकिन अपने ही मन के द्वन्द्व को देख पाने के लिए विचार चाहिए, चिन्तन चाहिए, मनन चाहिए।

अर्जुन सोच पा रहा है, देख पा रहा है कि मैं जो हिंसा करने जा रहा हूँ, उसमें वे ही लोग मर जायेंगे, जिनके लिए हिंसा करने का कुछ अर्थ हो सकता है। अंधा नहीं है, और यह अंधा न होना ही उसका कष्ट भी है, उसका सौभाग्य भी है। इसे समझ लेना उचित है। अन्धा नहीं है, यह उसका कष्ट है। दुर्योधन कष्ट में नहीं है। दुर्योधन के लिए युद्ध एक रस है। अर्जुन के लिए युद्ध एक संकट और कष्ट हो गया। सौभाग्य भी यही है। यदि वह इस कष्ट के पार हो जाता है, तो निर्विचार में पहुँच सकेगा। अगर वह इस कष्ट के पार हो जाता है, तो परमात्मा में समर्पण को पहुँच सकेगा। अगर वह इस कष्ट के पार हो जाता है तो ममत्व को छोड़ने में पहुँच सकेगा। अगर इस कष्ट के पार नहीं हो पाता, तो निश्चित ही यह युद्ध उसके लिए विकट संकट होगा, जिसमें वह 'स्किजोफ्रेनिक' हो जायेगा। जिसमें उसका व्यक्तित्व दो खण्डों में टूट जायेगा। या तो भाग जायेगा, या फिर लड़ेगा बेमन से और हार जायेगा।

जो लड़ाई बेमन से लड़ी जाय, वह हारी ही जानेवाली है। क्योंकि बेमन से लड़ने का मतलब है, आधा मन भाग रहा है, आधा मन लड़ रहा है। और जो आदमी अपने भीतर ही विपरीत दिशाओं में गति करता हो, उसकी पराजय निश्चित है। दुर्योधन जीतेगा फिर। वह पूरे मन से लड़ रहा है। कुएँ में भी गिर रहा है, तो पूरे मन मन से गिर रहा है। अन्धकार में भी जा रहा है, तो पूरे मन से जा रहा है।

असल में अन्धकार में दो ही व्यक्ति पूरे मन से जा सकते हैं। एक तो वह, जो अन्धा है। क्योंकि उसे अन्धकार और प्रकाश से कोई अन्तर नहीं पड़ता। एक वह, जिसके पास आत्मिक प्रकाश है। क्योंकि तब उसका होना ही अन्धकार को मिटा देता है।

अर्जुन या तो दुर्योधन जैसा हो जाय, नीचे गिर जाय, विचार से विचार-हीनता में गिर जाय, तो युद्ध में चला जायेगा। और या कृष्ण जैसा हो जाय —विचार से निर्विचार में पहुँच जाय, इतना ज्योतिर्मय हो जाय, इतना भीतरी ज्योति से भर जाय कि देख पाये कि कौन मरता है, कौन मारा जाता है। देख पाये कि यह सब जो हो रहा है, स्वप्न से ज्यादा नहीं है। या तो इतने बड़े सत्य को देख पाये तो युद्ध में जा सकता है या इतने बड़े असत्य को देख पाये कि हम उनको ही मार कर आनन्द को उपलब्ध हो जायेंगे, जिनके लिए मारने की चेष्टा कर रहे हैं। या तो दुर्योधन के असत्य में उतर जाय, तो अर्जुन निश्चित हो जायेगा या कृष्ण के सत्य में पहुँच जाय तो अर्जुन निश्चित हो जायेगा। **अर्जुन एक तनाव है।**

नीत्से ने कहीं कहा है कि आदमी एक सेतु है, 'मैन इज ए ब्रिज'। दो अलग-अलग बिन्दुओं को जोड़ता हुआ आदमी एक तनाव है। या तो पशु हो जाय तो सुख को पा ले या परमात्मा हो जाय तो आनन्द को पा ले। लेकिन जब तक आदमी है, तब तक सुख भी नहीं पा सकता, तब तक आनन्द भी नहीं पा सकता, तब तक सुख और आनन्द के बीच सिर्फ खिंच सकता है। 'एंग्जाइटी' और तनाव से भरा हो सकता है। इसलिए हम दोनों काम करते हैं जीवन में। शराब पीकर पशु हो जाते हैं। थोड़ा सुख मिलता है। सेक्स में थोड़ा सुख मिलता है। पशु में वापस उतर जाते हैं। नीचे गिर जाते हैं विचार से, तो थोड़ा सुख मिलता है।

दुनिया में शराब का इतना आकर्षण किसी और कारण से नहीं है। शराब हमें वापस पशु में पहुँचा देने की सुविधा बन जाती है, नशा करके हम वहीं हो

जाते है, जहां सभी पशु हैं। फिर हम पशु जैसे निश्चिंत हैं, क्योंकि पशु कोई चिन्ता नहीं करता। कोई पशु पागल नहीं होता। सिर्फ सर्कस के पशु पागल होते हैं। क्योंकि सर्कस का पशु करीब-करीब आदमी की हालत में आ जाता है। आदमी करीब-करीब सर्कस के पशु की हालत में है। कोई पशु पागल नहीं होता और किसी पशु के लिए विक्षिप्तता, चिन्ता, अनिद्रा, "इनसोमनिया," ऐसी बीमारियां नहीं आतीं। कोई पशु आत्मघात नहीं करता। 'स्युसाइड' (आत्महत्या) नहीं करता है। क्योंकि आत्मघात के लिए बहुत चिन्ता इकट्ठी हो जानी जरुरी है।

बड़े मजे की बात है, कोई पशु 'बोर्डम' अनुभव नहीं करता, वह कभी ऊबता नहीं है। एक भैंस है, वह रोज घास चर रही है, चरती रहेगी, वह कभी नहीं ऊबती। ऊबने का कोई सवाल नहीं। ऊबने के लिए विचार चाहिए, 'बोर्डम' के लिए, ऊब के लिए विचार चाहिए। इसलिए मनुष्यों में, जो जितना ज्यादा विचारशील है वह उतना ऊबेगा। मनुष्यों में जो जितना ज्यादा विचारशील है, वह उतना चिन्ता से भर जायेगा। मनुष्यों में यदि कोई ज्यादा विचारशील है, तो वह पागल हो सकता है, वह विक्षिप्त हो सकता है। लेकिन यह एक ही पहलू है।

दूसरा पहलू यह है कि जो विक्षिप्त होने की स्थिति को पार कर जाय, वह विमुक्त भी हो सकता है। और जो चिन्ता को पार कर जाय, वह निश्चिंतता के सजग आनन्द को उपलब्ध हो सकता है। और जो तनाव को पार कर जाय, वह विश्रांति के उस अनुभव को पा सकता है, जो सिर्फ परमात्मा में विश्रांति से उपलब्ध होती है।

अर्जुन मनुष्य का प्रतीक है। दुर्योधन पशु का प्रतीक है। कृष्ण परमात्मा के प्रतीक हैं। वहाँ तीन प्रतीक हैं उस युद्ध-स्थल पर। अर्जुन डाँवाडोल है। वह दुर्योधन और कृष्ण के बीच डाँवाडोल है। उसे निश्चिंतता मिल सकती है, "ही कैन बी ऐट इज" — अगर वह दुर्योधन हो जाय अथवा अगर वह कृष्ण हो जाय। अर्जुन रहते कोई सुविधा नहीं है। अर्जुन रहते तनाव है। अर्जुन रहते मुश्किल है। उसकी मुश्किल यही है कि दुर्योधन हो नहीं सकता, कृष्ण होना समझ में नहीं आता और जो है, वहाँ टिक नहीं सकता। क्योंकि वह बीच की तरंग भर है, वहां टिका नहीं जा सकता। कोई भी सेतु मकान बनाने के लिए नहीं होता।

अकबर ने फतेहपुर सीकरी बनायी, तो वहाँ एक पुल पर, एक ब्रिज पर उसने वाक्य लिखवाया – "सेतु पार करने को है। सेतु निवास के लिए नहीं है।" वहाँ ठीक लिखा है। जो भी आदमी सेतु पर निवास बनायेगा, वह मुश्किल में पड़ेगा।

कहीं भी लौट जायें, पशु हो जायें कि परमात्मा हो जायें, आदमी नियति नहीं है। आदमी होना संकट है, 'क्राइसिस' है। आदमी अंत नहीं है। आदमी अगर ठीक से हम समझें, तो वह न तो पशु है और न परमात्मा है। न तो वह पशु हो पाता है, क्योंकि पशु को पार कर चुका है। और न वह परमात्मा हो पाता है, क्योंकि परमात्मा को पहुँचना है। **मनुष्य सिर्फ परमात्मा और पशु के बीच डोलता हुआ अस्तित्व है।** हम चौबीस घण्टे में कई बार दोनों कोनों पर पहुँच जाते हैं। क्रोध में वही आदमी पशु के निकट आ जाता है, शांति में वही आदमी परमात्मा के निकट पहुँच जाता है।

हम दिन के चौबीस घण्टों में बहुत बार नरक और स्वर्ग की यात्रा कर लेते हैं। बहुत बार। क्षण में स्वर्ग में होते है, क्षण में नरक में उतर जाते हैं। नरक में पछताते हैं, फिर स्वर्ग की चेष्टा शुरू हो जाती है। स्वर्ग में पैर जमा नहीं पाते, फिर नरक में पहुँचना शुरू जाता है। और तनाव का एक नियम है कि तनाव सदा विपरीत में आकर्षण पैदा कर देता है। जैसे घड़ी का पेण्डुलम होता है। वह बायीं तरफ जाता है। जब बायीं तरफ जाता है, तब हमें लगता है कि बायीं तरफ जा रहा है। लेकिन जो घड़ी के विज्ञान को समझते हैं, वे यह भी जानते हैं कि वह बायीं तरफ जाते समय दायीं तरफ जाने की शक्ति इकट्ठी कर रहा है, "मोमेंटम" इकट्ठा कर रहा है। वह जितनी दूर बायें तरफ जायेगा, उतनी ही दूर दाँयें तरफ जाने की ताकत इकट्ठी कर रहा है। असल वह बाँयें तरफ इसीलिए जा रहा है कि दाँयें तरफ जा सके। और दाँयें तरफ जाते वक्त, इसीलिए जा रहा कि बाँये तरफ जा सके।

आदमी पूरे समय पशु और परमात्मा के बीच पेण्डुलम की तरफ घूम रहा है। अर्जुन आदमी का प्रतीक है। और आज के आदमी का तो और भी ज्यादा है। आज के आदमी की चेतना ठीक अर्जुन की चेतना है। इसलिए दुनिया में दोनों बातें एक साथ हैं। एक ओर मनुष्य अपनी चेतना को समाधि तक ले जाने के लिए आतुर है। और दूसरी तरफ आदमी एल एस डी से, मैस्कलीन से, मेरीजुआना से, शराब से, सेक्स से पशु की तरफ जाने को आतुर है। और अक्सर ही ऐसा होगा कि एक ही आदमी यह दोनों काम करता हुआ मालूम पड़ेगा। वही आदमी भारत की यात्रा पर आयेगा, वही आदमी अमेरिका में एल एस डी लेता रहेगा। वह दोनों एक साथ कर रहा है।

मनुष्य बेहोश हो जाय, तो पशु हो सकता है। लेकिन बेहोश ज्यादा देर

नहीं रहा जा सकता। बेहोशी के सुख भी, होश में ही अनुभव हो पाते हैं। बेहोशी में बेहोशी का सुख भी अनुभव नहीं होता। शराब का भी मजा, जब शराब पिये होता है आदमी, तब नहीं चलता। पता तो तभी चलता है, जब शराब का नशा उतर जाता है। नींद में जब आप होते हैं, तब नींद का कोई मजा पता नहीं चलता। वह तो सुबह जागकर पता चलता है कि बड़ी आनन्द-पूर्ण निद्रा थी। बेहोशी के सुख के लिए होश में आना जरूरी है। और होश में कोई सुख नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि सिर्फ बेहोशी में उतरना होता है।

अर्जुन मनुष्य की चेतना है, इसलिए अद्‌भुत है। गीता इसलिए अद्‌भुत है कि वह मनुष्य की बहुत आंतरिक मनःस्थिति का आधार है। मनुष्य की आंतरिक मनःस्थिति वाले अर्जुन के साथ, कृष्ण का जो संघर्ष है पूरे समय, वह जो अर्जुन के साथ कृष्ण का संवाद है या विवाद है, वह जो अर्जुन को खींच-खींच कर परमात्मा की तरफ लाने की चेष्टा है, और अर्जुन वापस शिथिल-गात होकर बैठ जाता है, वह फिर पशु में गिरना चाहता है। यह जो संघर्ष है वह अर्जुन के लिए है, दुर्योधन के लिए नहीं। दुर्योधन निश्चित है। अर्जुन भी वैसा हो तो निश्चित हो सकता है। वह वैसा नहीं है।

हममें भी जो दुर्योधन की तरह हैं, वे निश्चित हैं। वे मकान बना रहे हैं, वे दिल्ली में, राजधानियों के सिंहासनों पर चढ़ रहे हैं। वे धन कमा रहे हैं। हममें भी जो अर्जुन की तरह हैं, वे बेचैन और परेशान हैं। वे बेचैन हैं इसलिए कि जहाँ हैं, वह जगह घर बनाने योग्य मालूम नहीं पड़ती। जहाँ से आ गये हैं, वहाँ से आगे बढ़ चुके हैं। पीछे लौटना संभव नहीं है। जहाँ पहुँचे नहीं हैं, उसका कोई पता नहीं है कि कहाँ है मार्ग, वह मंजिल कहां है! उसका कोई पता नहीं है।

धार्मिक आदमी स्वभावतः संकटग्रस्त होता है, 'क्राइसिस' में होता है। अधार्मिक आदमी क्राइसिस में नहीं होता। इसलिए मंदिरों में बैठा आदमी ज्यादा चिंतित दिखायी पड़ेगा, बजाय कारागृह में बैठे आदमी के। कारागृह में बैठा आदमी इतना चिंतित नहीं मालूम पड़ता है, निश्चित है। उसमें एक किनारे पर वह है, वह सेतु पर नहीं है। किन्हीं अर्थों में वह सौभाग्यशाली मालूम पड़ सकता है। कितना निश्चित है! लेकिन उसका सौभाग्य बड़े गहरे अभिशाप को छिपाये है। वह इसी तट पर रह जायेगा। उसमें अभी मनुष्य की किरण भी पैदा नहीं होगी। मनुष्य के साथ ही उपद्रव शुरू होता है, **मनुष्य के साथ ही संताप शुरू होता है, क्योंकि मनुष्य के साथ परमात्मा होने की संभावना के, 'पोटेंशियालिटी' के द्वार खुलते हैं।**

वह अर्जुन पशु होना नहीं चाहता था। स्थिति पशु की है, परमात्मा होने का उसे पता नहीं। बहुत गहराई में, अनजान में आकांक्षा परमात्मा होने की ही है, इसीलिए वह पूछा रहा है। इसलिए प्रश्न उठा रहा है, इसलिए जिज्ञासा जगा रहा है। जिसके भी जीवन में प्रश्न है, जिसके भी जीवन में जिज्ञासा है, जिसके भी जीवन में असंतोष है, उसके जीवन में धर्म आ सकता है। जिसके जीवन में नहीं है चिंता, नहीं है प्रश्न, नहीं है संदेह, नहीं है जिज्ञासा, नहीं है असंतोष, उसके जीवन में धर्म के आने को कोई सुविधा नहीं है।

जो बीज टूटेगा अंकुरित होने को, वह चिंता में पड़ेगा। बीज बहुत मजबूत चीज है, अंकुर बहुत कमजोर होता है। इसलिये अंकुर बड़ी चिन्ता में पड़ जाता है। अंकुर निकलता है जमीन से, पत्थरों को तोड़कर। अंकुर जैसी कमजोर चीज पत्थरों को तोड़कर, मिट्टी को काट कर बाहर निकलती है—अज्ञात, अनजाने जगत् में, जिसका कोई परिचय नहीं, जिसकी कोई पहचान नहीं। कोई बच्चा तोड़ डालेगा, कोई पशु चर जायेगा, किसी के पैर के नीचे दबेगा। क्या होगा, क्या नहीं होगा? बीज अपने में रहे तो बहुत निश्चित है। न किसी बच्चे के पैर के नीचे दबेगा, न कोई अज्ञात खतरे हैं, अपने आप में बन्द है।

दुर्योधन बन्द बीज जैसा व्यक्ति है, निश्चित है। अर्जुन अंकुरित है। अंकुर चिंतित है, अंकुर बेचैन है। क्या होगा? फूल आयेंगे कि नहीं? बीज होना छोड़ दिया, अब फूल आयेंगे कि नहीं? फूल के लिए, बढ़ने के लिए आतुर है। वही आतुरता, उसे कृष्ण से निरंतर प्रश्न पुछवाये चली जाती है। इसलिए अर्जुन के मन में चिन्ता है, प्रश्न है, दुर्योधन के मन में नहीं।

● **प्रश्नकर्ता** : भगवान् श्री, कृपया यह बताइए, मनुष्य के सामने द्वन्द्वात्मक बचाव बार-बार आता रहता है, तो वह द्वन्द्व भरी दशा को पार करने के लिए मूल आधार कौन सा होना चाहिए और द्वन्द्व भरी दशा को हम विकासोन्मुख किस तरह बना सकें?

● **भगवान् श्री** : अर्जुन के लिए भी यही सवाल है। इस सवाल को आमतौर से आदमी जैसा हल करता है, वैसा ही अर्जुन भी करना चाहता है। द्वन्द्व मनुष्य का स्वभाव है—मनुष्य का, आत्मा का नहीं। आत्मा का नहीं, मनुष्य का द्वन्द्व स्वभाव है। द्वन्द्व को अगर जल्दबाजी से हल करने की कोशिश की, तो पशु की तरफ वापस लौट जाना ही रास्ता है। शीघ्रता की तो पीछे लौट जायेंगे। वह परिचित रास्ता है, वहां वापस जा सकता है। द्वन्द्व से गुजरना ही

तपश्चर्या है। **धैर्य से द्वन्द्व को झेलना ही तपश्चर्या है।** और द्वन्द्व को झेल-कर ही व्यक्ति द्वन्द्व के पार होता है। इसलिए कोई जल्दी से निश्चय कर ले, सिर्फ द्वन्द्व को मिटाने के लिए तो उसका निश्चय काम का नहीं है, वह नीचे गिर जायेगा, वह वापस गिर रहा है।

पशु बहुत निश्चयात्मक हैं, पशुओं में 'डाउट' नहीं है। बड़े निश्चय में जी रहे हैं। बड़े विश्वास में हैं, बड़े आस्तिक मालूम होते हैं। पर उनकी आस्तिकता, आस्तिकता नहीं है। क्योंकि जिसने नास्तिकता नहीं जानी, उसकी आस्तिकता का अर्थ कितना है? और जिसने 'नहीं कहने का कष्ट नहीं जाना, वह 'हाँ' कहने के आनन्द को उपलब्ध नहीं हो सकता है। और जिसने संदेह नहीं किया, उसकी श्रद्धा दो कौड़ी की है। लेकिन जिसने संदेह किया और जो संदेह को जिया और संदेह के पार हुआ, उसकी श्रद्धा में कुछ बल है। उसकी श्रद्धा की कोई प्रामाणिकता है।

एक तो रास्ता यह है कि जल्दी कोई निश्चय कर लें।और निश्चय करने के बहुत रास्ते आदमी पकड़ लेता है। किसी शास्त्र को पकड़ ले तो निश्चय हो जायेगा। शास्त्र निश्चय की भाषा में बोल देगा कि ऐसा-ऐसा करो और विश्वास करो। जिसने शास्त्र पकड़कर निश्चय किया, उस आदमी ने मनुष्य होने से इन्कार कर दिया। एक संकट था। जिसमें बेसहारा गुजरने के लिए परमात्मा ने उसे छोड़ा था, उसने उस संकट से बचाव कर लिया। वह संकट से बिना गुजरे रह गया। यदि आग में से गुजरता, तो सोने सा निखरता। वह आग में से गुजरा ही नहीं, वह गुरू की आड़ में हो गया, तो सोना निखरेगा भी नहीं।

निश्चय करने को मैं आपसे नहीं कहता। आप निश्चय करोगे कैसे? जो आदमी द्वन्द्व में है, उसका निश्चय भी द्वन्द्व से भरा होगा। जब द्वन्द्व में हैं, तब निश्चय करेंगे कैसे? द्वन्द्व से भरा आदमी निश्चय नहीं कर सकता। करना भी नहीं चाहिए।

द्वन्द्व को जियें, द्वन्द्व में तपें, द्वन्द्व में मरे और खपें। द्वन्द्व को भोगें, **द्वन्द्व की आग से भागें मत**; क्योंकि जो आग दिखायी पड़ रही है, उसी में कचरा जलेगा और सोना बचेगा। द्वन्द्व से गुजरें, द्वन्द्व को नियति समझें। वह मनुष्य की 'डेस्टिनी' है, वह उसका भाग्य है। उससे गुजरना ही होगा। उसे जियें, जल्दी न करें। निश्चय की जल्दी न करें। हाँ, द्वन्द्व से गुजरें तो निश्चय आयेगा। द्वन्द्व से गुजरें तो श्रद्धा आयेगी, लानी नहीं पड़ेगी। लायी गयी श्रद्धा का कोई भी मूल्य नहीं है। श्रद्धा लानी पड़ी है, उसका मतलब यह

है कि अभी आने के योग्य मन न बना था। जल्दी ले आये। यदि श्रद्धा बनानी पड़ी है, उसका अर्थ ही है कि पीछे द्वन्द्वग्रस्त मन है। वह भीतर जिन्दा रहेगा, ऊपर से पर्त श्रद्धा की हो जायेगी। वह ऊपर-ऊपर काम देगी, समय पर काम न देगी।

कठिन समय होगा, जब मौत सामने खड़ी होगी। बहुत पक्का विश्वास कर लिया था कि आत्मा अमर है, जब गीता पढ़ते थे, तब पक्का विश्वास रहा था। जब रोज सुबह मंदिर जाते थे, तब पक्का था कि आत्मा अमर है। और जब डॉक्टर पास खड़ा हो जायगा, उसका चेहरा उदास दिखायी पड़ेगा और घर के लोग भागने-दौड़ने लगेंगे और नाड़ी की गति गिरने लगेगी, तो अचानक पता चलेगा कि पता नहीं, आत्मा अमर है या नहीं है। क्योंकि लाख कहे गीता, उसके कहने से आत्मा अमर नहीं हो सकती।

आत्मा अमर है, इसलिए वह कहती है—यह दूसरी बात है। लेकिन उसके कहने से आत्मा अमर नहीं हो सकती। और आप किसी की मान लें, इससे कुछ होने वाला नहीं है। हां, द्वन्द्व से गुजरें, पीड़ा को झेलें, वह अवसर है। उससे बचने की कोशिश मत करें।

अर्जुन भी बचने की कोशिश कर रहा है। लेकिन कृष्ण उसे बचाने की कोशिश नहीं कर रहे, वह पूरे द्वन्द्व को खींचते हैं। अन्यथा कृष्ण कहते कि बेफिक्र हो, मैं सब जानता हूं। बेकार की बात-चीत मत कर। मुझ पर श्रद्धा रख और कूद जा—ऐसा भी कह सकते थे। इतनी लंबी गीता कहने की जरूरत न थी। **इतनी लंबी गीता अर्जुन के द्वन्द्व के प्रति बड़ा सम्मान है।** और मजा है कि अर्जुन बार-बार वही पूछता है। और कृष्ण हैं कि यह नहीं कहते कि यह तो पूछ चुका—फिर वही पूछता है, फिर वही पूछता है? सारे के सारे, पूरे के पूरे प्रश्न अर्जुन के अलग-अलग नहीं हैं। सिर्फ शब्दावली अलग है। बात वह वही पूछ रहा है। उसका द्वन्द्व बार-बार लौट आ रहा है। कृष्ण उससे यह नहीं कहते कि चुप, अश्रद्धा करता है? चुप, अविश्वास करता है?

विश्वास और श्रद्धा में बड़ा फर्क है। विश्वास वह है, जो हम संदेह को हल किये बिना, ऊपर से आरोपित कर लेते हैं। **श्रद्धा वह है, जो संदेह के गिर जाने से फलित होती है। श्रद्धा, संदेह की ही यात्रा से मिली मंजिल है।** विश्वास, संदेह के भय से पकड़ लिये गये अंधे आधार हैं। तो मैं कहूँगा, जियें द्वन्द्व को, तीव्रता से जियें, 'इन्टेंसिटी' से जियें। धीरे-धीरे जियेंगे तो बहुत समय लगेगा। कुनकुनी आंच में डाल देंगे सोने को, तो निखरने में देर लग सकता है। तीव्रता से जियें।

द्वन्द्व मनुष्य का अनिवार्य परीक्षण है, जिससे वह परमात्मा तक पहुँचने की योग्यता का निर्णय दे पाता है। जियें भागें मत। 'एस्केप' न करें, 'कॅन्सोलेशन्स' मत खोजें, सांत्वनाएँ मत बनायें। जानें कि यही है नियति; द्वन्द्व है। लड़ें, तीव्रता से उतरें इस द्वन्द्व में। क्या होगा इसका परिणाम? इसके दो परिणाम होंगें। जैसे ही कोई व्यक्ति अपने चित्त के द्वन्द्व में पूरी तरह उतरने को राजी हो जाता है, वैसे ही उस व्यक्ति के भीतर एक तीसरा बिन्दु भी पैदा हो जाता है, दो के अलावा तीसरी ताकत भी पैदा हो जाती है। जैसे ही कोई व्यक्ति अपने द्वन्द्व को जीने के लिए राजी होता है, वैसे ही उसके भीतर दो नहीं, तीन शुरू हो जाते हैं। "दी थर्ड फोर्स," वह जो निर्णय करती है कि जियेंगे द्वन्द्व को, वह द्वन्द्व के बाहर है। वह द्वन्द्व के भीतर नहीं है।

मैंने सुना है, सेंट थेरेसा एक ईसाई फकीर औरत हुई है। उसके पास तीन पैसे थे। और एक दिन सुबह उसने गाँव में कहा कि मैं एक बड़ा चर्च बनाना चाहती हूँ। मेरे पास काफी पैसे आ गये हैं। लोग हैरान हुए, क्योंकि कल भी उसको लोगों ने भीख माँगते देखा था। लोगों ने पूछा कि इतने पैसे अचानक कहाँ से आ गये, जिससे बड़ा चर्च बनाने का ख्याल है? उसने अपना भिक्षा-पात्र दिखाया, उसमें तीन पैसे थे। लोगों ने कहा, पागल तो नहीं हो गयी थेरेसा! वैसे हम पहले ही सोचते थे कि तेरा दिमाग कुछ गड़बड़ है। असल में भगवान् की तरफ जो लोग जाते हैं, उनका दिमाग थोड़ा गड़बड़ दिखायी पड़ता ही है, उनको जो भगवान् की तरफ नहीं जाते है। हम पहले ही सोचते थे कि तेरा दिमाग कुछ न कुछ ढीला है। तीन पैसे से चर्च बनायेगी? थेरेसा ने कहा—'मैं हूं, तीन पैसे हैं और परमात्मा भी है। थेरेसा+तीन पैसे +परमात्मा!' उन सबों ने कहा, वह परमात्मा कहां है? तो थेरसा ने कहा कि वह 'थर्ड फोर्स' है, वह तीसरी शक्ति है। वह तुम्हें दिखायी नहीं पड़ेगी; क्योंकि अभी तुम अपने भीतर तीसरी शक्ति को नहीं खोज सके।

जो व्यक्ति अपने भीतर तीसरी शक्ति को खोज लेता है, वह इस सारे जगत् में भी तीसरी शक्ति को तत्काल देखने में समर्थ हो जाता है। आप द्वन्द्व को ही देख रहे हैं, लेकिन यह ख्याल नहीं है कि जो द्वन्द्व को देख रहा है और समझ रहा है, वह द्वन्द्व में नहीं हो सकता। वह द्वन्द्व के बाहर ही होगा। अगर दो लड़ रहे हैं आपके भीतर, तो निश्चित ही आप उन दोनों के बाहर हैं, अन्यथा देखेंगे कैसे? अगर उन दोनों में से एक से जुड़े होते, तब तो एक से आपका तादात्म्य हो गया होता और दूसरे से आप अलग हो गये होते।

आप कहते हैं, द्वन्द्व हो रहा है, मेरा बायाँ और दायाँ हाथ लड़ रहा है।

मेरे बायें-दायें हाथ लड़ पाते हैं, क्योंकि इन बायें और दायें हाथ के पीछे, मैं एक तीसरी ताकत हूँ। अगर मैं बायाँ हाथ हूँ, तो दायें हाथ से मेरा क्या आंतरिक द्वन्द्व है?

आंतरिक द्वन्द्व इसलिए है कि एक तीसरा भी है, जो देख रहा है। जो कह रहा है कि मन में बड़ा द्वन्द्व है। मन कभी 'यह' कहता है, मन कभी 'वह' कहता है। लेकिन जो मन के द्वन्द्व के संबंध में कह रहा है, यह कौन है? द्वन्द्व में उतरें और इस तीसरे को पहचानते जायँ। जैसे-जैसे द्वन्द्व में उतरेंगे, यह तीसरा साक्षी, यह 'विटनेस' दिखायी पड़ना शुरु हो जायेगा। और जिस दिन यह दिखायी पड़ा जायेगा, उसी दिन से द्वन्द्व बिदा होने शुरु हो जायेंगे। तीसरा नहीं दिखायी पड़ रहा है इसलिए द्वन्द्व है। तीसरा दिखायी पड़ता है, तो जोड़ शुरू हो जाता है। द्वन्द्व से भागें मत, द्वन्द्व की क्रिया अनिवार्य है। उससे ही गुजर कर, वह जो द्वन्द्व के पार है, 'ट्रांसेंडेंटल' है, उसे पाया जाता है।

पूरी गीता उस तीसरे बिंदु पर ही खींचने की कोशिश है, अर्जुन को। पूरे समय अर्जुन को खींचने की चेष्टा कृष्ण की यही है कि वह तीसरे को पहचान ले। तीसरे की पहचान के लिए सारा श्रम है। वह तीसरा सबके भीतर है और सबके बाहर भी है। लेकिन जब तक भीतर दिखायी न पड़े, तब तक बाहर दिखायी नहीं पड़ सकता है। भीतर दिखायी पड़े तो बाहर वही-वही दिखायी पड़ने लगता है।

● **प्रश्नकर्ता:** आपने धनंजय को मानवीय गुणों का प्रतीक बताया है। और सार्त्र का कथन है; "मैन इज कन्डेम्ड टु बी एग्जाइटी रिडेन" तो स्वजन हत्या के ख्याल से धनंजय का कँप जाना क्या मानवीय नहीं था? अर्जुन का विचार 'मारना' या 'न मारना' इस प्रकार का था। तिलक ने 'गीता-रहस्य' में अर्जुन की विषाद दशा का समाधान हमले की मनःस्थिति में ढूंढ निकाला, यह उचित है?

भगवान् श्री: सार्त्र जो कहता है, वह अर्जुन के लिए बिल्कुल ठीक है। अर्जुन की भी संकट अवस्था 'एक्जिस्टेंशियल' ही थी। सार्त्र, कामू या उनामुनो या जेस्पर या हाइडेगर, पश्चिम में जो भी अस्तित्ववादी विचारक थे, वे ठीक अर्जुन की मनःस्थिति में हैं। इसलिए सावधान रहना। पश्चिम में कृष्ण पैदा हो सकता है। क्योंकि जहाँ अर्जुन की मनःस्थिति हो, वहां कृष्ण के पैदा होने की संभावना हो जाती है। पूरा **पश्चिम "एक्जिस्टेंशियल क्राइसिस" में है।** पूरे पश्चिम के सामने, मनुष्य की चिन्तातुरता, एकमात्र सत्य होकर खड़ी हो

गयी है। क्या करें और क्या न करें? 'ईदर, ऑर', यह या वह? क्या चुनें, क्या न चुनें? **कौन सा मूल्य चुनने योग्य है, कौन सा मूल्य चुनने योग्य नहीं है, ऐसा सब संदिग्ध हो गया।**

ध्यान रहे कि पश्चिम में यह जो अस्तित्ववादी चिंतन पैदा हुआ, यह दो युद्धों के बीच में पैदा हुआ है। सार्त्र या कामू या उनामुनो पिछले दो महायुद्धों की परिणति हैं। **पिछले दो महायुद्धों ने पश्चिम के चित्त में भी वह स्थिति खड़ी कर दी है जो अर्जुन के चित्त में महाभारत के सामने खड़ी हो गयी थी।** विगत दो युद्धों ने पश्चिम के सारे मूल्य डगमगा दिये हैं। और अब सवाल यह है कि लड़ना, कि नहीं लड़ना। लड़ने से क्या होगा? और ठीक स्थिति वैसी है कि अपने सब मर जायेंगे। तो लड़ने का क्या अर्थ है? और जब युद्ध की इतनी विकट स्थिति खड़ी हो जाय, तो शांति के समय में बनाये गये सब नियम संदिग्ध हो जायँ तो आश्चर्य नहीं। यह ठीक सवाल उठाया है।

सार्त्र ठीक अर्जुन की मनःस्थिति में है। खतरा दूसरा है। सार्त्र की मनःस्थिति से खतरा नहीं है। सार्त्र अर्जुन की मनःस्थिति में है, लेकिन समझ रहा है, कृष्ण की मनःस्थिति में है। खतरा वहाँ है। वास्तव में है अर्जुन की मनःस्थिति में। जिज्ञासा करे, ठीक है। प्रश्न पूछे, ठीक है। वह उत्तर दे रहा है। खतरा वहाँ है। खतरा यहाँ है कि सार्त्र जिज्ञासा नहीं कर रहा है। सार्त्र पूछ नहीं रहा कि क्या है ठीक। उत्तर दे रहा है कि कुछ भी ठीक नहीं है। जीवन में कोई मूल्य नहीं है। सब अस्तित्व अर्थहीन है, 'मीनिंगलेस' है। यह जो उत्तर दे रहा है कि ईश्वर नहीं है जगत् में, आत्मा नहीं है जगत् में, सारा का सारा अस्तित्व एक अव्यवस्था है, एक 'अनारकी' है, एक संयोगजन्य घटना है, इसमें कोई सार नहीं है कहीं भी; यह उत्तर दे रहा है। यहाँ खतरा है।

अर्जुन भी उत्तर दे सकता था। लेकिन अर्जुन सिर्फ जिज्ञासा कर रहा है। अगर अर्जुन उत्तर दे, तो खतरे पैदा होंगे। लेकिन अर्जुन जिज्ञासा कर रहा है। और मैं मानता हूँ कि जिसे दिखायी पड़ता हो, जैसे सार्त्र को दिखायी पड़ता है कि कोई मूल्य नहीं है, एक 'वैल्युलेसनेस' है, जिसे दिखायी पड़ता है कि कोई अर्थ नहीं, कोई प्रयोजन नहीं . . . अगर सच में ही ऐसा दिखायी पड़ता है, तब तो सार्त्र को कुछ कहने का भी अर्थ नहीं है। उसे चुप हो जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में मौन ही सार्थक मालूम पड़ सकता है। व्यर्थ है सारी बात। नहीं, लेकिन सार्त्र मौन नहीं है। वह आतुर है कहने को, समझाने को, जो कह रहा है उससे दूसरे को राजी करने को। तब डर यह होता है कि सार्त्र

भीतर असंदिग्ध नहीं है, कि जो कह रहा है वह ठीक है या नहीं। शायद सार्त्र दूसरों को समझा कर, दूसरों के चेहरे पर यह देखने को उत्सुक है कि कहीं उनको अगर ठीक लगती है यह बात, तो ठीक होगी। मैं भी ठीक मान लूँ।

सार्त्र जिज्ञासा करे, वहाँ तक ठीक है। लेकिन पश्चिम में 'एक्जिस्टेंशियलिस्ट' विचारक जिज्ञासा को उत्तर बना रहे हैं। जब जिज्ञासा उत्तर बनती है, और जब शिष्य गुरु हो जाता है, और जब पूछना ही बताना बन जाता है, तब एक 'क्राइसिस ऑफ वेल्यूज' पैदा होती है, जो कि पश्चिम में पैदा हुई है। सब अस्त-व्यस्त हो गया है पश्चिम में। उस अस्त-व्यस्तता में कहीं कोई राह दिखायी नहीं पड़ती। नहीं दिखायी पड़ती, इसलिए नहीं कि राह नहीं है। राह तो सदा है, लेकिन अगर हम यह मान ही लें कि राह है ही नहीं, यही हमारा उत्तर बन जाय, तो फिर राह दिखायी पड़नी असंभव है।

अर्जुन यह नहीं मानता, अर्जुन बड़ी जिज्ञासा कर रहा है कि राह होगी। मैं खोजता हूँ, मैं पूछता हूँ, आप मुझे बतायें। वह कृष्ण को कह रहा है, आप मुझे बतायें, आप मुझे समझायें। मैं अज्ञानी हूँ, मुझे कुछ पता नहीं है। वह विनम्र है। **अर्जुन का अज्ञान विनम्र है, सार्त्र का अज्ञान विनम्र नहीं है।** सार्त्र का अज्ञान बहुत 'एसर्टिव' है। यह खतरनाक है। और जब अज्ञान 'एसर्टिव' (आग्रही) होता है, जब अज्ञान मुखर होता है, तो जितने खतरे होते हैं, उतने खतरे और किसी बात से नहीं होते। लेकिन अक्सर ऐसा होता है कि अज्ञान मुखर होता है। अर्जुन पूछ रहा है, वह कहता है मुझे पता नहीं है, मैं संदेह में पड़ गया हूँ। मैं डूबा जा रहा हूँ संकट में, मुझे कोई मार्ग दें, लेकिन मार्ग हो सकता है, इसकी उसकी खोज जारी है।

मैं मानता हूँ कि अर्जुन सार्त्र से ज्यादा साहसी है। क्योंकि इतनी गहन निराशा में भी मार्ग की खोज बड़े साहस की बात है। सार्त्र उतना साहसी नहीं है, उसके वक्तव्य बहुत साहसी मालूम पड़ते हैं, पर वह उतना साहसी नहीं है। असल में कई बार ऐसा होता है कि अंधेरी गली में से आदमी जब निकलता है, तो वह सीटी बजाता हुआ निकलता है। सीटी बड़ी साहसी मालूम पड़ती है आस-पास सोये हुए लोगों को, लेकिन सीटी बजाने से साहस का पता नहीं चलता। उससे सिर्फ इतना ही पता चलता है कि आदमी डर रहा है। वह सीटी साहस का सबूत नहीं होती। वह सिर्फ भय को छिपाने की चेष्टा होती है।

जो 'केऑस', अराजकता पश्चिम के सामने दो महायुद्धों ने प्रगट कर दी है, वह जो नीचे से एक बवण्डर प्रगट हुआ है, और भूमि फट गयी है, और एक

ज्वालामुखी ने मुँह बा दिया है पश्चिम के सामने, उस ज्वालामुखी को झुठलाने को कोशिश चल रही है। है ही नहीं जीवन में कोई अर्थ, इसलिए अनर्थ से डरने की जरूरत क्या है! है ही नहीं कोई मूल्य, इसलिए मूल्य के खोज की चिन्ता भी क्या करनी है! है ही नहीं कोई परमात्मा, तो प्रार्थना करने से क्या फायदा है! है ही नहीं कोई आशा, इसलिए निराशा में भी चिंतित होने की कोई जरूरत नहीं है। निराशा में भी निश्चितता खोजने की चेष्टा, सिर्फ इस बात की सूचक है कि हृदय बहुत कमजोर है और साहस कम है। असल में आशा जब तीव्र निराशा में पड़ती है, तभी पता चलता है कि है या नहीं। और जब गहन अंधकार में ज्योति को खोजने की चेष्टा चलती है, तभी पता चलता है कि प्रकाश की कोई आकांक्षा, गहरे साहस, गहरी लगन, और गहरे संकल्प से जुड़ी है या नहीं!

पश्चिम की सार्त्रवादी चिन्तना, निराशा को स्वीकार कर लेने की ही निराशा है। इससे पश्चिम उबरेगा नहीं, इसलिए 'एक्जिस्टेंशियलिस्ट्स' और उस तरह के विचारक सिर्फ एक फैशन से ज्यादा नहीं हैं। और फैशन मरनी शुरू हो गयी है, फैशन मर रही है। अब अस्तित्ववाद कोई बहुत जीवित धारणा नहीं है। पश्चिम के बच्चे उसको भी इन्कार कर रहे हैं, क्योंकि वह भी 'ओल्ड फैशन' हो गयी है। छोड़ो यह बकवास भी, लेकिन सार्त्र की पीढ़ी ने जो निराशा दी है, उसका दुष्परिणाम आने वाली पीढ़ी पर दिखायी पड़ रहा है। वह पीढ़ी कहती है, ठीक है, हम सड़क पर नंगे नाचेंगे; क्योंकि तुम्हीं ने तो कहा कि कोई अर्थ नहीं है, तो फिर कपड़े पहनने में ही कौन सा अर्थ है! तो हम किसी भी तरह के काम-संबंध निर्मित करेंगे, क्योंकि तुम्हीं ने तो कहा है कि कोई अर्थ नहीं है। तो परिवार का भी क्या अर्थ है! फिर हम किसी को आदर नहीं देंगे; क्योंकि तुम्हीं ने तो कहा है कि जब ईश्वर ही नहीं है, तो आदर का क्या अर्थ है। हम लोग कल की चिंता न करेंगे।

आज अमेरिका और योरोप की 'युनिवर्सिटीज' लड़के खाली करके भाग रहे हैं। उनसे कहते हैं उनके माँ-बाप कि पढ़ो, तो वे कहते हैं कि कल का क्या भरोसा? तुम्हीं ने तो कहा है कि सब अनिश्चित है, पढ़-लिखकर भी क्या होगा'। और वे लड़के पूछते हैं कि हिरोशिमा में भी लड़के पढ़ रहे थे कालेज में, फिर 'एटम बम' गिर गया और सब समाप्त हो गया। हम भी पढ़ेंगे, तुम एटमबम तैयार कर रहे हो, किस दिन गिरा दोगे, कुछ पता नहीं है। तो हमें जीने दो, दो-चार क्षण जो हमें मिले हैं, जी लेने दो।

पश्चिम में जो जीवन का विस्तार है, 'टाइम' में, समय में जो एक जीवन

की यात्रा है, वह एकदम खण्डित हो गयी है। क्षण पर टिक गया है मानव! अभी जो है कर लो, अगले क्षण का कोई भरोसा नहीं और अगले क्षण के भरोसे को करोगे भी क्या? अंततः तो मृत्यु ही है, अगला क्षण मृत्यु है। 'टाईम' जो है, वह 'डेथ' का पर्यायवाची हो गया पश्चिम में, समय और मृत्यु एक ही अर्थ के हो गये। अभी जो है, है। और किसी भी बात का कोई मूल्य नहीं है। अभी एक व्यक्ति ने कई हत्याएं की और अदालत ने जब उससे पूछा तो उसने कहा—"क्या हर्ज है, जब सभी को मर ही जाना है, तो मैंने मरने में सहायता की है। और वह तो मर ही जाते हैं, उनको मारने से मुझे थोड़ा आनन्द मिला है। उसके ले लेने में हर्ज क्या है?" जब कोई मूल्य ही नहीं है, तो ठीक है।

सार्त्र की पीढ़ी पश्चिम को एक खोखलेपन से, एक 'हॉलोनेस' से भर गयी है। क्योंकि उसके पास उत्तर नहीं, सिर्फ प्रश्न हैं। और उसने प्रश्नों को ही उत्तर बना दिया है।

अगर अर्जुन जीत जाये, तो इस मुल्क में भी "हॉलोनेस" (खोखलापन) पैदा हो जाय। अर्जुन नहीं जीता और कृष्ण जीत गये। वह एक संघर्ष था बड़ा, अर्जुन और कृष्ण के बीच। अगर अर्जुन को शक सवार हो जाय, धुन सवार हो जाय गुरु होने की, और वह अपनी जिज्ञासाओं को उत्तर बना ले, और अपने प्रश्नों को उत्तर बना ले, और अपने अज्ञान को ज्ञान मान ले, तो इस मुल्क में भी वही स्थिति पैदा हो जाती, जो पश्चिम में अस्तित्ववादी चिंतन के कारण पैदा हुई है। स्थिति वही है, लेकिन पश्चिम के पास अभी भी कृष्ण नहीं हैं। लेकिन इस 'सिचुएशन' में कृष्ण पश्चिम में पैदा हो सकते हैं।

बहुत आश्चर्य की बात नहीं है कि 'कृष्ण–कान्शसनेस' जैसे आंदोलन पश्चिम के मन को पकड़ रहे हैं। कोई आश्चर्य नहीं है कि पश्चिमी देशों की सड़कों पर लड़के और लड़कियां ढोल पीटकर कृष्ण का भजन कर रहे हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यह आकस्मिक नहीं है। इस जगत् में आकस्मिक कुछ भी नहीं होता। इस जगत् में फूल भी खिलता है, तो लंबे कारण होते हैं। अगर लंदन की सड़क पर कोई 'हरेकृष्ण' का भजन ढोल पर पीटता हुआ घूमता है, तो यह आकस्मिक नहीं है। यह पश्चिम के चित्त में कहीं कोई गहरी पीड़ा है।

अर्जुन तो मौजूद हो गया है वहां, पर कृष्ण कहां है? प्रश्न तो खड़ा हो गया है, उत्तर कहां है? उत्तर की तलाश है, उत्तर की तलाश पैदा हुई है। इसलिए ठीक सवाल था यह।

मैं अर्जुन को मनुष्य का प्रतीक कहता हूँ। और अर्जुन को जो ममत्व

पकड़े है, वह भी मनुष्य की मनुष्यता है। लेकिन नीत्से का एक वचन आपसे कहूं, नीत्से ने कहा है–"अभागा होगा वह दिन, जिस दिन मनुष्य, मनुष्य से पार होने की आकांक्षा छोड़ देगा। अभागा होगा वह दिन, जिस दिन मनुष्य की प्रत्यंचा पर, मनुष्य को पार करने वाला तीर न खिंचेगा। अभागा होगा वह दिन, जिस दिन मनुष्य, मनुष्य होने से तृप्त हो जायेगा। मनुष्य मंजिल नहीं है, पड़ाव है। उसे पार होना ही है। अर्जुन मंजिल नहीं है, पड़ाव है।

स्वाभाविक है आदमी के लिए कि वह अपनों को चाहे, स्वाभाविक है आदमी के लिए कि वह अपनों को मारने से डरे, स्वाभाविक है आदमी के लिए, "ईदर, ऑर" पकड़े, यह या वह, करूं या न करूं की उसे चिंता आये। लेकिन जो मनुष्य के लिए स्वाभाविक है, वह जीवन का अंत नहीं है। और मनुष्य के लिए जो स्वाभाविक है, वह सिर्फ मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। और उस स्वभाव में चिंता, पीड़ा और तनाव भी जुड़े हैं। उसमें अशांति, दुःख और विक्षिप्तता भी जुड़ी है।

मनुष्य को अगर हम स्वाभाविक समझें, तो वह स्वाभाविकता वैसी ही है, जैसे कैंसर स्वाभाविक है। टी. बी. स्वाभाविक है। लेकिन टी. बी. के स्वभाव के साथ पीड़ा भी जुड़ी है। ऐसे ही मनुष्य को अगर हम पशु की तरफ से देखें, तो मनुष्य एक 'एव्होल्यूशन' है, एक विकास है, और अगर परमात्मा की तरफ से देखें, तो एक 'डिसीज' है, एक बीमारी है। यह अंग्रेजी का शब्द 'डिसीज' बहुत अच्छा है। यह दो शब्दों से बना है–'डिस' और 'ईज'। उसका मतलब होता है बेचैनी, 'नॉट एट ईज'। तो आदमी एक 'डिसीज' है। एक बेचैनी है, अगर परमात्मा की तरफ से देखें।

अगर पशु भी हमारे संबंध में सोचते होंगे तो वे भी नहीं सोचते होंगे कि हम विकास हैं। वे भी सोचते होंगे कि हमारे बीच से कुछ लोग जरा गड़बड़ हो गये हैं, विक्षिप्त हो गये हैं। उनका दिमाग खराब हो गया है। क्योंकि जब कोई पशु देखता होगा कि आदमी 'साइकियाट्रिस्ट' के दफ्तर में जाता है, आदमी मनोवैज्ञानिक के पास अपने मन की जाँच के लिए जाता है, जब वे देखते होंगे कि आदमी पागलखाने खड़े करता है, और जब देखते होंगे कि यह आदमी दिन-रात चिंता में जीता है तो पशु भी कभी इस पर सोचते होंगे। कभी न कभी उनकी जमात बैठती होगी तब वे सोचते होंगे कि इन बेचारों को कितना समझाया था कि मत बनो आदमी! नहीं माने हैं, और अब फल भोग रहे हैं। जैसा कि अक्सर पिता बेटों के संबंध में सोचते हैं। पशु पिता हैं, हम उसी यात्रा से आते हैं। जरूर सोचते होंगे ये पशु कि

कितना समझाया, लेकिन बिगड़ गयी यह 'जेनेरेशन', यह पीढ़ी भटक गयी। लेकिन उन्हें पता नहीं कि इस भटकाव से संभावनाएँ खुल गयी हैं। इस भटकाव से एक बड़ी यात्रा खुली है।

स्वभावतः जो घर बैठा है, वह उतना परेशान नहीं होता। परेशान होता है वह, जो यात्रा पर निकला है। राह में धूल भी है, राह में गड्ढे भी हैं, राह की भूलें भी हैं, राह पर भटकन भी है। अनजान रास्ता है, पास कोई नकशा नहीं। रास्ता 'अनचार्टर्ड' है, खोजना है और चलना है। चलना है और रास्ता बनाना है। लेकिन जो चलेंगे, भूलेंगे, भटकेंगे, गिरेंगे, दुखी होंगे, वे ही पहुंचते भी हैं।

अर्जुन स्वाभाविक है मनुष्य के लिए। लेकिन अर्जुन खुद पीड़ा से भरा है। वह भी मनुष्य होने की इच्छा में नहीं है। वह चाहता है या दुर्योधन हो जाय या तो कोई समझा दे कि जो हो रहा है, सब ठीक है। या कोई ऊपर उठा दे अर्जुन होने से। उसकी चिंता उसका दुःख, उसकी पीड़ा वही है।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

तथा हाथ से गाण्डीव धनुष्य गिरता है और त्वचा भी बहुत जलती है तथा मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है। इसलिए मैं खड़ा रहने को भी समर्थ नहीं हूँ। हे केशव! लक्षणों को भी विपरीत ही देखता हूँ तथा युद्ध में अपने कुल को मार कर कल्याण भी नहीं देखता और हे कृष्ण! मैं विजय को नहीं चाहता और राज्य तथा सुखों को भी नहीं चाहता। हे गोविन्द! हमें राज्य से क्या प्रयोजन है, अथवा भोगों से और जीवन से भी क्या प्रयोजन है।

भगवान् श्रीः अर्जुन के अंग शिथिल हो गये हैं। मन ने साथ छोड़ दिया है। धनुष छूट गया है। वह इतना कमजोर मालूम पड़ रहा है कि

कहता है, रथ पर मैं बैठ भी सकूंगा या नहीं, इतनी भी सामर्थ्य नहीं है। यहां दो-तीन बातें समझनी जरूरी हैं। एक तो यह कि शरीर केवल हमारे चित्त का प्रतिफलन है। गहरे में जो मन में घटित होता है, वह शरीर के रोयें-रोयें तक फलित हो जाता है। यह अर्जुन बलशाली था इतना, अचानक ऐसा बलहीन हो गया कि रथ पर बैठना उसे कठिन मालूम पड़ रहा है? क्षण भर पहले ऐसा नहीं था। इस क्षण भर में वह बीमार नहीं हो गया, इस क्षण भर में उसके शरीर में कोई अशक्ति नहीं आ गयी। इस क्षण भर में वह वृद्ध नहीं हो गया, इस क्षण भर में क्या हुआ है?

इस क्षण में एक ही घटना घटी है, उसका मन क्षीण हो गया है। उसका मन दुर्बल हो गया है। उसका मन स्वविरोधी खण्डों में विभाजित हो गया। जहां मन विभाजित होता है विरोधी खंडों में, तो तत्काल शरीर रुग्ण और दीन हो जाता है। जहाँ मन संयुक्त होता है, एक संगीतपूर्ण स्वर में, वहाँ शरीर तत्काल स्वस्थ और अविभाजित हो जाता है। उसके धनुष का गिर जाना, उसके हाथ-पैर का कँपना, उसके रोओं का खड़ा हो जाना, सूचक है; इस बात का सूचक है कि शरीर हमारे मन की छाया से ज्यादा नहीं है।

पहले ऐसा ख्याल नहीं था। वैज्ञानिक कहते रहे हैं कि मन हमारा शरीर की छाया से ज्यादा नहीं है। जो इस भ्रांत-चिन्तन को मानकर सोचते रहे, वे लोग भी यही कहते रहे हैं। बृहस्पति भी यही कहेंगे, एपीकुरस भी यही कहेगा, कार्ल मार्क्स और एंजिल्स भी यही कहेंगे, कि वह जो चेतना है, वह केवल 'बाई प्रॉडक्ट' है। वह जो भीतर मन है, वह केवल हमारे शरीर की ही उत्पत्ति है। वह केवल शरीर की छाया है। अभी अमेरिका में दो मनोवैज्ञानिक थे जेम्स और लेंगे। उन्होंने एक बहुत अद्भुत सिद्धांत प्रतिपादित किया था, और वर्षों तक स्वीकार किया जाता रहा है। 'जेम्स लेंगे थीअरी' उनके सिद्धांत का नाम था। बड़ी मजे की बात उन्होंने कही थी। उन दोनों ने यह सिद्ध करने की कोशिश की थी कि सदा से हम ऐसा समझते रहे हैं कि आदमी भयभीत होता है, इसलिए भागता है। उन्होंने कहा, "नहीं, यह गलत है। क्योंकि अगर शरीर प्रमुख है और मन केवल उप-उत्पत्ति है, तो सच्चाई उल्टी होनी चाहिए।" उन्होंने कहा, "मनुष्य चूंकि भागता है, इसलिए भय अनुभव करता है।" हम सोचते रहे हैं सदा से कि आदमी क्रोधित होता है, इसलिए मुट्ठियां भिंच जाती हैं, क्रोधित होता है इसलिए आँखों में खून दौड़ जाता है। क्रोधित होता है, इसलिए श्वास तेजी से चलने लगती है और हमले की तैयारी हो जाती है।

जेम्स लेंगे ने कहा, "गलत है यह बात, क्योंकि शरीर प्रमुख है, इसलिए घटना पहले शरीर में घटेगी, मन में केवल प्रतिफलन होगा। मन सिर्फ एक 'मिरर' है, एक दर्पण! इससे ज्यादा नहीं।" इसलिए उसने कहा कि नहीं, बात उल्टी है। आदमी चूंकि मुट्ठियां भींच लेता है और आदमी चूंकि दाँत कस लेता है और चूंकि शरीर में खून तेजी से दौड़ता है, श्वास तेज चलती है, इसलिए क्रोध पैदा होता है।

उसने अपनी बात सिद्ध करने के लिए बहुत से तर्क दिये थे। यहाँ तर्क का बहुत मजेदार मामला है। और तर्क कैसे गलत रास्तों पर ले जाता है, वह देखने जैसा है। उसने कहा, "मैं यह कहता हूं कि एक आदमी बिना भागे हुए और बिना शरीर पर भागने का कोई प्रभाव दिखे भयभीत होकर बता दे। या एक आदमी बिना आँखें लाल किये, मुट्ठियां बाँधे, दाँत भींचे, क्रोध करके बता दे।"

मुश्किल है बात! कैसे बताइएगा क्रोध करके। तब उन दोनों ने कहा, ठीक है, जब उसके बिना क्रोध नहीं हो सकता, तो क्रोध इनका ही जोड़ है। इससे ज्यादा कुछ भी नहीं है।

पता नहीं, 'जेम्स-लेंगे' को किसी ने नहीं कहा कि इससे उल्टा होता है। एक अभिनेता क्रोध करके बता सकता है, आँखें लाल करके बता सकता है, दाँत भींच सकता है, मुट्ठी भींच सकता है, फिर भी भीतर उसके कोई क्रोध नहीं होता। और एक अभिनेता प्रेम करके बता सकता है और जितना अभिनेता बता सकता है, उतना शायद कोई भी नहीं बता सकता है। भीतर उसके कोई प्रेम नहीं होता है।

अर्जुन, 'जेम्स-लेंगे सिद्धांत' के बिल्कुल विपरीत काम कर रहा है। बिल्कुल उल्टा काम कर रहा है। 'जेम्स-लेंगे' इसको बिल्कुल मानने को राजी नहीं होंगे; कहेंगे, बिल्कुल उल्टी बातें कर रहा है। इसे कहना चाहिए कि चूंकि मेरा धनुष गिर जाता है, चूंकि मेरे रोयें खड़े हो जाते हैं, चूंकि मेरा शरीर शिथिल हुआ जाता हैं, मेरे अंग निढाल हुए जाते हैं, इसलिए हे केशव! मेरे मन में बड़ी चिन्ता पैदा हो रही है। लेकिन वह ऐसा नहीं कह रहा है। चिन्ता उसे पहले पैदा हो गयी है। क्योंकि उसके शरीर के शिथिल होने और उसके रोयें खड़े होने का और कोई भी कारण नहीं है। बाहर कोई भी कारण नहीं है। एक क्षण में बाहर कुछ भी नहीं बदला है। बाहर सब वही है। लेकिन भीतर सब बदल गया है।

तिब्बत की ल्हासा यूनिवर्सिटी में विद्यार्थीयों का जब शिक्षण होता था, तो

उसमें योग का कुछ अंग अनिवार्य था। अतः तिब्बत का एक नियमित प्रयोग ल्हासा यूनिवर्सिटी में चलता था। उसमें भी विद्यार्थीयों को उत्तीर्ण होना जरूरी था। और वह था "हीट योग"; वह शरीर में भीतर से मन के कारण गर्मी पैदा करने की प्रक्रिया है। अजीब बात है! सिर्फ मन से! बाहर बर्फ पड़ रही है। आदमी नग्न खड़ा है, और उसके शरीर से पसीना चू रहा है। इतने पर राजी नहीं होते थे वह। और जब पश्चिम से आये हुए डाक्टरों ने भी इसका परीक्षण किया, तो बहुत हैरान हो गये। क्योंकि जब विद्यार्थियों की परीक्षा होती थी तो रात में खुले मैदान में, बर्फ के पास, झील के किनारे उन्हें नग्न खड़ा किया जाता था। और उनके पास कपड़े, कोट, कमीज गीले करके रखे जाते थे पानी में डुबा कर।

बेचारे छात्र खड़े हैं। केवल उस लड़के को सर्वाधिक अंक मिलते थे, जो रात अपने शरीर से इतनी गर्मी पैदा करे कि अनेक कपड़े सुखा दे, शरीर पर पहनकर! जितने ज्यादा कपड़े वह रात भर में सुखा देगा, उतने ज्यादा अंक उसको मिलने वाले हैं।

जब पश्चिम से आये डाक्टरों के एक दल ने यह देखा तो वे दंग रह गये। तो उन्होंने कहा, 'जेम्स-लेंगे थीअरी' का क्या हुआ? क्योंकि बाहर तो बर्फ पड़ रही है और वे डाक्टर तो लबादे पर लबादे पहनकर भीतर कँपे जा रहे हैं। और यह नग्न खडे लडके क्या कर रहे हैं? क्योंकि इनके शरीर पर जो नहीं होना चाहिए था वह हो रहा है। क्योंकि मन इन्कार कर रहा है। और मन कहे चला जा रहा है, कोई बर्फ नहीं है, और मन कहे चला जा रहा है कि धूप है, तेज गर्मी है और मन कहे जा रहा है कि शरीर में आग तप रही है, इसलिए शरीर को पसीना छोडना पड़ रहा है।

जो कुछ अर्जुन के साथ हुआ था, वह उसके मन में पैदा हुए भँवर का, शरीर तक पहुँचा हुआ परिणाम है। और हमारी जिंदगी में शरीर से बहुत कम भँवर मन तक पहुंचते हैं। मन से ही अधिकतम भँवर शरीर तक पहुंचते हैं। लेकिन हम जिंदगी भर शरीर की ही फिक्र किये चले जाते हैं।

अगर कृष्ण को थोड़ी भी, जिसको तथाकथित वैज्ञानिक बुद्धि कहें, होती, तो वह अर्जुन को कहते कि मालूम होता है, तुझे फ्लू हो गया है। अगर उन्होंने मार्क्स को पढ़ा होता तो कहते, मालूम होता है तेरे शरीर में किसी हार्मोन की कमी हो गयी है। वे कहते, तू चल और किसी जनरल अस्पताल में भर्ती हो जा। कृष्ण ने यह बिल्कुल नहीं कहा। वह शिथिल-गात होते अर्जुन को कुछ और समझाने लगे। वे उसके मन को कुछ और समझाने लगे। वे

उसके मन को बदलने की कोशिश करने लगे।

जगत् में दो ही प्रक्रियाएँ हैं —या तो आदमी के शरीर को बदलने की प्रक्रिया, या आदमी की चेतना को बदलने की प्रक्रिया। **विज्ञान आदमी के शरीर को बदलने की प्रक्रिया पर ध्यान देता है, धर्म मनुष्य की चेतना को बदलने की प्रक्रिया पर ध्यान देता है।** वहीं भेद है, और इसलिए मैं कहता हूँ कि धर्म विज्ञान से ज्यादा गहरा विज्ञान है। धर्म विज्ञान से ज्यादा महान विज्ञान है। वह "सुप्रीम साइंस" है, वह परम विज्ञान है। क्योंकि वह केंद्र से शुरू करता है। और वैज्ञानिक बुद्धि निश्चित ही केंद्र से शुरू करेगी, परिधि पर को गयी चोटें जरूरी नहीं कि केंद्र पर पहुँचें। लेकिन केंद्र पर की गयी चोटें, जरूरी रूप से परिधि पर पहुंचती हैं।

एक पत्ते को पहुँचाया गया नुकसान जरूरी नहीं है कि जड़ों तक पहुँचे। अक्सर नहीं पहुँचेगा। पहुँचने की जरूरत नहीं है, लेकिन जड़ों को पहुँचाया गया नुकसान, पत्तों तक जरूर पहुँच जायेगा। पहुँचना ही पड़ेगा; पहुँचने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है।

अर्जुन को इस स्थिति को देखकर, कृष्ण उसे कहाँ से पकड़ते हैं? अगर वे शरीर से पकड़ते तो गीता "फिजियोलॉजी" की एक किताब होती। वह शरीर-शास्त्र होती। वे उसे चेतना से पकड़ते हैं। इसलिए गीता एक मनस-शास्त्र बन गयी है। अर्जुन के शरीर को घटना पर कृष्ण बिल्कुल ध्यान ही नहीं देते। वे न उसकी नाड़ी देखते हैं, न थर्मामीटर लगाते हैं। वे उसकी फिक्र ही नहीं करते कि उसके शरीर को क्या हो रहा है। वे फिक्र करते हैं कि उसकी चेतना को क्या हो रहा है। यह थोड़ा विचारणीय है। जैसा मैंने कहा, आज भी मनुष्य जाति करीब-करीब अर्जुन की चेतना से ग्रस्त है। उसके शरीर पर भी वे परिणाम हो रहे हैं। लेकिन हम जो इलाज कर रहे हैं, वे शरीर से शुरु होने वाले हैं। इसलिए सब इलाज हो जाते हैं, और बीमार, बीमार ही रहता है। उसकी चेतना से कोई इलाज शुरु नहीं हो पाता है।

यह अर्जुन कहता है, 'मेरा मन साथ छोड़े दे रहा है। मैं बिल्कुल निर्वीर्य हो गया हूँ, बलहीन हो गया हूँ।" बल क्या है? एक तो बल है जो शरीर को माँस-पेशियों (मसल्स) में होता है। उसमें तो कोई भी फर्क नहीं पड़ गया है। लेकिन इस क्षण अर्जुन को एक छोटा सा बच्चा भी धक्का दे दे तो वह गिर जायगा। इस क्षण अर्जुन को 'मसल्स' कुछ भी काम नहीं करेगी। एक छोटा

सा बच्चा उसे हरा सकता है। यह 'मस्कुलर' ताकत कुछ अर्थ की नहीं मालूम होती। एक और बल है जो संकल्प से, 'विल' से पैदा होता है। सच तो यह है कि **वही बल है, जो संकल्प से पैदा होता है।**

वह जो संकल्प से पैदा होने वाला बल है, आज वह बिल्कुल ही खो गया है। 'क्योंकि संकल्प कहाँ से आये?' मन दुविधा में पड़ गया हो, तो संकल्प खण्डित हो जाता है। मन एकाग्र हो, तो संकल्प संगठित हो जाता है। मन दुविधा में द्वन्द्वग्रस्त हो जाय, 'कांफ्लिक्ट' में पड़ जाय, तो संकल्प खो जाता है। हम सब भी निर्बल हैं, संकल्प नहीं है हमारे पास। क्या करूं, क्या न करूं, करना क्या उचित होगा, क्या उचित नहीं होगा? सब आधार खो गये, पैर के नीचे से। अर्जुन अधर में लटका रह गया है। वह त्रिशंकु हो गया है।

यही प्रत्येक मनुष्य की स्थिति है। और इसलिए अद्भुत सत्य हैं कुरान में, और अद्भुत सत्य हैं बाइबेल में, और अद्भुत सत्य हैं जेन्दावेस्ता में, और अद्भुत सत्य हैं 'ताओ–तेह–किंग' में, और दुनिया के अनेक-अनेक ग्रथों में अद्भुत सत्य हैं, लेकिन गीता फिर भी विशिष्ट है, और उसका कुल कारण इतना है कि वह धर्मशास्त्र कम, मनस-शास्त्र, 'साइकोलॉजी' ज्यादा है। उसमें कोरे स्टेटमेंट्स नहीं हैं कि ईश्वर है और आत्मा है। उसमें कोई दार्शनिक वक्तव्य नहीं है। कोई दार्शनिक तर्क नहीं है। गीता मनुष्य जाति का पहला मनोविज्ञान है। वह पहली 'साइकोलॉजी' है। इसलिए उसके मूल्य की बात ही और है। अगर मेरा वश चले, तो **कृष्ण को मनोविज्ञान का पिता मैं कहना चाहूंगा।** वे पहले व्यक्ति हैं, जो दुविधाग्रस्त चित्त, माइण्ड इन कांफ्लिक्ट', संतापग्रस्त मन, खण्ड-खण्ड टूटे हुए संकल्प को अखण्ड और 'इण्टीग्रेट' करने की कोशिश करते हैं। कहें कि वे पहले आदमी हैं, जो 'साइको एनालिसिस' का, मनस विश्लेषण का उपयोग करते हैं। सिर्फ मनस-विश्लेषण का ही नहीं, बल्कि साथ ही एक और दूसरी बात का भी 'मनस-संश्लेषण' का भी, 'साइको-सियेसिस' का भी।

कृष्ण सिर्फ फ्रायड की तरह मनोविश्लेषक नहीं हैं। वे संश्लेषक भी हैं। वे मन की खोज ही नहीं करते, कि क्या-क्या खण्ड हैं उसके? वे इसकी भी खोज करते हैं कि वह कैसे अखण्ड व्यक्तित्व को, 'इण्डिवीजुएशन' को उपलब्ध हो, अर्जुन कैसे अखण्ड हो जाय! और यह अर्जुन की चित्त-दशा, हम सबकी चित्त-दशा है। लेकिन, शायद संकट के इतने तीव्र क्षण में हम कभी नहीं होते। हमारा संकट भी कुनकुना "ल्यूक–वॉर्म" होता है। इसलिए हम उसको सहते चले जाते हैं। इतना ड्रॉमैटिक, इतना त्वरा से भरा, इतना नाटकीय

संकट हो, तो शायद हम भी अखण्ड होने के लिए आतुर हो जायें।

मैंने सुना है, एक मनोवैज्ञानिक ने एक उबलते हुए पानी की बाल्टी में एक मेंढक को डाल दिया था। वह मेंढक तत्काल छलाँग लगाकर बाहर हो गया। वह मेंढक अर्जुन की हालत में पड़ गया था। उबलता हुआ पानी, मेंढक कैसे 'एडजस्ट' करे, छलाँग लगाकर बाहर हो गया। फिर उस मनोवैज्ञानिक ने उसी मेंढक को दूसरी बाल्टी में डाला और उसके पानी को धीरे–धीरे गरम किया, चौबीस घंटे में उबलने तक लाया। करता रहा धीरे–धीरे गरम, वह जो मेंढक था, हम जैसा, राजी होता गया। थोड़ा पानी गरम हुआ, मेंढक भी थोड़ा गरम हुआ। उस मेंढक ने कहा, अभी ऐसी कोई छलाँग लगाने की खास बात नहीं है। चलेगा। वह 'एडजस्टमेंट' करता चला गया, जैसा हम सब करते चले जाते हैं। चौबीस घंण्टे में वह 'एडजस्टेड' हो गया। जब पानी उबला तब मेंढक 'एडजस्टेड' रहा, क्योंकि कहीं कोई फर्क नहीं मालूम पड़ा। रत्ती–रत्ती भर बढ़ा। एक रत्ती से दूसरी में कोई छलाँग लगाने जैसी बात प्रतीत नहीं हुई।

स्थिति पूरी उबलती हुई है। इसलिए अर्जुन ने एकदम धनुषबाण छोड़ दिया। हम अपनी तराज़ू भी नहीं छोड़ सकते इस तरह, हम अपना गज भी छोड़ नहीं सकते इस तरह, हम अपनी कलम भी नहीं छोड़ सकते इस तरह। और लोगों को देखकर ही एकदम इतना कमजोर हो गया अर्जुन। क्या हुआ? संकट से, इतनी तीव्रता से राजी होना, 'एडजस्ट' होना मुश्किल हो गया उसे।

मैं आपसे कहना चाहूँगा कि राजी मत होते चले जाना। सबको ऐसे मौके नहीं आते कि महाभारत हो, हर-एक की जिन्दगी में। और बड़ी कृपा है भगवान् की, ऐसा हर एक आदमी को महाभारत का मौका लाना पड़े, तो कठिनाई होगी बहुत।

जिन्दगी महाभारत है, लंबे फैलाव पर है! त्वरा नहीं है उतनी। तीव्रता नहीं है उतनी। सघनता नहीं है उतनी। धीमे-धीमे सब होता रहता है। मौत आ जाती है और हम 'एडजस्ट' होते चले जाते हैं। हम समायोजित हो जाते हैं और तब जिन्दगी में क्रांति नहीं हो पाती है। अर्जुन की जिन्दगी में क्रांति निश्चित है। इधर या उधर, उसे क्रांति से गुजरना ही पड़ेगा। पानी उबलता हुआ है। ऐसी जगह है, जहां उसे कुछ न कुछ करना ही होगा। या तो वह भाग जाय, जैसा कि बहुत लोग भाग जाते हैं। सरल वही होगा। 'शार्ट कट' वही है। निकटतम यही मालूम पड़ता है कि भाग जाय।

इसीलिए अधिक लोग जीवन के संकट में से भागने वाला संन्यास निकाल

लेते हैं। अधिक लोग, जीवन के संकट में 'एस्केपिस्ट रिननसिएशन' निकाल लेते हैं, एकदम जंगल भाग जाते हैं। वे कहते हैं, अहमदाबाद नहीं, हरिद्वार जा रहे हैं। (अर्जुन भी वैसी स्थिति में था।) हालांकि गीता वे अपने साथ ले जाते। तब बड़ी हैरानी होती। हरिद्वार में गीता पढ़ते। अर्जुन भी पढ़ सकता था। हरिद्वार वह भी जाना चाहता था। लेकिन वह उसको एक गलत आदमी मिल गया, कृष्ण मिल गया। उसने कहा रुक, भाग मत।

क्या भगोड़े परमात्मा तक पहुँच सकते हैं? भगोड़े परमात्मा तक नहीं पहुंच सकते। जो जीवन के सत्य से भागते हैं, वे परमात्मा तक नहीं पहुँच सकते हैं। जो जीवन का ही साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं, वे परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकते। क्योंकि जो जीवन को ही देखकर शिथिलगात हो जाते हैं, जिनके गाण्डीव छूट जाते हैं हाथ से, जिनके रोयें कँपने लगते हैं और जिनके प्राण थरथराने लगते हैं जीवन को ही देखकर, नहीं, परमात्मा के समक्ष वे खड़े नहीं हो सकेंगे।

जीवन तैयारी है, जीवन का कदम-कदम तैयारी है, उस विराट् सत्य के साक्षात्कार की, 'एनकाउण्टर' की, और अर्जुन तो जीवन के एक छोटे से तथ्य से ही भागा चला जा रहा है। लेकिन भागने की तैयारी उसकी पूरी हो गयी। अब यह बड़े मजे की बात है कि वह रथ पर नहीं चढ़ पाता। वह कहता है, रथ पर चढ़ने की भी अब शक्ति नहीं है। लेकिन अगर उससे कहो कि भाग जाओ जंगल की तरफ, तो वह अपने में बड़ी शक्ति पायेगा। अभी भाग जायेगा। एकदम इतनी तेजी से दौड़ेगा, जितनी तेजी से कभी नहीं दौड़ा है। जो आदमी जिन्दगी से लड़ने की सामर्थ्य नहीं जुटा पा रहा है, वह भागने की जुटा लेता है। सामर्थ्य की तो कमी नहीं मालूम पड़ती, शक्ति की तो कमी नहीं मालूम पड़ती, शक्ति तो है। अगर कृष्ण उसे कहें कि छोड़ सब, तो वह बड़ा प्रसन्न हो जायगा। लेकिन यह प्रसन्नता ज्यादा देर टिकेगी नहीं। **अगर अर्जुन जंगल चला जाय, तो थोड़ी देर में ही उदास हो जायेगा।** बैठ भी जाय वह संन्यासी के वेश में एक वृक्ष के नीचे, तो थोड़ी देर में जंगल से ही लकड़ी वगैरह बटोर-कर तीर-कमान बना लेगा। वह आदमी ही ऐसा है।

हम अपने से भागकर कहीं भी नहीं जा सकते। हम सबसे भाग सकते हैं, अपने से नहीं भाग सकते हैं। मैं तो अपने साथ ही पहुँच जाऊँगा। तो थोड़ी देर में वह देखेगा कि कोई देखने वाला नहीं है, तो पशु पक्षियों का शिकार शुरू कर देगा। अर्जुन ही तो भागेगा न! और पशु पक्षी तो अपने नहीं हैं। वे तो स्वजन-प्रियजन नहीं हैं। उन्हें तो मारने में कोई कठिनाई आयेगी

नहीं। वह मजे से मारेगा। अर्जुन संन्यासी हो नहीं सकता। क्योंकि जो संसारी होने की ही हिम्मत नहीं दिखा पा रहा है, उसके संन्यासी होने का कोई उपाय नहीं है। असल में संन्यास संसार से भागने का नाम नहीं है, संसार को पार कर जाने का नाम है।

संन्यास, संसार की जलन और आग का अतिक्रमण है। और जो उसे पूरा पार कर लेता है, वही अधिकारी हो पाता है। संन्यास, संसार से विरोध नहीं, संसार से पलायन नहीं, संन्यास संसार की संपूर्ण समझ और संघर्ष का फल है। संन्यास की स्थिति में आ गया है वह। पलायनवादी हो, तो अभी रास्ता है उसके सामने। अगर संघर्ष में जाये तो कठिनाई है। अब पूरी गीता उसके गात की शिथिलता को मिटाने के लिए है। उसे वापस संकल्पवान होने के लिए है, उसे वापस शक्ति, संकल्प, वापस व्यक्तित्व और आत्मवान बनाने की पूरी चेष्टा है।

मैं जो सारी चर्चा करूँगा, वह इसी दृष्टि से चर्चा करूंगा कि वह आपके मनस के काम की भी है। और अगर आपके भीतर अर्जुन न हो, तो आप मत आयें, वह आपके काम की बात नहीं है। वह बेमानी है। आपके भीतर दुविधा न हो, आपके भीतर संघर्ष न हो, आपके भीतर बेचैनी न हो, तो आप मत सुनें। तब मेरी बातों का आपसे कोई संबंध नहीं है। आपके भीतर दुविधा हो, **बेचैनी** हो, तनाव हो, आपके भीतर निर्णय लेने में कठिनाई हो, आपके भीतर खण्ड-खण्ड आदमी हो और भीतर से टूट गये हों, 'डिसइंटीग्रेटेड हों, तो ही मेरी बातें आपके अर्थ की हो सकती हैं।

* * *

तीसरा प्रवचन

प्रथम गीता ज्ञान-यज्ञ, अहमदाबाद, प्रातः, दिनांक ३० नवम्बर, १९७०

अर्जुन बड़ी सशर्त बात कह रहा है। बहुत 'कण्डीशनल', शर्त से बँधा उसका वक्तव्य है। सुख के भ्रम से वह मुक्त नहीं हुआ है। लेकिन वह कह रहा है कि अपनों को मार कर जो सुख मिलेगा, ऐसे सुख से क्या प्रयोजन ? अपनों को मार कर जो राज्य मिलेगा. ऐसे राज्य से क्या प्रयोजन ? अगर अपनों को बिना मारे राज्य मिल जाय, और अपनों को बिना मारे सुख मिल जाय, तो अर्जुन लेने को तैयार है। सुख मिल सकता है, इसमें उसे कोई संदेह नहीं। कल्याण हो सकता है, इसमें उसे कोई संदेह नहीं। अपनों को मारने में उसे संदेह है।

इस मनोदशा को समझ लेना उपयोगी है। हम सब भी ऐसी ही शर्तों में सोचते हैं। वेहेंगर ने एक किताब लिखी है — 'द फिलॉसफी ऑफ ऐज इफ'। जैसे सारा जीवन ही 'यदि' पर खड़ा है। यदि ऐसा हो तो सुख मिल सकेगा, यदि ऐसा न हो तो सुख न मिल सकेगा। यदि ऐसा हो तो कल्याण हो सकेगा, यदि ऐसा न हो तो कल्याण नहीं हो सकेगा। लेकिन एक बात निश्चित है कि सुख मिल सकता है, शर्त पूरी होनी चाहिये। और मजे की बात यही है कि जिसकी शर्त है, उसे सुख कभी नहीं मिल सकता है। क्यों? क्योंकि जिसे सुख का भ्रम नहीं टूटा, 'डिसइलूजनमेंट' नहीं हुआ, जिसका सुख का मोह भंग नहीं हुआ, उसे सुख नहीं मिल सकता है।

सुख मिलता है केवल उसे, जो इस सत्य को जान लेता है कि सुख इस जगत् में संभव नहीं है। बड़ा 'पॅरॉडॉक्सिकल', बड़ा उल्टा दिखायी पड़ता है। जो सोचता है कि इस जगत् में सुख मिल सकता है, यदि कुछ शर्तें भर पूरी हो जायँ, वह केवल नये-नये दुख खोजता चला जाता है। असल में दुख को खोजना हो तो सुख बनाकर ही खोजना पड़ता है। दुख के खोजने की तरकीब ही यही है कि उसे सुख मानकर खोजना पड़ता है।

जब तक खोजते हैं तब तक सुख मालूम पड़ता है, जब मिल जाता है तब दुख मालूम पड़ता है। लेकिन मिल जाने के बाद कोई उपाय नहीं।

अर्जुन अगर कहे कि सुख संभव कहाँ है, संसार में कल्याण संभव कहाँ है, राज्य में प्रयोजन कहाँ है? अगर वह ऐसा कहे तो उसका प्रश्न बेशर्त है, 'अनकण्डीशनल' है। तब उत्तर बिलकुल और होगा। लेकिन वह यह कह रहा है कि अपनों को मार कर सुख कैसे मिलेगा? सुख तो मिल सकता है, अपने न मारे जायँ तो। सुख लेने को वह तैयार है। कल्याण तो हो सकता है, राज्य में प्रयोजन भी हो सकता है, लेकिन अपने न मारे जायँ तो ही राज्य में प्रयोजन हो सकता है।

राज्य व्यर्थ है, सुख व्यर्थ है, महावीर या बुद्ध को जैसे ख्याल हुआ, अर्जुन को वैसा ख्याल नहीं है। अर्जुन के सारे वक्तव्य उसकी विरोधी मनोदशा की सूचना देते हैं। वह जिस चीज को कह रहा है, बेकार है, उस चीज को बेकार जान नहीं रहा है। वह जिस चीज को कह रहा है—क्या प्रयोजन? क्या फायदा? वह पूरे वक्त मन में जान रहा है कि फायदा है, प्रयोजन है, सिर्फ उसकी शर्त पूरी होनी चाहिए। उसका 'यदि' अगर पूरा हो जाय, 'इफ' यदि पूरी हो जाय, तो सुख मिलेगा, इसमें उसे कोई भी संदेह नहीं है।

मैंने एक मजाक सुनी है। मैंने सुना है कि बर्ट्रेंड रसेल मर रहा है। मजाक ही है। एक पादरी यह खबर सुन कर कि बर्ट्रेंड रसेल मर रहा है, भागा हुआ पहुँच गया कि हो सकता है यह जीवन भर का निष्णात-नास्तिक, शायद मरते वक्त मौत से डर जाय और भगवान् को स्मरण कर ले। पर उस पादरी की मरते हुए बर्ट्रेंड रसेल के पास जाने की हिम्मत नहीं पड़ती है। वह भीड़ में जो मित्रों की इकटठी हो गयी थी, पीछे डरा हुआ खड़ा है कि कोई मौका अगर मिल जाय, तो वह बर्ट्रेंड रसेल को कह दे कि अभी भी माफी माँग लो। और तभी बर्ट्रेंड रसेल ने करवट बदली और कहा—"हे परमात्मा"। पादरी ने सोचा, यह ठीक मौका है। इसके मुँह से भी परमात्मा का नाम निकला है। वह पास गया और उसने कहा कि यह ठीक अवसर है, अभी भी क्षमा माँग लो परमात्मा से। तो बर्ट्रेंड रसेल ने आँख खोली और उसने कहा -"हे परमात्मा, यदि कोई परमात्मा हो, तो बर्ट्रेंड रसेल क्षमा माँगता है। क्षमा मांगता है, यदि कोई पाप किये गये हों। क्षमा मांगता है, यदि क्षमा संभव हो।" सारा जीवन हमारा "यदि" से घिरा है। बर्ट्रेंड रसेल साफ है, ईमानदार है। हम इतने साफ नहीं हैं।

अर्जुन भी साफ नहीं है, बहुत 'कन्फ्यूज्ड' है, बहुत उलझा हुआ है। चित्त की गाँठ उसकी बहुत इरछी-तिरछी है। वह कह रहा है, सुख तो मिल सकता है, लेकिन

यदि अपने न मरें। वह कहता है, राज्य मिल जाय तो कल्याणकारी है, यदि अपने न मरे, यह 'यदि' ही उसकी गाँठ है। और जो आदमी ऐसा कहता है, उसका सुख, राज्य, धन, यश, इनका मोह नहीं टूटा है। उसकी आकांक्षा नहीं टूटी है। उसकी अभीप्सा नहीं टूटी है। पीछे वह बहुत तैयार है, सब मिल जाय, लेकिन उसके 'यदि' भी पूरे होने चाहिए।

इसीलिए कृष्ण को निरंतर पूरे समय उसके साथ श्रम करना पड़ रहा है। वह श्रम उसके 'सेल्फ-कन्ट्राडिक्टरी' (आत्मविरोधी) चिन्तन के लिए करना पड़ रहा है। क्योंकि पूरे समय यह दिखायी पड़ रहा है कि वह जो छोड़ना चाहता है, वही चाह रहा है। जिससे भाग रहा है, उसी को माँग रहा है। जिससे बचना चाह रहा है, उसी का आलिंगन कर रहा है।

अर्जुन की यह दशा ठीक से समझ लेनी चाहिए। **ऐसा अर्जुन हम सबके भीतर है।** जिसे हम एक हाथ से धकियाते हैं, उसे दूसरे हाथ से खींचते रहते हैं। एक कदम बायें चलते हैं, तो तत्काल एक कदम दायें चल लेते हैं। एक कदम परमात्मा की तरफ जाते हैं, तो एक कदम तत्काल संसार की तरफ उठा लेते हैं।

अर्जुन ऐसी बैलगाड़ी की तरह है, जिसमें दोनों तरफ बैल जुते हैं। वह दोनों तरफ खिंच रहा है। वह कह रहा है, सुख तो है, इसलिए मन चाहता है। वह कह रहा है—लेकिन अपनों को मारना पड़ेगा, इसलिए मन भागता है। यह स्व-विरोध है, स्मरण रखने योग्य है, क्योंकि अर्जुन की पूरी चित्त दशा इसी स्व-विरोध का फैलाव है।

● **प्रश्नकर्ता:** भगवान् श्री, विषाद-ग्रस्त आदमी की चित्त दशा हमने देखी है। गीता के प्रथम अध्याय को 'विषाद-योग' कहा गया है। तो विषाद का योग से क्या संबंध है? या गीता में 'योग' शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त किया गया है?

भगवान् श्री: 'विषाद योग' के बहुत अर्थ हैं। योग के ऐसे भी अर्थ हैं, जो साधारणत: योग से जो हमारी धारणा है, उसके ठीक विपरीत भी हैं। यह ठीक ही सवाल है कि विषाद कैसे योग हो सकता है? आनन्द योग हो सकता है। विषाद कैसे योग हो सकता है? लेकिन विषाद इसलिए योग हो सकता है कि वह आनन्द का ही शीर्षासन करता हुआ रूप है, आनन्द ही सिर के बल खड़ा है। आप अपने पैर के बल खड़े हों, तो भी आदमी हैं, और सिर के बल खड़े हो जायें, तो भी आदमी हैं। जिसको हम स्वभाव से विपरित जाना कहते हैं, वह भी स्वभाव का उल्टा खड़ा हो जाना है, 'इनव्हर्सन' है। जिसको हम विक्षिप्तता कहते हैं, वह स्वभाव का विकृत हो जाना है, 'परव्हर्शन' है।

लेकिन है स्वभाव ही।

सोने में मिट्टी मिल जाय, तो अशुद्ध सोना ही कहना पड़ता है । अशुद्ध है, इसलिए पूछा जा सकता है कि जो अशुद्ध है, उसे सोना क्यों कह रहे हैं ? लेकिन सोना ही कहना पड़ेगा । वह अशुद्ध होकर भी सोना है । और इसलिए भी सोना कहना पड़ेगा कि अशद्धि जल सकती है और सोना वापस सोना हो सकता है ।

विषाद-योग इसलिए कह रहे हैं कि विषाद है, विषाद जल सकता है, योग बच सकता है। आनंद की यात्रा हो सकती है। कोई भी इतने विषाद को उपलब्ध नहीं हो गया कि स्वरूप को वापस लौट न सके। विषाद की गहरी से गहरी अवस्था में भी स्वरूप तक लौटने की पगडण्डी शेष है। इस पगडण्डी के स्मरण को ही योग कह रहे हैं।

जो विषाद है, वह भी इसीलिए हो रहा है। विषाद क्यों हो रहा है ? एक पत्थर को विषाद नहीं होता। नहीं होता, इसलिए कि उसे आनंद भी नहीं हो सकता है। विषाद हो इसलिए रहा है, क्योंकि वह भी एक गहरे अर्थ में आनंद का स्मरण है। इसलिए विषाद हो रहा है। वह भी इस बात का स्मरण है कि गहरे में चेतना कहीं जान रही है कि जो मैं हो सकती हूँ, वह नहीं हो पा रही हूँ, जो मैं पा सकती हूँ, वह नहीं पा रही हूँ। जो संभव है, वह संभव नहीं हो पा रहा है, इसलिए विषाद हो रहा है।

जितना ही प्रतिभाशाली व्यक्तित्व होगा, उतने ही गहरे विषाद में उतरेगा। सिर्फ जड़-बुद्धि विषाद को उपलब्ध नहीं होते हैं। क्योंकि जड़-बुद्धि को तुलना का उपाय भी नहीं होता। उसे यह ख्याल नहीं होता कि मैं क्या हो सकता हूँ। जिसे यह ख्याल है कि मैं क्या हो सकता हूँ, जिसे यह ख्याल है कि आनन्द संभव है, उसके विषाद की कालिमा बढ़ जायगी। उसे विषाद ज्यादा गहरा दिखायी पड़ेगा। जिसे सुबह का पता है, उसे रात के अन्धकार में बहुत अन्धकार दिखायी पड़ेगा। जिसे सुबह का कोई पता नहीं, उसे रात भी सुबह हो सकती है। और रात भी उसे लग सकती है, ठीक है।

अर्जुन की इस विषाद की स्थिति को भी योग ही कहा जा रहा है, क्योंकि यह विषाद का बोध भी स्वरूप के विपरीत, 'कण्ट्रॉस्ट' में दिखायी पड़ता है। अन्यथा नहीं दिखायी पड़ेगा। ऐसा विषाद-योग अन्य किसी को भी उस युद्ध के स्थलं पर नहीं हो रहा है। ऐसा दुर्योधन को नहीं हो रहा है।

कल में प्रवचन से लौटता था तो रास्ते में एक मित्र ने पूछा कि आपने दुर्योधन की तो बात की, युधिष्ठिर के संबंध में क्या ख्याल हैं ? क्योंकि दुर्योधन को विषाद नहीं हो रहा है, याने आदमी भला नहीं है। पर युधिष्ठिर तो भला आदमी है, धर्मराज है, उसे क्यों नहीं हो रहा है ! तो यह भी थोड़ा विचारणीय है। आशा तो करनी चाहिए कि

युधिष्ठिर को हो, लेकिन युधिष्ठिर को नहीं हो रहा है। युधिष्ठिर तथाकथित धार्मिक आदमी, 'सो-कॉल्ड रिलीजस' है और बुरा आदमी भी तथाकथित धार्मिक आदमी से बेहतर होता है। क्योंकि बुरे आदमी को आज नहीं तो कल, बुरे की पीड़ा और बुरे का काँटा चुभने लगेगा। लेकिन तथाकथित धार्मिक आदमी को वह काँटा भी नहीं चुभता, क्योंकि वह मानकर ही चलता है कि धार्मिक है। विषाद कैसे हो ! **युधिष्ठिर अपने धार्मिक होने में आश्वस्त है। आश्वासन बड़ा झूठा है।** लेकिन आश्वस्त है। असल में युधिष्ठिर रूढ़िग्रस्त धार्मिक आदमी की प्रतिमा है।

दो तरह के धार्मिक आदमी होते हैं। एक तो उधार धार्मिक आदमी होते हैं, 'बारोड', जिनका धर्म अतीत की उधारी से आता है। और एक वे धार्मिक आदमी होते हैं, जिनका धर्म उनकी आंतरिक क्रांति से आता है।

अर्जुन आंतरिक क्रांति के द्वार पर खड़ा हुआ धार्मिक आदमी है। धार्मिक है नहीं। लेकिन क्रांति के द्वार पर खड़ा है। उस पीड़ा से गुजर रहा है, जिससे धर्म पैदा हो सकता है। युधिष्ठिर तृप्त है, अतीत से जो धर्म मिला है, उससे राजी है। इसलिए धार्मिक भी हो सकते हैं और जुआ भी खेल सकते हैं, तब भी कोई संदेह मन में पैदा नहीं होता। धार्मिक भी हो सकते हैं, । राज्य के लिए युद्ध पर भी जा सकते हैं, तब भी कोई संदेह मन में पैदा नहीं होता ।

सभी तथाकथित धार्मिक लोगों के आस-पास अधर्म पूरी तरह चलता है। कोई पीड़ा उससे नहीं होती । आमतौर से मंदिर में, मस्जिद में, गुरुद्वारा में, चर्च में जाने वाला आदमी युधिष्ठिर से ताल-मेल रखता है । तृप्त है । गीता रोज पढ़ता है, धार्मिक आदमी है, बात समाप्त हो गयी। गीता कण्ठस्थ है, पक्का धार्मिक आदमी है, बात समाप्त हो गयी । सब उसे मालूम है, जो मालूम करने योग्य है, बात समाप्त हो गयी। ऐसा आदमी चली हुई कारतूस जैसा होता है । उसमें कुछ चलने को नहीं होता है । खाली कारतूस होता है, उससें बारूद नहीं होती। खाली कारतूस अच्छी भी मालूम पड़ती है, क्योंकि उससे बहुत खतरा भी नहीं होता।

युधिष्ठिर इन्हीं अर्थों में धर्मराज है। अतीत से जो धर्म मिला है, उसकी धरोहर—अतीत की परम्परा से, रूढ़ि से जो धर्म मिला है वे उसके प्रतीक, प्रतिमा-पुरुष हैं। उन्हें कोई अड़चन नहीं होती । तथाकथित धार्मिक आदमी 'कम्प्रोमाइजिंग' होता है, समझौतावादी होता है । वह हर स्थिति में धर्म और अधर्म के बीच समझौते खोज लेता है ।

तथाकथित धार्मिक आदमी 'हिपोक्रिट' होता है, पाखण्डी होता है। उसके

दो चेहरे होते हैं। एक उसका धार्मिक चेहरा होता है, जो वह दिखाने के लिए रखता है। एक उसका असली चेहरा होता है, जो वह काम चलाने के लिए रखता है। और इन दोनों के बीच कभी 'कॉन्फ्लिक्ट' पैदा नहीं होती। यही 'हिपोक्रिसी' (पाखण्ड) का सूत्र है, राज है। उनके बीच कभी द्वन्द्व पैदा नहीं होता, कभी उसे ऐसा नहीं लगता कि मैं दो हूँ। वह बड़ा 'लिक्विड' होता है, बड़ा तरल होता है। वह इधर से उधर बड़ी आसानी से हो जाता है। उसे कोई अड़चन नहीं आती। वह अभिनेता की तरह है। पात्र अभिनय बदल लेता है, उसे कोई अड़चन नहीं होती। कल वह राम बना था, आज उसे रावण बना दें, तो उसे कोई अड़चन नहीं आती। वह रावण की वेशभूषा पहनकर खड़ा हो जाता है। रावण की भाषा बोलने लगता है।

यह जो तथाकथित धार्मिक आदमी है, यह अधार्मिक से भी बदतर है, ऐसा मैं कहता हूँ। ऐसा इसलिए कहता हूँ कि अधार्मिक अपनी पीड़ा को ज्यादा दिन नहीं झेल सकेगा, आज नहीं कल, काँटा चुभेगा। लेकिन जो आदमी समझौते कर लेता है, वह पीड़ा को अनंतकाल तक झेल सकता है। इसलिए युधिष्ठिर को पीड़ा नहीं आती। युधिष्ठिर बिलकुल राजी है। अब यह बड़े मजे की बात है कि धार्मिक आदमी बिलकुल राजी है उस युद्ध में और यह अर्जुन, जो न तो अधार्मिक होने को राजी है, न अभी तथाकथित धर्म से राजी है, वह चिन्तित है।

अर्जुन बहुत 'ऑथेन्टिक', प्रामाणिक मनुष्य है। उसकी प्रामाणिकता इसमें है कि चिन्ता है उसे। उसकी प्रामाणिकता इसमें है कि प्रश्न हैं उसके पास। उसकी प्रामाणिकता इसमें है कि जो स्थिति है, उसमें वह राजी नहीं हो पा रहा है। उसकी यही बेचैनी, उसकी यही पीड़ा, उसका विकास बनती है।

विषाद-योग इसलिए ही कहा है कि अर्जुन विषाद को उपलब्ध हुआ है। **धन्य हैं वे लोग जो विषाद को उपलब्ध हो जायँ, क्योंकि जो विषाद को उपलब्ध होंगे, उन्हें मार्ग खोजना पड़ता है।** अभागे हैं वे, जिनको विषाद भी नहीं मिला, उनको आनन्द तो कभी मिलेगा ही नहीं। धन्य हैं वे, जो विरह को उपलब्ध हो जायँ, क्योंकि विरह मिलन की आकांक्षा है। इसलिए विरह भी योग है, वह मिलन की आकांक्षा है। वह मिलन के लिए खोजता हुआ मार्ग है। योग तो मिलन ही है। लेकिन **विरह भी योग है। क्योंकि विरह भी मिलन की पुकार और प्यास है।** विषाद भी योग है। योग तो आनंद ही है। लेकिन विषाद भी योग है, क्योंकि विषाद आनन्द के जन्मने की प्रक्रिया है। इसलिए विषाद-योग कहा है।

● **प्रश्नकर्त्ता :** भगवान् श्री, आपने अभी बर्ट्रेंड रसेल का नाम लिया है। वेद मेहता ने टिलिक से बर्ट्रेंड रसेल की आत्मतृप्ति और अनासक्ति के पहलू प्रगट करके पूछा था कि रसेल को नास्तिक होते हुए भी जीवन में 'एम्टिनेस,' खालीपन का अनुभव क्यों नहीं हुआ? तब पॉल टिलिक ने बताया कि ऐसे लोग आत्मवंचक हो सकते हैं। तो गीता की दृष्टि से आप जो कहते हैं, उससे यह मालूम होता है कि अर्जुन का विषाद अधार्मिक था?

भगवान् श्री : अर्जुन का विषाद यदि विषाद में ही तृप्त हो जाय, और बन्द हो जाय, तो अधार्मिक है। 'क्लोज्ड' हो जाय, तो अधार्मिक है। अगर विषाद यात्रा बन जाय, गंगोत्री बने और विषाद से गंगा निकले और आनंद के सागर तक पहुँच जाय, तो धार्मिक है। विषाद अपने में न तो अधार्मिक है, न धार्मिक है। अगर विषाद बन्द करता है व्यक्तित्व को, तो आत्मघाती हो जायेगा। अगर विषाद व्यक्तित्व को बहाव देता है, तो आत्म-परिवर्तनकारी हो जायगा। पॉल टिलिक कहते हैं कि 'डिस्पेयर इन इटसेल्फ इज रिलीजस'— वह जो विषाद है, दुख है, वह अपने आपमें धार्मिक है। यह अधूरा सत्य है, पॉल टिलिक पूरा सत्य नहीं बोल रहे हैं। यह अधूरा सत्य है, आधा सत्य है। विषाद धार्मिक बन सकता है। उसकी 'पॉसिबिलिटि', उसकी संभावना है धार्मिक बनने की, अगर विषाद बहाव बन जाय।

जब विषाद वर्तुल बन जाय, 'सर्कुलर' हो जाय, अपने में ही घूमने लगे, तो सिर्फ आत्मघाती हो सकता है, धार्मिक नहीं हो सकता। यह बड़े मजे की बात है कि आत्मघाती व्यक्तित्व उस जगह पहुँच जाता है, जहाँ से या तो उसे आत्म-रूपान्तरण करना पड़ेगा या आत्मघात करना पड़ेगा। एक बात तय है कि पुरानी आत्मा से नहीं चलेगा। तो हम ऐसा भी कह सकते हैं कि 'स्युसाइड इन इटसेल्फ इज रिलीजस', आत्महत्या अपने आप में धार्मिक है। लेकिन यह अधूरा सत्य होगा, वैसा ही जैसा पॉल टिलिक ने कहा।

हाँ, आत्महत्या की स्थिति में आये व्यक्ति के सामने दो विकल्प हैं, दो 'ऑल्टरनेटिव' हैं। या तो अपने को मार डाले, जो कि बिलकुल अधार्मिक होगा और या वह अपने को बदल डाले, जो कि मारने की और भी गहरी कीमिया है, तब वह धार्मिक होगा। बुद्ध उस जगह आ जाते हैं, जहाँ या तो आत्महत्या करें या आत्मरूपांतरण करें। महावीर उस जगह आ जाते हैं कि या तो आत्महत्या करें या आत्मरूपांतरण करें।

अर्जुन भी उस जगह खड़ा है, जहाँ या तो वह मिट जाय, मर जाय, अपने को

समाप्त कर ले और या अपने को बदले और नये तलों पर चेतना को ले जाय। पॉल टिलिक का वक्तव्य भी अधूरा है। पॉल टिलिक के वक्तव्य के अधूरे होने का कारण, 'क्रिश्चियेनिटी' का बुनियादी अधूरा सत्य है। ईसाइयत का बुनियादी सत्य अधूरा है। पॉल टिलिक आधुनिक युग में ईसायइत का बड़ा व्याख्याकार है। उसकी पैनी दृष्टि है, लेकिन पैनी दृष्टि जरूरी नहीं है कि पूरी हो।

ईसाइयत में जीसस की जो शकल पकड़ी गई है, वह 'डिस्पेयर', विषाद की है। ईसाइयत ने जीसस की और कोई शकल नहीं पकड़ी। ईसाइयत के पास जीसस की हँसती हुई कोई तस्वीर नहीं हैं। ईसाइयत के पास जीसस का नाचता हुआ, प्रसन्न, कोई व्यक्तित्व नहीं है। ईसाइयत के पास सत्-चित्-आनंद की घोषणा करने वाली जीसस की कोई धारणा नहीं है, कोई प्रतिमा नहीं है। उनके पास प्रतिमा है जीसस की–सूली पर लटके हुए, कंधे पर टिके हुए, आँखें उदास, मरने की घड़ी। क्रॉस, 'सूली' इसलिए ईसाइयत का प्रतीक बन गया। **यह जो 'डिस्पेयर' और सूली है, यह अपने आप में धार्मिक नहीं है।** हो सकती है धार्मिक, नहीं भी हो सकती है।

पॉल टिलिक बर्ट्रेंड रसेल के संबंध में गलत बात कहते हैं, पूरी ही तरह गलत कहते हैं—अगर वे यह कहते हैं कि बर्ट्रेंड रसेल जैसे लोग आत्म-वंचक हैं, क्योंकि बर्ट्रेंड रसेल नास्तिक हैं, ईश्वर पर उसकी कोई आस्था नहीं है। इसलिए पूछा जा सकता है पॉल टिलिक से कि बर्ट्रेंड रसेल को ईश्वर पर कोई आस्था नहीं है, फिर भी बर्ट्रेंड रसेल को अर्थहीनता, 'एम्प्टिनेस', खालीपन का कोई बोध नहीं होता है, जैसा सार्त्र को होता है या कामू को या किसी और को होता है। बर्ट्रेंड रसेल को क्यों नहीं होता? अगर वह नास्तिक है, तो उन्हें खालीपन का अनुभव होना चाहिए। यह बहुत जरूरी नहीं है।

नास्तिकता भी मेरी दृष्टि में दो तरह की होती है—अपने में बन्द, और बाहर बहती हुई! जो नास्तिक अपने में बन्द हो जायेगा, जैसा विषाद अपने में बन्द हो जायेगा, वह खाली हो जायेगा। क्योंकि जो आदमी 'नहीं' के ऊपर जिन्दगी खड़ी करेगा, वह 'एम्प्टि' (खाली) हो जायेगा। जो आदमी कहेगा, 'नहीं' मेरे जीवन का आधार है, वह खाली नहीं होगा तो और क्या होगा।

'नहीं' के बीज से कोई अंकुर नहीं निकलता। 'नहीं' के बीज से कोई फूल नहीं खिलते। 'नहीं' के बीज से कोई जीवन विकसित नहीं होता। जीवन में कहीं न कहीं 'हाँ' न हो, तो जीवन खाली हो जायेगा। लेकिन जरूरी नहीं है कि नास्तिकता 'नहीं' पर ही खड़ी हो। **नास्तिकता भी 'हाँ' पर खड़ी हो सकती है।**

बर्ट्रेंड रसेल की नास्तिकता 'हां' पर खड़ी है। ईश्वर को इन्कार करता है, लेकिन प्रेम को इन्कार नहीं करता। और जो आदमी प्रेम को इन्कार नहीं करता, उसको नास्तिक केवल नासमझ आस्तिक ही कह सकते हैं, क्योंकि जो आदमी प्रेम को इन्कार नहीं करता, वह बहुत गहरे में परमात्मा को स्वीकार कर रहा है। 'फॉर्मल' नहीं है उसकी स्वीकृति। वह भगवान् की मूर्ति रखकर मंदिर में घण्टी नहीं बजाता है, लेकिन जो बजाते हैं, वे कोई आस्तिक हैं, ऐसा मानने का कोई भी कारण नहीं है। क्योंकि घण्टी बजाने से आस्तिकता का क्या लेना-देना है? **प्रेम का स्वर** जिसके जीवन में हो, उसके जीवन में **प्रार्थना** ज्यादा दूर नहीं है। प्रेम का स्वर जिसके जीवन में हो, उसके जीवन में **परमात्मा** ज्यादा दूर नहीं है। और प्रेम इन्कार करने वाला सूत्र नहीं है, प्रेम स्वीकार करने वाला सूत्र है। प्रेम बड़ी गहरी 'हाँ' है, पूरे अस्तित्व के प्रति।

मैं बर्ट्रेंड रसेल को नास्तिक सिर्फ औपचारिक अर्थों में कहता हूँ। औपचारिक अर्थों में बर्ट्रेंड रसेल नास्तिक है। जिस तरह औपचारिक अर्थों में बहुत से लोग आस्तिक हैं। लेकिन बर्ट्रेंड रसेल की नास्तिकता आस्तिकता की तरफ बहती हुई है। उसमें बहाव है। वह खुल रही है। वह फूलों में भी आनन्द ले पाता है। हमारा आस्तिक मंदिर में जाकर फूल तो चढ़ा देता है, लेकिन फूल में कोई आनन्द नहीं ले पाता। फूल तोड़ते वक्त उसे ऐसा नहीं लगता कि परमात्मा को तोड़ रहा है। पत्थर की एक मूर्ति के लिए एक जिन्दा फूल को तोड़कर चढ़ा देता है। यह आदमी गहरे में नास्तिक है। इसका अस्तित्व के प्रति कोई स्वीकार-भाव नहीं है। और न अस्तित्व में इसे परमात्मा की कोई प्रतीति है। इसे कोई प्रतीति नहीं है। इसकी पत्थर की मूर्ति को कोई तोड़ दे, तो यह हत्या पर उतारू हो जाता है। चाहे वह स्वयं जिन्दा मूर्तियों को तोड़ देता हो। इसके मन में आस्तिकता का कोई संबंध नहीं है। इसकी आस्तिकता आत्मवंचना है।

बर्ट्रेंड रसेल की नास्तिकता भी आत्मवंचना नहीं है। क्योंकि मुझे ऐसा दिखायी पड़ता है कि रसेल 'सिंसियर', ईमानदार आदमी है। **और ईमानदार आदमी जल्दी आस्तिक नहीं हो सकता।** सिर्फ बेईमान आदमी ही जल्दी आस्तिक हो सकते हैं। क्योंकि जिस आदमी ने ईश्वर को भी बिना खोजे हाँ भर दी, उससे बड़ा बेईमान आदमी कौन मिल सकता है? जिस आदमी ने ईश्वर जैसे महत् तत्त्व को किताब में पढ़कर स्वीकार कर लिया, उस आदमी से ज्यादा आत्म-वंचक, 'सेल्फ डिसेप्टिव' आदमी कौन मिल सकता है?

ईश्वर बच्चों का खेल नहीं है । ईश्वर किताबों में पढ़े हुए पाठ से संबंधित नहीं है । ईश्वर का मां-बाप द्वारा सिखाये गये सिद्धांन्तों से क्या वास्ता है ? ईश्वर तो जीवन की बड़ी प्राणवंत खोज और पीड़ा है । बड़ी 'एंग्विश', बड़े विषाद से उपलब्ध होगा । बड़े श्रम से, बड़ी तपश्चर्या से, बड़े इन्कार से गुजरने पर, बड़ी पीड़ा, बड़े खालीपन से गुजरने से पर, बड़ी मुश्किल से, शायद जन्मों की यात्रा और खोज तथा जन्मों की भटकन और जन्मों की असफलता और विफलता के बाद, इस सारी प्रसव-पीड़ा के बाद, तब शायद वह अनुभव आता है, जो व्यक्तित्व को आस्तिकता देता है ।

मैं मानता हूँ कि बर्ट्रेंड रसेल ऐसी यात्रा पर है । इसलिए खाली नहीं है । सार्त्र खाली है, उसकी नास्तिकता 'क्लोज्ड' है । 'ऐनसर्किल्ड इन वनसेल्फ', अपने भीतर ही वर्तुल बनाकर घूम रही है । तो अपने भीतर आदमी फिर खाली हो जायेगा । और 'नहीं' पर, 'नथिंगनेस' पर जिसने आधार रखे, उसकी जिन्दगी में कैसे फूल खिलेंगे ! उसने मरुस्थल में बीज बोने की कोशिश की है । वहाँ फूल नहीं खिल सकते ।

'नहीं' से बड़ा कोई मरुस्थल नहीं है । और जमीन पर जो मरुस्थल होते हैं, वहाँ तो 'ओइसिस' भी होते हैं, वहाँ तो कुछ मरुद्यान भी होते हैं । लेकिन 'नहीं' के मरुस्थल में कोई 'ओइसिस,' कोई मरुद्यान नहीं होता । वहां कोई हरियाली नहीं खिलती । हरियाली तो 'हां' में ही खिलती है। आस्तिक ही पूरा हरा हो सकता है । आस्तिक ही पूरा भरा हो सकता है । आस्तिक ही फूलों को उपलब्ध हो सकता है, नास्तिक नहीं ।

नास्तिकता दो तरह की हो सकती है और आस्तिकता भी दो तरह की हो सकती है । नास्तिकता तब खतरनाक हो जाती है, जब अपने में बन्द हो जाय, और आस्तिकता तब खतरनाक होती है, जब उधार और 'बारोड' होती है । **आस्तिकता का खतरा उधारी में है, नास्तिकता का खतरा अपने में बन्द हो जाने में है।** सब उधार आस्तिक हैं पृथ्वी पर ! नास्तिक तक होने की ईमानदारी नहीं है, तो आस्तिक होने का बहुत विराट् कदम बिलकुल असंभव है ।

मैं तो मानता हूँ कि नास्तिकता पहली सीढ़ी है। आस्तिक होने के लिए शिक्षण है नास्तिकता। 'नहीं' कहने का अभ्यास, 'हां' कहने की तैयारी है। और जिसने कभी 'नहीं' नहीं कहा, उसके 'हाँ' में कितना बल होगा ! और जिसने कभी 'नहीं' कहने की हिम्मत नहीं जुटायी, उसकी 'हाँ' में कितना प्राण, कितनी आत्मा हो सकती है ?

बर्ट्रेंट रसेल, मैं मानता हूं, नास्तिकता के उस दौर से गुजरता हुआ व्यक्ति है, जो खोज रहा है । बिना खोजे 'हाँ' नहीं भर सकता । उचित है । ठीक है, धार्मिक है। रसेल को मैं नास्तिक कहता हूँ, लेकिन धार्मिक । **धार्मिक नास्तिक** । और तथाकथित आस्तिकों को मैं आस्तिक कहता हूँ, लेकिन **अधार्मिक आस्तिक**। ये शब्द उल्टे मालूम पड़ते हैं । लेकिन उल्टे नहीं हैं ।

अर्जुन का विषाद बहुत धार्मिक है । उसमें गति है । अगर वह चाहे, तो कृष्ण जैसे कीमती आदमी को पास पाकर कह सकता है कि गुरु, तुम जो कहते हो, ठीक है, हम लड़ते हैं। पर ऐसा वह नहीं कहता, कृष्ण से जूझता है । कृष्ण से जूझने की हिम्मत साधारण नहीं है । कृष्ण जैसे व्यक्तित्व के पास, हाँ करने का मन होता है । कृष्ण जैसे व्यक्तित्व से 'नहीं' कहने में पीड़ा होती है । कृष्ण जैसे व्यक्तित्व से प्रश्न उठाने में भी दुःख होता है । लेकिन अर्जुन है कि पूछे चला जाता है, पूछे चला जाता है । वह कृष्ण के व्यक्तित्व को आड़ में रख देता है । अपने प्रश्न को छोड़ता नहीं । इसका भय नहीं लेता मन में कि क्या कहेगा कोई । अश्रद्धालु है, संदेह करता है, शक उठाता है, आस्थावान नहीं है । यदि कृष्ण जैसा व्यक्ति मिला हो, तो मान लो गुरु और सब स्वीकार कर लो, तब आस्तिकता उधार हो जाती है । लेकिन नहीं, वह **प्रामाणिक आस्तिकता की खोज में है**। इसलिए इतनी बड़ी गीता की लंबी यात्रा हुई । पूछता चला जाता है पूछता चला जाता है ।

कृष्ण भी अद्‌भुत हैं । अपनी महिमा का जोर डाल सकते थे । अगर 'गुरुडम' का जरा भी मोह होता, तो जरूर डाल देते । लेकिन जो भी आस्तिक है, उसे गुरु होने की आकांक्षा नहीं होती। परमात्मा ही है, तो और व्यक्ति को गुरु होने की कोई जरूरत नहीं रह जाती । और जिसे परमात्मा पर भरोसा है, वह प्रश्नों को संदेह की दृष्टि से नहीं देखता, वह निन्दा की भी दृष्टि से नहीं देखता, क्योंकि वह जानता है, परमात्मा है । और यह व्यक्ति पूछ रहा है, तो यात्रा कर रहा है, पहुँच जायेगा। इसे पहुँचने दें सहज ही ।

गंगा बह चली है, तो सागर तक पहुँच जायेगी । अभी उसे पता नहीं कि सागर है, लेकिन बह रही है तो बेफिक्र रहें, पहुँच जायेगी। वे कहते नहीं कि रूक जाओ और मान लो । और गंगा अगर रूक जाय और मान ले कि सागर है, तो कभी जान नहीं पायेगी कि सागर है । रूक जायेगी, एक डबरा बन जायेगी—सड़ा-गला । फिर उसी को सागर समझेगी ।

ऐसा आस्तिक अर्जुन नहीं है । अगर ठीक से समझें तो अर्जुन और बर्ट्रेंड रसेल

के व्यक्तित्व में कुछ मेल है । जैसा मैंने कल कहा कि सार्त्र और अर्जुन के व्यक्तित्व में कुछ मेल है । वह मेल इतना है कि जैसा सार्त्र चिन्तित है, वैसा अर्जुन चिन्तित है, लेकिन यहां मेल टूट जाता है इसके आगे। सार्त्र अपनी चिंता को सिद्धान्त बना लेता है, अर्जुन अपनी चिन्ता को प्रश्न बनाता है । यहाँ उसका बर्ट्रेंड रसेल से मेल है । बर्ट्रेंड रसेल 'एग्नॉस्टिक' है, जिन्दगी के अंतिम क्षण तक पूछ रहा है ।

दूसरी बात है कि उसे कोई कृष्ण नहीं मिला । कोई हर्जा भी नहीं है। आगे कभी मिल जायेगा । कोई हर्जा नहीं है, लेकिन पूछना वहाँ है । यात्रा जारी है । मैं मानता हूँ कि इस पृथ्वी पर बर्ट्रेंड रसेल के आस-पास पॉल टिलिक जैसे जो आस्तिक हैं, ये 'इनसिंसियर' हैं । पॉल टिलिक आत्म-वंचक हो सकते हैं, रसेल नहीं । और इस पृथ्वी पर पॉल टिलिक और रसेल जैसे व्यक्ति साथ-साथ रहे हैं । मेरी अपनी समझ है कि बर्ट्रेंड रसेल आस्तिकता की तरफ ज्यादा बढ़ा है, पॉल टिलिक नहीं बढ़े। वे 'थियॉलॉजिस्ट' हैं।

बड़े मजे की बात है कि दुनिया में धर्म का सबसे बड़ा शत्रु अगर कोई है, तो अधर्म नहीं है, 'थियॉलॉजी' है, धर्म-शास्त्र है । धर्म की सबसे बड़ी शत्रुता, शास्त्रीयता में है । वे जो लोग शास्त्रीयता में जीते हैं, वे कभी धार्मिक नहीं हो पाते । उसके कारण हैं, क्योंकि धर्म बुद्धि से ऊपर की बात है, और शास्त्र सदा बुद्धि से नीचे की बात है । **शास्त्र बुद्धि के ऊपर नहीं जाता, और बुद्धि धर्म तक नहीं जाती।** पॉल टिलिक सिर्फ बुद्धि से जी रहे हैं । ऐसा नहीं है कि बर्ट्रेंड रसेल बुद्धि को इन्कार कर रहा है, पूरी तरह बुद्धि से जी रहा है। लेकिन बुद्धि की स्वीकृति नहीं है। बुद्धि प्र भी बर्ट्रेंड रसेल को संदेह है, वह 'एथिइस्ट' है बुद्धि के बाबत भी। उसे लगता है कि बुद्धि की भी सीमाएँ हैं । अर्जुन में बड़ा गहरा समन्वय है । उसमें रसेल और सार्त्र जैसे इकट्ठे हैं । अर्जुन का विषाद धार्मिक है, क्योंकि उसका विषाद श्रद्धा पर ले जाने वाला है ।

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥

हमें जिनके लिए राज्य भोग और सुखादिक इच्छित हैं, वे ही यह सब धन और जीवन की आशा को त्यागकर युद्ध में खड़े हैं।

भगवान् श्रीः पग-पग पर अर्जुन की भ्रांतियां जुड़ी हैं। कह रहा है अर्जुनः 'जिन पिता, पुत्र, मित्र, प्रियजन के लिए हम राज्य-सुख चाहते हैं . . . .।" झूठ कह रहा है। कोई चाहता नहीं। सब अपने लिए चाहते हैं। और अगर पिता पुत्र के लिए चाहते हैं, तो सिर्फ इसलिए कि वे पिता हैं और पुत्र 'अपना' है। वह जितना 'अपना' उसमें जुड़ा है, उतना ही, इससे ज्यादा नहीं । हाँ, यह बात जरूर है कि उनके बिना सुख भी बड़ा नीरस हो जायेगा। क्योंकि सुख तो मिलता कम है, दूसरों को दिखायी पड़े, यह ज्यादा होता है। सुख मिलता तो न के बराबर है। बड़े से बड़ा राज्य मिल जाय, तो भी राज्य के मिलने से उतना सुख नहीं मिलता, जितना राज्य मुझे मिल गया है—यह 'मैं' अपने लोगों के सामने सिद्ध कर पाऊं, तो सुख मिलता है।

आदमी की चिन्तना की सीमाएँ हैं। अगर एक महारानी रास्ते से निकलती हो स्वर्ण आभूषणों से लदी, हीरे जवाहरातों से लदी, तो गाँव की मेहतरानी को कोई ईर्ष्या पैदा नहीं होती। क्योंकि महारानी 'रेंज' (सीमा) के बाहर पड़ती है। मेहत-रानी की चिन्तना की 'रेंज' नहीं है, वह सीमा नहीं है उसकी। महारानी से कोई ईर्ष्या पैदा नहीं होती, लेकिन पड़ोस की मेहतरानी अगर एक नकली काँच का टुकड़ा भी लटका कर निकल जाय, तो प्राण में तीर चुभ जाता है। वह 'रेंज' के भीतर है। आदमी की ईर्ष्याएँ, आदमी की महत्त्वांकाक्षाएँ निरंतर एक सीमा में बँधकर चलती हैं।

अगर आप यश पाना चाहते हैं, तो इस यश से जो अपरिचित हैं, 'स्टेंजर्स' हैं, उनके सामने आपको मजा न आयेगा । जो अपने हैं , परिचित हैं, उनके सामने ही आपको यश मजा देगा। क्योंकि जो अपरिचित हैं, उनके सामने अहंकार को सिद्ध करने में कोई सुख नहीं है। जो अपने हैं, उन्हीं को हराने का मजा है। जो अपने हैं, उन्हीं को दिखाने का मजा है कि देखो, मैं क्या हो गया और तुम नहीं हो पाये !

जीसस ने कहीं कहा है कि पैगम्बर या तीर्थंकर अपने ही गांव में कभी आदृत नहीं होते। यद्यपि चाहेंगे अपने ही गांव में आदृत होना। लेकिन हो नहीं सकते। अगर जीसस अपने ही गांव में गये हों, तो लोग कहेंगे, बढ़ई का लड़का है। वही न जोसफ बढ़ई का लड़का, कहाँ से ज्ञान पा लेगा? अभी कल तक लकड़ी काटता था, ज्ञान पा लिया? लोग हँसेंगे। इस हँसने में बढ़ई के लड़के को इतनी ऊंचाई पर स्वीकार करने की कठिनाई है। जीसस 'रेंज' के भीतर हैं । बहुत कठिन है। कोई प्रोफेट अपने गांव में पुज जाय , बड़ी कठिन बात है। क्योंकि वह गांव की ईर्ष्या की सीमा के भीतर है। विवेकानंद को जितना आदर अमेरिका में मिलता था , उतना कलकत्ता में कभी नहीं मिला। दो-चार-दस दिन कलकत्ता लौटकर स्वागत समारोह हुआ,

फिर समाप्त हो गया। फिर कलकत्ता में लोग कहेंगे कि अरे, वही न कायस्थ का लड़का, कितना ज्ञानी हो जायगा ?

रामतीर्थ को अमेरिका में भारी सम्मान मिला, काशी में नहीं मिला। काशी में एक पण्डित ने खड़े होकर कहा कि संस्कृत का अ ब स नहीं आता और ब्रह्मज्ञान की बातें कर रहे हो ? पहले संस्कृत सीखो। और बेचारे रामतीर्थ संस्कृत सीखने गये। हम सब की एक 'रेंज' है, एक सीमा, एक वर्तुल है। लेकिन शायद रामतीर्थ को भी इतना मजा न्यूयार्क में सम्मान मिलने से नहीं आ सकता था, जितना काशी में मिलता तो आता। इसलिए रामतीर्थ भी कभी नाराज नहीं हुए, अमेरिका में जब तक थे। कभी दुःखी और चिन्तित नहीं हुए। काशी में दुखी और चिन्तित हो गये। निरंतर ब्रह्म-ज्ञान की बात करते थे, काशी में हिम्मत न जुटा पाये कि कह देते कि ब्रह्म-ज्ञान का संस्कृत से क्या लेना-देना। भाड़ में जाय तुम्हारी संस्कृत। उतनी हिम्मत न जुटा पाये। बल्कि एक 'ट्यूटर' (निजी-शिक्षक) लगाकर संस्कृत सीखने बैठ गये। यह पीड़ा समझते हैं ?

अर्जुन जो कह रहा है, निरंतर, सरासर झूठ कह रहा है। उसे पता नहीं है। क्योंकि झूठ भी आदमी के खून में ऐसा मिला हुआ है कि उसका पता भी मुश्किल से चलता है। असल में असली झूठ वे ही हैं, जो हमारे खून में मिल गये हैं। जिन झूठों का हमें पता चलता है, उनकी बहुत गहराई नहीं है। जिन झूठों का हमें पता नहीं चलता, जिनके लिए हम 'कॉन्शस' भी नहीं होते, चेतन भी नहीं होते, वे ही झूठ हमारी हड्डी, मांस-मज्जा बन गये हैं। अर्जुन वैसा ही झूठ बोल रहा है, जो हम सब बोलते हैं। पति अपनी पत्नी से कहता है कि तेरे लिए ही सब कर रहा हूँ। पत्नी अपने पति से कहती है कि तुम्हारे लिए ही सब कर रही हूँ।

कोई किसी के लिए कुछ नहीं कर रहा है। हम सब अहंकार-केन्द्रित हो कर जीते हैं। अहंकार की सीमा-रेखा में जो-जो अपने मालूम पड़ते हैं, उनके लिए भी उतना ही करते हैं, जितने से हमारा अपना अहंकार भरता है। जितना अपना-पन भरता हैं, जितना मेरे 'इगो' और मेरे अहंकार के हिस्से होते हैं, उतना ही हम उनके लिए करते हैं। वही पत्नी कल अपनी पत्नी न रह जाय, 'डाईव्होर्स' का विचार करने लगे, बस, फिर सब करना बंद हो जाता है। जिस मित्र के लिए हम जान देने को तैयार थे, कल उसी की जान भी ले सकते हैं। सब भूल जाता है। क्यों भूल जाता है ? जब तक वह 'मैं' को मजबूत करता था, तब तक अपना था और जब 'मैं' को मजबूत नहीं करता, तब अपना नहीं रह जाता।

नहीं, अर्जुन गलत कह रहा है। उसे पता नहीं है। उसे पता हो, तब तो बात और हो जाय। उसे पता पड़ेगा धीरे-धीरे। यह गलत है कि...'जिनके लिए हम राज्य चाहते हैं।' उसे कहना चाहिए कि 'जिनके बिना राज्य चाहने में मजा न रह जायेगा...।' चाहते तो अपने ही लिए हैं, लेकिन जिनकी आँखों के सामने चाहने में मजा आयेगा कि मिला, जब वे ही नहीं होंगे, तब अपरिचित, अनजान लोगों के बीच राज्य लेकर भी क्या करेंगे ? अहंकार का मजा भी क्या होगा उनके बीच, जो जानते ही नहीं कि तुम कौन हो। जो जानते है कि तुम कौन हो, उनके बीच आकाश छूने पर पता चलेगा कि देखो अब !

ध्यान रहे। हम अपने दुश्मनों से ही प्रतियोगिता नहीं कर रहे हैं। अपने मित्रों से हमारी और भी गहरी प्रतियोगिता है। अपरिचितों से हमारी कोई प्रति-स्पर्धा नहीं है, परिचितों से हमारी असली प्रतिस्पर्धा है। इसलिए दो अपरिचित कभी इतने बड़े दुश्मन नहीं हो सकते, जितने दो सगे भाई हो सकते हैं। उन्हीं से हमारी प्रतिस्पर्धा है, उन्हीं के सामने सिद्ध करना है कि 'मैं कुछ हूँ'।

अर्जुन गलत कह रहा है। लेकिन उसे साफ पता नहीं है स्वयं को। वह जानकर नहीं कह रहा है। जानकर जो हम झूठ बोलते हैं, वे ऊपरी हैं। अनजाने में जो झूठ हमसे बोले जाते हैं, वे बहुत गहरे हैं। जन्मों-जन्मों में हमने उन्हें अपने खून के साथ आत्मसात कर लिया है, एक कर लिया है। वैसा ही एक झूठ अर्जुन बोल रहा है कि 'जिनके लिए राज्य चाहा जाता है, वे ही न होंगे तो राज्य का क्या करूंगा...।' नहीं, उचित तो यह है कि वह कहे कि राज्य तो अपने लिए चाहा जाता है, लेकिन जिनकी आँखो को चकाचौंध करना चाहूँगा, जब वे आँखें ही न होंगी, तो अपने लिए चाह कर भी क्या करूँगा। लेकिन वह अभी यह नहीं कह सकता। इतना ही वह कह सके तो उस जगह गीता का कृष्ण चुप होने को तैयार है। लेकिन वह जो भी कहता है, उससे पता चलता है कि वह बातें उलटी कर रहा है।

अगर अर्जुन एक जगह भी सीधी और सच्ची बात कह दे, एक भी 'असर्सन' उसका 'ऑथेंटिक' हो जाय, तो गीता के कृष्ण तत्काल चुप हो जायेंगे। कहेंगे, बात खत्म हो गयी। चलो, वापस लौटा लेते हैं रथ को। लेकिन बात खत्म नहीं होती, क्योंकि अर्जुन पूरे समय दोहरे, 'डबल' वक्तव्य बोल रहा है। बोल कुछ और रहा है, चाह कुछ और रहा है। है कुछ और, कह कुछ और रहा है। अपनी दुविधा कहीं गहरे में तथा कहीं और प्रगट कर रहा है। इसे हमें समझकर चलना है, तभी हम कृष्ण के उत्तरों को समझ सकेंगे। जब तक हम अर्जुन के प्रश्नों की दुविधा और अर्जुन

के प्रश्नों का उलझाव न समझ लें, तब तक प्रश्नों के उत्तरों की गहराई और प्रश्नों के उत्तरों के सुलझाव को समझना मुश्किल है।

● **प्रश्नकर्ताः** स्वजनों की हत्या में अर्जुन ने जो "न च श्रेयोऽनुपश्यामि" कहा, वहाँ वह प्रेयस से स्पष्टतः दूर ही लगता है। क्या केवल भौतिक संदर्भ का उपयोग है, और यदि ऐसा है तो वह सच्चा आस्तिक कैसे बनेगा ?

भगवान् श्रीः अर्जुन जहाँ है, वहां भौतिक सुख से ही संबंध हो सकता है। आस्तिक का भौतिक सुख से संबंध नहीं होता हो, ऐसा नहीं है। आस्तिक का भौतिक सुख से संबंध होता है, लेकिन जितना ही वह खोजता है, उतना ही पाता है कि भौतिक सुख असंभावना है। भौतिक सुख की खोज असंभव होती है, तभी आध्यात्मिक सुख की खोज शुरू होती है। तो भौतिक सुख का भी आध्यात्मिक सुख की खोज में महत्त्वपूर्ण 'कन्ट्रिब्यूशन', उसका बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान है। सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान भौतिक सुख का यही है कि वह अनिवार्य रूप से विषाद में और 'फ्रस्ट्रेशन' में ले जाता है।

अब यह बड़े मजे की बात है कि जिन्दगी में वे ही सीढ़ियाँ हमें परमात्मा के मंदिर तक नहीं पहुँचातीं, जो परमात्मा के मंदिर से ही जुड़ी हों। वे सीढ़ियां भी परमात्मा के मंदिर की सीढ़ियों तक पहुँचाती हैं, जो परमात्मा के मंदिर से नहीं जुड़ी हैं। अब यह बड़ी उल्टी-सी बात मालूम पड़ेगी। स्वर्ग तक पहुँचने में वही सीढ़ी काम नहीं आती, जो स्वर्ग से जुड़ी है। उससे भी ज्यादा और उससे भी पहले, वह सीढ़ी भी काम आती है, जो नर्क से जुड़ी है। असल में जब तक नर्क के तरफ की यात्रा पूरी तरह से व्यर्थ न हो जाय, तब तक स्वर्ग के तरफ की कोई यात्रा प्रारंभ नहीं होती। जब तक बहुत स्पष्ट रूप से यह साफ न हो जाय कि यह नर्क का मार्ग है, तब तक यह साफ नहीं हो पाता है कि स्वर्ग का मार्ग क्या है।

भौतिक सुख, आध्यात्मिक सुख तक पहुँचाने में एक निषेधात्मक चेतावनी का, 'निगेटिव' चेतावनी का काम करते हैं। बार-बार हम खोजते हैं भौतिक सुख को और बार-बार असफल होते हैं। बार-बार चाहते हैं और बार-बार नहीं पाते हैं। बार-बार आकांक्षा करते हैं और बार-बार वापस गिर जाते हैं।

यूनानी कथाओं में सिसिफस की कथा है। कामू ने उस पर एक किताब लिखी है, 'द मिथ ऑफ सिसिफस'। सिसिफस को सजा दी है देवताओं ने कि वह पत्थर को खींचकर पहाड़ की शिखर तक ले जाय। और सजा का दूसरा हिस्सा यह है कि जैसे ही वह शिखर पर पहुँचेगा, पसीने से लथपथ, हाँफता, थका, पत्थर को

घसीटता, वैसे ही पत्थर उसके हाथ से छूटकर वापस खड्डे में गिर जायेगा। फिर से वह नीचे जायेगा, फिर वह पत्थर को खींचे और चोटी तक ले जाये और फिर यही होगा, और फिर-फिर यही होता रहेगा। अब यह सजा अंतहीन चलती रहेगी। अनंत तक ऐसा ही होता रहेगा। अब बेचारा सिसिफस है कि फिर जाता है खाई में, फिर उठाता है पत्थर को। जब वह पत्थर को उठाता है, तो फिर इसी आशा से कि इस बार सफल हो जायेगा। अब की बार तो पहुँचा ही देगा शिखर पर। बता ही देगा देवताओं को कि बड़ी भूल में थे वे। कहेगा, देखो, सिसिफस ने पत्थर पहुँचा ही दिया। फिर खींचता है। महीनों का अथक श्रम है, किसी तरह टूटता नहीं है। मरता-गिरता ऊपर शिखर तक पहुँचता है। पहुंच नहीं पाता ऊपर कि पत्थर हाथ से छूट जाता है और फिर खाई में गिर जाता है। सिसिफस फिर उतर आता है। आप कहेंगे, बड़ा पागल है। खाई में बैठ क्यों नहीं जाता ? अगर इतना ही आपको पता चल गया, तो आपकी जिन्दगी में धर्म की शुरुआत हो जायेगी।

हम सब सिसिफस हैं। कहानी अलग-अलग हो सकती है। पहाड़ अलग-अलग होंगे, पत्थर अलग-अलग होंगे, लेकिन सिसिफस हम सब हैं। हम वही काम बार-बार किये चले जाते हैं, बार-बार शिखर से छूटता है पत्थर और खाई में गिर जाता है। लेकिन बड़ा मजेदार है आदमी का मन, वह बार-बार अपने को समझा लेता है कि कुछ भूल-चूक हो गयी होगी इस बार। अगली बार सब ठीक कर लेंगे। और फिर शुरु कर देता है। और ऐसी भूल-चूक अगर एक-दो जन्म में होती हो तो भी ठीक था। लेकिन जो जानते हैं वे कहेंगे, अनंत जन्मों में बार-बार ऐसा ही होता रहा है।

भौतिक सुख की चाह आध्यात्मिक सुख की खोज का अनिवार्य हिस्सा है। क्योंकि उसकी विफलता, उसकी पूर्ण विफलता आध्यात्मिक आनंद की खोज का पहला चरण है। इसलिए जो भौतिक सुख खोज रहा है, उसको मैं अधार्मिक नहीं कहता। बात केवल इतनी ही है कि वह धर्म को गलत दिशा में खोज रहा है। वह आनंद को वहाँ खोज रहा है, जहाँ आनन्द नहीं मिल सकता है। लेकिन इतना तो पता चले पहले कि नहीं मिल सकता है, तो किसी और दिशा में खोजे।

लाओत्से से किसी ने पूछा कि तुम कहते हो, शास्त्रों से कुछ भी नहीं मिलता, लेकिन हमने सुना है कि तुमने तो शास्त्र पढ़े हैं। तो लाओत्से ने कहा कि नहीं, शास्त्रों से बहुत कुछ मिला। सबसे बड़ी बात तो यह मिली शास्त्र पढ़कर कि शास्त्रों से कुछ भी नहीं मिल सकता है। यह कोई कम मिलना है ! शास्त्रों से कुछ नहीं मिला, लेकिन बिना पढ़े यह पता नहीं चल सकता था। पढ़ा बहुत, खोजा बहुत, नहीं मिल

सकता है, यह अब जाना है। यह कोई कम दाम नहीं है। 'निगेटिव्ह' है, इसलिए हमें ख्याल में नहीं आता।

एक बार हमें यह ख्याल में आ जाय कि शब्द से, शास्त्र से नहीं मिल सकता है, तो शायद हम अस्तित्व में, जीवन में खोजने निकलें। सुख में नहीं मिल सकता है सुख, तो शायद फिर हम शांति में खोजने निकलें। बाहर नहीं मिल सकता है सुख, तो शायद हम भीतर खोजने निकलें। पदार्थ में नहीं मिल सकता है सुख, तो शायद हम परमात्मा में खोजने निकलें। लेकिन वह जो दूसरी खोज है, वह इस पहली खोज की विफलता से ही शुरु होती है। तो अर्जुन अभी जो बात कर रहा है, वह तो भौतिक सुख की ही कर रहा है कि राज्य से क्या मिलेगा, प्रियजन नहीं रहेंगे तो क्या मिलेगा? सुख से क्या मिलेगा? लेकिन आध्यात्मिक खोज का पहला चरण उठाया जा रहा है! इसलिए मैं उसे धार्मिक व्यक्ति ही कहूँगा। धर्म को उपलब्ध हो गया है, ऐसा नहीं; धर्म को उपलब्ध होने के लिए जो आतुर है, ऐसा।

● **प्रश्नकर्ताः** भगवान् श्री, आपने कल बताया था कि भगवद्गीता मानस-शास्त्र है और आधुनिक मानस-शास्त्र गीता के करीब आ जाता है। तो गीता को सिर्फ मानस-शास्त्र कह कर आप रुक जायेंगे कि उसे अध्यात्म-शास्त्र भी कहेंगे? स्पष्ट करें।

भगवान् श्रीः मैं गीता को मनोविज्ञान ही कहूँगा। और मन से मेरा अर्थ आत्मा नहीं है। मन से मेरा मतलब 'माइण्ड' ही है। कई को दिक्कत और कठिनाई होगी। वे कहेंगे, यह तो मैं गीता को नीचे गिरा रहा हूँ। उसे मुझे अध्यात्म-शास्त्र कहना चाहिये। लेकिन आपसे कहना चाहूँगा कि अध्यात्म का कोई शास्त्र होता नहीं। ज्यादा से ज्यादा शास्त्र मन का हो सकता है। हाँ, मन का शास्त्र वहाँ तक पहुँचा दे, जहाँ से अध्यात्म शुरु होता है, इतना ही हो सकता है। अध्यात्म-शास्त्र होता ही नहीं। हो नहीं सकता। अध्यात्म, जीवन होता है, शास्त्र नहीं। अधिक से अधिक जो शब्द कर सकता है, वह यह है कि वह मन की आखिरी ऊंचाइयों और गहराइयों को छूने में समर्थ बना दे। इसलिए मैं गीता को अध्यात्म-शास्त्र कहकर व्यर्थ न करूंगा। वैसा कोई शास्त्र होता नहीं। और जो-जो शास्त्र आध्यात्मिक होने का दावा करते हैं, (शास्त्र तो क्या करते हैं, शास्त्र को मानने वाले दावा करते हैं।) वे-वे अपने शास्त्रों को व्यर्थ ही मनुष्य की सारी उपयोगिता के बाहर कर देते हैं।

अध्यात्म है अनुभव और जो अनिर्वचनीय है, और जो अवर्णनीय है, और जो व्याख्या के पार है, और जो शब्दों के अतीत है, और शास्त्र ही जिसे चिल्ला-चिल्ला

कर कहते हैं कि मन से नहीं मिलेगा, मन के आगे मिलेगा। तो जो मन के आगे मिलेगा वह शब्दों में नहीं लिखा जा सकता है। इसलिए शास्त्र की आखिरी से आखिरी पहुँच मनस है, मन है। उतना पहुँचा दे तो परम शास्त्र है, और उसके पार जो छलांग लगेगी, वहाँ अध्यात्म शुरु होगा।

गीता को मैं मनस-शास्त्र कहता हूँ, क्योंकि गीता में वहाँ तक पहुँचाने के सूत्र है—उसमें जहाँ से छलांग, 'द जम्प' लग सकती है। लेकिन अध्यात्म-शास्त्र कोई शास्त्र होता नहीं। हां, आध्यात्मिक वक्तव्य हो सकते हैं। जैसे उपनिषद हैं। उपनिषद आध्यात्मिक वक्तव्य हैं। लेकिन उनमें कोई विज्ञान नहीं है। इसलिए मनुष्य के बहुत काम के नहीं हैं। गीता बहुत काम की है।

वक्तव्य है कि ब्रह्म है, ठीक है। यह 'बेयर स्टेटमेन्ट' है। हमें इसका पता नहीं है। जो जानता है, वह कहता है, है। जो नहीं जनता है, वह कहता है: होगा। तो उपनिषद काम में तभी आ सकता है, जब आपको अध्यात्म का अनुभव हो जाय। तब आप उपनिषद में पढ़कर कह सकते हैं कि ठीक है, ऐसा मैंने भी जाना है। तो उपनिषद जो है, वह गवाही बन सकता है, 'विटनेस' हो सकता है। लेकिन जब आप जान लें, तब। और मजा यह है कि जब आप जान लेते हैं, तो उपनिषद की गवाही की कोई जरूरत नहीं होती। यदि आप जानते हैं, तो आप जो कहते हैं, वही उपनिषद हो जाता है।

उपनिषद जो है, वह ज्यादा से ज्यादा गवाही मात्र बन सकता है, सिद्ध के लिए। परन्तु सिद्ध के लिए कोई गवाही की जरूरत नहीं है। गीता साधक के लिए उपयोगी हो सकती है। 'सिद्ध' के किसी काम की गीता नहीं है। लेकिन असली सवाल तो साधक के लिए है। और साधक का असली सवाल आध्यात्मिक नहीं नहीं है।

अर्जुन का असली सवाल आध्यात्मिक नहीं है। अर्जुन का असली सवाल मानसिक है, 'साइकॉलॉजिकल' है। उसकी समस्या ही मानसिक है। इसलिए अगर कोई यह कहे कि उसकी समस्या तो मानसिक है और कृष्ण उसका आध्यात्मिक हल कर रहे हैं, तो उन दोनों के बीच कोई तालमेल नहीं होता। जहां समस्या है, वहीं समाधान होना चाहिये, तभी सार्थक होगा। अर्जुन की समस्या मानसिक है, उसकी समस्या आध्यात्मिक नहीं है। उसका उलझाव मानसिक है।

यह बड़े मजे की बात है कि **आध्यात्मिक समस्या होती ही नहीं। जहां अध्यात्म है, वहां समस्या नहीं है। और जहां तक समस्या है, वहां तक अध्यात्म नहीं है।**

मामला ठीक ऐसा ही है, जैसे कि मेरे घर में अंधेरा है और मैं आप से कहूँ कि अंधेरा है। आप कहें कि मैं दिया ले जाकर देखता हूँ, कहाँ है। और आप दिया ले जायें और अंधेरे को मैं न बता पाऊँ। आप कहें, बताओ कहाँ है, अब मैं दिया ले आया, अँधेरा कहाँ है ? अब मैं मुश्किल में पड़ जाऊंगा, तो आपसे कहूँगा कि कृपा कर दिया बाहर रख कर आइये। आप कहें कि दिया बाहर रख आऊंगा, तो अँधेरे को देखूंगा कैसे ? क्योंकि रोशनी चाहिए देखने के लिए। तो फिर एक ही बात मैं आप से कहूँगा कि फिर अँधेरा नहीं देखा जा सकता, क्योंकि जहाँ रोशनी है, वहाँ अँधेरा नहीं है और जहाँ अँधेरा है, वहाँ रोशनी नहीं है। और इन दोनों के बीच कोई 'कम्युनिकेशन' (मेल) नहीं है।

'आध्यात्मिक समस्या' जैसी कोई समस्या होती ही नहीं। सब समस्याएँ मानसिक हैं। **अध्यात्म समस्या नहीं, समाधान है। जहां अध्यात्म है, वहां कोई समस्या नहीं है**। और जहां कोई समस्या नहीं है, वहां किसी समाधान की क्या जरूरत है ? अध्यात्म स्वयं समाधान है। इसलिए अध्यात्म के द्वार का नाम हमने रखा है 'समाधि'।

समाधि का मतलब होता है, यहां से समाधान शुरू होता है, यहाँ से अब समस्याएँ नहीं होंगी। समाधि का मतलब है, यहाँ से समाधान अब शुरू होता है, अब समस्या नहीं रहेगी। अब आगे प्रश्न नहीं होंगे। अब आगे प्रश्न का कोई उपाय नहीं है। उस दरवाजे का नाम समाधि रखा है। इसका मतलब यह है कि दरवाजे पर आ गये, अब इसके पार समाधान का जगत् है। वहां समाधान ही समाधान होंगे, वहां अब कोई समस्या नहीं होगी। लेकिन समाधि के द्वार तक बड़ी समस्याएं होंगी। और वे सब समस्याएं मानसिक हैं।

यही बात यदि हम ठीक से समझें, तो मतलब है: "माइंड इज द प्राब्लम," **मन ही समस्या है। जिस दिन मन नहीं है, उस दिन कोई समस्या नहीं है**। और अध्यात्म का मतलब है: वह अनुभव, जहाँ मन नहीं है। इसलिए मैं जब गीता को मनस-शास्त्र कहता हूँ, तो अधिकतम जो किसी शास्त्र के संबंध में कहा जा सकता है, 'द मैग्जिमम', वह मैं कह रहा हूँ। उससे आगे कहा नहीं जा सकता। और जो लोग उसे आध्यात्मिक बनायेंगे, वे उसे पिटवा देंगे, वे उसे फिंकवा देंगे। क्योंकि किसी की कोई समस्या अध्यात्मिक नहीं है, सबकी समस्या मन की है।

जब मैं कहता हूँ, कृष्ण को मनोविज्ञान का पहला उद्घोषक, तो अधिकतम जो कहा जा सकता है, वह मैं कह रहा हूँ। सारा खेल मन का है, सारा उपद्रव मन का है, **मन के पार न कोई उपद्रव है, न कोई समस्या है**। इसलिए मन के पार कोई शास्त्र

नहीं है। सब गुरु शिष्य मन तक हैं, मन के पार कोई गुरु शिष्य नहीं है। मन के पार न अर्जुन है, न कृष्ण है। मन के पार जो है, उसका कोई नाम नहीं है। मन के भीतर की ही सारी बात है। और इसलिए गीता बहुत विशिष्ट है।

आध्यात्मिक वक्तव्य बहुत हैं। कीमती हैं, लेकिन वक्तव्य हैं, 'बेयर स्टेटमेंट्स' हैं। एक आदमी कहता है: 'ऐसा है', लेकिन इससे कोई हल नहीं होता। हमारी समस्याएँ किसी और तल पर हैं। हमारी मुसीबतें किसी और तल पर हैं। उस तल पर ही बात होनी चाहिए। कृष्ण ने ठीक उस तल से बात की है, जहां अर्जुन है। अगर कृष्ण अपने तल से बात करते, तो गीता अध्यात्म-शास्त्र होती। लेकिन तब अर्जुन को नहीं समझाया जा सकता था। अर्जुन कह देता, माफ करें, होगा। मेरा कोई संबंध नहीं है इससे। तब उन दोनों के बीच कोई संवाद नहीं हो सकता था। तब एक आदमी आकाश में और एक आदमी पाताल में होता। अर्जुन के सिर पर से बातें निकल जातीं। कुछ पकड़ में अर्जुन को नहीं आने वाला था।

कृष्ण, ठीक अर्जुन जहाँ है, वहाँ से उसका हाथ पकड़ते हैं। और वहीं से सारी समस्याओं को सुलझाना शुरू करते हैं। इसलिए गीता एक बहुत 'साइकिक' एक बहुत मनस की गतिमान व्यवस्था है। एक-एक कदम अर्जुन ऊपर उठता है, तो गीता भी ऊपर उठती है। अर्जुन नीचे गिरता है, तो गीता भी नीचे गिरती है। अर्जुन जमीन पर गिर जाता है, तो कृष्ण नीचे झुकते हैं। अर्जुन खड़ा हो जाता है, तो कृष्ण खड़े हो जाते हैं। पूरे समय अर्जुन केन्द्र पर है। कृष्ण नहीं हैं केन्द्र पर। उपनिषद का ऋषि केन्द्र पर है, वह अपने वक्तव्य दे रहा है। वह कह रहा है, 'जो मैंने जाना, वह मैं कहता हूँ।' उसका आपसे कोई संबंध नहीं है। इसलिए गीता में एक शिक्षक के द्वारा कही गयी बातें हैं। कृष्ण सिर्फ ब्रह्मज्ञानी की तरह बोलें, तो अर्जुन से उनका कोई नाता नहीं रह जायगा। वे बहुत नीचे झुककर अर्जुन के साथ खड़े होकर बोलते हैं। और धीरे-धीरे जैसे अर्जुन ऊपर उठता है, वैसे वे भी ऊपर उठते हैं और वहां छोड़ते हैं गीता के आखिरी सूत्रों को, जहाँ से मनस समाप्त हो जाता है और अध्यात्म शुरू हो जाता है। उसके बाद चर्चा बंद हो जाती है। उसके बाद चर्चा का कोई मतलब भी नहीं रह जाता। इसलिए मैंने बहुत जानकर, 'कंसीडर' करके कहा कि गीता एक 'साइकोलॉजी' है।

भविष्य सिर्फ उन्हीं ग्रन्थों का होगा, जो 'साइकोलॉजी' के ग्रंथ हैं। भविष्य उन ग्रन्थों का नहीं हो सकता, जो 'मेटाफिजिक्स' के हैं। 'मेटाफिजिक्स' मर गयी है। अब उसके लिए कोई जगह नहीं है। अब आज का आदमी कहता है कि हमारी समस्याएं

हैं, उन्हें हल करिये। और जो उन्हें हल करेगा, उसकी ही जगह होगी। अब फ्रायड, जुंग, एडलर, फ्रोम और सलीवान, इनकी दुनिया है, अब यह कपिल, कणाद की दुनिया नहीं है। और आनेवाले भविष्य में कृष्ण अगर फ्रायड, जुंग, एडलर की पंक्ति में खड़े होने का साहस दिखलाते हैं, तो ही गीता का भविष्य है। अन्यथा कोई भविष्य नहीं है। यह मैंने बहुत सोच कर कहा है, बहुत जान कर कहा है।

बाइबल को मैं नहीं कह सकता कि वह मनस-शास्त्र है, नहीं कह सकता। कुछ वक्तव्य हैं, जो मानसिक हैं, लेकिन बहुत गहरे में वे अध्यात्म हैं। अध्यात्म का मतलब ? जो जाना है जीसस ने, वे उस पर वक्तव्य दे रहे हैं। वहीं तकलीफ हुई। क्योंकि जीसस आकाश की बातें कर रहे हैं। सुनने वाले जमीन की बातें समझ रहे हैं, इसलिए सूली पर लटकाये गये। सूली पर लटकाने का कारण है। बहुत से कारण जीसस के ऊपर हैं।

जीसस कह रहे है, 'मैं तुम्हें परमात्मा के राज्य (द किंग्डम ऑफ गॉड) का मालिक बना दूंगा।' लोग समझ रहे हैं कि वे जमीन के राज्य का मालिक बनवाने वाले हैं। यहूदियों ने रिपोर्ट कर दी उनकी कि यह आदमी खतरनाक है, 'रिबेलियस' है। यह कुछ राज्य हड़पने की कोशिश कर रहा है। और उनसे पूछा पायलट ने कि क्या तुम राज्य हड़पने की कोशिश कर रहे हो ? तुम राज्य पर हमला बोल रहे हो? मगर क्राइस्ट किसी दूसरे ही राज्य की बात कर रहे हैं। 'किंग्डम ऑफ गॉड', वह राज्य कहीं है, ऐसा किसी को पता नहीं है। उन्होंने कहा, यह आदमी खतरनाक है। इस आदमी को सूली पर लटकाना चाहिये।

जीसस जहाँ से बोल रहे हैं, वहाँ सुनने वाले लोग नहीं है। और जहाँ जीसस बोल रहे हैं, वहाँ उनको सुनने वाला एक भी आदमी नहीं है। इसलिए जीसस और उनके सुनने वाले में कोई ताल-मेल नहीं है। इस मामले में कृष्ण अद्भुत शिक्षक हैं। वे अर्जुन को प्रायमरी क्लास से लेकर ठीक युनिर्वसिटी के आखिरी दरवाजे तक पहुँचाते हैं। यह बहुत लंबी यात्रा है। और बड़ी सूक्ष्म यात्रा है। और मैं ऐसा ही चाहूँगा कि हम भी वैसी ही यात्रा करें।

● **प्रश्नकर्ता:** भगवान् श्री, आपने बताया कि मनुष्य जन्मों-जन्मों का पुनरावर्तन करता रहता है। तो क्या जीवन पाने के लिए वह पुनरावर्तन जरूरी नहीं है ? यदि न हो, तो उसमें से अतिक्रमण कब होता है ? और उसमें क्या गुरु या ग्रंथ कुछ मदद नहीं कर सकते ? कृपया बताइए।

भगवान् श्री: जीवन अनंत पुनरावर्तन है। उपयोगिता भी है उसकी। उससे

प्रौढ़ता आती है। खतरा भी है उसका, उससे जड़ता भी आ सकती है। एक ही चीज से दोबारा गुजरने में दो संभावनाएँ हैं। या तो दोबारा गुजरते वक्त आप उस चीज को ज्यादा जान लेंगे और यह भी संभावना है कि दोबारा गुजरते वक्त आप उतना भी न जान पायें, जितना आपने पहली बार जाना था। दोनों ही बातें हैं।

आपके घर के सामने जो वृक्ष लगा है, आप उसको शायद ही देखते हों, क्योंकि इतनी बार देखा है कि देखने की कोई जरूरत नहीं रह गयी है। पति-पत्नी शायद ही एक दूसरे को देखते हों, तीस-तीस साल साथ रहते हो गये। देख लिया था बहुत पहले––जब शादी हुई थी। फिर देखने का कोई मौका नहीं आया। असल में देखने की कोई जरूरत नहीं आयी। अपरिचित स्त्री सड़क से निकलती है, तो दिखायी पड़ती है।

असल में अपरिचित तो दिखाई पड़ जाता है, उसे देखने का मन होता है, परन्तु परिचित के प्रति हम अंधे हो जाते हैं, परिचित 'ब्लाइंड स्पॉट' हो जाता है। उसे देखने की कोई जरूरत नहीं होती। कभी आंख बन्द करके सोचें कि आपकी माँ का चेहरा कैसा है, तो आप बड़ी मुश्किल में पड़ जायेंगे। फिल्म एक्ट्रेस का चेहरा याद आ सकता है, माँ का चेहरा आँख बन्द करके देखेंगे, तो एकदम खोने लगेगा। थोड़ी देर में रूप-रेखा गड्ड-मड्ड हो जायेगी। माँ का चेहरा पकड़ में नहीं आता। इतना देखा है, इतने पास से देखा है, लेकिन कभी गौर से नहीं देखा।

निकटता अपरिचय बन जाती है। जब निकटता अपरिचय बन जाती है, तो अनंत जीवन में एक से ही अनुभव से बार-बार गुजरने पर दो संभावनाएँ हैं। चुनाव आप पर है कि आप क्या करेंगे। स्वतंत्रता आपकी है। आप यह भी कर सकते हैं कि आप बिलकुल जड़, 'मेकेनिकल' हो जायं, जैसा कि हम अधिक लोग हो गये हैं, हम यंत्रवत घूमते हैं, वही रोज-रोज करते हैं। कल भी क्रोध किया था, परसों भी क्रोध किया था, उसके पहले भी, पिछले वर्ष भी, उसके पहले वर्ष भी। इस जन्म का ही हिसाब रखें, तो भी काफी है। अगर पचास साल जिये हैं, तो कितनी बार क्रोध किया है ! और हर बार क्रोध करने के बाद कितनी बार पश्चात्ताप किया है और हर बार पश्चात्ताप करके फिर दोबारा क्रोध किया है। फिर दोबारा पश्चात्ताप किया है। फिर धीरे-धीरे एक रूटीन, एक व्यवस्था बन गयी है।

किसी आदमी को देखकर आप कह सकते हैं कि यह अभी क्रोध कर रहा है, तो थोड़ी देर बाद पश्चात्ताप करेगा। क्रोध में क्या कह चुका है, यह भी बता सकते हैं, क्या कहेगा, यह भी बता सकते हैं— अगर दो-चार बार उसको क्रोध करते देखा है तो।

और बाद में भी 'प्रीडिक्ट' कर सकते हैं कि क्रोध के बाद पश्चात्ताप में ये-ये बातें वह कहेगा । वह कसम खायेगा कि अब क्रोध कभी नहीं करूँगा । हालाँकि ये कसमें इसने पहले खायी हैं, और अब इसका कोई मतलब नहीं है । यह जड़ व्यवस्था हो गयी है । लेकिन अगर कोई आदमी होशपूर्वक क्रोध करता है, तो हर बार क्रोध का अनुभव उसे क्रोध से मुक्त कराने में सहयोगी होगा । और अगर बेहोशी से क्रोध करता है, तो हर क्रोध का अनुभव उसे और भी क्रोध की जड़ मूर्छा में ले जाने में सहयोगी होता है ।

जीवन का पुनरावर्तन दोनों संभावनाएँ खोलता है । हम उसका कैसा उपयोग करेंगे, यह हम पर निर्भर है । जीवन सिर्फ संभावनाएँ देता है । हम उन संभावनाओं को क्या रूपांतरण देंगे, यह हम पर निर्भर है । एक आदमी चाहे तो क्रोध करके और और गहरे क्रोध का अभ्यासी बन सकता है । और एक आदमी चाहे तो क्रोध करके, क्रोध की मूर्खता को देखकर, व्यर्थता को देखकर, क्रोध की अग्नि और विक्षिप्तता को देखकर, क्रोध से मुक्त हो सकता है । जो आदमी जड़ होता चला जाता है, वह अधार्मिक होता चला जाता है । वह और संसारी होता चला जाता है । जो आदमी चेतन होता चला जाता है, वह धार्मिक होता चला जाता है । उसके जीवन में एक क्रांति होती चली जाती है । प्रत्येक पर निर्भर है कि जीवन का आप क्या करेंगे।

जीवन निर्भरता नहीं है, जीवन अवसर है । उसमें क्या करेंगे, यह आप पर निर्भर है । यह स्वतंत्रता ही आपके आत्मवान होने का प्रमाण है । यही आपके 'आत्मा' होने का गौरव है। आपके पास आत्मा है, अर्थात् चुनाव की शक्ति है कि आप चुनें कि क्या करेंगे । और मजे की बात यह है कि चाहे आपने हजारों चक्कर लगाये हों, लेकिन अगर आज भी आप निर्णय कर लें, तो सारे चक्कर इसी क्षण छोड़ सकते हैं, तोड़ सकते हैं, लेकिन मन 'लीस्ट रेसिस्टेंस' (अल्पतम संघर्ष) के मार्ग पर बहता है । घर में एक लोटा पानी गिरा दें, तो वह फर्श से बह कर सूख जायेगा। पानी उड़ जायेगा। लेकिन एक सूखी रेखा फर्श पर छूट जाती है। वहाँ पानी नहीं है, जरा भी । कुछ भी नहीं है, सिर्फ एक सूखी रेखा है । और सूखी रेखा का मतलब क्या है ? कुछ भी मतलब नहीं है, वहाँ पानी बहा था । बस, एक रेखा छूट गयी है । फिर दोबारा पानी उस कमरे में डालें, तो सौ में से निन्यान्बे मौके यह हैं कि वह उसी सूखी रेखा को पकड़ कर फिर बहेगा। क्योंकि 'लीस्ट रेसिस्टेंट' है। सूखी रेखा पर धूल-कण कम हैं । कमरे के दूसरे हिस्सों में धूल ज्यादा है । वहाँ जगह जरा आसानी से बहने की है । पानी वहीं से बहेगा ।

हमने बहुत बार जो किया है, वहाँ-वहाँ सूखी रेखायें बन गयी हैं। उन सूखी

रेखाओं को ही मनस-शास्त्र संस्कार कहता है। वह हमारी 'कण्डीशनिंग' है । उन सूखी रेखाओं पर फिर वही काम, फिर पानी का बहना, फिर हम वहीं से बहना शुरू कर देते हैं। लेकिन सूखी रेखा कहती नहीं कि यहाँ से बहो। सूखी रेखा बाँधती नहीं कि यहाँ से मत बहो, नहीं तो अदालत में मुकदमा चलेगा। सूखी रेखा कहती नहीं कि कोई नियम है ऐसा, कि यहीं से बहना पड़ेगा, या कि परमात्मा की आज्ञा है कि यहीं से बहो। सूखी रेखा सिर्फ एक खुला अवसर है, चुनाव सदा आपका है। और पानी अगर तय कर ले कि नहीं बहना है सूखी रेखा से, तो नयी रेखा बना ले और बह जाये। फिर नयी सूखी रेखा बन जायेगी । फिर नया संस्कार बन जायेगा ।

धर्म निर्णय और संकल्प है । जो होता रहा है, उससे अन्यथा होने की चेष्टा है । जो कल तक हुआ है, उसकी समझ से वैसा दोबारा न हो, इसका संकल्पपूर्वक चुनाव है । इसे ही हम साधना कहें, योग कहें, जो भी नाम देना चाहें, दे सकते हैं ।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनतस्था ॥ ३४ ॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्य राज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

गुरुजन, ताऊ, चाचे, लड़के, और वैसे ही दादा, मामा, ससुर, पोते, साले तथा और भी सम्बन्धी लोग हैं । इसलिए हे मधुसूदन, मुझे मारने पर भी अथवा तीन लोक के राज्य के लिए भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता । फिर पृथ्वी के लिए तो कहना ही क्या है ।

निहत्य धर्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

हे जनार्दन, धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर भी हमें क्या प्रसन्नता होगी । इन आततायियों को मारकर तो हमें पाप ही लगेगा ।

भगवान् श्रीः बार-बार, फिर-फिर अर्जुन जो कह रहा है, वह बहुत विचार योग्य है। दो-तीन बातें ख्याल में ले लेनी जरूरी हैं। वह कह रहा है कि इन अपने स्वजनों

को मार कर अगर तीनों लोक का राज्य भी मिलता हो, तो भी मैं लेने को तैयार नहीं हूँ। इसलिए इस पृथ्वी के राज्य की तो बात ही क्या ? देखने में ऐसा लगेगा कि बड़े त्याग की बात कह रहा है । ऐसा है नहीं ।

मैं एक वृद्ध संन्यासी से मिलने गया था । उन वृद्ध संन्यासी ने मुझे एक गीत पढ़कर सुनाया । उनका लिखा हुआ गीत था । उस गीत में उन्होंने कहा कि सम्राटो, तुम अपने स्वर्ण-सिंहासन पर होओगे सुख में, मैं अपनी धूल में ही मजे में हूँ। मैं लात मारता हूँ तुम्हारे स्वर्ण सिंहासनों पर । तुम्हारे स्वर्ण सिंहासनों में कुछ भी नहीं रखा है। मैं अपनी धूल में ही मजे में हूँ। ऐसा ही गीत था। पूरे गीत में यही बात थी । सुनने वाले बड़े मंत्रमुग्ध हो गये ।

हमारे मुल्क में मंत्रमुग्ध होना इतना आसान है कि कोई और चीज इतनी आसान नहीं है। सिर हिलाने लगे लोग । मैं बहुत हैरान हुआ । इनका सिर हिलता देखकर संन्यासी भी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने मुझसे पूछा 'आप क्या कहते हैं?' मैंने कहा, 'मुझे मुश्किल में डाल दिया है आपने। आप मुझसे पूछिये ही मत।' उन्होंने कहा, 'नहीं, कुछ तो कहिये।' मैंने कहा, मैं सोचता हूँ कि 'अब तक किसी सम्राट ने ऐसा नहीं कहा कि संन्यासियो, अपनी धूल में रहो मजे में, हम तुम्हारी धूल को लात मारते हैं । हम अपने सिंहासन पर ही मजे में हैं।'

ऐसा गीत किसी सम्राट ने अब तक नहीं लिखा। संन्यासी जरूर सैकड़ों वर्ष से ऐसे गीत लिखते रहे हैं । कारण खोजना पड़ेगा । असल में संन्यासी के मन में सुख तो सोने के सिंहासन में ही दिखायी पड़ रहा है । परन्तु वह अपने को समझा रहा है। 'कंसोलेटरि' (सांत्वनादायक) है उसकी बात । वह कह रहा है, रहे आओ अपने सिंहासन पर, हम अपनी धूल में ही मजे में हैं। लेकिन तुमसे कह कौन रहा है कि तुम सिंहासन पर रहो । तुम धूल में मजे में हो, तो मजे में रहो । सिंहासन वाले को ईर्ष्या करने दो तुम्हारे मजे की । लेकिन सिंहासन वाला कभी गीत नहीं लिखता है कि तुम अपनी धूल में हो, तो रहो । उसको 'कंसोलेशन' (सांत्वना) की कोई जरूरत नहीं है । वह अपने सिंहासन पर रहकर तुम्हारी धूल से कोई ईर्ष्या नहीं कर रहा है । लेकिन तुम धूल में पड़े हुए, उसके सिंहासन से जरूर ईर्ष्यारत हो । ईर्ष्या गहरी है ।

अब अर्जुन अपने को समझा रहा है । मन तो उसका होता है कि राज्य मिल जाय, लेकिन वह यह कह रहा है कि 'इन सब को मार कर, अगर तीनों लोक का राज्य भी मिलता हो...।' हालाँकि कहीं कोई मिल नहीं रहा है, कोई देने वाला नहीं है।

तीनों लोक का राज्य भी मिलता हो, तो भी बेकार है। ऐसे बड़े राज्य की बात करके, फिर वह उसका दूसरा निष्कर्ष निकालता है कि 'तब पृथ्वी के राज्य का प्रयोजन ही क्या है।... ऐसा बड़ा ख्याल मन में पैदा करके कहता है कि) इन तीनों लोक का राज्य भी छोड़ सकता हूँ।' लेकिन उसकी पृथ्वी का राज्य छोड़ने की इच्छा नहीं है। और अगर कहीं कृष्ण उससे कहें कि देख, तुझे तीनों लोक का राज्य दे देते हैं, तो वह बड़ी दुविधा में पड़ जायगा । वह ऐसा कह कर अपने का समझा रहा है ।

यह बड़े मजे की बात है । बहुत बार जब हम अपने को समझाते होते हैं, तो हमारे ख्याल में नहीं होता है कि हम किन-किन तरकीबों से अपने को समझाते हैं। बड़ा मकान देखकर हम पड़ोसी से कहते हैं, क्या रखा है बड़े मकान में ? लेकिन जब कोई आदमी कहता है, 'क्या रखा है बड़े मकान में?' तो उस आदमी का बहुत कुछ रखा है, निश्चित ही रखा है । अन्यथा बड़ा मकान दीखता ही नहीं । वह अपने को समझा रहा है, वह अपने मन को सांत्वना दे रहा है कि कुछ रखा ही नहीं है, इसलिए हम पाने की कोई कोशिश नहीं करते। अगर कुछ होता, तो हम तत्काल पा लेते। लेकिन कुछ है ही नहीं, इसलिए हम पाने की कोशिश नहीं करते।

यही अर्जुन भी कह रहा है: तीन लोक के राज्य में भी क्या रखा है, इसलिए पृथ्वी के राज्य में तो कुछ भी नहीं रखा है । और इतने छोटे से राज्य के लिए इतने प्रियजनों को मारना....! यह प्रियजनों को मारना उसके लिए सर्वाधिक कष्टपूर्ण मालूम पड़ रहा है । न मारना भी कष्टपूर्ण मालूम पड़ रहा है ।

स्वभावतः सारा परिवार वहां लड़ने को खड़ा है। ऐसे युद्ध के मौके कम आते हैं। यह युद्ध भी विशेष है। और युद्ध की विलक्षणता यही है महाभारत में कि एक ही परिवार कट कर खड़ा है । उस कटाव में भी दुश्मन नहीं हैं । यह थोड़ा सोचने जैसा है । जो फर्क है, वह दुश्मन और मित्र का कम है । जो फर्क है, वह कम-मित्र और ज्यादा-मित्र का ही है। जो बँटवारा है, वह बँटवारा ऐसा नहीं है कि उस तरफ दुश्मन हैं और इस तरफ मित्र हैं। इतना भी साफ होता कि उस तरफ पराये हैं और इस तरफ अपने हैं, तो कटाव बहुत आसानी से हो जाता। अर्जुन ठीक से मार पाता ।

बँटवारा बहुत अजीब है । और वह अजीब बँटवारा बड़ा अर्थपूर्ण है । यह अजीब बँटवारा ऐसा है कि इस तरफ जो अपने थोड़े ज्यादा मित्र थे, वे इकट्ठे हो गयें हैं; जो थोड़े कम मित्र थे, वे उस तरफ इकट्ठे हो गये हैं। मित्र वे भी हैं, प्रियजन वे भी हैं, गुरु उस तरफ भी हैं । यह महत्वपूर्ण है, और ऐसी 'सिचुएशन' (स्थिति) इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि जिन्दगी में चीजें 'वाटर टाइट कम्पार्टमेंट' में बंटी

हुई नहीं होती हैं । जिन्दगी में चीजें काले और सफेद में बँटी नहीं होतीं । जिन्दगी 'ग्रे' का फैलाव है । उसके एक कोने पर काला होता है, दूसरे कोने पर सफेद होता है, लेकिन जिन्दगी के बड़े फैलाव में काला और सफेद मिश्रित होता है । यहाँ फलाँ आदमी शत्रु और फलाँ आदमी मित्र, ऐसा बँटाव नहीं है । फलाँ आदमी कम-मित्र, फलां आदमी ज्यादा-मित्र है, फलाँ आदमी कम-शत्रु, फलाँ आदमी ज्यादा-शत्रु है, ऐसा बँटाव है ।

जिन्दगी में 'एब्सोल्यूट टर्म्स' नहीं हैं । यहाँ कोई चीज पूरी कटी नहीं हुई नहीं है । यही उलझाव है । यहाँ सब चीजें कम-ज्यादा में बँटी हैं । हम कहते हैं, यह गरम है और यह ठण्डा है । लेकिन ठण्डे का मतलब होता है, थोड़ा कम गरम ! गर्म का क्या मतलब होता है ? थोड़ा कम ठण्डा । कभी ऐसा करें कि एक हाथ को स्टोव पर जरा गरम कर लें और एक हाथ को बरफ पर रखकर जरा ठण्डा कर लें और फिर दोनों हाथ को एक ही बाल्टी के पानी में डाल दें, तब आप बड़ी मुश्किल में पड़ जायेंगे । तब ठीक अर्जुन की हालत में पड़ जायेंगे । तब आपका एक हाथ कहेगा कि पानी ठण्डा है और एक हाथ कहेगा, पानी गर्म है । और एक ही पानी दोनों तो हो नहीं सकता एक साथ ? ठण्डा और गरम !

जीवन में सब कुछ सापेक्ष है, 'रिलेटिव' है । जिन्दगी में कुछ भी निरपेक्ष नहीं है । यहाँ सब कम-ज्यादा का बँटाव है । अर्जुन की वही तकलीफ है और जो आदमी भी देखेगा जिन्दगी को ठीक से, उसकी यही तकलीफ हो जायगी । यहाँ सब कम-ज्यादा का बँटाव है। कोई थोड़ा ज्यादा अपना है, कोई थोड़ा कम अपना है। कोई थोड़ा ज्यादा निकट है, कोई थोड़ा जरा दूर है । कोई सौ प्रतिशत, कोई नब्बे प्रतिशत, कोई अस्सी प्रतिशत अपना है । कोई नब्बे प्रतिशत, कोई अस्सी प्रतिशत, कोई सत्तर प्रतिशत पराया है। लेकिन जो पराया है , उसमें भी कुछ प्रतिशत अपने का हिस्सा है। और जो अपना है, उसमें भी पराये का कुछ प्रतिशत हिस्सा है । इसलिए जिन्दगी उलझाव है । यह कट जाय ठीक शत्रु या मित्र में, अच्छे या बुरे में तो बड़ा आसान हो जायेगा न इतना आसान नहीं हो जाता ।

राम के भीतर भी थोड़ा रावण है और रावण के भीतर भी थोड़ा राम है । इसलिए तो रावण को भी कोई प्रेम कर पाता है, नहीं तो रावण को कोई प्रेम न कर पाये । रावण को भी कोई प्रेम कर पाता है । रावण में भी कहीं न कहीं राम, किसी न किसी को दिखायी पड़ता है । रावण को भी कोई प्रेम करता है । राम से भी कोई शत्रुता कर पाता है, तो राम की शत्रुता में भी कहीं न कहीं रावण थोड़ा दिखायी पड़ता है । यहाँ बड़े से बड़े संत में भी थोड़ा पापी है, और यहाँ बड़े से बड़े पापी में भी

थोड़ा संत है । जिन्दगी एक सापेक्ष विभाजन है ।

इसलिए अर्जुन की तकलीफ है कि सब अपने ही खड़े हैं । एक ही परिवार है और बीच में से रेखा खींच दी गई है । उस तरफ भी अपने हैं, इस तरफ भी अपने हैं । हर हालत में अपने ही मरेंगे । यह पीड़ा पूरे जीवन की पीड़ा है और यह स्थिति, यह 'सिचुएशन' पूरे जीवन का तथ्य है । इसलिए **अर्जुन के लिए जो प्रश्न है, वह सिर्फ किसी एक युद्धस्थल पर पैदा हुआ प्रश्न नहीं है, वह जीवन के समस्त स्थलों पर पैदा हुआ प्रश्न है।** अब वह घबड़ा गया है। उधर द्रोण खड़े हैं, उन्हीं से सीखा है। और उन्हीं पर तीर खींचना है। उन्हीं से धनुर्विद्या सीखी है। अर्जुन उनका पट्ट शिष्य है । सबसे ज्यादा जीवन में उसके लिए ही द्रोण ने किया है । एकलव्य का अँगूठा काट लाये थे, इसी शिष्य के लिए । वही शिष्य आज उन्हीं की हत्या करने को तैयार हो गया है । इसी शिष्य को उन्होंने बड़ा किया है खून-पसीना देकर, सारी कला इसमें ऊँडेल दी है । आज उन्हीं के खिलाफ वह धनुर्बाण खींचेगा ।

यह बड़ा अद्भुत युद्ध है । यह एक ही परिवार (जिसमें बड़े तालमेल हैं, बड़े जोड़ हैं, बड़ी निकटताएँ हैं) कटकर खड़ा हो गया है । लेकिन अगर हम जिन्दगी को देखें, बहुत गहरे से देखें, तो जिन्दगी के सब युद्ध अपनों के ही युद्ध हैं, क्योंकि पृथ्वी एक परिवार से ज्यादा नहीं है । अगर हिन्दुस्तान पाकिस्तान से लड़ेगा, तो एक परिवार ही लड़ेगा । कल जिन बच्चों को हमने पढ़ाया-लिखाया और बड़ा किया था, वे वहाँ हैं । कल जिस जमीन को हम अपना कहते थे, वही अब वहाँ है । कल जिस ताजमहल को वे अपना कहते थे और जिसके लिए मर जाते, वह यहाँ है । यहाँ सब बँटा है ।

कल हम चीन से लड़ेंगे और चीन ने हिन्दुस्तान को सब कुछ दिया है और हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी धरोहर, बुद्ध को, चीन ने बचाया है । और कोई बचाता नहीं । कल उससे हम लड़ने खड़े होते हैं । तो सारी जिन्दगी, सारी पृथ्वी, ठीक से देखें तो एक बड़ा परिवार है । उसमें **सारे युद्ध पारिवारिक हैं।** और सब युद्ध इसी स्थिति को पैदा कर देते है ।

अर्जुन के मन में भी यही दुविधा पैदा हो गयी है । उसकी दुविधा एकदम स्वाभाविक है । उसकी चिन्ता एकदम स्वाभाविक है । वह थरथर काँप गया है, यह बिलकुल स्वाभाविक है। इस दुविधा का क्या हल है? या तो वह आँख बन्द करे और युद्ध में कूद जाय या आँख बन्द करे और भाग जाय । ये दो ही उपाय दिखायी पड़ते हैं । या तो आँख बन्द करे और कहे, होगा कोई । जो अपनी तरफ नहीं है,

अपना नहीं है। मरना है, मरे। आंख बन्द करे और युद्ध में कूद जाय, यह सीधा है। या आँख बन्द करे और भाग जाय, यह सीधा है । लेकिन कृष्ण जो उपाय सुझाते हैं, वह सीधा नहीं है। वह 'लीस्ट रेसिस्टेंस' का नहीं है । ये दोनों 'लीस्ट रेसिस्टेंस' के मार्ग हैं । ये दोनों सूखी रेखाएँ हैं । इन दोनों में वह कहीं भी चला जाय, यह बड़ी सरल है बात। शायद अनंत जन्मों में इन दो में से कहीं न कहीं वह गया होगा। ये सहज विकल्प हैं ।

कृष्ण एक तीसरा ही विकल्प सुझाते हैं, जिस पर वह कभी नहीं गया है । वह तीसरा विकल्प ही कीमती है । और जिन्दगी में जब भी आपको दो विकल्प आयें, तो निर्णय करने के पहले तीसरे के संबंध में सोचा लेना, क्योंकि वह तीसरा सदा ही महत्त्वपूर्ण है । पहले के दो विकल्प हमेशा वही हैं, जो आपने बार-बार चुने हैं। कभी इसको; इससे थक गये हैं, तो विपरीत को। कभी विपरीत से थक गये तो इसको, ऐसा आप चुनते रहे हैं । 'द थर्ड', वह तीसरा ही महत्त्वपूर्ण है, जो ख्याल में नहीं आता है । उस तीसरे को ही कृष्ण प्रस्तावित करेंगे, उस पर हम साँझ बात करेंगे।

★

चौथा प्रवचन

प्रथम गीता ज्ञान-यज्ञ, अहमदाबाद, रात्रि, दिनांक ३० नवम्बर, १९७०

● **प्रश्नकर्ता : भगवान् श्री**, आपका इशारा अध्यात्म की ओर है, फिर भी आप गीता को मनस-शास्त्र ही कह रहे हैं। आप इसे और स्पष्ट करने की कृपा कीजिये।

भगवान् श्री : मैं अध्यात्म ऐसी अनुभूति को कहता हूँ, जिसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। इशारे होंगे, लेकिन इशारे अभिव्यक्तियाँ नहीं हैं। चाँद को अँगुली से बताया जा सकता है, लेकिन अँगुली चाँद नहीं है।

गीता को जो मैंने मनोविज्ञान कहा है, तो मेरा अर्थ ऐसा नहीं है, जैसे कि फ्रायड का मनोविज्ञान है। **फ्रायड का मनोविज्ञान मन पर समाप्त हो जाता है। उसका कोई इशारा मन के पार नहीं है।** उसमें मन ही इति है, उसके आगे और कोई अस्तित्व नहीं है। गीता ऐसा मनोविज्ञान है, जो इशारा आगे के लिए करता है, लेकिन इशारा आगे की स्थिति नहीं है।

गीता तो मनोविज्ञान ही है, लेकिन आत्मा की तरफ, अध्यात्म की तरफ, परम अस्तित्व की तरफ, उस मनोविज्ञान से इशारे गये हैं। लेकिन अध्यात्म नहीं है। मील का पत्थर है। तीर का निशान है, मंजिल की तरफ इशारा है, लेकिन मील का पत्थर ही है। वह मंजिल नहीं है। **कोई भी शास्त्र अध्यात्म नहीं है।** हाँ, ऐसे शास्त्र हैं, जो अध्यात्म की तरफ इशारे हैं।

सब इशारे मनोवैज्ञानिक ही होते हैं। इशारे अध्यात्म नहीं हैं। अध्यात्म तो वह है जो इशारे को पाकर उपलब्ध होगा और वैसे अध्यात्म की कोई अभि-व्यक्ति संभव नहीं है। आंशिक भी संभव नहीं है। उसका प्रतिफलन भी संभव

नहीं है। उसके कारण हैं। संक्षिप्त में दो-तीन कारण ख्याल में ले लेने जरूरी हैं।

पहला--जब अध्यात्म का अनुभव होता है, तो कोई विचार चित्त में नहीं होता। और जिस अनुभव में विचार मौजूद न हो, उस अनुभव को विचार प्रगट कैसे करे! विचार प्रगट कर सकता है उस अनुभव को, जिसमें वह मौजूद रहा हो, गवाह, साक्ष्य रहा हो। लेकिन जिस अनुभव में वह मौजूद ही न रहा हो, उसको विचारों में प्रगट नहीं कर पाता। अध्यात्म का अनुभव निर्विचार अनुभव है। विचार मौजूद नहीं होता वहां, इसलिए विचार कोई खबर नहीं ला पाता। इसीलिए तो उपनिषद कह-कह कर थक जाते हैं--नेति-नेति। वे कहते हैं, यह भी नहीं, वह भी नहीं। पूछें कि क्या है, तो कहते हैं: यह भी नहीं, वह भी नहीं। जो भी मनुष्य कह सकता है, वह कुछ भी नहीं है। फिर क्या है वह अनुभव, जो सब कहने के बाहर शेष रह जाता है?

बुद्ध ने तो ग्यारह प्रश्नों को पूछने की मनाही ही कर दी है, कि इनको पूछना ही मत। क्योंकि इनको तुम पूछोगे तो खतरे हैं। अगर मैं उत्तर न दूं तो कठोर मालूम पड़ूंगा तुम्हारे प्रति, और अगर दूं तो सत्य के साथ अन्याय होगा क्योंकि इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जा सकता। इसलिए पूछना ही मत, मुझे मुश्किल में मत डालना। तो जिस गाँव में बुद्ध जाते, वहां खबर कर दी जाती कि ग्यारह सवाल कोई भी न पूछे। वे ग्यारह सवाल अध्यात्म के सवाल हैं।

लाओत्से पर जब लोगों ने जोर डाला कि वह अपने अनुभव लिख दे, तो उसने कहा: मुझे मुश्किल में मत डालो, क्योंकि जो मैं लिखूंगा, वह मेरा अनुभव नहीं होगा। और जो मेरा अनुभव है, जो मैं लिखना चाहता हूँ, उसे लिखने का कोई उपाय नहीं है। फिर भी दबाव में, मित्रों के आग्रह में, प्रियजनों के दबाव में, नहीं माने लोग तो उसने अपनी किताब लिखी। लेकिन किताब के पहले ही लिखा कि **जो कहा जा सकता है, वह सत्य नहीं है। और सत्य वही है, जो नहीं कहा जा सकता है।** इस शर्त को ध्यान में रखकर मेरी किताब पढ़ना।

दुनिया में जिनका भी आध्यात्मिक अनुभव है, उनका यह भी अनुभव है कि वह प्रगट करने जैसा नहीं है। वह प्रगट नहीं किया जा सकता। निरंतर फकीर उसे गूंगे का गुड़ कहते रहे हैं। ऐसा नहीं कि गूंगा नहीं जान पाता है कि गुड़ का स्वाद कैसा है, बिलकुल जान लेता है। लेकिन गूंगा उस स्वाद को कह नहीं पाता। आप सोचते होंगे, आप कह पाते हैं, तो बड़ी गलती में हैं। आप भी गुड़ के स्वाद को अब तक कह नहीं पाये। गूंगा भी नहीं कह पाया, बोलने वाले भी

नहीं कह पाये। और अगर मैं जिद्द करूँ कि समझाइए ही, कैसा होता है स्वाद, तो ज्यादा से ज्यादा गुड़ मेरे में हाथ में रख दे सकते हैं कि चखिये। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं। लेकिन गुड़ तो हाथ में दिया जा सकता है, अध्यात्म हाथ में भी नहीं दिया जा सकता कि चखिये।

दुनिया का कोई शास्त्र आध्यात्मिक नहीं है। हां, दुनिया में ऐसे शास्त्र अवश्य हैं, जिनके इशारे अध्यात्म की तरफ हैं। गीता भी उनमें से एक है। लेकिन वे इशारे मन के भीतर हैं। मन के पार की ओर हैं, लेकिन मन के भीतर हैं। और उनका विज्ञान तो मनोविज्ञान है। उनका आधार तो मनोविज्ञान है। शास्त्र की सबसे ऊँची ऊंचाई मनस है। शब्द की ऊंची से ऊंची संभावना मनस है। **अभिव्यक्ति की आखरी सीमा मनस है**। जहाँ तक मन है, वहाँ तक प्रकट हो सकता है। जहाँ मन नहीं है, वहाँ सब अप्रगट रह जाता है। तो जब मैंने गीता को मनोविज्ञान कहा, तो मेरा अर्थ नहीं था कि वाटसन के मनोविज्ञान जैसा मनोविज्ञान--कोई 'विहेवियरिज्म', कोई व्यवहारवाद। या पावलव का विज्ञान, कोई 'कण्डीशंड रिफलेक्स'। **ये सारे के सारे मनोविज्ञान अपने में बन्द हैं, और मन के आगे किसी सत्ता को स्वीकार करने को राजी नहीं हैं**। कुछ तो मन की ही सत्ता स्वीकार करने को राजी नही हैं। वे तो कहते हैं, मन सिर्फ शरीर का ही हिस्सा है। मन यानी मस्तिष्क। मन कहीं कुछ और नहीं है। यह हड्डी मांस-पेशी, इन सबका ही विकसित हिस्सा है। मन शरीर से अलग कुछ नहीं है।

गीता ऐसा मनोविज्ञान नहीं है। **गीता ऐसा मनोविज्ञान है, जो मन के पार इशारा करता है**। लेकिन है मनोविज्ञान ही। अध्यात्म-शास्त्र मैं उसे नहीं कहूँगा। कहीं कोई शास्त्र अध्यात्म का नहीं है। अध्यात्म की घोषणा ही यही है कि शास्त्र में संभव नहीं है मेरा होना। शब्द में मैं नहीं समझाऊँगा। कोई बुद्धि की सीमा-रेखा में नहीं मुझे बांधा जा सकता। जो सब सीमाओं का अतिक्रमण कर जाता है, और सब शब्दों को व्यर्थ कर जाता है, और सब अभिव्यक्यिों को शून्य कर जाता है--वैसी जो अनुभूति है, उसका नाम अध्यात्म है।

● **प्रश्नकर्ता :** भगवान् श्री, स्मृति शास्त्र में मनु का वचन है कि आततायी को मारना अनुचित नहीं है। और अर्जुन यह भी जानता है कि दुर्योधन आदि सब आततायी हैं, और तब भी उनको मारने से उसका जी हिचकिचाता है। तो कारण इसका क्या है?

भगवान् श्री : एक तो मनु जो कहते हैं, वह सिर्फ सामाजिक नीति है, 'शोशल इथिक्स' है। मनु जो कहते हैं, वह केवल सामाजिक चिन्तना है। 'सोशल कोड' है। मनु का वचन अध्यात्म नहीं है। मनु का वचन तो मनस भी नहीं है, मनोविज्ञान भी नहीं है। मनु का वचन तो सामाजिक रीति व व्यवहार की व्यवस्था है। इसलिए मनु को जोड़ना हो अगर, तो उसे जोड़ना पड़ेगा मार्क्स से, उसे जोड़ना पड़ेगा दुर्खीम की तरह के लोगों के साथ। मनु का कोई बहुत गहरा सवाल नहीं हैं।

मनु सामाजिक व्यवस्थापक हैं। और समाज की कोई भी व्यवस्था चरम नहीं है। समाज की सभी व्यवस्थाएं सामयिक हैं। जो व्यक्ति भी थोड़ा चिन्तन करेगा, उसका चिन्तंन निरंतर समाज की व्यवस्था के ऊपर चला जायेगा। क्योंकि समाज की व्यवस्था अंतिम व्यक्ति को ध्यान में रखकर बनायी गयी होती है।

कहा जाता है कि योग्य शिक्षक वही है, जो अपनी कक्षा में अंतिम विद्यार्थी को ध्यान में रखकर बोलता हो। निश्चित ही योग्य शिक्षक वही है, जो कक्षा में अंतिम व्यक्ति को ध्यान में रखकर बोलता हो। लेकिन तब जो कक्षा में प्रथम व्यक्ति है, उसके लिए शिक्षक तत्काल बेकार हो जाता है।

समाज की व्यवस्था में तो अंतिम व्यक्ति को ध्यान में रखा जाता है और जड़-नियम स्थापित किये जाते हैं। अर्जुन साधारण व्यक्ति नहीं है, 'मिडियॉकर माइण्ड' नहीं है; अर्जुन चिन्तनशील है, मेधावी है। असाधारण प्रतिभाशाली है। जिन्दगी उसके लिए सोच–विचार बन जाती है।

मनु कहते हैं कि जो आततायी है, उसे तो मार देने में कोई बुराई नहीं है। विचारशील को इतना आसान नहीं लगता है मामला। कौन आततायी है? और आततायी हो, तब भी मारना उचित है या नहीं? फिर आततायी अपना है, मनु को उसका ख्याल भी नहीं है। आततायी को मानकर चला गया है कि वह दुश्मन है। यहाँ आततायी अपना है, और एक व्यक्ति नहीं है। लाखों व्यक्ति हैं। और उन लाखों से लाखों तरह के निकट संबंध हैं।

अर्जुन की स्थिति बहुत भिन्न है। साधारण आततायी की, हमलावर की, और जिसके ऊपर हमला हुआ है, ऐसी उसकी स्थिति नहीं है। वही तो वह चिन्तन कर रहा है, वही तो वह कह रहा है कि अगर इन सब को मारकर राज्य को भी पा लें, तो क्या यह सौदा उचित है? वह वही पूछ रहा है।

इन सब को मारकर राज्य को पा लेना, क्या यह सौदा उचित है? क्या इतनी कीमत पर राज्य को लेना कुछ सार्थकता रखता है? वह यही पूछ रहा है। यह जो अर्जुन की मनोदशा है, मनु के जो नियम हैं उन नियमों से बहुत ऊपर चिन्तन की है। नियम तो सदा जड़ होते हैं। **जड़ नियम कामचलाऊ होते हैं। और विशेष संकट की स्थितियों में अर्थहीन हो जाते हैं।**

अर्जुन की संकट की स्थिति बहुत विशेष है। विशेषता तीन प्रकार की है। एक तो यह कि यह तय करना बहुत मुश्किल है कि आततायी कौन है? यह सदा ही मुश्किल है। हमें बहुत आसानी लगती है, पीछे से तय करने में कि आततायी कौन है। अगर कौरव जीत गये होते, तो क्या आपको पता चलता कि आततायी कौन है? क्योंकि तब कथा और ढंग से लिखी गयी होती क्योंकि तब कथाकार और होते। और कथाकार तो जो विजेता है, उसके आस–पास इकट्ठे होते हैं। हारे हुओं के आस–पास तो इकट्ठे नहीं होते।

दूसरे महायुद्ध में हिटलर हार गया। तब हम जानते हैं कि बुरा कौन था। लेकिन हिटलर जीत जाता और चर्चिल और रूजवेल्ट और स्टैलिन हारते, तो तो हम बिलकुल पक्का जानते कि बुरा कोई दूसरा था। स्थितियां गुजर जाने पर, पीछे से जो हम सोच पाते हैं, वह ठीक स्थितियों के बीच में इतना तय नहीं होता। आमतौर से इतिहास लिखने वाला आदमी विजेताओं का इतिहास लिखता है। और आमतौर से इतिहास विजेताओं के आस-पास 'क्रिस्टलाइज', इकट्ठा होता है। तो आज हम जानते हैं कि कौरव आततायी थे। लेकिन ठीक युद्ध के क्षण में कौन आततायी है, किसने बुरा किया है, यह मामला दो और दो चार जैसा साफ नहीं होता है। कभी साफ नहीं होता है।

चीन कहे चले जाता है कि हमला हिन्दुस्तान ने उस पर किया था। हिन्दुस्तान कहे चला जाता है कि चीन ने हमला उस पर किया था। कभी यह तय नहीं होगा कि किसने हमला किया। आज तक कभी तय नहीं हो पाया कि कौन हमलावर है। हां, जो जीत जाता है वह इतिहास लिख लेता है। हारा हुआ हमलावर तय हो जाता है। जो हार जाता है, वह इतिहास नहीं लिख पाता है। क्या हार जाना ही हमलावर होने का सबूत है? पीछे से तय करना सदा आसान है, क्योंकि तब रेखाएँ बँध गयी होती हैं, लेकिन ठीक परिस्थिति के बीच इतना आसान नहीं है।

भूल–चूक सदा दोनों तरफ से होती है। मात्राओं के फर्क हो सकते हैं,

लेकिन इकतरफा नहीं होते। ऐसा नहीं है कि कौरव ही एकदम जिम्मेवार हैं सारे पाप के लिए, और पाण्डव नहीं हैं। ऐसा नहीं है। मात्राओं के फर्क होते हैं। यह हो सकता है, कौरव ज्यादा जिम्मेवार हैं, लेकिन यह भी बहुत पीछे से जब 'पर्सपेक्टिव' मिलता है, दूरी मिलती है, तब तय होता है।

ठीक युद्ध के घने क्षण में अर्जुन का मन बहुत चिन्तित हो उठा है। कुछ साफ नहीं है। क्या हो रहा है, और कहाँ तक ठीक हो रहा है? और फिर अगर यह भी तय हो कि आतताई कौरव ही हैं, तो भी उस तरफ सारे प्रियजन खड़े हैं। होगा दुर्योधन आतताई! लेकिन द्रोण? द्रोण आततायी नहीं है। दुर्योधन आतताई होगा, लेकिन भीष्म? भीष्म आतताई नहीं हैं, उनकी गोद में ये सब बच्चे बड़े हुए हैं। दुश्मन एक नहीं है, दुश्मन एक बड़ी जमात है। उस जमात में तय करना कठिन है। यही चिन्ता का कारण है।

मनु ने जो नियम बनाये हैं, वे बहुत साधारण हैं। साधारणतया उपयोगी हैं, लेकिन इस विशेष स्थिति में मनु काम नहीं पड़ेंगे। काम पड़ सकते थे, एक ही हालत में जब कि अर्जुन इस स्थिति को झुठलाना चाहता, तो कहता, मनु का हवाला देता, कि ठीक है मनु ने कहा है, आतताई को मारो। तो हम मारते हैं। लेकिन वह कोई बहुत बड़ा विचारपूर्ण कदम न होता। और एक तो बात पक्की थी कि विचारपूर्ण इसलिए भी न होता कि यह गीता आपको उपलब्ध न होती। यह गीता उपलब्ध हो सकी है अर्जुन के मंथन से, मनन से, उसकी विचारणा से, उसकी जिज्ञासा से। चीजों को सीधा स्वीकार कर लिया होता तो गीता न बन पाती।

युद्ध होता है तो कोई जीतता है, कोई हारता है। कहानी बनती है, कथा बनती है। महाभारत उतना महत्वपूर्ण सिद्ध नहीं हुआ है, जितनी गीता महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है। महाभारत तो हुआ और समाप्त हो गया। गीता का समाप्त होना मुश्किल है। महाभारत तो एक घटना रह गयी। और समय बीतता जाता है और भूलता चला जाता है। बल्कि सच तो यह है कि महाभारत याद ही इसलिए रह गया कि उसमें गीता भी घटी। नहीं तो महाभारत याद रहने जैसा भी नहीं था।

विश्व में हजारों युद्ध हुए हैं। आदमी ने तीन हजार साल में चौदह हजार युद्ध किये हैं। लेकिन युद्ध, ठीक है, एक छोटा सा 'फुटनोट' बन जाता है इतिहास में। लेकिन युद्ध से भी बड़ी घटना गीता बन गयी। वह महाभारत का जो युद्ध

था उससे भी महत्वपूर्ण घटना, गीता बन गयी। आज अगर महाभारत याद है, तो गीता के कारण याद है। गीता महाभारत के कारण याद नहीं है।

इसलिए मैं यह भी आपसे कहना चाहूँगा कि इस जगत् में घटनाओं का मूल्य नहीं, इस जगत् में विचारणाओं का मूल्य है। इस जगत् में 'इव्हेंट्स', घटनाएं घटती हैं और राख हो जाती हैं। और विचार शाश्वत यात्रा पर निकल जाते हैं। घटनाएं मर जाती हैं। उन घटनाओं के बीच अगर किसी विचार का, किसी आत्मवान् विचार का जन्म हुआ, तो वह अनंत की यात्रा पर निकल जाता है।

महाभारत महत्वपूर्ण नहीं है। न भी हुआ हो तो क्या फर्क पड़ता है! लेकिन गीता न हुई हो तो बहुत फर्क पड़ता है। महाभारत एक छोटी सी घटना हो गयी और जैसे-जैसे समय आगे बढ़ता जायेगा और छोटी होती जायेगी। एक परिवार के भाइयों का, चचेरे भाइयों का झगड़ा था। हो गया, निपट गया। उनकी बात थी, समाप्त हो गयी। लेकिन गीता रोज-रोज महत्वपूर्ण होती चली गयी है। वह हो सकी महत्वपूर्ण इसलिए कि अर्जुन के पास मनु को मान लेने जैसी साधारण बुद्धि नहीं थी। **अर्जुन के पास एक प्रतिभा थी, जो पूछती है, जो संकट में सवाल उठाती है।**

आमतौर से संकट में सवाल उठाना बहुत कठिन है। घर में बैठ कर गीता पढ़ना और सवाल उठाना बहुत आसान है। अर्जुन की स्थिति में सवाल उठाना बहुत जोखम से भरा काम है। वह स्थिति सवाल की नहीं है। वह स्थिति कोई ब्रह्म-जिज्ञासा की नहीं है, वह स्थिति कोई गुरु-शिष्य वृक्ष के नीचे बैठकर चिन्तन-मनन करें, इसकी नहीं है। युद्ध द्वार पर खड़ा है। हुंकारें हो चुकी हैं, शंख बज गये हैं और ऐसे क्षण में उस आदमी के मन में विचार उठे हैं। अर्जुन हिम्मतवर आदमी है। वह उस युद्ध के बीच स्थल में उसे प्रगट करता है और वहाँ भी सोच-विचार करता है। इतने संकट में जो सोच-विचार करता है, वह साधारण प्रतिभा नहीं है। मनु से काम न चलेगा, उसे कृष्ण जैसा आदमी चाहिए। मनु वहाँ होते तो कहते कि पढ़ लो मेरी मनुस्मृति, उसमें लिखा है कि आतताई को मारो, कर्तव्य स्पष्ट है।

कर्तव्य सिर्फ नासमझों को सदा स्पष्ट रहा है, समझदारों को कभी स्पष्ट नहीं रहा। समझदार सदा संदिग्ध रहे हैं। क्योंकि समझदार इतना सोचता है और अक्सर दोनों पहलुओं पर इतना सोचता है कि मुश्किल में पड़ जाता है कि कौन

सही है, कौन गलत है। गलत और सही की स्पष्टता अज्ञानियों को जितनी होती है, उतनी विचारशील लोगों को नहीं होती ।

अज्ञानी के लिए सब साफ होता है कि यह गलत है, वह सही है। यह हिन्दू है, वह मुसलमान है। यह अपना है, वह पराया है। लेकिन जितना चिन्तन आगे बढ़ता है, उतना ही संदेह खड़ा होता है। कौन अपना, कौन पराया ? क्या ठीक, क्या गलत ? और इस जगत् में जो भी 'मूल्यवान' पैदा हुआ है, वह इस चिन्तन की पीड़ा के प्रसव को जिन्होंने सहा है, उनसे पैदा हुआ है। अर्जुन ने कष्ट सहा है उस घड़ी में, उस कष्ट के परिणाम में गीता प्रतिसंवेदित हुई है।

नहीं, मनु से काम नहीं चल सकता, उतने जड़ नियम से काम नहीं चल सकता। सड़क पर ट्रैफिक के नियम जैसे हैं कि बांयें चलना चाहिए। बिलकुल ठीक है। इसमें कोई अड़चन नहीं है। उल्टा कर लें कि दांयें चलना चाहिए तो भी कोई तकलीफ नहीं है। अमेरिका में उल्टा चलते हैं, लिखा है दांयें चलना चाहिए, तो आदमी दांयें चल रहा है। बांयें चलें या दांयें चलें तय कर लेने से काम चल जाता है। लेकिन ये कोई जीवन के परम आधार नहीं हैं। और अगर कोई आदमी सवाल उठाये कि बांयें चलने में कौन सी खूबी है, दांयें क्यों न चला जाय ! तो दुनिया में कोई न समझा पायेगा। यह सिर्फ व्यवस्थागत है। यदि कोई बहुत विचारशील आदमी हो और सवाल उठाये कि बांयें क्या है और दांयें क्या है, तो मुश्किल खड़ी हो जायेगी।

मनु की जो व्यवस्था है, वह अत्यन्त काम-चलाऊ है। काम-चलाऊ व्यवस्था के ऊपर प्रश्न उठ रहे हैं अर्जुन के मन में। उसके प्रश्न गहरे हैं। वह यह पूछ रहा है कि मिल जायेगा राज्य, इतनों को मार कर ! अपनों को मार कर, क्या होगा अर्थ ? क्या होगा प्रयोजन ? माना कि जीत जाऊंगा, लेकिन तब क्या होगा ? माना कि कौरव आततायी हैं, मार डालेंगे उन्हें, बदला पूरा हो जायेगा, फिर क्या होगा ? बदले का क्या अर्थ है ? और न मालूम कितने निहत्थे मर जायेंगे, न मालूम कितने निर्दोष मर जायेंगे, जिनका कोई संबंध नहीं है, जो युद्ध में घसीटकर ले आये गये हैं, क्योंकि उनका कहीं कोई संबंध नहीं है। उन सबका क्या होगा ? नहीं, उसके प्रश्न बहुत कीमती हैं, मनु से काम नहीं चल सकता।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृत दोष मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥

इससे हे माधव, अपने बान्धव धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने के लिए हम योग्य नहीं हैं, क्योंकि अपने कुटुम्ब को मारकर हम कैसे सुखी होंगे ? यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुल के नाशकृत दोष को और मित्रों के साथ विरोध करने में पाप को नहीं देखते हैं।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

परन्तु हे जनार्दन, कुल के नाश करने से होते हुए दोष को जानने वाले हम लोगों को इस पाप से हटने के लिए क्यों नहीं विचार करना चाहिये, क्योंकि कुल के नाश होने से सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं। धर्म के नाश होने से सम्पूर्ण कुल को पाप भी बहुत दबा लेता है ?

भगवान् श्री : अर्जुन कह रहा है कि वे विचारहीन हैं, हम भी विचारहीन होकर जो करेंगे, वह कैसे शुभ होगा ? माना कि वे गलत हैं, लेकिन गलत के प्रत्युत्तर में हम भी गलत करेंगे, तो क्या वह ठीक होगा ! क्या एक गलती का उत्तर दूसरी गलती से दिये जाने पर सही का निर्माण करती है ! वह यह पूछ रहा है कि भूल है उनकी, तो हम भी भूल करेंगे, तो भूलें मिलकर ठीक हो जाती हैं, कि दुगुनी हो जाती हैं ! माना कि उनका चित्त भ्रमित हो गया है, माना कि उनकी बुद्धि नष्ट हुई है, तो क्या हम भी अपनी बुद्धि नष्ट कर लें ! और जो मिलेगा, क्या वह इस योग्य है, क्या उसकी इतनी उपादेयता है ! क्या उसका इतना मूल्य है !

ध्यान रखें, इसमें अर्जुन के मन में दोहरी बातें चल रही हैं। एक, वह कह रहा है कि क्या इसका कोई मूल्य है। इसमें दो बातें हैं। हो सकता है उसमें कोई मूल्य हो और कृष्ण कोई मूल्य बता पायें, तो वह लड़ने के लिए 'रेशनलाइज' (तर्कयुक्त-व्याख्या) कर ले। हो सकता है, कृष्ण समझा पायें कि मूल्य है। हो सकता है, कृष्ण समझा पायें कि लाभ है, कल्याण है। हो सकता है, कृष्ण समझा पायें कि बुराई को बुराई से काट दिया जायेगा, तब

जो शेष बचेगा वह शुभ होगा। तो वह लड़ने के लिए अपने को तैयार कर ले। आदमी अपने को तैयार करने के लिए बुद्धिगत कारण खोजना चाहता है।

अर्जुन के मन में दोनों बातें हैं। वह जिस तरह से प्रश्न को मौजूद कर रहा है, वह यह है कि या तो मुझे भाग जाने के लिए स्वीकृति दें तो मैं 'एस्केप' (पलायन) कर जाऊं और या फिर मैं युद्ध में उतरूं, तो मुझे प्रयोजन स्पष्ट करा दें। वह अपने मन को साफ कर लेना चाहता है। युद्ध में उतरे तो यह जानकर, बिलकुल निश्चितमना, कि जो हो रहा है, वह शुभ हो रहा है। या फिर युद्ध से भाग जाय। ये दो विकल्प उसे दिखायी पड़ रहे हैं। वह दोनों के लिए राजी दिखायी पड़ता है कि दो में से कोई भी एक हो जाय। यह थोड़ा समझ लेने जैसा है।

आदमी सदा से अपने को बुद्धिमान, विचारशील, 'रेशनल' समझता रहा है। अरस्तु ने तो आदमी को रेशनल एनिमल ही कहा है। कहा है कि मनुष्य बुद्धिमान प्राणी है। लेकिन जैसे-जैसे आदमी के संबंध में समझ हमारी बढ़ी है, वैसे-वैसे पता चला है कि उसकी बुद्धिमानी सिर्फ अपनी अबुद्धिमानियों को बुद्धिमानी सिद्ध करने से ज्यादा नहीं है। आदमी का 'रीजन' (बुद्धि) सिर्फ उसके भीतर जो 'इर्रैशनल' है, जो बिलकुल अबौद्धिक है, उसको 'जस्टीफाई' (न्यायसंगत) करने की कोशिश में लगा रहा है। अगर उसे युद्ध करना है, तो पहले वह सिद्ध कर लेना चाहेगा कि युद्ध से मंगल होगा, कल्याण होगा। फिर युद्ध में उतर जायेगा। अगर उसे किसी की गर्दन काटनी है, तो वह पहले सिद्ध कर लेना चाहेगा कि जिसकी गर्दन कट रही है, उसके ही हित में यह कार्य हो रहा है। तब फिर वह गर्दन आसानी से काट सकेगा। अगर उसे आग लगानी है, तो वह तय कर लेना चाहेगा कि इस आग लगाने से धर्म की रक्षा होगी, तो आग लगाने के लिए तैयार हो जायेगा। आदमी ने, उसके भीतर जो बिलकुल अबौद्धिक तत्त्व हैं, उनको भी बुद्धिमानी से सिद्ध कर लेने की निरंतर चेष्टा की है।

अर्जुन भी वैसी ही स्थिति में है। उसके भीतर लड़ने की तैयारी तो है, अन्यथा इस युद्ध के मैदान तक आने की कोई जरूरत न थी। उसके मन के भीतर युद्ध का आग्रह तो है। राज्य वह लेना चाहता है। जो हुआ है उसके साथ, उसका बदला भी चुकाना चाहता है। इसलिए तो युद्ध के इस आखिरी क्षण तक आ गया है। लेकिन वैसी तैयारी नहीं है, जैसी दुर्योधन की है, जैसी

भीम की है। अर्जुन पूरा तैयार नहीं है। उसका मन बँटा हुआ है, टूटा हुआ है, 'स्प्लिट' है। कहीं भीतर लग भी रहा है कि गलत है, व्यर्थ है, और कहीं लग भी रहा है कि करना ही पड़ेगा। प्रतिष्ठा का, अहंकार का, कुल का, हजार बातों का सवाल है। दोनों बातें उसके भीतर चल रही हैं। दोहरा उसका मन है, 'डबल बाइंड' है।

ध्यान रहे, **विचारशील आदमी में सदा ही दोहरा मन होता है। विचार-हीन में दोहरा मन नहीं होता। निर्विचार में भी दोहरा मन नहीं होता,** लेकिन विचारशील आदमी में दोहरा मन होता है। विचारशील आदमी का मतलब है, जो अपने भीतर ही निरंतर 'डॉयलग' में और 'डिस्कसन' में लगा है, जो अपने भीतरी विवाद में लगा है। अपने को ही दो हिस्सों में करके, क्या ठीक, क्या नहीं ठीक; इसका उत्तर प्रत्युत्तर दे रहा है। विचारशील आदमी चौबीस घण्टे अपने भीतर चर्चा कर रहा है, स्वयं से ही।

यही चर्चा अर्जुन के भीतर चलती रही होगी। समझा-बुझाकर वह अपने को युद्ध के मैदान पर ले आया है कि नहीं, लड़ना उचित है। लेकिन युद्ध की पूरी स्थिति का उसे पता नहीं था। पिछले महायुद्ध में जिस आदमी ने हिरोशिमा पर एटम बम गिराया, उसे कुछ भी पता नहीं है कि क्या होगा? उसे इतना ही पता है कि एक बटन दबा देनी है और नीचे एटम बम गिर जायेगा। उसे यह भी पता नहीं है कि इस एटम बम से एक लाख आदमी मरेंगे। उसे कुछ भी पता नहीं है, उसे सिर्फ एक आर्डर है, एक आज्ञा है, जो उसे पूरी करनी है। और आज्ञा यह है कि उसे जाकर हवाई जहाज से एक बटन दबा देनी है। हिरोशिमा के ऊपर वह बटन दबा कर लौट आया।

जैसे सारी दुनिया को पता चला, ऐसे ही उसको भी पता चला कि एक लाख आदमी मर गये हैं। फिर उसकी नींद हराम हो गयी। फिर वह आदमी रात-दिन लाखों मुर्दे देखने लगा। उसके प्राण थरथराने लगे, कंपने लगे। उसके हाथ-पैर में कंपन्न होने लगा। फिर तो अन्ततः उसने हमले करने शुरू कर दिये अपने पर। नाड़ी काट डाली एक दिन, सिर पर हथौड़ी मार ली। उसे पागलखाने में रखना पड़ा। फिर तो उसने दूसरों पर भी हमले शुरू कर दिये। उसे जंजीरों में बांधा गया। उसकी नींद बिलकुल चली गयी थी, और वह आपमी एक अपराध की ग्लानि से भर गया था। 'गिल्ट' एक ही उसको पकड़ गयी कि मैंने लाख आदमी मारे हैं। लेकिन उसे कुछ पता नहीं था। हमारी युद्ध की जो व्यवस्था है, वह बिलकुल 'इनह्यूमन' है। उसमें पता नहीं

चलता, मारने वाले को भी पता नहीं चलता कि वह लाख आदमियों की मौत का बटन दबा रहा है।

महाभारत में स्थिति और थी, सब चीजें सामने थीं। युद्ध सीधा मानवीय, 'ह्यूमन' था। आमने-सामने सब खड़े थे। अर्जुन देख सकता था रथ पर खड़े होकर कि क्या होगा परिणाम। उसे दिखायी पड़ने लगा: इनमें फलां मित्र है, वह मरेगा, उसके छोटे बच्चे हैं घर पर।

ध्यान रहे, युद्ध अब जो है, वह 'इनह्यूमन' हो गया है, अमानवीय हो गया है। इसलिए अब बड़ा खतरा है। क्योंकि लड़ने वाले को भी साफ पता नहीं चलता कि क्या होगा। जो हो रहा है, बिलकुल अंधेरे में हो रहा है और जो भी आदमी तय करते हैं उसको, उनके पास भी 'फिगर' (आंकड़े) होते हैं, आदमी नहीं होते हैं। उनके पास हिसाब होता है कि एक लाख आदमी मरेंगे। एक लाख आदमी मरेंगे, यह सुनकर कुछ भी पता नहीं चलता। एक लाख आदमियों को खड़ा करिये और खड़े हो जाइए मंच पर तथा देखिये कि ये एक लाख आदमी मरेंगे, तब इनकी एक लाख पत्नियां भी दिखायी पड़ती हैं, उनके लाखों बच्चे भी दिखायी पड़ते हैं। उनकी बूढ़ी माताएँ भी होंगी, उनके पिता भी होंगे। उनकी न मालूम क्या-क्या जिम्मेवारियाँ होंगी। इन एक लाख आदमियों को मारने कि जिम्मेवारी अगर हिरोशिमा पर बम डालने वाले के सामने होती, तो मैं भी सोचता हूँ कि वह आदमी कहता कि इससे तो मैं मर जाना पसंद करूँगा। यह आज्ञा मैं नहीं मानता। उसके सामने भी सवाल उठता। इनको मारना है, क्या नौकरी के लिए?

अर्जुन के सामने भी सवाल उठा, सामने था सब चित्र। उसे सब दिखायी पड़ने लगा। विधवाएँ रोती-बिलखती दिखायी पड़ने लगीं। इनमें न मालूम कितने उसके प्रियजन होंगे, उनकी विधवाएँ होंगी, उनके बच्चे तड़फेंगे, रोयेंगे। लाशों से भर जायेगा यह मैदान। यह इतना साफ उसे दिखायी पड़ा कि जो अपने को समझा-बुझा कर लाया था कि लड़ना उचित है, वह सब डाँवाडोल हो गया। उसके दूसरे मन ने कहना शुरू कर दिया कि यह तू क्या करने जा रहा है। यह तो पाप होगा। इससे बड़ा पाप और क्या हो सकता है? और इसलिए कि राज्य मिल जाय और इसलिए कि धन मिल जाय और इसलिए कि सुख मिल जाय—इन सबको मारने की तेरी तैयारी है?

निश्चित ही वह विचारशील आदमी रहा होगा। उसके मन ने इन्कार

करना शुरू कर दिया। लेकिन इन्कार में दूसरा मन भीतर बैठा हुआ है। और वह दूसरा मन भी बोल रहा है कि अगर कोई 'रेशनलाइजेशन' मिल जाय, अगर मिल जाय कि नहीं, इसमें कोई हर्ज नहीं है। यह उचित है बिलकुल, यह औचित्य मालूम पड़ जाय, तो वह अपने को इकट्ठा कर ले, एक-जुट कर ले, युद्ध में उतर जाय। कृष्ण से पूछते वक्त अर्जुन को भी पता नहीं है कि उत्तर क्या मिलेगा? और कृष्ण से पूछते वक्त अर्जुन को भी साफ नहीं है कि स्थिति बाद में क्या बनेगी? कृष्ण जैसे आदमी 'प्रीडिक्टिबल' नहीं होते। कृष्ण जैसे आदमियों के उत्तर निश्चित नहीं होते, 'रेडीमेड' नहीं होते। कृष्ण जैसे आदमी के साथ पक्का नहीं है कि वे क्या कहेंगे? लेकिन अर्जुन के साथ पक्का है कि वह दो बातें चाह रहा है। या तो यह सिद्ध हो जाय कि यह युद्ध उचित है, नीतिसम्मत है, धार्मिक है, लाभ होगा, कल्याण होगा, श्रेयस मिलेगा, इस लोक में, परलोक में सुख मिलेगा, तो वह युद्ध में कूद जाय। और अगर यह सिद्ध हो जाय कि नहीं हो सकता लाभ, तो युद्ध से भाग जाय। उसके सामने दो विकल्प स्पष्ट हैं। और उन दोनों के बीच उसका मन डोल रहा है, और उन दोनों के बीच उसके भीतर मन का बँटाव है। लड़ना भी चाहता है। अगर उसका मन लड़ना ही न चाहता होता, तो कृष्ण से पूछने की कोई भी जरूरत नहीं थी।

अभी मैं एक गाँव में था। एक युवक मेरे पास आये और उन्होंने मुझसे पूछा कि मैं संन्यास लेना चाहता हूँ। आपकी क्या सलाह है? मैंने कहा, जब तक मेरी सलाह की जरूरत हो, तब तक तुम संन्यास मत लेना। क्योंकि संन्यास कोई ऐसी बात नहीं है कि मेरी सलाह से लिया जा सके। जिस दिन तुम्हें ऐसा लगे कि सारी दुनिया भी कहे कि संन्यास मत लो, तब भी तुम्हें लेने जैसा लगे, तभी तुम लेना। तभी संन्यास के फूल में आनंद की सुगन्ध आ सकेगी। अन्यथा नहीं आ सकेगी।

अर्जुन भी सलाह नहीं मांगता, अगर उसका मन निश्चित हो जाता कि युद्ध गलत है, तो युद्ध छोड़कर चला गया होता। उसने कृष्ण से कहा होता, सम्हालो इस रथ को, ले जाओ इन घोड़ों को जहाँ ले जाना हो, और जो करना हो करो। मैं जाता हूँ। और कृष्ण अगर कहते कि मैं कोई सलाह देता हूँ, तो वह कहता कि बिना माँगी सलाह न दुनिया में कभी मानी गयी थी, और न मानी जाती है। अपनी सलाह अपने पास रखें।

लेकिन अर्जुन सलाह माँग रहा है। वह बता रहा है कि उसका दोहरा मन है। अभी उसको भी भरोसा है कि कोई सलाह मिल जाय तो युद्ध कर ले।

यह भरोसा है उसके भीतर। इसीलिए कृष्ण से पूछ रहा है। अगर यह भी पक्का होता कि युद्ध करना उचित है, तब कृष्ण से कोई सलाह लेने कि जरूरत नहीं थी, युद्ध की सब तैयारी हो गयी थी। अर्जुन डाँवाडोल है। अर्जुन बँटा है, इसलिए वह सारे सवाल उठा रहा है। उसके सवाल महत्वपूर्ण हैं और जो लोग भी थोड़ा विचार करते हैं, उन सबकी जिन्दगी में ऐसे सवाल रोज ही उठते हैं। जब मन बँट जाता है, और दोहरे उत्तर एक साथ आने लगते हैं, तो सब निर्णय खो जाते हैं। अर्जुन संशय की अवस्था में है। 'डिसीसिवनेस' खो गयी है।

जब भी किसी से सलाह माँगते हैं, तब वह सदा ही इस बात की खबर होती है कि अपने पर भरोसा खो गया है। 'सेल्फ कांन्फिडेंस' खो गया है। अब अपने से कोई आशा नहीं रह गई उत्तर की। क्योंकि अपने से दो उत्तर, एक से बलपूर्वक आ रहे हैं। एक सी 'एम्फेसिस' लेकर आ रहे हैं। और दोनों में तय करना मुश्किल है। कभी एक ठीक, कभी दूसरा ठीक मालूम पड़ता है। तभी आदमी सलाह माँगने जाता है। जब भी कोई आदमी सलाह माँगने जाता है, तब जानना चाहिए कि वह भीतर से इतना बँट गया है कि अब उसके भीतर से उसे उत्तर आता नहीं मालूम पड़ता है। ऐसी उसकी दशा है। वह अपनी उसी दशा का वर्णन कर रहा है।

● **प्रश्नकर्ता :** भगवान् श्री, आपने अभी संन्यास के बारे में कुछ कहा तो यहाँ जीवन जागृति केंद्र के बुक स्टाल दर 'अभिनव संन्यास' नामक एक पुस्तिका भी बिक रही है। उसमें कहीं लिखा है कि आप गुरू नहीं, गवाह बनते हैं। तो वह स्पष्ट करें और साथ में और भी एक सवाल है। अर्जुन, कृष्ण, दोनों युद्ध में खड़े हैं। युद्ध के मैदान में गीता के अठारह अध्याय अर्जुन कैसे सुन सकता है और कृष्ण कैसे गीता-प्रवचन सुनाने का समय पा सकते हैं! जबकि सारी सेनाएँ भी वहाँ मौजूद थीं। तो क्या सेना में सब 'कृष्णार्जुन-संवाद' सुनने में व्यस्त थे, क्या वह टाइम, 'साइकोलॉजिकल टाइम' था या कोई दूसरा?

भगवान् श्री : कृष्ण से इतनी लम्बी चर्चा निश्चित ही प्रश्नवाची है। निश्चय ही प्रश्न उठता है। युद्ध के मैदान पर, जहाँ कि योद्धा तैयार हों लड़ने को, जूझने को, वहाँ ये अट्ठारह अध्याय, यह इतनी लंबी किताब, अगर कृष्ण ने बिलकुल उस तरह से कही हो, जैसे कि गीता-भक्त दोहराते हैं, तो भी काफी समय लग गया होगा। अगर कृष्ण बिना रुके और बिना अर्जुन की तरफ देखे, आंख बन्द करके, बोलते ही चले गये हों, तब भी काफी वक्त लग जायेगा। यह कैसे संभव हुआ होगा?

निरंतर यह सवाल गूंजता रहा है। इसलिए कुछ लोगों ने तो यह कह दिया कि गीता महाभारत में प्रक्षिप्त है, वह बाद में डाल दी गयी है, यह हो नहीं सकता। कुछ लोगों ने कहा कि वहां संक्षिप्त में बात हुई होगी, फिर उसको विस्तार से बाद में कवि ने फैला दिया है। दोनों ही बातें मेरे लिए सही नहीं हैं।

मेरे लिए तो गीता घटी है, और वैसे ही घटी है, जैसे सामने है, लेकिन घटने के क्रम को थोड़ा समझना जरूरी है। यह सारी बातचीत आमने-सामने हुई हो, यह सारी बातचीत जैसे हम और आप बोल रहे हैं, ऐसी हुई हो तो इसमें कृष्ण और अर्जुन ही भागीदार नहीं रह जाते। इसमें बहुत लोग थे, बड़ी भीड़ थी चारों तरफ। इसमें और लोग भी भागीदार हो गये होते। इसमें और लोगों ने भी सवाल उठाये होते। इसमें और सारे लोग बिलकुल ही चुप क्यों खड़े मालूम पड़ते हैं? इस तरफ भी योद्धा हैं, उस तरफ भी योद्धा हैं। दोनों की यह बात घंटों चलती है। क्या इसमें कोई बोला नहीं बीच में? किसी ने इतना भी न कहा कि यह बातचीत का समय नहीं है, युद्ध का समय है, शंख बज चुके हैं, अब यह चर्चा नहीं चलनी चाहिए। नहीं, पर कोई नहीं बोला। मेरे देखे, यह चर्चा 'टेलिपैथिक' है, यह चर्चा सीधी आमने-सामने नहीं हुई है। 'टेलिपैथी' थोड़ी समझनी पड़े, तो ख्याल में आये, अन्यथा ख्याल में नहीं आ पायेगी। एक दो उदाहरण से समझाने की कोशिश करूँगा।

एक फकीर था जॉर्ज गुरजिएफ। तीन महीने के लिए अपने तीस शिष्यों को लेकर वह तिफलिस के एक छोटे से गांव में जाकर बैठ गया था। इन तीस लोगों को एक बड़े बँगले में उसने कैद कर रखा था। कैद, क्योंकि बाहर निकलने की कोई आज्ञा न थी। और इन तीस लोगों से कहा था कि कोई एक भी शब्द तीन महीनों तक बोलेगा नहीं। न केवल शब्द से नहीं बोलेगा, वरन् इशारे से भी नहीं बोलेगा, आंख से भी नहीं बोलेगा। कहा था कि ये तीस लोग जो इस मकान में रहेंगे तीन महीने, उनमें से प्रत्येक को ऐसे रहना है, जैसे वह अकेला हो। कोई दूसरा मौजूद ही नहीं है। दूसरे को 'रिकग्नाइज' भी नहीं करना है। आंख से भी नहीं, इशारे से भी नहीं। दूसरा पास से निकल जाय तो देखना भी नहीं है। और गुरजिएफ ने कहा कि जिसको भी मैं पकड़ लूंगा, जरा भी इशारा करते हुए, दूसरे को स्वीकार करते हुए, (कि दूसरा निकल रहा था और तुम बचकर निकले थे) तो मैं उसे बाहर कर दूंगा, क्योंकि तुमने दूसरे को स्वीकार कर लिया, कि दूसरा यहां है। बातचीत हो गयी, तुम बच-

कर निकले, इशारा हो गया। पन्द्रह दिन में सत्ताइस आदमी बाहर कर दिये गये।

बड़ा मुश्किल मामला था। जहां तीस आदमी मौजूद हों, एक कमरे में दस-दस, बारह-बारह लोग बैठे हों, वहां दूसरों को बिलकुल भूल ही जाना मानो कि वे हैं ही नहीं और अकेले जीने लगना कठिन था। इतना कठिन नहीं, जितना हम सोचते हैं, क्योंकि तीन आदमी बच ही गये। तीन भी छोटी संख्या नहीं है। इतना कठिन नहीं है, क्योंकि एक आदमी जंगल में बैठकर, आंख बन्द करके भीड़ में हो जाता है, तो भीड़ में बैठकर कोई अकेला क्यों नहीं हो सकता? मन की सभी क्रियाएं 'रिव्हर्सिबल' हैं। मन की सभी क्रियाएँ उल्टी हो सकती हैं। अगर जंगल में बैठकर आदमी अपनी पत्नी से बातचीत कर सकता है, तो अपनी पत्नी के पास बैठकर बिलकुल अकेला भी हो सकता है। इसमें कोई अड़चन नहीं है।

उस प्रयोग के अंत में तीन आदमी बच गये, उनमें रूस का एक विख्यात गणितज्ञ आस्पेंस्की भी था। वह खुद भी एक वैज्ञानिक चिंतक था। और इधर सौ वर्षों में गणित पर शायद सर्वाधिक गहरी किताब उसने लिखी है, उसे 'टर्सियम आर्गनम' कहते हैं। यूरोप में तीन बड़ी किताबें लिखी गयी हैं अब तक। एक अरस्तु का 'आर्गनम' फिर बैंकन का '**नोव्हम आर्गनम**', और फिर ऑस्पेंस्की का '**टर्सियम आर्गनम**'। ऑस्पेंस्की बड़ा वैज्ञानिक चिंतक था। यह भी उन तीनों में से एक बच गया था। तीन महीने बीत गये। तीन महीने वह ऐसे रहा, जैसे कि अकेला है। वहां कमरों में जो लोग थे, वे तो भूल ही गये, बाहर जो दुनिया थी, वह भी भूल गयी। और जो आदमी दूसरों को भूल जाय, वह अपने को भी भूल जाता है, स्मरण रखें। अगर अपने की याद रखना हो, तो दूसरों को याद रखना जरूरी है। क्योंकि मैं और तू एक ही डण्डे के दो छोर हैं। इनमें से एक गया कि दूसरा भी गया। ये दोनों बचते हैं, या दोनों चले जाते हैं। कोई कहे कि मैं, 'मैं' को बचा लूं और 'तू' को भूल जाऊँ तो असंभव है। क्योंकि 'मैं' जो है, वह 'तू' की ही चोट है। वह तू का ही उत्तर है। अगर 'तू' भूल जाय, तो 'मैं' बिखर जाता है। अगर 'मैं' भूल जाय तो 'तू' बिदा हो जाता है। वे दो एक साथ बचते हैं, अन्यथा नहीं बचते। वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

दूसरे भूल गये यह तो ठीक था, ऑस्पेंस्की खुद को भी भूल गया। फिर बचा सिर्फ अस्तित्व। तीन महीने बाद एक दिन गुरजिएफ सामने बैठा है और

ऑस्पेंस्की भी सामने बैठा है। अचानक ऑस्पेंस्की को सुनायी पड़ा कि किसी ने बुलाया है, और कहा कि ऑस्पेंस्की, सुनो। उसने चौंककर चारों तरफ देखा, कौन है? लेकिन कोई बोल नहीं रहा है। सामने गुरजिएफ बैठा है। उसने गुरजिएफ को गौर से देखा। गुरजिएफ हँसने लगा। फिर भीतर से आवाज आयी। पहचान नहीं रहे हो मेरी आवाज? मैं गुरजिएफ बोल रहा हूँ। सामने ओंठ बन्द है, वह आदमी चुप बैठा है। ऑस्पेंस्की बहुत हैरान हुआ। उसने कहा, मैं यह क्या अनुभव कर रहा हूँ! वह पहली दफे तीन महीने बाद बोला था।

गुरजिएफ ने कहा, अब तुम उस जगह आ गये हो मौन की, जहां बिना शब्द के बात-चीत की जा सकती है। अब मैं तुमसे सीधे बोल सकता हूँ, शब्दों की अब कोई जरूरत नहीं है।

अभी रूस के एक दूसरे वैज्ञानिक फयादेव ने एक हजार मील दूर बिना किसी माध्यम के संदेश भेजने के प्रयोग में सफलता पायी है। आप भी पा सकते हैं, बहुत कठिन मामला नहीं है। कभी एक छोटा सा प्रयोग घर में कर लें। छोटे बच्चे को चुन लें। अंधेरा कर लें कमरे में, दूसरे कोने में उसे बैठा दें। एक कोने में आप बैठ जाएँ और उस बच्चे से कह दें कि तू आंख बन्द कर ले और ध्यान मेरी तरफ रख। और सुनने की कोशिश कर कि मैं कुछ बोल तो नहीं रहा हूँ। और एक ही शब्द अपने भीतर बार-बार दोहराये चले जायें: गुलाब, गुलाब, गुलाब। बोलें मत। भीतर दोहराये चले जायें। घण्टे, आधा घण्टे में वह बच्चा बोलने लगेगा कि आप गुलाब बोल रहे हैं। आप भीतर ही बोलें, बाहर मत बोलें। इससे उल्टा भी हो सकता है, लेकिन उसमें जरा देर लगेगी। अगर बच्चा वहां बैठकर मन में एक शब्द सोचे ओर आप पकड़ना चाहें, तो शायद दो-तीन दिन लग जायेंगे। बच्चा जल्दी पकड़ लेगा। आदमी, जिसको हम 'जिन्दगी' कहते हैं, उसमें बिगड़ने के सिवाय और कुछ भी नहीं करता। बूढ़े बिगड़े हुए बच्चों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होते। लेकिन बच्चा घण्टे, आधा घण्टे में पकड़ना शुरू कर देगा। एक शब्द दोहरायें, और अगर एक शब्द पकड़ लिया जाय तो फिर अभ्यास से पूरा वाक्य पकड़ा जा सकता है।

कृष्ण और अर्जुन के लिए ध्यान में रखना जरूरी है कि वह चर्चा, बाहर हुई चर्चा नहीं है। यह चर्चा गहरी है और यह चर्चा बिलकुल भीतरी है। इसलिए इसमें युद्ध के आसपास खड़े लोग भी गवाह नहीं थे। और इसलिए

हो सकता है यह भी कि जिन्होंने महाभारत लिखा, उन्होंने पहले गीता उसमें न जोड़ी हो। यह हो सकता है, क्योंकि इतिहासकार ने, जिसने लिखी है, उसने गीता सुनी नहीं है। लेकिन संजय सुन पा रहा है। क्योंकि संजय, जो देख पाता है इतनी दूर, वह सुन भी पा सकता है। असल में दुनिया को संजय से पहली दफा गीता सुनने को मिली है। कृष्ण से सुनने को पहली दफा नहीं मिली। पहली दफा अर्जुन ने सुनी है, वह सुनना बहुत भीतरी है। उस सुनने का बाहरी कोई प्रमाण नहीं था।

दूसरी बात मैं आपसे यह कहना चाहूँगा कि यह 'टेलिपैथिक कम्युनिकेशन' है। गीता एक अंतर्संवाद है, जिसमें शब्दों का ऊपर उपयोग नहीं हुआ है। महावीर के संबंध में कहा जाता है कि वे कभी नहीं बोले और जितने उनके शब्द हैं, वह उन्होंने नहीं बोले। उनके पास लोग खड़े रहते थे। महावीर उनसे बोलते, ऊपर से नहीं, क्योंकि हजारों लोग सुनने आये होते, उनको सुनायी नहीं पड़ता। फिर वह आदमी जोर से बोलता है कि महावीर ऐसा कहते हैं। इसलिए महावीर की वाणी को 'शून्य-वाणी', शब्दहीन वाणी कहा गया है। उन्होंने सीधा कभी नहीं बोला। किसी से भीतर से बोला और किसी ने उसे बाहर प्रगट किया। करीब-करीब ऐसे ही जैसे इस माइक से मैं बोल रहा हूँ और आप सुन रहे हैं। माइक की तरह एक आदमी का भी उपयोग हो सकता है। कृष्ण और अर्जुन के बीच जो बात हुई, अगर संजय ने न सुनी होती तो खो गयी होती। बहुत सी और बातें बहुत बार हुई हैं और खो गयी हैं। महावीर के बहुत वचन उपलब्ध नहीं हैं।

बुद्ध ने एक दिन अपने सारे भिक्षुओं को इकट्ठा किया और हाथ में एक कमल का फूल लेकर वहां आये। फिर बैठ गये और उस कमल के फूल को देखते रहे। लोग हैरान हो गये, थोड़ी देर में बेचैनी शुरू हो गयी, कोई खांसा होगा, किसी ने करवट बदली होगी, क्योंकि बहुत देर हो गयी। बुद्ध चुप क्यों बैठे हैं, बोलें, बोलें, बोलें। फिर आखिर आधा घण्टा बीतने लगा, तो बेचैनी बहुत बढ़ गयी। किसी ने खड़े होकर कहा 'आप क्या कर रहे हैं? हम आपको सुनने आये हैं। आप बोलते क्यों नहीं?' बुद्ध ने कहा, 'मैं बोल रहा हूँ, सुनो, सुनो।' लेकिन लोगों ने कहा, "आप कुछ बोलते ही नहीं। हम क्या सुनें"? तभी एक भिक्षु, जिसका नाम था महाकाश्यप, वह हँसने लगा।

बुद्ध ने उसे बुलाकर उसे वह फूल दे दिया और अन्य भिक्षुओं से कहा,'सुनो, जो शब्द से बोला जा सकता था, वह मैं तुमसे कह चुका और जो शब्द से

भीम की है। अर्जुन पूरा तैयार नहीं है। उसका मन बँटा हुआ है, टूटा हुआ है, 'स्प्लिट' है। कहीं भीतर लग भी रहा है कि गलत है, व्यर्थ है, और कहीं लग भी रहा है कि करना ही पड़ेगा। प्रतिष्ठा का, अहंकार का, कुल का, हजार बातों का सवाल है। दोनों बातें उसके भीतर चल रही हैं। दोहरा उसका मन है, 'डबल बाइंड' है।

ध्यान रहे, **विचारशील आदमी में सदा ही दोहरा मन होता है। विचारहीन में दोहरा मन नहीं होता। निर्विचार में भी दोहरा मन नहीं होता,** लेकिन विचारशील आदमी में दोहरा मन होता है। विचारशील आदमी का मतलब है, जो अपने भीतर ही निरंतर 'डॉयलग' में और 'डिस्कसन' में लगा है, जो अपने भीतरी विवाद में लगा है। अपने को ही दो हिस्सों में करके, क्या ठीक, क्या नहीं ठीक; इसका उत्तर प्रत्युतर दे रहा है। विचारशील आदमी चौबीस घण्टे अपने भीतर चर्चा कर रहा है, स्वयं से ही।

यही चर्चा अर्जुन के भीतर चलती रही होगी। समझा-बुझाकर वह अपने को युद्ध के मैदान पर ले आया है कि नहीं, लड़ना उचित है। लेकिन युद्ध की पूरी स्थिति का उसे पता नहीं था। पिछले महायुद्ध में जिस आदमी ने हिरोशिमा पर एटम बम गिराया, उसे कुछ भी पता नहीं है कि क्या होगा? उसे इतना ही पता है कि एक बटन दबा देनी है और नीचे एटम बम गिर जायेगा। उसे यह भी पता नहीं है कि इस एटम बम से एक लाख आदमी मरेंगे। उसे कुछ भी पता नहीं है, उसे सिर्फ एक आर्डर है, एक आज्ञा है, जो उसे पूरी करनी है। और आज्ञा यह है कि उसे जाकर हवाई जहाज से एक बटन दबा देनी है। हिरोशिमा के ऊपर वह बटन दबा कर लौट आया।

जैसे सारी दुनिया को पता चला, ऐसे ही उसको भी पता चला कि एक लाख आदमी मर गये हैं। फिर उसकी नींद हराम हो गयी। फिर वह आदमी रात-दिन लाखों मुर्दे देखने लगा। उसके प्राण थरथराने लगे, कंपने लगे। उसके हाथ-पैर में कंपन्न होने लगा। फिर तो अन्ततः उसने हमले करने शुरू कर दिये अपने पर। नाड़ी काट डाली एक दिन, सिर पर हथौड़ी मार ली। उसे पागलखाने में रखना पड़ा। फिर तो उसने दूसरों पर भी हमले शुरू कर दिये। उसे जंजीरों में बांधा गया। उसकी नींद बिलकुल चली गयी थी, और वह आपमी एक अपराध की ग्लानि से भर गया था। 'गिल्ट' एक ही उसको पकड़ गयी कि मैंने लाख आदमी मारे हैं। लेकिन उसे कुछ पता नहीं था। उसमें पता नहीं हमारी युद्ध की जो व्यवस्था है, वह बिलकुल 'इनह्यूमन' है।

चलता, मारने वाले को भी पता नहीं चलता कि वह लाख आदमियों की मौत का बटन दबा रहा है।

महाभारत में स्थिति और थी, सब चीजें सामने थीं। युद्ध सीधा मानवीय, 'ह्यूमन' था। आमने-सामने सब खड़े थे। अर्जुन देख सकता था रथ पर खड़े होकर कि क्या होगा परिणाम। उसे दिखायी पड़ने लगा: इनमें फलां मित्र है, वह मरेगा, उसके छोटे बच्चे हैं घर पर।

ध्यान रहे, युद्ध अब जो है, वह 'इनह्यूमन' हो गया है, अमानवीय हो गया है। इसलिए अब बड़ा खतरा है। क्योंकि लड़ने वाले को भी साफ पता नहीं चलता कि क्या होगा। जो हो रहा है, बिलकुल अंधेरे में हो रहा है और जो भी आदमी तय करते हैं उसको, उनके पास भी 'फिगर' (आंकड़े) होते हैं, आदमी नहीं होते हैं। उनके पास हिसाब होता है कि एक लाख आदमी मरेंगे। एक लाख आदमी मरेंगे, यह सुनकर कुछ भी पता नहीं चलता। एक लाख आदमियों को खड़ा करिये और खड़े हो जाइए मंच पर तथा देखिये कि ये एक लाख आदमी मरेंगे, तब इनकी एक लाख पत्नियां भी दिखायी पड़ती हैं, उनके लाखों बच्चे भी दिखायी पड़ते हैं। उनकी बूढ़ी माताएँ भी होंगी, उनके पिता भी होंगे। उनकी न मालूम क्या-क्या जिम्मेवारियाँ होंगी। इन एक लाख आदमियों को मारने कि जिम्मेवारी अगर हिरोशिमा पर बम डालने वाले के सामने होती, तो मैं भी सोचता हूँ कि वह आदमी कहता कि इससे तो मैं मर जाना पसंद करूँगा। यह आज्ञा मैं नहीं मानता। उसके सामने भी सवाल उठता। इनको मारना है, क्या नौकरी के लिए?

अर्जुन के सामने भी सवाल उठा, सामने था सब चित्र। उसे सब दिखायी पड़ने लगा। विधवाएँ रोती-बिलखती दिखायी पड़ने लगीं। इनमें न मालूम कितने उसके प्रियजन होंगे, उनकी विधवाएँ होंगी, उनके बच्चे तड़फेंगे, रोयेंगे। लाशों से भर जायेगा यह मैदान। यह इतना साफ उसे दिखायी पड़ा कि जो अपने को समझा-बुझा कर लाया था कि लड़ना उचित है, वह सब डाँवाडोल हो गया। उसके दूसरे मन ने कहना शुरू कर दिया कि यह तू क्या करने जा रहा है। यह तो पाप होगा। इससे बड़ा पाप और क्या हो सकता है? और इस-लिए कि राज्य मिल जाय और इसलिए कि धन मिल जाय और इसलिए कि सुख मिल जाय—इन सबको मारने की तेरी तैयारी है?

निश्चित ही वह विचारशील आदमी रहा होगा। उसके मन ने इन्कार

कि समय नहीं होगा तो फिर सब काम कैसे चलेगा! 'आनंद के क्षण में समय नहीं होता। अगर कभी ध्यान का एक क्षण आपके भीतर उतरा है, कभी आनंद का एक क्षण भी आपको नचा गया है, तो उस वक्त समय नहीं होता। समय समाप्त हो गया होता है। इस संबंध में दुनिया के वे सारे लोग सहमत हैं—चाहें महावीर, चाहे बुद्ध, चाहे लाओत्से, चाहे जीसस, चाहे मुहम्मद चाहे कोई और—वे सब राजी हैं कि वह जो क्षण है आत्म अनुभव का, आनंद का, ब्रह्म का, वह 'टाइमलेस मोमेंट है। वह समयरहित क्षण है। वह कालातीत है।

तो जो 'टेलिपैथी' का समय है, उसके 'स्केल' अलग हैं। क्षण भर में वह बात हो सकती है जिसे लिखने में डेढ़ घण्टा लगे। आपने क्षण भर में जो सपना देखा है, अगर लिखियेगा तो आपको डेढ़ घण्टा लगेगा। आप कहेंगे, बड़ी अजीब बात है। देखा क्षण भर में और लिखने में डेढ़ घण्टा लग रहा है! क्या कारण है? क्या वजह है? वजह यह है कि जब आपके भीतर कोई घटना घटती है, तब वह 'साइमल्टेनियस' घटती है, वह युगपत घटती है। जैसे मैं आपको देख रहा हूँ, तो मैं आपको इकट्ठा देख रहा हूँ, एक ही क्षण में। लेकिन अगर आपकी गिनती करने जाऊँ, तो एक-एक की गिनती करूँगा। और तब लीनियर हो जायेगा। एक रेखा में मुझे आपकी गिनती करनी पड़ेगी, उसमें घण्टों लग जायेंगे। आपको जब देखा तो मैंने पूरा ही देखा आपको। वह एक क्षण में एक साथ हो गया। और कहीं आपके नाम लिखूं रजिस्टर में तो बहुत घण्टे लग जायेंगे। तो जब आप सपने को देखते हैं, तो सब युगपत घट जाता है। जब आप उसको लिखते हैं कागज पर, तब आप लम्बाई में लिखते हैं, तब वह युगपत नहीं रह जाता। एक-एक घटना लिखनी पड़ती है। तब वह लंबी हो जाती है, समय ज्यादा ले लेती है।

गीता जब लिखी गयी या संजय ने जब कही धृतराष्ट्र को कि ऐसी-ऐसी बात हो रही है वहां कृष्ण और अर्जुन के बीच, तब उसमें वक्त लगा होगा उतना ही, जितना वक्त अभी गीता पढ़ते वक्त आपको लगेगा, उतना ही। लेकिन कृष्ण और अर्जुन के बीच समय कितना लगा, यह तब तक आपको ख्याल में आना मुश्किल है, जब तक आपको 'टेलिपैथी' का थोड़ा सा अनुभव न हो। हमारे हिसाब से समय का कोई मूल्य नहीं है वहां, इसलिए हो सकता है, किसी भी योद्धा को पता भी न चला हो कि कृष्ण और अर्जुन के बीच क्या घटा? एक क्षण में हो गया हो। रथ जाकर खड़ा हुआ हो, अर्जुन

निढाल होकर बैठ गया हो और एक क्षण में यह सारी बात हो गयी हो, जो हुई है। एक छोटी सी कहानी और फिर दूसरा सवाल।

सुना है मैंने, नारद के जीवन में एक कहानी है। यह जगत् माया है, बड़े-बड़े ज्ञानियों से नारद ने यह सुना है। फिर वे स्वयं भगवान् से जाकर पूछे कि मेरी समझ में नहीं आता। जो है, वह माया कैसे हो सकता है? जो है वह है, वह माया कैसे हो सकता है? उसके 'इलूजरी', माया होने का क्या मतलब है? भगवान् ने कहा, मुझे बड़ी धूप तपती है तेज, आकाश में सूरज है, दोपहर है। प्यास लगी है, फिर पीछे समझाउँगा। थोड़ा पानी ले आ।

नारद पानी लेने गये। गाँव में प्रवेश किया। दोपहर है, लोग अपने घरों में सो रहे हैं, दरवाजे पर दस्तक दी। एक युवती बाहर आयी। नारद भूल गये भगवान् को। कोई भी भूल जाय। जिसको सदा याद किया जा सकता है, उसको याद करने की इतनी जल्दी भी क्या है। नारद भूल गये। और जब भगवान् को ही भूल गये, तब फिर प्यास का क्या सवाल रहा है। किसलिए आये थे, यह याद न रहा। उस लड़की को देखते रहे। मोहित हो गये। निवेदन किया कि मैं विवाह का प्रस्ताव लेकर आया हूँ। पिता बाहर थे। उस लड़की ने कहा, पिता को आ जाने दें, तब तक आप विश्राम करें।

विश्राम किया। पिता आये। राजी हो गये। विवाह हो गया। फिर चली कहानी। बच्चे हुए।चार-छः बच्चे पैदा हो गये। काफी वक्त लगा। पिता मर भी गया, ससुर मर भी गये। बूढ़े हो गये नारद। पत्नी भी बूढ़ी हो गयी, बच्चों की लाइन लग गयी। बाढ़ आ गयी। वर्षा के दिन हैं। गांव डूब गया। पत्नी और बच्चों को बचाकर किसी तरह बाढ़ पार कर रहे हैं। बूढ़े हैं, शक्ति नहीं है पास। बड़ी मुश्किल में पड़ गये हैं। पत्नी को बचाते हैं तो बच्चे बहे जाते हैं, बच्चों को बचाते हैं तो लड़की बही जाती है। लड़के को पकड़ते हैं। बाढ़ है तेज और सबको बचाने में सब बह जाते हैं। नारद अकेले थके-मांदे तट पर जाकर लगते हैं। आंख बन्द हैं, आंसू बह रहे हैं और कोई पूछता है कि उठो। बड़ी देर लगा दी, सूरज ढलने के करीब हो गया और हम प्यासे बैठे हैं। पानी अभी तक नहीं लाये ?

नारद ने आंख खोली, देखा भगवान खड़े हैं। उन्होंने कहा, अरे,मैं तो भूल ही गया। मगर इस बीच तो बहुत कुछ हो गया। आप कहते हैं, अभी सिर्फ सूरज ढल रहा है ? उन्होंने कहा, सूरज ही ढल रहा है। चारों तरफ देखा, बाढ़ का कोई पता नहीं। पूछा, बच्चे-पत्नी ? भगवान् ने कहा, कैसे बच्चे,

कैसी पत्नी ? कोई सपना तो नहीं देखते थे ? भगवान् ने कहा, तुम पूछते थे कि जो है वह माया कैसे हो सकता है ? जो है वह माया नहीं है, लेकिन **जो है, उसे समय के माध्यम से देखने से वह सब माया हो जाता है।** और जो है, उसे समय के अतिरिक्त, समय का अतिक्रमण कर देखने से वह सब सत्य हो जाता है। **संसार समय के माध्यम से देखा गया सत्य है। सत्य, 'समय-शून्य' माध्यम से देखा गया संसार है।** यह जो घटना घटी है, यह घटना आंतरिक है। और समय की परिधि के बाहर है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥४१॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥४२॥

तथा हे कृष्ण, पाप के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियां दूषित हो जाती हैं। और हे वार्ष्णेय, स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकर उत्पन्न होता है। और वह वर्णसंकर कुलघातियों को और कुल को नरक में ले जाने के लिए ही [होता] है। लोप हुई पिण्ड और जल की क्रिया वाले इनके पितर लोग भी गिर जाते हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्तेजातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥४३॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥४४॥

और इन वर्णसंकरकारक दोषों से कुलघातियों के सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं। हे जनार्दन, नष्ट हुए कुलधर्मवाले मनुष्यों का अनन्त काल तक नरक में वास होता है, ऐसा हमने सुना है।

भगवान् श्री : अर्जुन बहुत-बहुत मार्गों से क्या-क्या बुरा हो जायेगा युद्ध में, उसकी खोजबीन कर रहा है। उसके मन में बहुत-बहुत बुराइयां दिखायी पड़ रही हैं।अभी ही नहीं, आगे भी, संतति कैसी हो जायेगी, वर्ण कैसे विकृत हो जायेंगे, सनातन धर्म कैसे नष्ट हो जायेगा, वह यह सब सोच रहा है। यह बहुत अजीब सा लगेगा कि उसे इस सब की चिन्ता क्यों है ?

अगर हिरोशिमा के बाद बर्ट्रेंड रसेल और पश्चिम के समस्त युद्धविरोधी

लोगों का साहित्य देखें, तो हैरान होंगे। वे सब भी यही कह रहे हैं : बच्चे विकृत हो जायेंगे, व्यवस्था नष्ट हो जायेगी, सभ्यता नष्ट हो जायेगी, धर्म खो जायेगा, संस्कृति खो जायेगी। जो-जो अर्जुन को ख्याल रहा है, वह-वह ख्याल हिरोशिमा के बाद सारी दुनिया के शांतिवादी लोगों को आ रहा है। शांतिवादी युद्ध से क्या-क्या बुरा हो जायेगा, उसकी तलाश में लगता है। लेकिन उसकी सारी तलाश, जैसा मैंने कहा, उसके भीतर पलायन की जो वृत्ति पैदा हो रही है, उसके समर्थन में कारण खोजने की होती है। **हम वही खोज लेते हैं, जो हम करना चाहते हैं।** लेकिन दिखायी ऐसा पड़ता है कि जो होना चाहिए, वही हम कर रहे हैं। हम जो करना चाहते हैं, हम उसकी ही दलीलें खोज लेते हैं। और जिन्दगी में सब की दलीलों के लिए सुविधा है। आदमी जो कुछ करना चाहता है, उसके लिए पक्ष की सारी दलीलें खोज लेता है।

एक आदमी ने अमेरिका में एक किताब लिखी है कि तेरह तारीख या तेरह का आंकड़ा, तेरह की संख्या खतरनाक है। बड़ी किताब लिखी है। और सब खोज लिया उसने कि तेरहवीं मंजिल पर से गिर कर कौन आदमी मरा। तो आज तो अमेरिका के कई होटलों में तेरहवीं मंजिल ही नहीं है, उस किताब के प्रभाव से, क्योंकि तेरहवीं मंजिल पर कोई ठहरने को राजी नहीं है। बारहवीं के बाद सीधी चौदहवीं मंजिल आ जाती है। तेरह तारीख को अस्पताल में जो भर्ती होते हैं, उनमें से कितने मर जाते हैं, तेरह तारीख को कितने 'एक्सिडेंट' होते हैं सड़क पर, तेरह तारीख को कितने लोगों को कैंसर होता है, तेरह तारीख को कितने हवाई जहाज गिरते हैं। तेरह तारीख को कितनी मोटरें टकराती हैं, तेरह तारीख को क्या क्या-उपद्रव होता है ! उसने वह सब इकट्ठा कर लिया है। बारह को भी होता है। ग्यारह को भी होता है, उतना ही होता है, लेकिन वह सब छोड़ दिया है। तेरह का सब इकट्ठा कर लिया है।

कोई अगर ग्यारह तारीख के खिलाफ हो तो वह ग्यारह तारीख के लिए यह सब इकट्ठा कर लेगा। अगर कोई तेरह तारीख के पक्ष में हो तो तेरह तारीख को बच्चे भी पैदा होते हैं, तेरह तारीख को हवाई जहाज नहीं भी गिरते हैं, तेरह तारीख को अच्छी घटनाएँ भी घटती हैं, विवाह भी होते हैं, तेरह तारीख को मित्रता भी बनती है, तेरह तारीख को विजय-उत्सव भी होते हैं, तेरह तारीख को सब अच्छा भी होता है। आदमी का चित्त उसे खोज

लेता है, जो वह चाहता है।

पलायन चाहता है अर्जुन, तो वह यह सब खोज रहा है। कल तक उसने यह बात नहीं कही थी। कल तक उसे आने वाली संतति को क्या होगा, इससे कोई मतलब न था। युद्ध के आखिरी क्षण तक उसे कभी इन सब बातों का ख्याल न आया। आज सब ख्याल आ रहा है। आज उसके मन को पलायन पकड़ रहा है, तो सब दलीलें खोज रहा है। और यह बड़े मजे की बात है, कुल मामला इतना है कि वह अपनों को मारने से भयभीत हो रहा है। लेकिन दलीलें दूसरी खोज रहा है। वह सब दलीलें खोज रहा है। मामला कुल इतना है कि वह ममत्व से पीड़ित है, मोह से पीड़ित है। वह अपनों को मारने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहा है। इतनी सी बात है, लेकिन इसके आस-पास वह बड़े जाल, बड़ी 'फिलॉसफी' खड़ी कर रहा है। हम सब यही करते हैं।

अक्सर ऐसा होता है कि वह बात हम छोड़ ही देते हैं, जो होती है और उसके आस-पास जो जाल हम खड़ा करते हैं, वह बहुत दूसरा होता है। एक आदमी को किसी को मारना है, तो वह बहाने खोज लेता है। एक आदमी को क्रोध करना है, तो वह बहाने खोज लेता है। एक आदमी को भागना है, तो वह बहाने खोज लेता है। आदमी को जो करना है, वह पहले आता है और बहाने खोजना पीछे आता है।

कृष्ण यह सब देख रहे हैं और हंस रहे हैं। कृष्ण समझ रहे हैं कि अर्जुन दलीलें जो दे रहा है, वे चालबाजी की दलीलें हैं। ये दलीलें वास्तविक नहीं हैं। ये सही नहीं हैं। यह उसकी अपनी दृष्टि नहीं है; क्योंकि उसने आज तक कभी किसी को मारते वक्त नहीं सोचा। कोई ऐसा पहला मौका नहीं है कि वह मार रहा है। वह निष्णात योद्धा है। मारना उसकी जिन्दगी भर का अनुभव और कुशलता है। मारना ही उसका बल है, तलवार ही उसका हाथ है, धनुष-बाण ही उसकी आत्मा है। वह ऐसा आदमी नहीं है कि कभी तराजू पकड़े बैठा रहा हो और अचानक युद्ध पर लाकर खड़ा कर दिया गया हो। इसलिए उसकी बातों पर कृष्ण जरूर हंस रहे होंगे। वे जरूर देख रहे होंगे कि आदमी कितना चालाक है।

सब आदमी चालाक हैं। जो कारण होता है, उसे हम भुलाते हैं। और जो कारण नहीं होता है, उसके लिये हम दलीलें इकट्ठी करते हैं। और अक्सर ऐसा

होता है कि खुद को ही हम दलीलें देकर समझा लेते हैं और मूल कारण छूट जाता है। लेकिन कृष्ण चाहेंगे कि उसे मूल कारण ख्याल में आ जाय। क्योंकि मूल कारण अगर ख्याल में हो, तो समझ पैदा हो सकती है। और अगर मूल कारण छिपा दिया जाय और दूसरे 'फॉल्स रीजन्स', झूठे कारण इकट्ठे कर लें तो आत्म-वंचना के अतिरिक्त कुछ नहीं होता।

अर्जुन को क्या मतलब है कि आगे क्या होगा ? धर्म की उसे कब चिन्ता थी कि धर्म विनष्ट हो जायेगा ! कब उसने फिक्र की थी कि कहीं कुल विकृत न हो जायँ ? कब उसने फिक्र की थी, इन सब बातों की ? कोई चिन्ता न थी कभी, आज अचानक सब चिन्ताएँ उसके मन पर उतर आयी हैं।

यह समझने जैसा है कि ये सारी चिन्ताएँ क्यों उतर रही हैं। क्योंकि वह भागना चाहता है। भागना चाहता है, तो ऐसा नहीं दिखायेगा कि कायरता है। वह तर्कपूर्वक भागेगा। 'रीजनेबल' होगा उसका भागना। कहेगा कि इतने कारण थे, इसलिए भागता हूँ। अगर बिना कारण भागेगा, तो दुनिया हंसेगी। यही उसकी चालाकी है। यही हम सब की भी चालाकी है। हम जो भी करते हैं, उसके पहले कारण का एक जाल खड़ा करते हैं। जैसे मकान को बनाते हैं तो एक 'स्ट्रक्चर' खड़ा करते हैं, ऐसे हम एक जाल खड़ा करेंगे। उस जाल से हम दिखायेंगे कि यह ठीक है। लेकिन मूल कारण बिलकुल और होगा।

कृष्ण को यदि यह साफ दिखायी पड़ जाय कि अर्जुन जो कह रहा है, वही कारण है, तो मैं नहीं मानता कि वे धर्म का विनाश करवाना चाहेंगे। **मैं नहीं मानता कि वे चाहेंगे कि बच्चे विकृत हो जायँ,** मैं नहीं सोचता कि वे चाहेंगे कि संस्कृति, सनातन-धर्म नष्ट हो जाय। लेकिन ये कारण नहीं हैं। ये फॉल्स सब्स्टिट्यूट्स हैं, ये झूठे परिपूरक कारण हैं। इसलिए कृष्ण इनको गिराने की कोशिश करेंगे, इनको काटने की कोशिश करेंगे। वे अर्जुन को वहाँ लायेंगे, जहाँ मूल कारण है। क्योंकि मूल कारण से लड़ा जा सकता है। लेकिन झूठे कारणों से लड़ा नहीं जा सकता। इसीलिए हम मूल को छिपा लेते हैं और झूठे कारणों में जीते हैं।

अर्जुन की यह मनोदशा ठीक से पहचान लेनी जरूरी है। यह 'रीजन की कनिंगनेस' है, यह बुद्धि की चालाकी है। वह सीधा नहीं कहता कि मैं भाग जाना चाहता हूँ। नहीं होता है मन, अपनों को मारने का। यह तो आत्मघात है। मैं जा रहा हूँ, सीधा नहीं कहता। दुनिया में कोई आदमी सीधा नहीं कहता।

जो आदमी सीधा कहता है उसकी जिंदगी में क्रांति हो जाती है, जो इरछा-तिरछा कहता रहता है उसकी जिंदगी में कभी क्रांति नहीं होती। वह जिसको कहते हैं, झाड़ी के आस-पास पीटना, 'बीटिंग अराउण्ड द बुश'। बस, ऐसे पीटेगा पूरे वक्त। झाड़ी बचायेगा, आस-पास पिटाई करेगा। अपने को बचायेगा और हजार-हजार कारण खोजेगा। छोटी सी सीधी बात है उसकी, लेकिन हिम्मत खो रहा है। ममत्व के साथ हिम्मत भी जा रही है। उतनी सीधी बात नहीं कहेगा और सारी बातें इकटठी कर रहा है। उसके कारण सुनने और समझने जैसे हैं। हमारा चित्त भी ऐसा करता है, इसलिए समझना उपयोगी है।

● **प्रश्नकर्ता :** भगवान् श्री, कहा गया है कि कुल-धर्म का क्षय होने से, दूषित स्त्रियों से वर्णसंकर प्रजा का जन्म होता है। जो प्रजा पिण्ड और तर्पण क्रिया नहीं करती है, उससे उनके पितृगण नर्क में जाते हैं। तो क्या पितृगण पिण्ड-दान नहीं देने पर भूखे मरते हैं ? यह क्या अर्जुन के चित्त की भ्रांति ही है ?

भगवान् श्री : नहीं, अर्जुन के कारण सब अत्यन्त ऊपरी, अत्यन्त व्यर्थ हैं। कोई पितृगण आपके पिण्ड से बंधकर नहीं जीते हैं। और अगर आपके पिण्ड-दान से किन्हीं जा चुके पितृगणों की आगे की यात्रा बिगड़ती हो, तब तो पिण्डदान बड़ी खतरनाक बात है। आत्माएँ अपने ही भीतर से अपनी यात्रा पर निकलती हैं। आपने उनके पीछे क्या किया और क्या नहीं किया, इससे उनकी यात्रा का कोई भी संबंध नहीं है। लेकिन पुरोहितों का एक जाल है जगत् में। और पुरोहितों का जाल जन्म से मृत्यु तक तो आदमी को कसता ही है, मरने के बाद भी कसता है। और बिना आदमी को भयभीत किये आदमी का शोषण नहीं किया जा सकता। **भय ही शोषण का आधार है।** तो बेटे का शोषण किया जा सकता है, मरे हुए बाप के लिए भी भय दिखाकर।

अर्जुन यह सब बातें कर रहा है। यह उसने सुनी होंगी। वह सब उसके आस-पास हवा में रही होंगी। तब थी, तब तो आश्चर्य नहीं, अभी भी हैं। पांच हजार साल पहले अर्जुन ने सुनी होंगी, कोई आश्चर्य की बात नहीं, अभी भी हैं। अर्जुन जो कह रहा है, उसने सुना होगा हवा में। जो पुरोहित समझाते रहे होंगे आस-पास, वही कह रहा है। वास्तव में उसे कोई मतलब नहीं है। वह तो वे सब दलीलें इकट्ठी कर रहा है ताकि कृष्ण के सामने साबित

हो जाय कि वह भाग रहा है, तो भागना ही धर्म है, उचित है। वह इसलिए सारी दलीलें ला रहा है। लेकिन इनमें कोई भी सत्य नहीं है और न ही कोई वर्णसंकर है, जिसमें कोई विकृति होती है। उस दिन ख्याल था।

आज भी करपात्री और शंकराचार्य से पूछिये, तो यही ख्याल है। कुछ लोगों के ख्याल बदलते ही नहीं, सारी दुनिया में सब बदल जाय। कुछ लोग ख्याल को ऐसा पकड़ते हैं कि ख्याल के नीचे से सारी जिन्दगी निकल जाती है, लेकिन मुर्दा ख्याल उनको पकड़े रह जाते हैं।

'क्रॉस ब्रीडिंग' जिसको वर्णसंकर कह रहा है अर्जुन, श्रेष्ठतम 'ब्रीडिंग' है। 'क्रॉस ब्रीडिंग' से संभावना श्रेष्ठतर होने की है। बीज में आप पूरी तरह उसका उपयोग कर रहे हैं। उस वक्त आप ख्याल में नहीं लाते कि आप अर्जुन के खिलाफ जा रहे हैं। जानवरों में उपयोग कर रहे हैं। आदमी में अभी उपयोग नहीं कर रहे, इसलिए आज आदमी की 'ब्रीडिंग' जानवरों से भी पिछड़ी हुई 'ब्रीडिंग' है।

आज हम जितने अच्छे कुत्ते पैदा कर लेते हैं कुत्तों में, उतना अच्छा आदमी, आदमी में पैदा नहीं कर पाते। **आदमी की अभी भी संतति की व्यवस्था एकदम अवैज्ञानिक है।** अर्जुन के वक्त में तो रही ही होगी, आज भी है। आज भी आदमी से श्रेष्ठतर आदमी : मन और शरीर की दृष्टि से स्वस्थ, ज्यादा आयुष्य वाला, ज्यादा प्रतिभाशाली पैदा हो सके, इस तरफ हमारा कोई ख्याल नहीं है। बीज की हम फिक्र करते हैं। बीज अच्छे से अच्छा होता जा रहा है, फलों का, फूलों का, गेहूँ का। पशुओं में हम अच्छे से अच्छे पशु पैदा करने की फिक्र करते हैं। आदमी में अभी भी फिक्र नहीं है, लेकिन पुराने वक्त ऐसा ख्याल था कि अगर दूसरी जाति से मिलना हुआ तो जो बच्चा पैदा होगा वह वर्णसंकर हो जायेगा। सच तो यह है कि इस जगत् में जितनी भी प्रतिभाशाली जातियां हैं, वे सब वर्णसंकर हैं। और जितनी शुद्ध जातियां हैं, वे बिलकुल पिछड़ गयी हैं। नीग्रो बिलकुल शुद्ध है। अफ्रीका के जंगलों में रहने वाले बिलकुल शुद्ध हैं। हिन्दुस्तान के आदिवासी बिलकुल शुद्ध हैं।

जितनी भी विकासमान संस्कृतियाँ हैं, सभ्यताएँ हैं, वे सभी वर्णसंकर हैं। असल में जैसे दो नदियाँ मिलकर ज्यादा समृद्ध हो जाती हैं, वैसे ही जीवन की दो विभिन्न धाराएँ भी मिलकर ज्यादा समृद्ध हो जाती हैं। अगर अर्जुन ठीक है,

तब तो बहन भाई की शादी करवा देनी चाहिए, उससे बिलकुल शुद्ध बच्चे पैदा होंगे। लेकिन बहन और भाई की शादी से शुद्ध बच्चा पैदा नहीं होता, सिर्फ रुग्ण बच्चा पैदा होता है। बहन और भाई को हम बचाते हैं। जो बुद्धिमान हैं, वे चचेरे भाई और बहन को भी बचाते हैं। जो उनसे भी ज्यादा बुद्धिमान हैं, वे अपनी जाति में शादी कभी न करेंगे। जो उनसे भी ज्यादा बुद्धिमान हैं, वे अपने देश को भी बचायेंगे और आज नहीं कल, अगर किसी ग्रह पर, उपग्रह पर हमने कोई मनुष्य खोज लिये तो जो बहुत बुद्धिमान हैं, वे 'इन्टर प्लेनेटरी क्रॉस ब्रीडिंग' की फिक्र करेंगे।

अर्जुन तो सिर्फ दलीलें इकट्ठी कर रहा है। वह तो यह कह रहा है कि यह-यह उसने सुना है। ऐसी-ऐसी हानि हो जायेगी, इसलिए मुझे भागने दो। न उसे 'क्रॉस ब्रीडिंग' से मतलब है, न वह जानकार है। उसकी जानकारी और कुशलता इन सबकी नहीं है। हाँ, उसके सुने हुए ख्याल हैं। चारों तरफ हवा में ये बातें थीं, आज भी हैं। उस समय थी, यह तो बिलकुल स्वाभाविक लगता है। क्योंकि तब मनुष्य की संतति का जन्म-शास्त्र बहुत विकसित नहीं था। आज तो बहुत विकसित है।

आज भी इतने विकसित संतति-शास्त्र के साथ, हमारा मस्तिष्क इतना विकसित नहीं है कि हम उसे सह सकें या उस संबंध में सोच सकें। क्योंकि अपनी जाति में शादी करना, बहुत दूर की अपनी बहन से ही शादी करना है। जरा फासला है। दस-पाँच पीढ़ियों का फासला होगा। अपनी ही जाति में शादी, दस-पांच पीढ़ियों के पीछे एक ही पिता की संतति से शादी है। सौ पीढ़ी पीछे होगी, बहुत दूर जायेंगे, लेकिन एक जाति में सब बहन भाई ही हैं। और ज्यादा पीछे जायेंगे तो एक महाजाति में भी सब बहन भाई हैं। जितने दूर जायें, जितना विभिन्न बीजारोपण संयुक्त हो, उतनी विभिन्न समृद्धियाँ, उतने विभिन्न संस्कार, उतनी विभिन्न जातियों के द्वारा अनुभव किया गया सारा का सारा हजारों साल का इतिहास 'जिनेटिक' (वांशजिक) अणु में इकट्ठा होकर उस व्यक्ति को मिल जाता है।

जितने दूर से ये दो धाराएँ आयें, उतने विलक्षण व्यक्ति के पैदा होने की संभावना। तो वर्णसंकर बहुत गाली थी अर्जुन के वक्त में। हिन्दुस्तान में अभी भी काशी में गाली है। लेकिन अब सारे जगत् के बुद्धिमान इस बात के लिए राजी हैं कि **जितने दूर का वर्ण हो,** जितनी संकरता हो, **उतने ही श्रेष्ठतम व्यक्ति को जन्म दिया जा सकता है।** लेकिन अर्जुन को इससे लेना-देना नहीं

है। अर्जुन इस पर कोई वक्तव्य नहीं दे रहा है। वह सिर्फ दलीलें इकट्ठी कर रहा है।

● **प्रश्नकर्त्ता :** भगवान् श्री, नर्क या स्वर्ग जैसे कुछ स्थान विशेष हैं ? ऐसा लगता है कि पाप और पुण्य एवं नर्क और स्वर्ग की कल्पना व्यक्ति को भय-भीत या प्रोत्साहन करने के हेतु की गयी है। क्या आप सहमत हैं इससे ?

भगवान् श्री : नर्क और स्वर्ग भौगोलिक स्थान नहीं हैं, लेकिन मानसिक दशाएँ जरूर हैं। आदमी का चिंतन सदा ही चीजों को चित्रों में रूपांतरित करता है। आदमी बिना चित्रों के नहीं सोच पाता। आदमी को सोचने में चित्र बड़े सहयोगी हो जाते हैं। हम सबने देखी है अभी भी घरों में टंगी है भारत माता की फोटो। कुछ बुद्धिमान, हमारे मुल्क में पता नहीं, क्यों नहीं 'भारत माता' की खोज पर निकलते ? फोटो तो घरों में लटकी हुई है भारत माता की। लेकिन 'भारत माता' खोजने से कहीं मिलने वाली नहीं है। लेकिन हजार, दो हजार साल बाद अगर कोई कहेगा कि 'भारत माता' नहीं थी, तो लोग कहेंगे, बिलकुल गलत कहते हैं, देखो गांधी जी इशारा कर रहे हैं, फोटो में भारत माता की तरफ। गांधीजी गलती कर सकते हैं ? भारत माता जरूर रही होगी। अब कहीं गुहा-कन्दराओं में छिप गयी हैं, हमारे पाप की वजह से।

आदमी जो भी समझना चाहे, उसे चित्रों में रूपांतरित करता है। असल में जितना हम अतीत में लौटें, उतनी ही 'पिक्टोरियल लैंग्वेज' (चित्र की भाषा) बढ़ती जाती है। असल में दुनिया की पुरानी भाषाएं चित्रात्मक हैं। जैसे चीनी अभी भी चित्रों की भाषा है। अभी भी शब्द नहीं हैं, वर्ण नहीं हैं, चित्र हैं। चित्रों में ही सारा काम करना पड़ता है, इसलिए चीनी सीखना बहुत मुश्किल मामला हो जाता है। साधारण भी कोई सीखे तो दस-पन्द्रह साल तो मेहनत करनी ही पड़े। क्योंकि कम से कम दस बीस हजार चित्र तो उसे याद होने ही चाहिए। अब चीनी में अगर 'झगड़ा' लिखना है, तो एक झाड़ बना-कर उसके नीचे दो औरतें बिठालनी पड़ती हैं, तब पता चलता है कि झगड़ा है। बिलकुल पक्का झगड़ा तो है ही। एक झाड़ के नीचे दो औरतें ! इससे बड़ा झगड़ा और क्या हो सकता है ?

सारी दुनिया की, जितने हम पीछे लौटेंगे, उतनी चिन्तना 'पिक्टोरियल' होगी। अभी भी जब सपना हम देखते हैं, तो उसमें शब्द नहीं होते, चित्र होते हैं। क्योंकि सपना जो है, वह बहुत 'प्रीमिटिव' (आदिम), बहुत पुराना है, नया

नहीं है। बीसवीं सदी में भी, बीसवीं सदी का सपना देखना मुश्किल है। सपना तो हम देखते हैं कई लाख साल पुराना। उसका ढंग लाख साल पुराना होता है।

बच्चों की किताब में चित्र ज्यादा रखने पड़ते हैं और शब्द कम रखने पड़ते हैं, क्योंकि बच्चा शब्दों से नहीं, चित्रों से समझेगा। 'ग' गणेश जी का पढ़ाने में नाहक गणेश जी को फँसाना पड़ता है। और गणेश जी को कुछ लेना-देना नहीं है 'ग' से। लेकिन बच्चा पहले गणेश जी को समझेगा, फिर 'ग' को समझेगा। बच्चा 'प्रीमिटिव' है।

जितना हम पीछे लौटेंगे, उतने सारे मानसिक तत्त्व हमें भौगोलिक बनाने पड़े। स्वर्ग चित्त की एक दशा है। जब सब सुखपूर्ण है, सब शांत है, सब फूल खिले हैं, सब संगीत से भरा है, लेकिन इसे कैसे कहें ! इसे ऊपर रखना पड़ा। नर्क है, जहां कि सब दुःख है, पीड़ा है, जलन है। तो उसे नीचे रखना पड़ा है। नीचे और ऊपर 'वेल्यूज' बन गयी हैं। ऊपर वह है जो श्रेष्ठ है, नीचे वह है जो बुरा है, निकृष्ट है। फिर जलन, दुःख, पीड़ा है तो आग की लपटें बनानी पड़ी। स्वर्ग है तो वहां शीतल शांत, 'एयरकण्डीशन' (वातानुकूलता) की व्यवस्था करनी पड़ी। लेकिन वे सब चित्र हैं। शब्द पीछे पैदा होते हैं, शब्द पुरोहित पैदा करवाता है। वह कहता है, नहीं, चित्र नहीं है। ये तो स्थान हैं। अब वह मुश्किल में पड़ेगा।

जब खुश्चैव का आदमी पहली दफा अंतरिक्ष में पहुँचा, तो खुश्चैव ने रेडियो पर कहा कि मेरे आदमी चाँद का चक्कर लगा चुके हैं। कोई स्वर्ग दिखायी नहीं पड़ रहा है। अब यह पुरोहित से झगड़ा है खुश्चैव का। खुश्चैव से पुरोहित को हारना पड़ेगा, क्योंकि पुरोहित दावा ही गलत कर रहा है। कहीं कोई ऊपर स्वर्ग नहीं है, कहीं कोई नीचे नर्क नहीं है। हां, लेकिन सुख की अवस्था ऊपर की अवस्था है, दुःख की अवस्था नीचे की अवस्था है।

यह नीचे-ऊपर को इतना भौगोलिक बनाने का कारण है। जब आप सुखी होंगे, तब आपको लगेगा जैसे आप जमीन से ऊपर उठ गये हैं। और जब आप दुखी होंगे तो ऐसा लगेगा कि जमीन पर गड़ गये हैं। वह बहुत मानसिक 'फीलिंग' (संवेदना) है। जब आप दुःखी होंगे तो सब तरफ ऐसा लगेगा जैसे कि अंधेरा छा गया है। जब सुखी होंगे तब लगेगा कि आलोक छा गया। वह फीलिंग है, भाव है। अनुभव है भीतर। जब दुःखी होंगे तो ऐसा लगेगा कि जल रहे हैं, जैसे कोई भीतर से आग जल रही है। और जब आनंदित

होंगे तो भीतर फूल खिलने लगेंगे ।

ये सब भीतरी भाव हैं । लेकिन कवि उनको कैसे लिखे, चित्रकार उनको कैसे समझाये ! धर्मगुरू उन्हें कैसे लोगों के सामने उपस्थिति करें ! तो ऊपर हो गया स्वर्ग, नीचे हो गया नर्क । लेकिन अब वह भाषा बेमानी हो गयी । अब आदमी उस भाषा के पार चला गया, भाषा बदलनी पड़ेगी । तो मैं कहता हूँ: 'जिओग्राफिकल' नहीं, भौगोलिक नहीं, 'साइकोलॉजिकल' (मानसिक) स्थितियां हैं स्वर्ग और नर्क । और ऐसा भी नहीं है कि आप मर कर स्वर्ग चले जायेंगे और नर्क चले जायेंगे । आप चौबीस घण्टे में कई बार स्वर्ग और नर्क में यात्रा करते रहते हैं । ऐसा नहीं है कि इकट्ठा एक दफा 'व्होलसेल' हो, बिलकुल फुटकर है मामला । चौबीस घण्टे का काम है ।

जब आप क्रोध में होते हैं तो फौरन नर्क में होते हैं । जब आप प्रेम में होते हैं तो आप स्वर्ग में उठ जाते हैं । पूरे वक्त आपका मन नीचे ऊपर हो रहा है । पूरे वक्त आप सीढ़ियां उतर रहे हैं अंधेरे की, और आलोक की । ऐसा कोई इकट्ठा नहीं है, लेकिन जो आदमी जिन्दगी भर नर्क में ही गुजारता हो, उसकी आगे की यात्रा भी अंधेरे की तरफ ही हो रही है ।

यह अर्जुन बेचारा सारी दुनिया को बचाने के लिए, प्रेतआत्माएं स्वर्ग जायें इसके लिए, उनके बेटे पिण्डदान करें इसलिए, कोई विधवा न हो जाए इसलिए, वर्णसंकरता न फैल जाय, विनाश न हो जाय इसलिए, इतने बड़े उपद्रव के लिए, (यह आदमी) सिर्फ भागना चाहता है । इतनी छोटी सी बात कि कृष्ण आज्ञा दे दें, लेकिन इसमें भी वह 'सेंक्शन' (स्वीकृति) मांग रहा है । इसमें भी वह चाह रहा है कि कृष्ण कह दें कि अर्जुन, तू बिलकुल ठीक कहता है । ताकि कल जिम्मेवारी उसकी अपनी न रह जाय । तब कल कह सके कि कृष्ण ! तुमने ही मुझसे कहा था, इसलिए मैं गया था ।

असल में इतनी भी हिम्मत नहीं है अर्जुन की कि वह 'रिसपांसिबिलिटी' अपने ऊपर ले ले, और कह दे कि मैं जाता हूँ । क्योंकि तब उससे उसका दूसरा मन कहता है कि यह तो कायरता होगी । यह तो उसके खून में नहीं है । इसलिए भागना उसके वश की बात नहीं है । क्षत्रिय है, पीठ दिखाना उसकी हिम्मत के बाहर है । मर जाना बेहतर है, पीठ दिखाना बेहतर नहीं है । यह भी उसके भीतर बैठा है । इसलिए वह कहता है कि कृष्ण अगर साक्षी दे दें, और कह दें कि ठीक है, तू उचित कहता है अर्जुन । यदि कृष्ण की जगह और कोई साधारण धातु का बना हुआ पण्डित-पुरोहित

होता, तो कह देता कि बिलकुल ठीक कहता है अर्जुन, शास्त्र में ऐसा ही तो लिखा है । तो अर्जुन भाग गया होता । वह भागने का रास्ता खोज रहा है । लेकिन उसे पता नहीं कि जिससे वह बात कर रहा है, उस आदमी को धोखा देना मुश्किल है । वह अर्जुन को गहरे देख पा रहा है, वह जानता है कि वह क्षत्रिय है और क्षत्रिय होना ही उसकी नियति है । वही उसकी 'डेस्टिनि' है । वह यह सब बातें कर रहा है, ब्राह्मणों जैसी । ब्राह्मण वह है नहीं । बातें ब्राह्मणों जैसी कर रहा है । दलीलें वह ब्राह्मणों की दे रहा है । है वह ब्राह्मण नहीं, है वह क्षत्रिय । तलवार के अतिरिक्त वह कुछ नहीं जानता । एक ही शास्त्र है उसका । असल में **अर्जुन जैसा क्षत्रिय दुनिया में खोजना मुश्किल है ।**

मेरे एक मित्र जापान से आये तो किसी ने उन्हें एक मूर्ति भेंट कर दी । उस मूर्ति के एक हाथ में तलवार है और तलवार की चमक है चेहरे पर । और दूसरे हाथ में एक दिया है और दिये की ज्योति की चमक है चेहरे के दूसरे हिस्से पर ! जिस तरफ दिया है उस तरफ से मूर्ति को देखें तो लगता है कि यह चेहरा बुद्ध का है । और जिस तरफ तलवार है उस तरफ से देखें तो लगता है चेहरा अर्जुन का है । तो वह मुझसे पूछने लगे कि यह क्या मामला है ? तो मैंने कहा, बुद्ध के मुकाबले, **बुद्ध से ज्यादा बड़ा और शुद्ध ब्राह्मण खोजना मुश्किल है । और अर्जुन से बड़ा क्षत्रिय भी खोजना मुश्किल है ।** और यह जो मूर्ति है जापान में समुराई सैनिक की मूर्ति है। **समुराई के लिए नियम है कि उसके पास बुद्ध जैसी शांति और अर्जुन जैसी क्षमता चाहिए,** तभी वह सैनिक है । **लड़ने की हिम्मत अर्जुन जैसी और लड़ते समय शांति बुद्ध जैसी ।** बड़ी 'इम्पॉसिबल' की मांग है, बड़े असंभव की मांग है ।

अर्जुन के पास बुद्ध जैसा कुछ भी नहीं है । उसकी शांति सिर्फ बचाव है। उसकी शांति की बातें सिर्फ पलायनवादिता है । वह शांति की बातें करके भी पछतायेगा । कल अर्जुन फिर कृष्ण को पकड़ लेगा कि तुमने क्यों मुझे सहारा दिया, बदनामी हो गयी । कुल की प्रतिष्ठा चली गयी, वह फिर पच्चीस दलीलें ले आयेगा । जैसे अभी पच्चीस दलीलें लाया है भागने के पक्ष में । कल पच्चीस दलीलें लायेगा और कृष्ण से कहेगा कि तुम ही जिम्मेवार हो, तुमने ही मुझे उलझा दिया और भगा दिया । अब सब बदनामी हो गयी । अब कौन जिम्मा ले ? इसलिए कृष्ण उसे इतने सस्ते में छोड़ नहीं सकते । इतने सस्ते में छोड़ने की बात भी नहीं है । वह आदमी दोहरे दिमाग (मन) वाला है । उसे एक मन पर लाना एकदम आवश्यक है । फिर वह एक मन से जो भी करे, कृष्ण से उसकी सहमति हो सकती है ।

पाँचवाँ प्रवचन

प्रथम गीता ज्ञान-यज्ञ, अहमदाबाद, प्रातः, दिनांक १ दिसम्बर, १९७०

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

अहो! शोक है कि हम लोग (बुद्धिमान होकर भी) महान् पाप करने को तैयार हुए हैं, जो कि राज्य और सुख के लोभ से अपने कुल को मारने के लिए उद्यत हुए हैं।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

यदि मुझ शस्त्ररहित, न सामना करने वाले को, शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मारें, तो वह मरना भी मेरे लिए अतिकल्याणकारक होगा।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

संजय बोले कि रणभूमि में शोक से उद्विग्न मनवाला अर्जुन इस प्रकार कहकर बाण सहित धनुष को त्यागकर रथ के पिछले भाग में बैठ गया ।

।। विषादयोग नामक पहला अध्याय समाप्त ।।

● ●

दूसरा अध्याय

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ।।१।।

संजय ने कहा, पूर्वोक्त प्रकार से दया से भरकर और आँसुओं से पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रोंवाले शोकयुक्त उस अर्जुन के प्रति भगवान् मधुसूदन ने यह वचन कहा:

श्री भगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।२।।

हे अर्जुन, तुमको इस विषम स्थल में यह अज्ञान किस हेतु से प्राप्त हुआ, क्योंकि यह न तो श्रेष्ठ पुरुषों से आचरण किया गया है, न स्वर्ग को देनेवाला है, न कीर्ति को करने वाला है ।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।।३।।

इसलिए हे अर्जुन, नपुंसकता को मत प्राप्त हो । यह तेरे लिए योग्य नहीं है । हे परन्तप, तुच्छ हृदय की दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिए खड़ा हो ।

भगवान् श्री : संजय ने अर्जुन के लिए 'दया से भरा हुआ, दया के आँसू आँख में लिए हुए', ऐसा कहा है । दया को थोड़ा समझ लेना जरूरी है । संजय ने नहीं कहा, करुणा से भरा हुआ, कहा है, दया से भरा हुआ । साधारणतः शब्दकोश में दया और करुणा पर्यायवाची दिखायी पड़ते हैं । साधारणतः हम भी उन दोनों शब्दों का एक-सा प्रयोग करते हुए दिखायी पड़ते हैं । उससे बड़ी भ्रांति पैदा होती है । **दया का अर्थ है परिस्थितिजन्य और करुणा का अर्थ है मनःस्थितिजन्य** । उनमें बुनियादी फर्क है ।

करुणावान् का अर्थ है, जिसके हृदय में करुणा है । बाहर की परिस्थिति से उसका कोई संबंध नहीं है । करुणावान् व्यक्ति अकेले में बैठा हो तो भी उसके हृदय से करुणा बहती रहेगी । जैसे निर्जन में फूल खिला हो, तो भी सुगंध उड़ती रहेगी । राह पर निकलने वाले से कोई संबंध नहीं है । राह से कोई निकलता है या नहीं निकलता है, फूल की सुगंध को इससे कुछ लेना-देना नहीं है । नहीं कोई निकलता, तो निर्जन पर भी फूल की सुगंध उड़ती है । कोई निकलता है तो उसे सुगंध मिल जाती है, यह दूसरी बात है । फूल उसके लिए सुगंधित नहीं होता है । **व्यक्ति की अन्तस्-चेतना करुणा का श्रोत है । वहाँ सुगंध की भांति करुणा उठती है** । इसलिए बुद्ध को या महावीर को दयावान् कहना गलत है, वे करुणावान् हैं, महाकारुणिक हैं ।

अर्जुन को संजय कहता है, 'दया से भरा हुआ' । दया सिर्फ उनमें पैदा होती है, जिनमें करुणा नहीं होती । दया सिर्फ उनमें पैदा होती है, जिनके भीतर हृदय में करुणा नहीं होती । **दया परिस्थिति के दबाव से पैदा होती है । करुणा हृदय के विकास से पैदा होती है** । राह पर एक भिखारी को देखकर जो आपके भीतर पैदा होता है, वह दया है । वह करुणा नहीं है ।

और तब एक बात और समझ लेनी चाहिए कि **दया अहंकार को भरती है और करुणा अहंकार को विगलित करती है** । करुणा सिर्फ उनमें ही पैदा होती है, जिनमें अहंकार न हो । दया भी अहंकार को ही परिपुष्ट करने का माध्यम है । अच्छा माध्यम है, सज्जनों का माध्यम है । लेकिन माध्यम अहंकार को ही पुष्ट करने का है ।

जब आप किसी को दान देते हैं, तब आपके भीतर जो रस उपलब्ध होता है'—देने वाले का, देने वाले की स्थिति में होने का, भिखारी को देखकर जो दया पैदा होती है—उस क्षण में, अगर भीतर खोजेंगे तो अहंकार का स्वर भी बजता होता है। करुणावान् चाहेगा कि पृथ्वी पर कोई भिखारी न रहे; दयावान् चाहेगा, भिखारी रहे। अन्यथा दयावान् को बड़ी कठिनाई होगी। दया पर खड़े हुए समाज भिखारी को नष्ट नहीं करते, पोषित करते हैं। करुणा पर कोई समाज खड़ा होगा, तो भिखारी को बरदाश्त नहीं कर सकेगा। वह कहेगा कि कोई भी भिखारी न बन पाये।

अर्जुन के मन में जो हुआ है, वह दया है। करुणा होती तो क्रांति हो जाती। इसे इसलिए ठीक से समझ लेना जरूरी है कि कृष्ण जो उत्तर दे रहे हैं, वह ध्यान में रखने योग्य है। तत्काल कृष्ण उससे जो कह रहे हैं वह सिर्फ उसके अहंकार की बात कह रहे हैं। कृष्ण उससे कह रहे हैं, यह बात तो अनार्यों के योग्य है। यह दूसरा वाक्य बताता है कि कृष्ण ने पकड़ी है बात।

अहंकार का स्वर बज रहा है—अर्जुन के इस कथन में। वह कह रहा है: मुझे दया आती है। ऐसा कृत्य मैं कैसे कर सकता हूँ?' कृत्य बुरा है, ऐसा नहीं—'ऐसा कृत्य मैं कैसे कर सकता हूँ। इतना बुरा मैं कहाँ हूँ!' कृष्ण से वह कहता है, 'इससे तो उचित होगा की वे सब धृतराष्ट्र के पुत्र मुझे मार डालें, वह ठीक होगा। बजाय इसके कि इतने कुकृत्य को करने के लिए मैं तत्पर होऊँ।

अहंकार अपने स्वयं की बलि भी दे सकता है। अहंकार जो आखिरी कृत्य कर सकता है, वह शहीदगी है, वह 'मार्टर' (शहीद) भी हो सकता है।

अक्सर अहंकार शहीद होता है, लेकिन शहीद होने से और मजबूत होता है। अर्जुन कह रहा है, 'इससे तो बेहतर है कि मैं मर जाऊँ। मैं, 'अर्जुन' ऐसी स्थिति में कुकृत्य नहीं कर सकूँगा। दया आती है मुझे, यह सब क्या करने को लोग इकट्ठे हुए हैं! आश्चर्य होता है मुझे।' उसकी बात से ऐसा लगता है कि इस युद्ध के बनने में वह—जैसे बिलकुल साथी-सहयोगी नहीं है। उसने 'कोआपरेट' नहीं किया है। यह युद्ध जैसे आकस्मिक उसके सामने खड़ा हो गया है। उसे जैसे इसका कुछ पता ही नहीं है। यह जो परिस्थिति बनी है, इसमें वह जैसे 'पार्टिसिपेंट', भागीदार नहीं है। इस तरह दूर खड़े होकर बात कर रहा है, कि 'दया आती है मुझे'। आँख में आँसू भर गये हैं उसके।

'नहीं, ऐसा मैं नहीं कर सकूंगा, इससे तो बेहतर है कि मैं ही मर जाऊँ, वही श्रेयस्कर है...।' इस स्वर को कृष्ण ने पकड़ा है।

इसीलिए मैंने कहा कि कृष्ण इस पृथ्वी पर पहले मनोवैज्ञानिक हैं। क्योंकि यह दूसरा सूत्र कृष्ण का, सिर्फ अर्जुन के अहंकार को और बढ़ावा देनेवाला सूत्र है।

दूसरे सूत्र में कहते हैं, 'कैसे अनार्यों जैसी तू बात करता है?' आर्य का अर्थ है श्रेष्ठ जन, अनार्य का अर्थ है निकृष्ट जन। आर्य का अर्थ है अहंकारी जन, अनार्य का अर्थ है दीन-हीन। 'तू कैसी अनार्यों जैसी बात करता है...।' अब सोचने जैसी बात है कि क्या दया की बात अनार्यों जैसी बात है? आँख में दया से भरे हुए आँसू अनार्यों जैसी बात है! कृष्ण कहते हैं, 'इस पृथ्वी पर अपयश का कारण बनेगा, और परलोक में भी अकल्याणकारी है दया।'

शायद ही कभी आपको ख्याल आया हो कि संजय कहता है, 'दया से भरा अर्जुन, आँखों में आँसू लिए' और कृष्ण जो कहते हैं, उसमें तालमेल दिखायी नहीं पड़ता। क्योंकि दया को हमने कभी ठीक से नहीं समझा कि दया भी अहंकार का पोषण है। दया भी अहंकार का कृत्य है। वह भी 'इगो ऐक्ट' है अच्छे आदमी का। क्रूरता बुरे आदमी का 'इगो-एक्ट' है। ध्यान रहे, अहंकार अच्छाइयों से भी अपने को भरता है, बुराइयों से भी अपने को भरता है। और अक्सर तो ऐसा होता है कि जब अच्छाइयों से अहंकार को भरने की सुविधा नहीं मिलती, तभी वह बुराइयों से अपने को भरता है।

जिन्हें हम सज्जन कहते हैं और जिन्हें हम दुर्जन कहते हैं, उनमें बहुत मौलिक भेद नहीं होता है, 'ओरिजनल' भेद नहीं होता है। सज्जन और दुर्जन, एक ही अहंकार की धुरी पर खड़े होते हैं। फर्क इतना ही होता है कि दुर्जन अपने अहंकार को भरने के लिए दूसरों को चोट पहुँचा सकता है। सज्जन अपने अहंकार को भरने के लिए स्वयं को चोट पहुँचा सकता है। चोट पहुँचाने में फर्क नहीं होता।

अर्जुन कह रहा है, 'इनको मैं मारूँ, इससे तो बेहतर है कि मैं स्वयं ही मर जाऊँ।' दुर्जन, अगर हम मनोवैज्ञानिक की भाषा में बोलें तो 'सेडिस्ट' होता है और सज्जन जब अहंकार को भरता है, तो 'मेसोचिस्ट' होता है। 'मेसोच' एक आदमी हुआ है, जो अपने को ही मारता था। सभी, स्वयं को पीड़ा देने वाले लोग जल्दी सज्जन हो सकते हैं। अगर मैं आपको भूखा मारूँ

तो दुर्जन हो जाऊँगा। कानून, अदालत मुझे पकड़ेगी। लेकिन मैं खुद ही अनशन करूँ, तो कोई कानून, कोई अदालत मुझे पकड़ेगी नहीं। आप ही मेरा जलूस निकालेंगे। लेकिन दूसरे को भूखा मारना अगर बुरा है, तो स्वयं को भूखा मारना कैसे ठीक हो जायेगा ? सिर्फ इसलिए कि यह शरीर मेरे जिम्मे पड़ गया है और वह शरीर आपके जिम्मे पड़ गया है! मैं आपके शरीर को अगर कोड़े मारूँ और आपको अगर नंगा खड़ा करूँ और काँटों पर लिटा दूँ, तो अपराध हो जायेगा। यदि खुद नंगा हो जाऊँ और कांटों पर लेट जाऊँ, तो तपश्चर्या हो जायेगी ? सिर्फ रुख बदलने मात्र से—यदि तीर उस तरफ से हटकर इस तरफ आ जाय तो धर्म हो जायेगा ?

अर्जुन कह रहा है, 'इन्हें मारने के वजाय तो मैं मर जाऊँ।' वह बात वही कह रहा है। मरने-मारने की ही कह रहा है। उसमें कोई बहुत फर्क नहीं है। हाँ, तीर का रुख बदल रहा है। और ध्यान रहे, दूसरे को मारने से कभी इतने अहंकार की तृप्ति नहीं होती, जितना स्वयं को मारने में होती है। क्योंकि दूसरा मरते वक्त भी मुंह पर थूक कर मर सकता है। खुद आदमी जब अपने को मारता है, तो बिलकुल निहत्था, बिना उत्तर के मारता है। दूसरे को मारना कभी पूरा नहीं होता। दूसरा मर कर भी बच जाता है। उसकी आँखें कहती हैं कि मार तो डाला जा रहा है, लेकिन हार नहीं गया वह ! लेकिन खुद को मारते वक्त तो कोई उपाय ही नहीं। हराने का मजा पूरा आ जाता है।

अर्जुन दया की बात करता हो और कृष्ण उससे कहते हैं कि अर्जुन, तेरे योग्य नहीं हैं ऐसी बातें, इससे अपयश फैलेगा—तो वे सिर्फ उसके अहकार को फुसला रहे हैं, 'परसुएड' कर रहे हैं।

दूसरा सूत्र, कृष्ण का, बताता है कि पकड़ी है उन्होंने नस। वे ठीक जगह छू रहे हैं उसे। क्योंकि उसे यह समझाना है कि दया ठीक नहीं व्यर्थ है। उसे यह भी समझाना कि दया और करुणा में फासला है, अभी व्यर्थ है। अभी तो उसका रोग अहंकार है। अभी उसका अहंकार 'सेडिज्म' से 'मेसांचिज्म' की तरफ जा रहा है। अभी वह दूसरे को दुख देने की जगह, अपने को दुख देने के लिए तत्पर हो रहा है।

इस स्थिति में कृष्ण दूसरे सूत्र में उसे कहते हैं, 'तू क्या कह रहा है ! आर्य होकर, सभ्य, सुसंस्कृत होकर, कुलीन होकर, कैसी अकुलीनों जैसी बात

कर रहा है। भागने की बात कर रहा है युद्ध से ? कायरता तेरे मन को पकड़ती है?' वे चोट कर रहे हैं उसके अहंकार को।

बहुत बार गीता को पढ़ने वाले लोग ऐसी बारीक और नाजुक जगहों पर बुनियादी भूल कर जाते हैं। क्या कृष्ण यह कह रहे हैं कि अहंकारी हो ? नहीं, कृष्ण सिर्फ यह देख रहे हैं कि जो दया उठ रही है, वह अगर अहंकार से उठ रही है, तो अहंकार को फुलाने से तत्काल विदा हो जायेगी।

कृष्ण कहते हैं, 'कातरता की बातें कर रहा है, कायरता की बातें कर रहा है?' सख्त-से-सख्त शब्दों का वे उपयोग करेंगे। यहाँ अर्जुन से वे जो कह रहे हैं पूरे वक्त—उसमें क्या प्रतिक्रिया पैदा होती है—उसके लिए कह रहे हैं। मनोविश्लेषण शुरू होता है। कृष्ण अर्जुन को 'साईकोएनालसिस' में ले जाते हैं। लेट गया अर्जुन कोच पर अब कृष्ण की। अब वे जो पूछ रहे हैं उससे, उसको जगाकर पूरा देखना चाहेंगे कि वह है कहां, कितने गहरे पानी में है ? अब आगे से कृष्ण यहां 'साइकोएनालिस्ट', मनोविश्लेषक हैं। और अर्जुन सिर्फ 'पेशेंट', सिर्फ बिमार है। और उसे सब तरफ से उकसाकर देखना और जगाना जरूरी है। पहली चोट वे उसके अहंकार पर करते हैं।

स्वभावतः मनुष्य की गहरी-से-गहरी और पहली बिमारी अहंकार है। और **जहाँ अहंकार है, वहां दया झूठी है**। और जहां अहंकार है, **वहां अहिंसा झूठी है**। और जहां अहंकार है, वहां शांति झूठी है। और जहां अहंकार है, **वहां कल्याण और मंगल** और लोक-हित की बातें झूठी हैं। क्योंकि जहां अहंकार है, वहाँ ये सारी-की-सारी चीजें सिर्फ अहंकार के आभूषण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
ईषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

तब अर्जुन बोला, हे मधुसूदन, मैं रणभूमि में भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य के प्रति किस प्रकार बाणों को करके युद्ध करूँगा, क्योंकि हे अरिसूदन, वे दोनों ही पूज्यनीय हैं।

भगवान् श्री : लेकिन अर्जुन नहीं पकड़ पाता। वह फिर वही दोहराता

है दूसरे कोण से। वह कहता है, 'मैं द्रोण और भीष्म से कैसे युद्ध करूँगा, वे मेरे पूज्य हैं।' बात फिर भी वह विनम्रता की ही बोलता है। लेकिन अहंकार अक्सर विनम्रता की भाषा बोलता है। और अक्सर विनम्र लोगों में सबसे गहन अहंकारी पाये जाते हैं। असल में विनम्रता 'डिफेंसिव इगो' है, वह सुरक्षा करता हुआ अहंकार है।

आक्रामक अहंकार मुश्किल में पड़ सकता है। विनम्र अहंकार पहले से ही सुरक्षित है, वह 'इन्श्योर्ड' है। इसलिए जब कोई कहता है, 'मैं तो कुछ भी नहीं हूँ, आपके चरणों की धूल हूँ', तब जरा उसकी आंखों में देखना। तब उसकी आंखें कुछ और ही कहती हुई मालूम पड़ेंगी। उसके शब्द कुछ और कहते मालूम पड़ेंगे।

कृष्ण अर्जुन के रोग पर हाथ रखते हैं, लेकिन अर्जुन नहीं समझ पा रहा है। वह दूसरे कोने से फिर बात शुरू करता है। वह कहता है--'द्रोण पर, जो मेरे गुरु हैं, भीष्म पर, जो मेरे परम आदरणीय हैं, पूज्य हैं--उन पर मैं कैसे आक्रमण करूँगा?'

यहां ध्यान में रखने जैसी बात है। यहां भीष्म और द्रोण गौण हैं। अर्जुन कह रहा है, 'मैं कैसे आक्रमण करूँगा? इतना बुरा मैं नहीं कि द्रोण पर बाण खींचूं? कि भीष्म की छाती छेदूं? नहीं, यह मुझसे नहीं हो सकेगा।' यहाँ वह कह तो यही रहा है कि वे पूज्य हैं, यह मैं कैसे करूंगा? लेकिन गहरे खोजें और देखें तो पता चलेगा, वह यह कह रहा है कि 'यह मेरी जो 'इमेज' है, मेरी जो प्रतिमा है, मेरी ही आँखों में जो मैं हूँ, उसके लिए यह असंभव है। इससे तो बेहतर है मधुसूदन, कि मैं ही मर जाऊँ। इससे तो अच्छा है कि प्रतिमा बचे, शरीर खो जाय। अहंकार बचे, मैं खो जाऊँ। वह जो 'इमेज' है मेरा, वह जो 'सेल्फ इमेज' है, वह सुरक्षित रहे।'

हर आदमी की अपनी-अपनी एक प्रतिमा है। जब आप किसी पर क्रोध कर लेते हैं और बाद में पछताते हैं और क्षमा मांगते हैं, तो इस भ्रांति में मत पड़ना कि आप क्षमा मांग रहे हैं और पछता रहे हैं। असल में आप अपने 'सेल्फ इमेज' को वापस निर्मित कर रहे हैं। आप जब किसी पर क्रोध करते हैं, तो आपने निरंतर अपने को अच्छा आदमी समझा है, प्रतिमा आप अपने ही हाथ से खण्डित कर लेते हैं। क्रोध के बाद पता चलता है कि जो अच्छा आदमी अपने को मैं अब तक समझता था, वह क्या मैं नहीं हूँ? अहंकार कहता है, नहीं,

आदमी तो मैं अच्छा ही हूँ। यह क्रोध जो हो गया है, यह बीच में आ गयी, भूल-चूक है। 'इन्सपाइट ऑफ मी', मेरे बावजूद यह हो गया है। यह कोई मैंने नहीं किया, हो गया, परिस्थितिजन्य है। पछताते हैं, क्षमा मांग लेते हैं।

सच में ही क्रोध के लिए ही यदि हम पछताये हैं, तो फिर दुबारा क्रोध जीवन में नहीं आना चाहिए। नहीं, लेकिन कल फिर क्रोध आता है। नहीं, क्रोध से कोई अड़चन नहीं आती थी। अड़चन हुई थी किसी और बात से। यह कभी भी सोचा ही नहीं था कि मैं, और क्रोध कर सकता हूँ? जब पछता लेते हैं तो आपकी अच्छी प्रतिमा आपका अहंकार फिर सिंहासन पर विराजमान हो जाता है। वह कहता है: 'देखो, माफी मांग ली, क्षमा मांग ली। विनम्र आदमी हूँ। समय ने, परिस्थिति ने, अवसर ने 'मूड' खराब कर दिया था। भूखा था, दफ्तर से नाराज लौटा था, असफल था, कुछ काम में गड़बड़ हो गयी थी, परिस्थितिजन्य था क्रोध। मेरे भीतर से नहीं आया था। मैंने तो क्षमा मांग ली है। जैसे ही होश आया, वैसे ही मैं लौटा और मैंने क्षमा मांग ली है।' आप अपनी प्रतिमा को फिर सजा-सवांर कर, गहने-आभूषण पहना कर फिर सिंहासन पर विराजमान कर देते हैं। क्रोध के पहले भी यह प्रतिमा सिंहासन पर बैठी थी, क्रोध में नीचे लुढ़क गयी, फिर बिठा दिया। अब आप फिर पूर्ववत् पुरानी जगह आ गये हैं। कल फिर क्रोध करेंगे। अभी तो पूर्ववत् अपनी जगह आ गये। क्रोध के पहले भी यहीं थे, क्रोध के बाद भी यहीं आ गये। पश्चात्ताप इस प्रतिमा की पुनर्स्थापना है।

ऐसा लगता है कि क्षमा माँगता आदमी बड़ा विनम्र है। परन्तु दिखावे सच नहीं हैं। सच बहुत गहरे हैं और अक्सर उल्टे हैं। वह आदमी आपसे क्षमा नहीं मांग रहा है। वह आदमी अपने ही सामने निंदित हो गया है। उस निंदा को झाड़-पोंछ रहा है, बुहार रहा है। वह फिर साफ-सुथरा, स्नान करके फिर खड़ा हो रहा है।

जो अर्जुन कह रहा है कि पूज्य हैं उस तरफ, उन्हें मैं कैसे मारूँ? 'एम्फेसिस' यहां उनके पूज्य होने पर नहीं है। 'एम्फेसिस' यहाँ अर्जुन के 'मैं' पर है कि कैसे मारूँ? लोक-लोकान्तर में लोग कहेंगे कि अपने ही गुरु पर आक्रमण किया, कि अपने ही पूज्यों को मारा, इससे तो बेहतर है मधुसूदन, कि मैं ही मर जाऊँ। लोग कहेंगे कि मर गया अर्जुन, लेकिन पूज्यों पर हाथ न उठाया। मर गया, मिट गया, लेकिन गुरु पर हाथ न उठाया। उसके

'मैं' को पकड़ लेने की जरूरत है। अभी उसकी पकड़ में नहीं है। किसी की पकड़ में नहीं होता है।

जिस का 'मैं' अपनी ही पकड़ में आ जाय, वह 'मैं' के बाहर हो जाता है। हम अपने 'मैं' को बचा-बचा कर जीते हैं। अर्जुन दूसरी-दूसरी बातें करता जायेगा। वह 'सब्स्टिट्यूट' खोजता चला जायेगा। कभी कहेगा यह, कभी कहेगा वह। सिर्फ उस बिन्दु को छोड़ता जायेगा, जो है। कृष्ण ने छूना चाहा था, वह उस बात को छोड़ गया है। अनार्य-आर्य की बात वह नहीं उठाता। कायरता की बात वह नहीं उठाता। लोक में यश, परलोक में भटकाव, उसकी बात वह नहीं उठाता; वह दूसरी बात उठाता है। जैसे कृष्ण को सुना ही नहीं। उसके वचन कह रहे हैं कि बीच में जो कृष्ण ने बोला है, अर्जुन ने नहीं सुना।

सभी बातें जो बोली जाती हैं, हम सुनते नहीं। हम वही सुन लेते हैं, जो हम सुनना चाहते हैं। जो दिखायी पड़ता है, वह हम देखते नहीं। हम वही देख लेते हैं, जो हम देखना चाहते हैं। जो होता है, वह पढ़ा नहीं जाता; हम वही पढ़ लेते हैं, जो हम पढ़ना चाहते हैं। हमारा देखना, पढ़ना, सुनना सब 'सिलेक्टिव' है। उसमें चुनाव है। हम पूरे वक्त वह छाँट रहे हैं, जो हम नहीं देखना चाहते।

एक नया मनोविज्ञान है 'गेस्टाल्ट'। अर्जुन ने जो उत्तर दिया वापस, वह 'गेस्टाल्ट' का अद्भुत प्रमाण है। 'गेस्टाल्ट' के मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि आकाश में बादल घिरे हों, तो हर आदमी उनमें अलग-अलग चीजें देखता है। डरा हुआ आदमी भूत-प्रेत देख लेता है, धार्मिक आदमी भगवान् की प्रतिमा देख लेता है, फिल्मी दिमाग का आदमी अभिनेता-अभिनेत्रियां देख लेता है। वहां एक ही बादल आकाश में है, पर अपना-अपना देखना हो जाता है।

प्रत्येक आदमी अपनी ही निर्मित दुनिया में जीता है। इसलिए इस पृथ्वी पर एक ही दुनिया है, ऐसी भ्रांति में मत रहना आप। इस दुनिया में जितने आदमी हैं, कम-से-कम उतनी दुनियाएँ हैं। अगर साढ़े तीन अरब आदमी हैं आज पृथ्वी पर, तो पृथ्वी पर साढ़े तीन अरब दुनियाएँ हैं। और एक आदमी पूरी जिन्दगी भी एक ही दुनिया में रहता हो, ऐसा मत सोच लेना। उसकी दुनिया भी रोज बदलती चली जाती है।

पर्ल बक ने एक किताब अपनी आत्मकथा की लिखी है, तो नाम दिया है, 'माई सेव्हरल वर्ल्डस'—'मेरे अनेक संसार'। अब एक आदमी के अनेक संसार

कैसे होंगे? वह रोज बदल रहा है। और प्रत्येक व्यक्ति अपनी दुनिया के आसपास बड़े दरवाजे, संतरी, पहरेदार खड़े रखता है। और वह कहता है कि इन-इन को भीतर आने देना, इन-इन को बाहर से कह देना कि घर पर नहीं है।

अर्जुन ने बिलकुल नहीं सुना है। कृष्ण ने जो कहा, वह बिलकुल नहीं सुना है। वह जो उत्तर देता है, वह बताता है कि वह 'इर्रेलेवेंट' है, उसकी कोई संगति नहीं है। हम भी नहीं सुनते।

दो आदमी बात करते हैं, अगर आप चुपचाप साक्षी बनकर खड़े हो जायें तो बड़े हैरान होंगे, लेकिन साक्षी बनकर खड़ा होना मुश्किल है। क्योंकि पता नहीं चलेगा और आप भी तीसरे आदमी, भागीदार हो जायेंगे बात चीत में। अगर आप साक्षी होकर दो आदमियों की बातें सुनें तो बहुत हैरान होंगे कि ये एक दूसरे से बातें कर रहे हैं या अपने आप से बातें कर रहे हैं! एक आदमी जो कहता है, उससे दूसरे का कोई भी संबंध नहीं है।

जुंग ने एक संस्मरण लिखा है कि दो पागल प्रोफेसर्स उसके पागलखाने में भर्ती हुए इलाज के लिए। वैसे भी प्रोफेसरों के पागल होने कि संभावना ज्यादा है। या यह भी हो सकता है कि पागल आदमी प्रोफेसर होने को उत्सुक रहते हैं। वे दोनों पागल हो गये हैं और साधारण पागल नहीं हैं। साधारण पागल डर जाता है, भयभीत हो जाता है। प्रोफेसर पागल हैं। पागल होकर वे और भी बुद्धिमान हो गये हैं। जब तक जागे रहते हैं, तब तक घनघोर चर्चा चलती रहती है। जुगं खिड़की से छिपकर सुनता है कि उनमें क्या बातें होती हैं।

बातें बड़ी अद्भुत होती हैं। बड़ी गहराई की होती हैं। दोनों 'वेल इन्फॉर्म्ड' हैं; उन दोनों ने बहुत पढ़ा-लिखा, सुना-समझा है। कम उनकी जानकारी नहीं है, शायद वही उनके पागलपन का करण है। **जानकारी ज्यादा हो और ज्ञान कम हो, तो भी आदमी पागल हो सकता है।** और ज्ञान तो होता नहीं, जानकारी ही ज्यादा हो जाती है, फिर वह बोझ हो जाती है।

चकित है जुंग, उनकी जानकारी देखकर। वे जिन विषयों पर चर्चा करते हैं, बड़े गहरे और नाजुक हैं। लेकिन जुंग इससे भी ज्यादा चकित दूसरी बात पर है, और वह यह कि जो एक बोलता है, उसका दूसरे से कोई संबंध ही नहीं होता।

लेकिन यह तो पागल के लिए बिलकुल स्वाभाविक है। इससे भी ज्यादा चकित इस बात पर है जुंग, कि जब तक एक बोलता है, तो दूसरा चुप रहता

है। और ऐसा लगता है कि सुन रहा है। और जैसे ही वह बन्द करता है कि दूसरा जो बोलता है, उसे सुनकर लगता है कि उसने बिलकुल नहीं सुना। क्योंकि अगर एक आकाश की बात कर रहा था, तो दूसरा पाताल की शुरु करता है। उसमें कोइ संबंध ही नहीं होता। तब वह अन्दर गया और उसने जाकर पूछा कि और सब तो मेरी समझ में आ गया। आप गहरी बातें कर रहे हैं, वह समझ में आ गया। समझ में यह नहीं आ रहा है कि जब एक बोलता है, तो दूसरा चुप क्यों हो जाता है!

तो वे दोनों हँसने लगे और उन्होंने कहा 'क्या तुम हमें पागल समझते हो?' इस दुनिया में पागल भी कभी अपने को पागल नहीं समझते। और जो आदमी अपने को पागल समझता हो, समझना चाहिए कि वह पागल होने के ऊपर उठने लगा। 'क्या तुम हमें पागल समझते हो!' उन दोनों ने कहा। नहीं, जुंग ने कहा, ऐसी भूल मैं कैसे कर सकता हूँ। पागल बिलकुल आपको नहीं समझता हूँ। पर यही मैं पूछ रहा हूं कि जब एक बोलता है, तब दूसरा चुप क्यों रह जाता है! उन्होंने कहा, 'क्या तुम समझते हो हमें 'कन्व्हर्सेशन' का नियम भी मालूम नहीं, बातचीत करने की व्यवस्था भी मालूम नहीं? हमें मालूम है कि जब एक बोले तो दूसरे को चुप रहना चाहिए।' तो जुंग ने कहा कि 'तुम्हें यह मालूम है, तो मैं इतना और पूछना चाहता हूँ कि जो एक बोलता है, उससे दूसरे के बोलने का कभी कोई संबंध क्यों नहीं होता? दोनों फिर हँसने लगे। उन्होंने कहा, 'खैर, हम तो पागल समझे जाते हैं, लेकिन इस जमीन पर जहाँ भी लोग बोलते हैं, तो उनकी बातों में कोई संबंध होता है?' जुंग घबड़ा कर वापस लौट आया। उसने अपने संस्मरण में लिखा है कि उस दिन से मैं भी सोचता हूँ, जब किसी से बात करता हूँ तो क्या संबंध है?

थोड़ा संबंध हम बना लेते हैं। जब आपसे मैं बात कर रहा हूँ, तो अगर हम पागल नहीं हैं--जिसकी कि संभावना बहुत कम है—तो जब आप बोल रहे हैं, तो मैं अपने भीतर बोले चला जाता हूँ। जैसे ही आप चुप हो जाते हैं, मैं बोलना शुरू करता हूँ। मैं जो बोलना शुरू करता हूँ, उसका संबंध मेरे भीतर जो 'मैं' बोल रहा था, उससे होता है। आपसे नहीं होता। हां, इतना संबंध हो सकता है, जैसा खूंटी और कोट का होता है, कि आपकी बात में से कोई एक बात पकड़ लूं और मेरे भीतर जो चल रहा था, उसे उस पर टांग दूं। बस, इतना ही संबंध होता है।

अर्जुन और कृष्ण की चर्चा में यह मौका बार-बार आयेगा, इसलिए इसे

मैंने ठीक से कह देना चाहा। अर्जुन ने बिलकुल नहीं सुना कि कृष्ण ने क्या कहा; नहीं कहा होता तो भी ऐसी ही स्थिति होती। वह अपने भीतर की ही सुने चला जा रहा है। वह कह रहा है, 'यह पूज्य है, यह द्रोण है, यह भीष्म है...।' वह यह सोच रहा होगा भीतर। इधर कृष्ण क्या बोल रहे हैं? वे जो बोल रहे हैं, वह सब परिधि के बाहर हो रहा है। उसके भीतर जो चल रहा है, वह चल ही रहा है। वह कृष्ण से कहता है कि 'मधुसूदन, ये पूज्य हैं, ये प्रिय हैं; इन्हें मैं कैसे मार सकता हूँ? इसे ध्यान रखना। उसने कृष्ण की बात नहीं सुनी।

● **प्रश्नकर्ता:** भगवान् श्री, आप भी कभी प्रोफेसर थे, फिर आपने प्रोफेसरों को पागल कैसे कहा? दूसरी एक बात, आपने अभी अहंकार के संबंध में हमें समझाया। एक प्रशन उठता है कि मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि 'इगो-फुलफिलमेंट' (अहंकार तृप्ति) के बिना व्यक्तित्व का विकास नहीं होता, लेकिन आप अहंशून्यता की बात करते हैं, 'इगो' को 'एनिहिलेट' करने की बात करते हैं। ऐसा क्यों है?

भगवान्श्री: एक तो मैंने कहा कि प्रोफेसर के पागल होने की संभावना ज्यादा होती है। पागल हो ही जाता है, ऐसा नहीं कहा। और दूसरा यह भी नहीं कहा है कि सभी प्रोफेसर पागल होते हैं। संभावना ज्यादा होती है। असल में जहाँ भी तथाकथित ज्ञान का भार ज्यादा हो, 'बर्डन' हो, वहीं चित्त विक्षिप्त हो सकता है। ज्ञान तो चित्त को मुक्त करता है, परन्तु ज्ञान का भार विक्षिप्त करता है। ज्ञान जो मुक्त करता है—वह स्वयं से आता है। और ज्ञान जो विक्षिप्त कर देता है—वह स्वयं से कभी नहीं आता, वह सदा 'पर' से आता है।

दूसरी बात पूछी है कि मनोवैज्ञानिक तो अहंकार को विकसित करने की बात करते हैं। मैं तो अहंकार को शून्य करने की बात करता हूँ। मनोवैज्ञानिक निश्चित ही अहंकार को विकसित करने की बात करेंगे। सभी मनोवैज्ञानिक नहीं; बुद्ध नहीं करेंगे, कृष्ण नहीं करेंगे, महावीर नहीं करेंगे। फ्रायड करेगा, अरिक्सन करेगा। उसका कारण है। क्योंकि **फ्रायड या अरिक्सन के लिए अहंकार से उपर और कोई सत्य नहीं है**। तो जो आखिरी सत्य है, उसको विकसित किया जाना चाहिए। महावीर, बुद्ध या कृष्ण के लिए अहंकार आखिरी सत्य नहीं है, केवल बीच की सीढ़ी है। निरहंकार आखिरी सत्य है।

अहंकार नहीं, **ब्रह्म आखिरी सत्य है।** अहंकार सिर्फ सीढ़ी है।

इसीलिए बुद्ध या महावीर या कृष्ण कहेंगे, अहंकार को विकसित भी करो और विसर्जित भी करो। सीढ़ी पर चढ़ो भी और सीढ़ी को छोड़ो भी। आओ भी उस पर और जाओ भी उस पर से। उठो भी उस पर, पार भी जाओ। क्योंकि मन के पार ही सत्ता है। इसलिए मन का जो आखिरी सत्य है—अहंकार, वह पार की सत्ता के लिए छोड़ने का पहला कदम होगा। अगर मैं अपने घर से आपके घर में आना चाहूँ, तो मेरे घर की आखिरी दीवाल छोड़ना ही आपके घर में प्रवेश का पहला कदम होगा। मन की आखिरी सीमा, अहंकार है। अहंकार से ऊपर मन नहीं जा सकता।

पश्चिम का मनोविज्ञान मन को आखिरी सत्य समझ रहा है, इसलिए अहंकार के विकास की बात उचित है। उचित कह रहा हूँ, सत्य नहीं। सीमा के भीतर बिलकुल ठीक है बात। लेकिन एक दिन पश्चिम के अहंकार को, पश्चिम के मनस-शास्त्र को एहासास होगा, और एहसास होना शुरू हो गया है। जुंग के साथ दीवाल टूटनी शुरू हो गयी है और अनुभव होने लगा है कि अहंकार के पार भी कुछ है।

अभी भी अहंकार के पार का अनुभव हो रहा है पश्चिम के मनोविज्ञान को। वह अहंकार के नीचे हो रहा है—'बिलो इगो'; 'बियॉन्ड इगो' नहीं हो रहा है। अहंकार के पार भी कुछ है—मतलब अचेतन है। चेतन से भी नीचे—अति चेतन नहीं, 'सुपर कांसस' नहीं। लेकिन यह बड़ी शुभ घड़ी है। अहंकार के पार कम-से-कम कुछ है, नीचे ही सही। और अगर नीचे है, तो ऊपर होने की बाधा कम हो जाती है और अगर हम अहंकार के पार—नीचे ही सही—कुछ स्वीकार करते हैं, तो आज नहीं कल ऊपर भी स्वीकार करने की सुविधा बनती है।

मनोविज्ञान तो कहेगा कि अहंकार को ठीक से 'इंटिग्रेटेड', 'क्रिस्टलाइज्ड', अहंकार को शुद्ध, साफ संश्लिष्ट हो जाना चाहिए। यही 'इण्डिवीजुएशन' है, यही व्यक्तित्व है। कृष्ण नहीं कहेंगे। कृष्ण कहेंगे, उसके आगे एक कदम और है। संश्लिष्ट, एकाग्र हुए अहंकार को किसी दिन समर्पित हो जाना चाहिए, 'सरण्डर्ड' हो जाना चाहिए। वह आखिरी कदम है अहंकार की तरफ। लेकिन ब्रह्म की तरफ वह पहला कदम है।

बूंद अपने को खो दे सागर में, तो निश्चित ही सागर हो सकती है। और

अहंकार अपने को खो दे अस्तित्व के सागर में, तो ब्रह्म हो सकता है। लेकिन खोने के पहले होना भी तो चाहिए, बूंद भी होनी तो चाहिए। अगर बूंद ही न हो, भाप हो, तो सागर में खोना मुश्किल है। अगर कोई भाप की बूंद उड़ रही है, तो उससे हम पहले कहेंगे, बूंद बन जाओ। फिर बूंद बन जाने पर कहेंगे कि जाओ सागर में कूद जाओ; क्योंकि भाप सीधी सागर में नहीं कूद सकती, कितना ही उपाय करे, आकाश की तरफ उड़ेगी, सागर में कूद नहीं सकती। बूंद कूद सकती है।

पश्चिम का मनोविज्ञान बूंद बनाने तक है, कृष्ण का मनोविज्ञान सागर बनाने तक है। लेकिन पश्चिम के मनोविज्ञान से गुजरना पड़ेगा। **जो अभी भाप (अहंकार) हैं, उनको फ्रायड और जुंग के पास से गुजरना पड़ेगा, तभी वे कृष्ण के पास पहुंच सकते हैं।** लेकिन बहुत से भाप के कण, सीधे ही कृष्ण तक पहुँचना चाहते हैं, वे मुश्किल में पड़ जाते हैं। बीच में फ्रयड हैं, उससे बचा नहीं जा सकता। अंत वह नहीं है, लेकिन प्रारम्भ वह जरूर है।

कृष्ण का मनोविज्ञान चरम मनोविज्ञान है—'द सुप्रीम'। जहां से मन समाप्त होता है, वहाँ है वह—'लास्ट बैरियर' पर है। और फ्रायड और एडलर मन की पहली सीमा की चर्चा कर रहे हैं। यह अगर ख्याल में रहे, तो कठिनाई नहीं होगी।

मैं भी कहूँगा अहंकार को संश्लिष्ट करें, ताकि एक दिन समर्पित कर सकें। क्योंकि समर्पित वही कर सकेगा जो कि संश्लिष्ट है। जिसके अपने अहंकार के पच्चीस खण्ड हैं, जो 'स्किजोफ्रैनिक' है, जिसके भीतर एक 'मैं' नहीं है, बहुत 'मैं' हैं—वह समर्पण करने कैसे जायेगा? **एक 'मैं' को समर्पण करेगा, दूसरा कहेगा—रहने दो, वापस आ जाओ।** हम अभी ऐसे ही ठीक हैं।

मनोविज्ञान की समस्त खोजें कहती हैं कि हम 'पोलिसाइकिक' हैं। **हमारे भीतर एक 'मैं' नहीं है, बहुत 'मैं' है।** अनेक 'मैं' हैं। रात एक 'मैं' कहता है, 'सुबह पांच बजे उठेंगे,' कसम खा लेता है। सुबह पाँच बजे दूसरा 'मैं' कहता है, 'सर्दी बहुत है। छोड़ो, कहाँ की बातों में पड़े हो? फिर कल देखेंगे' और करवट लेकर सो जाता है। सुबह सात बजे तीसरा 'मैं' कहता है, 'बड़ी भूल की। शाम को तय किया था, पाँच बजे, सुबह....बदले क्यों?' बड़ा पश्चाताप करता है। एक ही आदमी ने पाँच बजे जागना तय किया था, तो सुबह किस आदमी ने कहा कि सो जाओ! आपके भीतर ही कोई बोल रहा है, बाहर कोई नहीं

बोल रहा है। और जब सो ही गये थे पांच बजे, तो सुबह सात बजे पश्चताप क्यों कर रहे हैं? आप ही सोये थे, किसी ने कहा नहीं था ।

सामान्यतया हमें ख्याल आता है कि मैं, एक 'मैं' है, इससे बड़ा 'कन्फ्यूजन' पैदा होता है। हमारे भीतर बहुत 'मैं' हैं। एक 'मैं' कह देता है, 'उठेंगे,' दूसरा 'मैं' कहता है, 'नहीं उठते', तीसरा 'मैं' कहता है 'पश्चात्ताप करेंगे'। चौथा 'मैं' सब भूल जाता है। कुछ याद ही नहीं रखता इन बातों की। ऐसे ही जिन्दगी चली जाती है। मनोविज्ञान कहता है, पहले 'मैं' को एक करो।

एक मैं हो, तो समर्पण हो सकता है। पच्चीस स्वर हों, तो समर्पण कैसे होगा! इसलिए भगवान् के सामने तो एक 'मैं' झुक जाता है चरणों में, दूसरा 'मैं' अकड़कर खड़ा रहता है, वहीं मन्दिर में। एक 'मैं' तो चरणों में सिर रखे पड़ा रहता है, दूसरा देखता रहता है कि मन्दिर में कोई देखने वाला आया है कि नहीं आया है। एक ही आदमी खड़ा है, पर 'मैं' बहुत हैं। एक वहाँ चरणों में सिर रखे है, दूसरा झाँक कर देख रहा है कि लोग देख रहे हैं कि नहीं देख रहे हैं। अब समर्पण कर रहे हो, तो लोगों के देखने से क्या लेना-देना है! एक 'मैं' नीचे चरणों में पड़ा है, दूसरा 'मैं' कह रहा है, कहां के खेल में पड़े हो? सब बेकार है। कहीं कोई भगवान् नहीं है।' एक 'मैं' उधर भगवान् के चरण पकड़े हुए है, दूसरा 'मैं' दुकान पर बैठा हुआ काम में लगा है।

'मैं' संश्लिष्ट होना चाहिए, तभी समर्पण हो सकता है। इससिए मैं उनमें विरोध नहीं देखता। मैं उनमें विकास देखता हूँ। फ्रायड अन्त नहीं है। लेकिन महत्वपूर्ण है और 'मैं' के सश्लिष्ट करने में उपयोगी है। कृष्ण अन्त हैं। वहाँ उस सीमा पर जाकर 'मैं' को समर्पण भी कर देना है।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुंजीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ।।५।।

महानुभाव गुरुजनों को न मारकर, इस लोक में भिक्षा का अन्न भी भोगना कल्याणकारक समझता हूँ, क्योंकि गुरुजनों को मारकर भी इस लोक में रूधिर से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगों को ही तो भोगूंगा।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ।।६।।

हम लोग यह भी नहीं जानते कि हमारे लिए क्या करना श्रेष्ठ है, अथवा यह भी नहीं जानते कि हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे। और जिनको मारकर जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।७।।

इसलिए कायरतारूप दोष करके उपहत हुए स्वभाव वाला और धर्म के विषय में मोहितचित्त हुआ मैं आपको पूछता हूँ, जो कुछ निश्चय किया हुआ कल्याणकारक साधन हो, वह मेरे लिए कहिए; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिए आपके शरण हुए मेरे को शिक्षा दीजिये।

भगवान् श्री : अर्जुन अपनी ही बात कहे चला जाता है। पूछता मालूम पड़ता है कृष्ण से, लेकिन वस्तुतः कृष्ण को ही धर्म क्या है, बताये चला जाता है। वह कह रहा है कि अविद्या से मेरा मन भर गया है। क्या उचित है, क्या अनुचित है, उसका मेरा बोध खो गया है। लेकिन साथ ही कहे चला जा रहा है कि अपनों को मार कर तो जो अन्न भी खाऊंगा, वह रक्त से भरा हुआ होगा। अपनों को मार कर सम्राट बन जाने से तो बेहतर है कि मैं सड़क का भिखारी हो जाऊं। निर्णय दिये चला जा रहा है, निर्णय दिये चला जा रहा है। और कह रहा है कि अविद्या से मेरा मन भर गया है। दोनों बातों में कोई संगति नहीं है। अविद्या से मन भर गया है, तो अर्जुन के पास कहने को कुछ भी नहीं होना चाहिए। इतना कहना ही काफी है कि अविद्या से मेरा मन भर गया है। मुझे मार्ग बतायें। मैं नहीं जानता कि क्या ठीक है, क्या गलत है। नहीं, लेकिन साथ ही वह कहता है, 'यह ठीक है और यह गलत है।'

चित्त हमारा कितना ही कहे कि वह अविद्या से भर गया, पर अहंकार मानने को राजी नहीं होता। अहंकार कहता है, "मैं और अविद्या से भर गया हूं? मुझे पता है कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है।"

दूसरी बात यह भी देखने जैसी है कि अहंकार जहाँ भी होता है, वहाँ सदा अतियों का चुनाव करता है—'एक्स्ट्रीम इज द च्वाइस'। **अहंकार एक अति से ठीक दूसरी अति को चुनता है। अहंकार कभी मध्य में खड़ा नहीं होता।** खड़ा हो नहीं सकता, **क्योंकि ठीक मध्य में अहंकार की मृत्यु है।** वह कहता है कि सम्राट होने से तो भिखारी होना बेहतर है। दूसरी, आखिरी 'पोलेरिटी' (छोर) को चुनता है। वह कहता है, 'सम्राट होने से तो भिखारी होना बेहतर है।' अर्जुन या तो सम्राट हो सकता है या भिखारी हो सकता है, बीच में कहीं नहीं हो सकता। या तो उस छोर पर नम्बर एक या इस छोर पर नम्बर एक; लेकिन नम्बर एक ही हो सकता है।

यह थोड़ा ध्यान रखने जैसा है। बर्नार्ड शॉ ने कभी कहा था, 'अगर मुझे स्वर्ग भी कभी मिले और नम्बर दो होना पड़े, तो मैं इन्कार करता हूँ। मैं नर्क में होना पसन्द कर लूंगा; लेकिन नम्बर एक होना चाहिए। नम्बर एक रहूँगा, तो नर्क पसंद कर लूंगा। नम्बर दो अगर हो जाता हूँ, तो स्वर्ग भी मुझे नहीं चाहिए। क्या मजा होगा उस स्वर्ग में जिसमें नम्बर दो होंगे!'

नर्क में भी मजा हो सकता है, अगर नम्बर एक होने को मिले। इसलिए नम्बर एक होने वाले सब लोग नर्क में इकट्ठे हो जाते हों तो बहुत हैरानी नहीं है। दिल्ली से नर्क का रास्ता एकदम करीब है। दिल्ली से गये कि नर्क में गये। वहां बीच में गैप भी नहीं है। वह जो नम्बर एक होने के लिये पीड़ित है, अगर उससे सम्राट होना छूटता हो तो तत्काल उसके पास जो दूसरा विकल्प है, वह है भिखारी होने का।

यह विकल्प भी देखना जरूरी है; क्योंकि यह विकल्प सिर्फ अहंकार ही चुनता है। यह विकल्प—'एक्सट्रीम' का, **अति का विकल्प सदा अहंकार ही चुनता है।** क्योंकि अहंकार को इससे मतलब नहीं है कि सम्राट बनो कि भिखारी बनो; मतलब इससे है कि नम्बर एक बनो।

अर्जुन कह रहा है, 'इससे तो बेहतर है कि मैं भिखारी ही हो जाऊं, सड़क पर भीख माँगूं।' ऊपर से दिखायी पड़ता है कि बड़ी विनम्रता की बात कह रहा है। सम्राट होना छोड़, भीख माँगने की बात कह रहा है। लेकिन भीतर

से बहुत फर्क नहीं है। भीतर बात वही है। भीतर बात वही है—अति पर होने की अहंकार की इच्छा है। **आखिरी पोल पर, ध्रुव पर खड़े होने की इच्छा** है। या तो इस कोने या उस कोने, मध्य उसके लिए नहीं है।

बुद्ध के मनोविज्ञान का नाम मध्यमार्ग है, 'द मिडल वे'। और जब बुद्ध से किसी ने पूछा कि आप अपने मार्ग को 'मज्झिम-निकाय', बीच का मार्ग क्यों कहते हैं, तो बुद्ध ने कहा, **'जो दो अतियों के बिलकुल बीच में खड़ा हो जाय, वही केवल अहंकार से मुक्त हो सकता है,** अन्यथा मुक्त नहीं हो सकता।'

एक छोटी-सी घटना बुद्ध के जीवन के साथ जुड़ी है। एक गांव में बुद्ध आये हैं। सम्राट दीक्षित होने आ गया। और उस सम्राट ने कहा मुझे भी दिक्षा दे दें। बुद्ध के भिक्षुओं ने बुद्ध के कान में कहा, "सावधानी से देना इसे आप। क्योंकि हमने जो इस के सम्बन्ध में सुना है, वह बिलकुल विपरीत है। यह आदमी कभी रथ से नीचे नंगे पैर भी नहीं चला है। यह आदमी अपने महल में जो भी संभव है, सारे भोग के साधनों में डूबा पड़ा है। यह अपनी सीढ़ियां भी चढ़ता है तो सीढ़ियों के किनारे रेलिंग की जगह नंगी स्त्रियों को रखता है, उनके कंधों पर हाथ रखकर चढ़ता है। जरा इससे सावधान रहना। शराब और स्त्री के अतिरिक्त इसकी जिन्दगी में कभी कुछ नहीं आया है। और आज यह अचानक भिक्षु होने और त्यागी बनने, तपश्चर्या का व्रत लेने आया है। यह आदमी बीच में धोखा न दे जाय।"

बुद्ध ने कहा, "जहाँ तक मैं आदमियों को जानता हूँ, यह आदमी धोखा न देगा। यह एक अति से ऊब कर, अब दूसरी अति पर जा रहा है। एक 'एक्सट्रीम' पर ऊब गया है और दूसरे 'एक्सट्रीम' पर जा रहा है। तो लोगों ने कहा, हमें संदेह होता है; क्योंकि यह कल तक बिलकुल और था। बुद्ध ने कहा, 'मुझे संदेह नहीं होता। इस तरह के लोग अक्सर ही अतियों में चुनाव करते हैं। भय मत करो।' उन्होंने कहा, 'हमें नहीं लगता है कि यह भीख माँग सकेगा, सड़क पर नंगे पैर चल सकेगा, धूप-छाँव सह सकेगा, हमें नहीं दिखायी पड़ता।' बुद्ध ने कहा, 'यह तुम से ज्यादा सह सकेगा।' हंसे वे सब। उन्होंने कहा, 'इस मामले में कम-से-कम बुद्ध निश्चित ही गलत हो जाने वाले हैं।' लेकिन नहीं, बुद्ध गलत नहीं हुए।

दूसरे ही दिन से देखा गया कि भिक्षु अगर रास्ते पर चलते, तो रास्ते के

नीचे चलता वह सम्राट, जहाँ काँटे होते थे। और भिक्षु, अगर वृक्ष की छाया में बैठते, तो वह सम्राट धूप में खड़ा रहता। और भिक्षु अगर दिन में एक बार भोजन करते, तो सम्राट दो दिन में एक बार भोजन करता। छः महीने में वह सूखकर काला पड़ गया। अति सुन्दर उसकी काया थी। भूख से हड्डियाँ उसकी बाहर निकल आयीं। पैरों में घाव बन गये। बुद्ध ने अपने भिक्षुओं से पूछा, 'कहो, तुम कहते थे कि यह आदमी भरोसे का नहीं, और मैंने तुमसे कहा था कि यह आदमी बहुत भरोसे का है, यह आदमी तुमसे ज्यादा तपश्चर्या कर लेगा।' तब वे भिक्षु कहने लगे, 'हम हैरान हैं कि आप कैसे पहचान गये।'

बुद्ध ने कहा, 'अहंकार सदा एक अति से दूसरी अति चुन लेता है। बीच में नहीं रुक सकता। यह सम्राटों में प्रथम सम्राट था। यह अब भिक्षुओं में प्रथम भिक्षु है। यह सम्राटों में नम्बर एक सम्राट था। इसने सारी सुन्दर स्त्रियाँ राज्य की इकट्ठी कर रखी थीं। इसने सारे हीरे-जवाहरात अपने महल के रास्तों पर जड़ रखे थे। अब यह भिक्षुओं में साधारण भिक्षु नहीं है। यह भिक्षुओं में असाधारण भिक्षु है। तुम चलते हो सीधे रास्ते पर, यह चलता है तिरछे रास्ते पर। तुम काँटे बचाकर चलते हो, यह काँटे देखकर चलता है कि कहाँ-कहाँ हैं। तुम छाया में बैठते हो, यह धूप में खड़ा होता है। यह कहीं भी रहेगा, नम्बर एक रहेगा। यह नम्बर एक होना नहीं छोड़ सकता, यह तुम्हें मात करके छोड़ेगा। जिसने सम्राटों को मात किया, तो इन भिखारियों को कैसे मात नहीं करेगा? अहंकार अति चुनता है।'

अर्जुन कह रहा है कि 'छोड़ दूँ सब साम्राज्य, कुछ अर्थ नहीं। भिक्षा माँग लेगें।' माँग सकता है, बिलकुल माँग सकता है। अहंकार की वहाँ भी तृप्ति हो सकती है। मध्य में नहीं रुक सकता! एक अति से दूसरी अति पर जा सकता है। अति से अति पर जाने में कोई रूपांतरण, कोइ 'ट्रांसफॉर्मेशन' नहीं है।

बुद्ध फिर एक दिन उस सम्राट के पास गये। साँझ को रुग्ण, बीमार, वह राह के किनारे पड़ा था। बुद्ध ने उससे कहा, 'मैं एक बात पूछने आया हूँ। मैंने सुना है, तुम जब साम्राट थे तो वीणा बजाने में बहुत कुशल थे। मैं तुमसे पूछने आया हूँ कि वीणा के तार अगर बहुत कसे हों, तो क्या संगीत पैदा होता है?' उसने कहा, 'कैसे पैदा होगा! तार टूट जाते हैं।' बुद्ध ने फिर कहा, 'बहुत ढीले हों तार, तब संगीत पैदा होता है?' उस सम्राट ने कहा, 'नहीं, बहुत ढीले हों तो टंकार भी पैदा नहीं होगी; संगीत कैसे पैदा होगा?' तो

बुद्ध ने कहा, 'मैं जाऊँ? एक बात और तुमसे कह जाऊँ कि जो वीणा के तारों का नियम है—न बहुत ढीले, न बहुत कसे; अर्थात् बीच में कहीं—जहाँ, न तो कहा जा सके कि तार कसे हैं, न कहा जा सके कि तार ढीले हैं। ठीक मध्य में जब तार होते हैं, तभी संगीत पैदा होता है। जीवन की वीणा का भी नियम यही है।'

काश! अर्जुन बीच की बात करता तो कृष्ण कहते, 'जाओ, बात समाप्त हो गयी, कोइ भी अर्थ न रहा युद्ध का।' लेकिन वह बीच की बात नहीं कर रहा है। वह एक अति से दूसरी अति की बात कर रहा है। दूसरी अति पर अहंकार फिर अपने को भर लेता है।

● **प्रश्नकर्ता :** भगवान् श्री, यहाँ पर एक मुद्दे का प्रश्न आ गया है स्रोता गणों से। कोर्ट में सब से पहले गीता पर क्यों हाथ रखवाते हैं। रामायण या उपनिषद पर क्यों नहीं रखवाते? क्या गीता में श्रद्धा है या सिर्फ अन्धश्रद्धा है?

भगवान् श्री : पूछा है कि अदालत में शपथ लेते वक्त गीता पर हाथ क्यों रखवाते हैं? रामायण पर क्यों नहीं रखवा लेते? उपनिषद पर क्यों नहीं रखवा लेते? बड़ा कारण है। पता नहीं अदालत को पता है या नहीं, लेकिन कारण है। कारण बड़ा है। राम, कितने ही बड़े हों, लेकिन इस मुल्क के चित्त में वे पूर्ण अवतार की तरह नहीं हैं। आंशिक है उनका अवतार। उपनिषद के ऋषि कितने ही बड़े ज्ञानी हों, लेकिन अवतार नहीं हैं। कृष्ण पूर्ण अवतार हैं। परमात्मा अगर पृथ्वी पर पूरा उतरे तो करीब-करीब कृष्ण-जैसा होगा। इसलिए कृष्ण, इस मुल्क के अधिकतम मन को छू पाये हैं; बहुत कारणों से। एक तो पूर्ण अवतार का अर्थ होता है, 'मल्टी–डायमेंशनल', बहुआयामी; जो मनुष्य के समस्त व्यक्तित्व को स्पर्श करता हो। राम 'वन-डायमेंशनल' हैं।

हर्बर्ट मरक्यूस ने एक किताब लिखी है: 'वन डायमेंशनल मैन', एक आयामी मनुष्य। राम 'वन डायमेंशनल' हैं, एक आयामी हैं, एक-सुरे हैं, एक ही स्वर है उनमें। स्वभावतः एक ही स्वर का आदमी सिर्फ एक-सुरे व्यक्ति के लिए प्रीतिकर हो सकता है, सबके लिए प्रीतिकर नहीं हो सकता। महावीर और बुद्ध सभी एक-सुरे हैं। एक ही स्वर है उनका। इसलिए समस्त मनुष्यों के लिये महावीर और बुद्ध प्रीतिकर नहीं हो सकते। हां, मनुष्यों का एक वर्ग होगा जो बुद्ध के लिए दीवाना हो जाय, जो महावीर के लिये पागल हो जाय;

लेकिन एक वर्ग ही होगा, सभी मनुष्य नहीं हो सकते।

कृष्ण 'मल्टी डायमेंशनल' हैं। **ऐसा आदमी जमीन पर खोजना कठिन है, जो कृष्ण में प्रेम करने योग्य तत्व न पाले।** चोर भी कृष्ण को प्रेम कर सकता है। नाचने वाला भी प्रेम कर सकता है। साधु भी प्रेम कर सकता है; असाधु भी प्रेम कर सकता है; युद्ध में लड़ने वाला भी प्रेम कर सकता है; गोपियों के साथ नृत्य करने वाला भी प्रेम कर सकता है। कृष्ण एक 'आर्केस्ट्रा' की तरह हैं। बहुत वाद्य हैं, सब बज रहे हैं। जिसे जो वाद्य पसन्द हो, वह अपने वाद्य को तो प्रेम कर ही सकता है। **और इसलिए पूरे कृष्ण को प्रेम करने वाले आदमी पैदा नहीं हो सके।** जिसने भी प्रेम किया है, उसने कृष्ण में चुनाव किया है।

सूरदास बाल कृष्ण से तो प्रेम करते हैं, पर गोपियों वाले कृष्ण से वे बहुत डरते हैं। इसलिए बाल कृष्ण को प्रेम करते हैं, क्योंकि बाल कृष्ण में लगता है कि बिलकुल ठीक हैं। ठीक हैं, क्योंकि बालक हैं; तो चलेगा। **जवान कृष्ण से सूरदास को डर लगता है; क्योंकि जवान सूरदास से सूरदास को डर लगता है।** तो अपना चुनाव है उनका। वह अपना चुनाव कर लेंगे।

अब अगर केशवदास को कृष्ण को प्रेम करना है, तो बाल कृष्ण की वह फिक्र ही छोड़ देंगे। क्योंकि जवान कृष्ण को, जो कि चांद की छाया में नाच रहा है; जिसके कोई नित-नियम नहीं हैं; जिसकी कोइ मर्यादा नहीं; जो अमर्यादित हैं, जिसे कोई बन्धन नहीं पकड़ते हैं; जो एकदम अराजक हैं; केशवदास उस युवा कृष्ण को चुन लेंगे; बाल कृष्ण की फिक्र ही छोड़ देंगे।

अब तक पूरे कृष्ण को प्रेम करने वाला कोई आदमी नहीं हुआ है। क्योंकि पूरे कृष्ण को प्रेम करना तभी संभव है, जब वह आदमी भी 'मल्टी-डायमेंशनल' हो। हम आमतौर से एक आयामी होते हैं। एक हमारा 'ट्रैक' होता है व्यक्तित्व का, एक रेल की पटरी होती है। उस पटरी पर हम चलते हैं। मगर कृष्ण में हम सब को अपनी पटरी के योग्य कुछ-न-कुछ मिल ही जाता है। इसलिए कृष्ण इस मुल्क के हर तरह के आदमी के लिए प्रीतिकर हैं। बुरे-से-बुरे आदमी के लिए भी प्रीतिकर हो सकते हैं।

ध्यान रहे, अदालत में अच्छे आदमियों को तो कभी-कभी जाना पड़ता है; यानी जब बुरे आदमी उनको ले जाते हैं, तब जाना पड़ता है। अदालत आमतौर पर बुरे आदमियों की ही जगह है। बुरा आदमी अगर राम को प्रेम करता

होता, तो अदालत में आता ही नहीं। जो अदालत में आ गया है, राम की कसम उसको खिलाना नासमझी है। उनको कृष्ण की कसम खिलायी जा सकती है। अदालत में आकर भी आदमी कृष्ण को प्रेम करता हुआ हो सकता है। बुरे आदमी के लिए भी कृष्ण खुले हैं। इन बुरे आदमियों के लिए भी उनके मकान का एक दरवाजा है, जो खुला है।

राम वगैरह के मन्दिर में इकहरे दरवाजे हैं; कृष्ण के मन्दिर में बहुत दरवाजे हैं। वहां शराबी भी जाये, तो उसके लिए भी एक दरवाजा है। असल में कृष्ण से बड़ी छाती का आदमी खोजना बहुत मुश्किल है। इसलिए मैं नहीं समझता कि अदालत को इसका कारण पता होगा। लेकिन जाने-अनजाने यह हो रहा है। व्यक्तियों को छूने का कृष्ण का रेंज (क्षेत्र) सर्वाधिक है। अधिकतम व्यक्ति उनसे स्पर्शित हो सकते हैं। ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है, जिनसे कृष्ण आलिंगन करने से इन्कार करें। कहें कि तू हमारे लिए नहीं, हट! वे सबके लिए हैं। इसलिए गीता की सर्वाधिक लोगों के लिए उपयोगी होने की संभावना है।

और पूछा है कि क्या यह सिर्फ अंध-विश्वास है?

नहीं, सिर्फ अंध-विश्वास नहीं है। इस जगत् में सत्य से भी बड़ा सत्य, प्रेम है। और जिसके प्रति प्रेम है, उसके प्रति असत्य होना मुश्किल है। असल में, जिसके प्रति प्रेम है, हम उसी के प्रति सत्य हो पाते हैं। जिन्दगी में हम सत्य वहीं हो पाते हैं, जहां हमारा प्रेम है। अगर प्रेमी के पास भी आप सत्य न हो पाते हों, तो समझना कि प्रेम का धोखा है।

एक पति अपनी पत्नी से कुछ छिपाता हो और सत्य न हो पाता हो, एक पत्नी अपने पति से कुछ छिपाती हो और सत्य न हो पाती हो—कोई बड़ी बात नहीं, छोटी-मोटी बात भी छिपाती हो, अगर उसे क्रोध आ रहा हो और क्रोध को भी छिपाती हो, तो प्रेम में कमी है; तो प्रेम पूरा नहीं है। **प्रेम अपने को पूरा नग्न उघाड़ देता है**—सब तरह से; सब पर्तों पर।

अंधविश्वास कारण नहीं है। प्रेम की रग को पकड़ना जरूरी है, तो ही सत्य बुलवाया जा सकता है। यह भी मैं नहीं जानता कि अदालत को पता है या नहीं। क्योंकि अदालत को प्रेम का कुछ पता होगा, इसमें जरा संदेह है। लेकिन इतना तो मनस्-शास्त्र कहता है कि अगर हम प्रेम की रग को पकड़ लें, तो आदमी के सत्य बोलने कि सर्वाधिक संभावना है। बोलेगा कि नहीं, यह

दूसरी बात है। लेकिन अधिकतम संभावना वही है, **जहां प्रेम की रग को हम** पकड़ लेते हैं। **और जहां प्रेम नहीं है, वहां अधिकतम असत्य की संभावना है;** क्योंकि सत्य का कोई कारण नहीं रह जाता है।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्

यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।

अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं

राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।। ८ ।।

क्योंकि भूमि में निष्कण्टक धनधान्य संपन्न राज्य को और देवताओं के स्वामीपन को प्राप्त होकर भी मैं उस उपाय को नहीं देखता हूँ जो कि मेरी इन्द्रिओं के सुखाने वाले शोक को दूर कर सके।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूर्ष्णीं बभूव ह ।। ९ ।।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ।। १० ।।

संजय बोले : हे राजन, निद्रा को जीतने वाला अर्जुन अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति इस प्रकार कहकर फिर (श्री गोविन्द को) युद्ध नहीं करूँगा, ऐसे स्पष्ट कहकर चुप हो गया।

उसके उपरान्त हे भरतवन्शी धृतराष्ट्र, अन्तर्यामी श्री कृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच में उस शोकयुक्त अर्जुन को हँसते हुए-से यह वचन कहा।

भगवान् श्री : अर्जुन अति अनिश्चय की स्थिति में है। संजय कहता है, 'फिर भी ऐसा कहकर कि मैं युद्ध नहीं करूंगा, अर्जुन रथ में बैठा गया है।' अति अनिश्चय कि स्थिति में ऐसा निश्चयात्मक भाव कि मैं युद्ध नहीं करूंगा, सोचने जैसा है। इतना 'डिसीसिव' वक्तव्य, इतना निर्णायक वक्तव्य कि 'मैं युद्ध नहीं करूंगा' और इतनी अनिश्चय की स्थिति कि 'क्या ठीक है, क्या गलत है', इतनी अनिश्चय की स्थिति कि मन अविद्या से भरा है मेरा, मुझे प्रकाशित करो। लेकिन मुझे प्रकाशित करो, यह कहता हुआ वह निर्णय तो अपना ही ले लेता है। वह कहता है, 'मैं युद्ध नहीं करूँगा।'

इसके जरा भीतर प्रवेश करना जरूरी होगा। अक्सर जब आप बहुत निश्चय की बात बोलते हैं, तब आपके भीतर अनिश्चय गहरा होता है। एक आदमी कहता है कि मैं दृढ़ निश्चय करता हूँ। जब ऐसा कोई आदमी कहे, तो समझना कि उसके भीतर अनिश्चय ज्यादा है, नहीं तो दृढ़ निश्चय की जरूरत नहीं पड़ेगी। जब एक आदमी कहे कि 'मेरा ईश्वर पर पक्का भरोसा है', तो समझना कि भरोसा भीतर बिलकुल नहीं है। नहीं तो पक्के भरोसे की लेबल लगाने की जरूरत नहीं पड़ेगी। जब एक आदमी बार-बार कहे कि मैं सत्य ही बोलता हूं, तब समझना कि भीतर असत्य की बहुत संभावना है। अन्यथा ऐसे बोलने कि जरूरत नहीं पड़ती।

हमारे भीतर जो डावांडोलपन है, उसे हम निश्चयात्मक वक्तव्यों को ऊपर **से थोपकर मिटाने की कोशिश में** रत होते हैं। हम सभी, जो भीतर बिलकुल निश्चित नहीं हैं, बाहर अपने निश्चित होने की घोषणा करके स्वयं को झुठला लेना चाहते हैं।

अब यह अर्जुन बड़े मजे की बात कह रहा है। वह कह रहा है, मैं युद्ध नहीं करूंगा।' उसने तो आखिरी निर्णय ले लिया, उसने आखिरी निष्पत्ति ले ली। उसने तो 'कन्क्लूडिंग' बात कह दी। अब कृष्ण के लिए छोड़ा क्या है? अब कृष्ण से पूछने को क्या बचा है?

दूसरी बात जो संजय कह रहा है, वह बड़ी मजेदार है। वह कह रहा है कि कृष्ण ने हँसते हुए...। वह हँसी किस बात पर है? हँसने का क्या कारण है? अर्जुन हँसी योग्य है? इतनी दुःख और पीड़ा में पड़ा हुआ, इतने संकट में, इतनी 'क्राइसिस' में और कृष्ण हँसते हैं? लेकिन अब तक नहीं हंसे थे। पहली बार कृष्ण हंसते हैं, उसके वक्तव्य को सुनकर। उस हंसी का कारण है।

वे देखते हैं कि इतना अनिश्चय है और यह आदमी इतने निश्चय का वक्तव्य दे रहा है कि युद्ध नहीं करूंगा! यह किसको धोखा दे रहा है? उसके धोखे पर, उसके 'सेल्फ डिसेप्सन' पर, **उसकी आत्मवंचना पर कृष्ण को हंसी आ जाती है।** जो भी जानता है, उसे आयेगी।

कृष्ण देख रहे हैं कि नीचे तो दरारें-ही-दरारें हैं। अर्जुन के मन में वे देख रहे हैं कि नीचे तो कटा-कटा मन है उसका, टूटा-टूटा मन है उसका। देख रहे हैं कि नीचे कुछ भी तय नहीं है और उपर से वह कहता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। इस तरह अर्जुन अपने को धोखा दे रहा है। हम सब देते हैं।

और जब भी हम बहुत निश्चय की भाषा बोलते हैं, तब भीतर अनिश्चय को छिपाते हैं। जब-जब हम बहुत प्रेम की भाषा बोलते हैं, तो भीतर घृणा को छिपाते हैं। और जब हम बहुत आस्तिकता की भाषा बोलते हैं, तो भीतर नास्तिकता को छिपाते हैं। **आदमी उल्टा जीता है। ऊपर जो दिखायी देता है, ठीक भीतर उससे उल्टा होता है।**

इसीलिये कृष्ण की हंसी बिलकुल मौजू है, ठीक वक्त पर है। असामयिक नहीं है—पर लगेगी असामयिक। अच्छा नहीं लगेगा यह। बड़ी कठोर बात मालूम पड़ती है कि कृष्ण हंसें। इतने दुःख, इतने संकट में पड़ा हुआ है अर्जुन, उस पर हंसें! लेकिन हंसी का कारण है। देख रहे हैं उसको कि कैसा दोहरा काम अर्जुन कर रहा है। एक तरफ कुछ कह रहा है, दूसरी तरफ ठीक उससे उल्टा वक्तव्य दे रहा है।

दो-सुरे आदमी के वक्तव्य में, दोहरे आदमी के वक्तव्य में हमेशा अन्तर्विरोध होता है। अन्तर्विरोध बहुत साफ है। यानी वह ऐसा काम कर रहा है, जैसे कि एक हाथ से ईंट रख रहा है मकान की, और दूसरे हाथ से खींच रहा है; एक हाथ से दीवाल उठता है, दूसरे हाथ से खींचता है; दिन भर मकान बनाता है, रात को गिरा लेता है।

यह जो दोहरा काम अर्जुन कर रहा है, इसलिए कृष्ण हंस रहे हैं। अर्जुन के व्यक्तित्व के इस दोहरेपन पर, इस 'स्किजोफ्रेनिक', बंटे-हुए-पन पर हंसी के सिवाय और क्या हो सकता है! मगर कृष्ण की हंसी में काफी इशारा है। लेकिन मैं नहीं समझता कि अर्जुन ने वह हंसी देखी होगी। और मैं नहीं समझता कि अर्जुन ने वह हंसी सुनी होगी। आखिरी सूत्र और पढ़ लें।

श्री भगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ ११॥

श्री कृष्ण बोले: हे अर्जुन, तू न शोक करने योग्यों के लिए शोक करता है, और पण्डितों के से वचनों को कहता है, परन्तु पण्डित जन, जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिए और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिए भी नहीं शोक करते हैं।

भगवान् श्री: हंसकर जो कृष्ण ने कहा है, वह और भी कठोर है। वह अर्जुन को कहते हैं कि तुम शास्त्र की भाषा बोल रहे हो, लेकिन पण्डित नहीं हो, मूढ़ हो, मूर्ख हो। क्योंकि शास्त्र की भाषा बोलते हुए भी तुम जो निष्पत्तियां निकाल रहे हो, वे तुम्हारी अपनी हैं। अर्जुन शास्त्र की भाषा बोल रहा है। क्या-क्या अधर्म हो जायेगा, क्या-क्या अशुभ हो जायेगा, क्या-क्या बुरा हो जायेगा—पूरी शास्त्र की भाषा अर्जुन बोल रहा है। लेकिन शास्त्र की भाषा पर अपने को थोप रहा है। जो निष्कर्ष लेना चाहता है, वह उसके भीतर लिया हुआ है। शास्त्र से केवल गवाही और समर्थन खोज रहा है।

मूर्ख और पण्डित में एक ही फर्क है। मूर्ख भी शास्त्र की भाषा बोल सकता है, अक्सर बोलता है। कुशलता से बोल सकता है। क्योंकि मूर्ख होने और शास्त्र की भाषा बोलने में कोई विरोध नहीं है। लेकिन मूर्ख शास्त्र से वही अर्थ निकाल लेता है, जो निकालना चाहता है। शास्त्र से मूर्ख को कोई प्रयोजन नहीं है; प्रयोजन अपने से है। शास्त्र को भी वह अपने साथ खड़ा कर लेता है गवाही की तरह।

सेम्युअल बेल ने कहीं एक वाक्य लिखा है। लिखा है कि 'कुछ लोग हैं, जो सत्य को भी अपने पक्ष में खड़ा करना चाहते हैं। और कुछ लोग हैं, जो सत्य के पक्ष में स्वयं खड़े होना चाहते हैं।' बस, दो ही तरह के लोग हैं। कुछ लोग हैं, जो धर्म को अपनी पीठ पीछे खड़ा करना चाहते हैं, धर्म को अपने पीछे खड़ा करना चाहते हैं; और कुछ लोग हैं, जो धर्म के साथ खड़े होने का साहस रखते हैं। लेकिन धर्म के साथ खड़ा होना बड़ा क्रांतिकारी कदम है; क्योंकि धर्म मिटा डालेगा, आपको तो बचने ही नहीं देगा। लेकिन धर्म को अपने पक्ष में खड़ा कर लेना बहुत 'कंफर्मिस्ट', बड़ा रूढ़िग्रस्त कदम है; क्योंकि उससे आप अपने को बचाने की सुविधा और सुरक्षा (सिक्योरिटी) खोजते हैं।

अर्जुन पण्डित की भाषा बोल रहा है, पण्डित-जैसी बातें बोल रहा है। लेकिन अर्जुन को ज्ञान से, प्रज्ञा से कोई लेना-देना नहीं है। वह अपने पक्ष में सारे शास्त्रों को खड़ा करना चाहता है।

जो व्यक्ति शास्त्र को अपने पक्ष में खड़ा कर लेना चाहता है, स्वभावत: अपने को शास्त्र के ऊपर रख लेता है। और अपने को शास्त्र से ऊपर रख लेने से ज्यादा खतरनाक और कुछ भी नहीं हो सकता है; क्योंकि उसने यह तो मान ही लिया कि वह ठीक है ; उसमें गलती होने की तो अब कोई संभावना ही न रही; उसने ठीक होने का तो अंतिम निर्णय ले लिया। अब वह शास्त्रों में भी अपने को खोज लेता है।

ईसाई फकीर एक बात कहा करते हैं कि शैतान भी शास्त्र से हवाले दे देता है। अक्सर देता है। कोई कठिनाई नहीं है शास्त्र से हवाले दे देने में। आसान है बात। अर्जुन भी वैसे ही शास्त्र के हवाले दे रहा है। और बड़े मजे की बात है कि किस आदमी के सामने शास्त्र के हवाले दे रहा है! जब शास्त्र मूर्तिमन्त सामने खड़ा हो, तब शास्त्र का उदाहरण सिर्फ नासमझ ही दे सकता है। किस आदमी के सामने ज्ञान की बातें बोल रहा है! जब ज्ञान सामने खड़ा हो, तब ज्ञान की उधार बातें, सिर्फ नासमझ बोल सकता है। कृष्ण का हँसना उचित है और कृष्ण का यह कहना भी उचित है कि अर्जुन, तू पण्डित की भाषा बोलता है, लेकिन निपट गंवारी का काम कर रहा है।

सुना है मैंने कि बोधिधर्म के पास एक आदमी गया—बुद्ध की एक किताब लेकर, और बोधिधर्म से बोला, 'इस किताब के संबंध में मुझे कुछ समझाओ।' बोधिधर्म ने कहा, 'यदि तू समझता है कि बुद्ध की किताब मैं समझा सकूंगा, तो तू किताब को फेंक, मुझसे ही समझ ले।' और अगर तू समझता है कि बुद्ध की किताब बोधिधर्म नहीं समझा सकेगा तो मुझे फेंक, किताब को ही समझ ले।'

कृष्ण की हंसी बहुत उचित है। किनके हवाले दे रहा है? और बहुत मजे की बात है कि पूरे समय कह रहा है, 'हे भगवान्! हे मधुसूदन!' और शास्त्र के हवाले दे रहा है। भगवान् के सामने भी कुछ नासमझ शास्त्र लेकर पहुंच जाते हैं। उनकी नासमझी का कोई अन्त नहीं है। अगर कभी भगवान् भी उन्हें मिल जाय, तो उसके सामने भी वे गीता के उद्धारण देंगे कि गीता में ऐसा लिखा है। तो भगवान् को हंसना ही पड़ेगा कि कम-से-कम अब तो गीता छोड़ो। लेकिन वे नहीं छोड़ेंगे।

अर्जुन भी, जो आम पंडित की नासमझी है, वही कर रहा है। और कृष्ण सीधे और साफ कह रहे हैं। इतनी सीधी और साफ बात कम कही गयी है, बहुत कम कही गयी है। कृष्ण कह सकते हैं, कहने का कारण है। लेकिन अर्जुन इसे भी सुनेगा या नहीं, यह कहना मुश्किल है! अर्जुन करीब-करीब पूरी गीता में, बहुत समय तक, अंधे और बहरे होने का ही प्रदर्शन करता है; अन्यथा शायद गीता की जरूरत ही नहीं थी। अगर वह एक बार गौर से आंख खोल कर कृष्ण को, देख लेता, तो भी बात समाप्त हो गयी थी। लेकिन वह भगवान् भी कहे चला जाता है और उनकी तरफ ध्यान भी नहीं दे रहा है।

जब खुद भगवान् ही सारथी हैं...अगर सच में वह जानता है कि भगवान् सारथी हैं, तो जब वे सारथी बनकर ही रथ पर बैठ गये हों और लगाम उनके ही हाथ में हो, तब वह व्यर्थ अपने सिर पर वजन क्यों ले रहा है सोचने का! अगर वे भगवान् ही हैं, ऐसा वह जानता है, तो अब और पूछने की क्या गुंजाइश है? हाथ में लगाम उनके है, छोड़ दे बात! लेकिन वह कहता है, 'भगवान्...!' जानता अभी नहीं है। हम भी भगवान् कहे चले जाते हैं, जानते नहीं हैं।

मंदिर में एक आदमी भगवान् के सामने खड़े होकर कहता है कि 'नौकरी नहीं लगी, नौकरी लगवा दे भगवान्।' अगर भगवान् को जानता ही है, तो इतना तो जानना ही चाहिए कि नौकरी नहीं लग रही, इसका उन्हें पता होगा। वह कृपा करके भगवान् को 'इन्फर्मेशन', सूचना मत दे। और अगर इतना भी उनको पता नहीं है, तो ऐसे भगवान् के सामने हाथ जोड़कर भी कुछ होने वाला नहीं है। तो आम-भक्त भगवान् के सामने कह रहा है, 'भगवान्!' और शक उसे इतना भी है कि अभी लड़के को नौकरी नहीं मिली।

जीसस सूली पर थे, आखिरी क्षण में! जब हाथ में उनके खीले ठोक दिये गये, तो उनके मुंह से एक आवाज निकल गयी जोर से कि हे भगवान्, यह क्या दिखला रहा है, यह क्या करवा रहा है? एक क्षण को जीसस के मुंह से निकल गया, यह क्या करवा रहा है!

मतलब क्या हुआ? शिकायत हो गयी। मतलब क्या हुआ? मतलब यह हुआ कि जीसस कुछ और देखना चाहते थे, कुछ और हो रहा है। मतलब यह

हुआ कि समर्पण नहीं है; मतलब यह है कि भगवान् के हाथों में लगाम नहीं है; मतलब यह हुआ कि इस क्षण में जीसस भगवान् से ज्यादा बुद्धिमान अपने को समझ रहे हैं!

तत्काल जीसस को ख्याल आ गया। अर्जुन को बहुत मुश्किल से ख्याल आता है। जीसस को तत्काल ख्याल आ गया। जैसे ही उनके मुंह से यह आवाज निकली कि 'हे भगवान्, यह क्या दिखला रहा है?' दूसरा वाक्य उन्होंने कहा, क्षमा कर। जो तेरी मर्जी—(दाइ विल बी डन)। तेरी इच्छा पूरी हो। यह मैंने क्या कह दिया कि क्या दिखला रहा है?' शक पैदा हो गया। **मेरे हिसाब से इस एक वचन को बोलते वक्त जीसस, मरियम के बेटे जीसस थे और दूसरे वचन के बोलते वक्त वे क्राइस्ट हो गये।**

इस बीच में क्रांति घटित हो गयी। एक क्षण पहले तक वे सिर्फ मरियम के बेटे जीसस थे—जिसने कहा, 'यह क्या दिखला रहा है!' शिकायत मौजूद थी। **आस्तिक के मन में शिकायत नहीं हो सकती।** दूसरे क्षण में तत्काल उनके मुंह से निकला: 'क्षमा कर, तेरी इच्छा पूरी हो। जो तू कर रहा है, वही ठीक है; उससे अन्यथा ठीक होने का कोई सवाल ही नहीं है।'

बस, वे क्राइस्ट हो गये। दूसरे ही क्षण वे मरियम के साधारण बेटे न रहे, वे परमात्मा के पुत्र हो गये।

अर्जुन कहे तो चला जा रहा है: 'भगवान्, भगवान्!' लेकिन वह केवल संबोधन है; वैसे ही, जैसे सभी संबोधन झूठे होते हैं, औपचारिक होते हैं। अभी भगवान् उसे दिखायी नहीं पड़ रहा है। दिखायी तो उसे यही पड़ रहा है कि अपना सखा है कृष्ण। आ गया है साथ, सारथी का काम कर रहा है। साथ है, इसलिए पूछ लेते हैं। बाकी भगवान् की जो अनुभूति है, वह अगर उसे हो जाय तो पूछने को उसे क्या बचता है। उसे कहना चाहिए, लगाम तुम्हारे हाथ में है; जो मर्जी। 'दाई विल बी डन,' अपनी इच्छा पूरी करो। इसलिए उसके भगवान् का संबोधन, अभी सार्थक नहीं है। क्योंकि वह संबोधन के बाद भी निर्णय खुद ले रहा है। वह कह रहा है, 'मैं युद्ध नहीं करूँगा।' कह रहा है, 'हे भगवान् अब मैं युद्ध नहीं करूँगा।' इस पर अगर कृष्ण हंसें और कहें कि तू बड़ी विरोधी बातें बोल रहा है, तो उचित ही है।

*

छठवाँ प्रवचन

प्रथम गीता ज्ञान-यज्ञ, अहमदाबाद, रात्रि, दिनांक १ दिसम्बर, १९७०

● **प्रश्नकर्ता : भगवान् श्री, लक्ष्य के साथ क्रियाएँ बनती हैं और निश्चित परिणाम की इच्छा रहती है। अगर हर समय चित्त मेरा निरहंकार या निर्विचार रहा तो क्रियाएं कैसे होंगी? निर्विचार मन कुछ व्यक्त कैसे कर सकता है? सब निरन्तर निर्विचार रहने से निष्क्रिय हो जाय तो समाज कैसे चल सकता है, समाज नष्ट नहीं हो जायेगा?**

भगवान् श्री : निरहंकार होने से कोई निष्क्रिय नहीं होता है। और न ही निर्विचार होने से कोई निष्क्रिय होता है। निरहंकार होने से सिर्फ कर्ता का भाव चला जाता है। लेकिन कर्म परमात्मा को समर्पित होकर पूर्णगति से प्रवाहित होते हैं। नदी बहती है, कोई अहंकार नहीं है। हवाएँ चलती हैं, कोई अहकार नहीं है। फूल खिलते हैं, कोई अहंकार नहीं है। ठीक ऐसे ही सहज, निरहंकारी जीवन से सब कुछ होता है, सिर्फ भीतर कर्ता का भाव संग्रहीत नहीं होता है। इसलिए सुबह जो मैंने कहा कि अर्जुन का अहंकार ही पूरे समय उसकी पीड़ा और उसका संताप बना है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह अहंकार छोड़ दे तो कर्म छूट जायेगा।

विचार मनुष्य को चिन्ता मे डालता है निर्विचार हो जाये चित्त, तो चिन्ता के बाहर हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि निर्विचार चित्त फिर बोलेगा नहीं, करेगा नहीं, अभिव्यक्ति नहीं रहेगी। नहीं, ऐसा नहीं। निर्विचार चित्त बाँस की पोंगरी की तरह हो जायेगा। गीत उससे बहेंगे, लेकिन अपने नहीं,

परमात्मा के ही बहेंगे। **विचार उससे निकलेंगे, लेकिन अपने नहीं, परमात्मा के ही निकलेंगे।** समस्त के प्रति समर्पित होगा वैसा चित्त। **बोलेगा वही** जो परमात्मा बुलाता है, करेगा वही जो परमात्मा कराता है। **स्वयं के बीच का** जो 'मैं' का आधार है, वह बिखर जायेगा! इसके बिखरते ही चिन्ता नहीं, इसके बिखरते ही कोई संताप, कोई 'एंग्जाइटी' नहीं।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

क्योंकि आत्मा नित्य है, इसलिए शोक करना अयुक्त है। वास्तव में न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था, अथवा तू नहीं था, अथवा यह राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।

भगवान् श्री : अर्जुन ऐसी चिन्ता दिखाता हुआ मालूम पड़ता है कि ये सब जो आज सामने खड़े दिखायी पड़ रहे हैं, युद्ध में मर जायेंगे, नहीं हो जायेंगे। कृष्ण उसे कहते हैं, जो है वह सदा से था, जो नहीं है वह सदा ही नहीं है। इस बात को थोड़ा समझ लेना उपयोगी है।

धर्म तो सदा ऐसी बात कहता रहा है लेकिन विज्ञान ने भी ऐसी बात कहनी शुरू की है। और विज्ञान से ही शुरू करना उचित होगा। क्योंकि धर्म शिखर की बातें करता है जिन तक सबकी पहुँच नहीं है। विज्ञान आधार की बातें करता है, जहां हम सब खड़े हैं। विज्ञान की गहरी से गहरी खोजों में एक खोज यह है कि अस्तित्व को अनस्तित्व में नहीं ले जाया जा सकता है। जो है, उसे विनष्ट करने का कोई उपाय नहीं है। और जो नहीं है, उसका सृजन करने का भी कोई उपाय नहीं है। रेत के एक छोटे से कण को भी हमारे विज्ञान की सारी जानकारी और सारे जगत् की प्रयोगशालाएँ और सारे जगत् के वैज्ञानिक मिलकर विनष्ट नहीं कर सकते हैं। रूपांतरित भर कर सकते हैं। नये रूप भर दे सकते हैं।

जिसे हम सृजन कहते हैं, क्रिएशन कहते हैं, वह भी नये रूप का निर्माण है। नये अस्तित्व का नहीं, 'एक्जिस्टेंस' का नहीं, 'फॉर्म' का। और जिसे हम विनाश कहते हैं, वह भी अस्तित्व का विनाश नहीं है, सिर्फ रूप का, आकृति का रूपान्तरण है। आकृतियाँ बदली जा सकती हैं, लेकिन जो आकृति में ही

छिपा है, वह अपरिवर्तित है। करीब-करीब ऐसा, जैसे कि गाड़ी का चाक चलता है और घूमता है, लेकिन एक कील है, जो खड़ी है, जिस पर चाक घूमता रहता है। जो चाक को ही जानते हैं, वे कहेंगे सब परिवर्तन है, जो कील को भी जानते हैं वे कहेंगे सब परिवर्तन के मूल में, केन्द्र पर ठहरा हुआ भी कुछ है, 'अनमूव्हिंग' भी कुछ है।

बड़े मजे की बात यह है कि अगर चाक से कील को अलग कर लें तो चाक जरा भी घूम न पायेगा। चाक का घूमना उस पर निर्भर है जो नहीं घूमता है। रूप बदलते हैं, **रूप का बदलना उस पर निर्भर है जो अरूप है,** 'फॉर्मलेस' है और नहीं बदलता है। अर्जुन जब यह कह रहा है कि 'ये सब मर जायेंगे,' तब वह रूप की, फॉर्म की, आकृति की बात कह रहा है। वह कह रहा है, ये सब मिट जायेंगे। उसे आकृति से ज्यादा का कुछ भी पता नहीं है।

जब कृष्ण कहते हैं, नहीं, जिन्हें तू आज देख रहा है वे पहले नहीं थे, ऐसा नहीं है। वे पहले भी थे। मैं भी पहले था, तू भी पहले था। और ऐसा भी नहीं है, जो हम आज हैं, कल नहीं होंगे। कल भी हम होंगे—सदा, सदा अनादि से अनंत तक हमारा होना है। यहाँ कृष्ण और अर्जुन दो अलग चीजों की बात कर रहे हैं, यह समझ लेना जरूरी है। **अर्जुन रूप की बात कर रहा है, कृष्ण अरूप की बात कर रहे हैं।** अर्जुन उसकी बात कर रहा है, जो दिखायी पड़ता है; कृष्ण उसकी बात कर रहे हैं, जो नहीं दिखायी पड़ता है। अर्जुन उसकी बात कर रहा है, जो आँखों और हाथों की पकड़ में आता है; कृष्ण उसकी बात कर रहे हैं जो हाथ, आँख और कान की पकड़ के पीछे छूट जाता है। अर्जुन, जैसा हम सब सोचते हैं वैसा सोच रहा है। कृष्ण, वैसा कह रहे हैं, जैसा हम सब जान सकें कभी तो सौभाग्य है।

जो दिखायी पड़ता है वह सदा नहीं था। सदा तो बहुत बड़ा शब्द है। जो दिखायी पड़ता है, वह क्षण भर पहले भी नहीं था। आप मेरे चेहरे को देख रहे हैं, क्षण भर पहले यह चेहरा यही नहीं था। क्षण भर बाद यही नहीं होगा। क्षण भर में बहुत कुछ मेरे शरीर में भर गया और बहुत कुछ नया आ गया।

बुद्ध कहा करते थे....कोई उनसे मिलने आता था, तो उससे कहा करते थे कि तुम जब मिलने आये थे, और जब तुम बिदा होओगे, तो वही नहीं रहोगे, जो मिलने के पहले थे। घण्टे भर में बहुत कुछ बदल जाता है। एक आदमी सात साल में पूरा का पूरा बदल जाता है। हर सात साल में शरीर के सब

अरणु-परमाणु बदल जाते हैं। प्रतिक्षण शरीर में कुछ मर रहा है और बाहर फेंका जा रहा है। प्रतिक्षण शरीर में नया जीवित हो रहा है, नया आ रहा है। भोजन से शरीर में आप नया डाल रहे हैं और प्रतिपल शरीर से बहुत कुछ बाहर फेंका जा रहा है। सात साल में पूरा शरीर बदल जाता है। लेकिन हम कहे चले जाते हैं कि मैं वही हूँ।

आकृति से समानता, आकृति से एकता बन जाती है। फिल्म देखते हैं कभी आप। अगर पर्दे पर फिल्म को धीमे-धीमे चलाया जाय, तो आप बहुत हैरान हो जायेंगे। हाथ, पैर से इतना ऊपर सिर तक उठे....हाथ थोड़ा-सा ऊपर उठे इसके लिए हजारों चित्र लेने पड़ते हैं। फिर वे चित्र एकदम से तेजी से चलाये जाते हैं। एक चित्र के बाद तुरन्त ही दूसरा ऊपर, तीसरा ऊपर, चौथा ऊपर। इतनी तेज़ी से, घूमते हैं प्रत्येक चित्र कि हाथ ऊपर उठता हुआ मालूम पड़ता है। लेकिन अगर उन्हें धीमे चलाया जाय तो आप पायेंगे कि हाथ के हजार चित्र लेने पड़े हैं। ठीक ऐसे ही जब हम एक व्यक्ति को देख रहे हैं, तो हम एक ही व्यक्ति को नहीं देख रहे हैं। जितनी देर हमने देखा, उस बीच हजार चित्र हमारी आँखों ने ग्रहण किए हैं। भीतर चित्र संश्लिष्ट हुए और एक आकृति हमारे मन में बनी। जब तक वह बनी है, तब तक बाहर सब बदल गया है।

विराट् आकाश में तारे दिखायी पड़ रहे हैं। जो तारे हमें दिखायी पड़ते हैं, वह वहीं नहीं होते हैं जहाँ दिखाई पड़ते हैं। वहाँ कभी थे। क्योंकि जो निकटतम तारा है, उससे भी रोशनी को हम तक आने में कोई चार साल लग जाते हैं। और रोशनी धीमी नहीं चलती। रोशनी चलती है एक सेकेंड में एक लाख छियासी हजार मील। एक लाख छियासी हजार मील प्रति सेकेंड से प्रकाश की किरण यात्रा करती है। चार साल लगते हैं उसे निकटतम तारे से हम तक पहुँचने में। जब हमारे पास किरण पहुँचती है, तो हमें तारा वहाँ दिखायी पड़ता है जहाँ चार साल पहले था। इस बीच हो सकता है कि वह बचा ही न हो, बिखर गया हो। और इतना तो तय है कि उस जगह अब नहीं होगा, जहाँ चार साल पहले था। इस बीच में करोड़ों, अरबों, खरबों मील की यात्रा कर गया होगा। इसीलिए रात हमें जो तारे दिखायी पड़ते हैं, वे वहाँ नहीं हैं, जहाँ दिखायी पड़ते हैं। रात बड़ी झूठी है, तारे बिलकुल झूठे हैं। कोई तारा वहाँ नहीं है। और बड़ी दूर के तारे हैं—किसी तारे को सौ वर्ष लगते हैं, रोशनी पहुँचाने में। करोड़ वर्ष लगते हैं। ऐसे तारे हैं कि जब पृथ्वी

बनी थी कोई चार अरब वर्ष पहले; तब से उनकी चली रोशनी, अब तक पृथ्वी पर नहीं पहुँची। इन चार अरब वर्षों में न मालूम क्या हो गया होगा!

जो हमें दिखायी पड़ता है वह वही नहीं है, जो है। देखने में जो समय लगता है, उतनी देर में सब बदल जाता है। जब आँख से मैं देखता हूँ आपके चेहरे को, तो आपसे किरण मुझ तक आती है, तब तक भी समय गुजरा। आप वही नहीं होते हैं। इस बीच भीतर कुछ बदल गया है। आकृति, सदा की तो बात दूर, क्षण भर भी एक नहीं रहती।

हेराक्लीटस ने कहा है, "यू कैननॉट स्टेप ट्वाइस इन द सेम रिव्हर। एक ही नदी में दोबारा नहीं उतर सकते।" यह भी जरा ठीक नहीं है, बिलकुल ठीक नहीं है। एक ही नदी में एक बार भी उतरना बहुत मुश्किल है, दोबारा उतरना तो असंभव है। एक नदी में एक बार भी उतरना मुश्किल है। क्योंकि जब पैर आपका नदी की सतह को छूता है, तब नीचे नदी भागी जा रही है। जब पैर और थोड़ा नीचे जाता है, तो ऊपर नदी भागी जा रही है, जब पैर और नीचे जाता है तब नदी भागी जा रही है। आपका पैर नदी में एक फीट उतरता है, उस बीच नदी का सारा पानी भागा जा रहा है। जब आप ऊपर छुएँ तब तक नीचे का पानी भाग गया है। जब तक आप नीचे पहुँचे तब तक ऊपर का पानी वही नहीं है। आकृति तो नदी की तरह भाग रही है। लेकिन आकृति हमें थिर दिखायी पड़ती है। समानता ही वजह से तादात्म्य मालूम होता है।

आकृति वही है जो कल देखा था, वही है जो सुबह देखा था। परन्तु प्रतिपल आकृति बदली जा रही है। यह आकृतियों का जो जगत्, यह रूप का जो जगत् है, अर्जुन इस रूप के जगत् के प्रति चिन्तित है बहुत, हम भी चिन्तित हैं बहुत। जो मर ही रहा है प्रतिपल, उसके लिए अर्जुन कह रहा है, ये मर जायेंगे तो क्या होगा? जो मर ही रहा है, जिसे बचाने का कोई उपाय नहीं है, उसके लिए वह चिन्तित है, वह असंभव के लिए चिन्तित है। और जो असंभव के लिए चिन्तित है, वह चिन्ता से कभी मुक्त नहीं हो सकता। असंभव की चिन्ता ही विक्षिप्तता बन जाती है।

आकृति को सदा बचाना तो दूर, क्षण भर भी बचाना मुश्किल है। एक कंपित आकृति का जगत् है; रूप का, ध्वनि का, किरण का, तरंगों का। वह कंपित है पूरे समय, उस वक्त सब बदला जा रहा है। अभी हम यहाँ इतने लोग बैठे हैं, हम सब बदले जा रहे हैं, सब कंपित हैं, सब तरंगायित हैं। सब 'वेवरिंग' है,

सब बदल रहा है। इस बदलाहट के जगत् को, जो भी सोचता हो बचाने की, वह असंभव अकांक्षा कर रहा है। असंभव आकांक्षाओं के किनारे टकराकर ही मनुष्य विक्षिप्त हो जाता है।

कृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं कि तू जो कह रहा है कि ये मर जायेंगे, तो मैं तुझे कहता हूँ, ये पहले भी थे बाद में भी होंगे। तू इनके मरने की चिन्ता छोड़ दे।

मुझे सुकरात की घटना याद आती है। सुकरात जब मर रहा था तो उसके एक मित्र क्रेटो ने पूछा कि आप मर जायेंगे लेकिन आप चिन्तित और परेशान दिखायी नहीं पड़ते। तो सुकरात ने कहा, मैं चिन्तित और परेशान नहीं हूँ, क्योंकि मैं सोचता हूँ कि यदि मर कर मर ही जाऊँगा, तब तो चिन्ता का कोई कारण नहीं। क्योंकि जब बचूंगा ही नहीं, तो चिन्ता कौन करेगा! दुखी कौन होगा, पीड़ित कौन होगा? कौन जानेगा कि मैं मर गया! अगर मैं मर ही जाऊँगा, तो जानने को भी कोई नहीं बचेगा कि मैं मर गया। जानने को भी कोई नहीं बचेगा कि मैं कभी था। जानने को कोई नहीं बचेगा कि सुकरात जैसा कुछ था। इसलिए चिन्ता का कोई कारण नहीं है। और अगर नहीं मरा, मर कर भी, तब तो कोई चिन्ता का कारण ही नहीं है। और दो ही संभावनाएँ हैं—सुकरात ने कहा—कि या तो मैं मर ही जाऊँगा और या फिर नहीं ही मरूँगा। और तीसरी कोई भी संभावना नहीं है। इसलिए मैं निश्चिन्त हूँ।

कृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं कि जो मरने वाला है, वह तेरे बचाने से नहीं बचेगा। और जो नहीं मरने वाला है, वह तेरे मारने से भी नहीं मर सकता है। इसलिए तू व्यर्थ को चिन्ता में पड़ रहा है। इस व्यर्थ की चिन्ता को छोड़।

रूप और अरूप के बीच जो जगत् का फैलाव है, अगर हम उसे रूप की तरफ से पकड़ें, तब भी चिन्ता व्यर्थ है क्योंकि जो मिट ही रहा है, मिट ही रहा है, मिट ही रहा है, मिट ही जायेगा, उस पर चिन्ता व्यर्थ है। जैसे पानी पर खींची गयी लकीर है। खिंच भी नहीं पाती और मिटनी शुरू हो जाती है। अगर हम अरूप की तरफ से सोचें तो वह नहीं मिटेगा, वह कभी मिटा नहीं है। लेकिन अरूप से हमारा कोई परिचय नहीं है, अर्जुन का भी कोई परिचय नहीं है।

यह भी समझ लेना जरूरी है कि अर्जुन की चिन्ता एक और दूसरी सूचना भी देती है। अर्जुन कहता है, ये सब मर जायेंगे। इसका मतलब है कि अर्जुन अपने को भी रूप ही समझता है। अन्यथा ऐसा नहीं कहेगा। हम दूसरों के संबंध

में जो कहते हैं, वह हमारे संबंध में ही कहा गया होता है। जब मैं किसी को मरते देखकर सोचता हूँ कि मर गया, खो गया, मिट गया तब मुझे जानना चाहिए कि मुझे अपने भीतर उसका पता नहीं है, जो नहीं मिटता है, नहीं मरता है, नहीं खोता है।

अर्जुन जब चिन्ता जाहिर कर रहा है कि ये मर जायेंगे, तो अपनी मृत्यु की ही चिन्ता जाहिर कर रहा है। वह यह जानता नहीं कि उसके भीतर भी कुछ है, जो नहीं मरता है। और जब कृष्ण कह रहे हैं कि ये नहीं मरेंगे, तब कृष्ण अपने संबंध में ही कह रहे हैं, क्योंकि वे उसे जानते हैं, जो नहीं मरता है।

हमारा बाहर का ज्ञान हमारे भीतर के ही ज्ञान का विस्तार है। हमारे जगत् का ज्ञान, हमारे स्वयं के ज्ञान का ही विस्तार है, 'एक्सटेंशन' है। जो हम अपने संबंध में जानते हैं, उसे ही फैलाकर हम समस्त के संबंध में जान लेते हैं। और जो हम अपने संबंध में नहीं जानते, उसे हम किसी और के संबंध में कभी नहीं जान सकते। **आत्म-ज्ञान ही ज्ञान है। बाकी सब ज्ञान गहरे अज्ञान पर खड़ा होता है। और अज्ञान पर खड़े ज्ञान का कोई भी भरोसा नहीं।**

अर्जुन बड़े ज्ञान की बातें करता हुआ मालूम पड़ता है। वह बड़े धर्म की बातें करता हुआ मालूम पड़ता है, लेकिन उसे इतना भी पता नहीं है कि अरूप भी है कोई, निराकार भी है कोई। अस्तित्व के आधार में कुछ है, जो अमृत है, इसका उसे कोई भी पता नहीं है। और जिसे अमृत का पता नहीं है, उसके लिए जीवन में अभी ज्ञान की कोई भी किरण नहीं फूटी। जिसे मृत्यु का पता है, वह घने अंधकार और अज्ञान में खड़ा है।

कसौटी यही है, अगर ज्ञात है आपको सिर्फ मृत्यु, तो अज्ञान आधार है और अगर ज्ञात है आपको अमृत, नहीं जो मरता, तो ज्ञान आधार है। अगर मृत्यु का भय है मन में—चाहे दूसरे की, चाहे अपनी, इससे कोई भेद नहीं पड़ता—तो वह गवाही है इस बात की कि आपको अमृत का कोई भी पता नहीं।

अमृत ही है। मृत्यु तो केवल ऊपर बनी हुई लहरों का नाम है। सागर ही है, लेकिन सागर दिखायी नहीं पड़ता। दिखायी लहरें पड़ती हैं। आप कभी सागर के किनारे गये हैं, तो सागर देखा है? कहेंगे जरूर देखा है। लेकिन सिर्फ लहरें ही देखी होंगी, सागर नहीं देखा होगा। लहरें सागर नहीं हैं, लहरें सागर में हैं जरूर, लेकिन सागर लहरें नहीं हैं। क्योंकि सागर बिना लहरों के भी हो सकता है, लेकिन लहरें बिना सागर के नहीं हो सकतीं। पर दिखायी लहरें पड़ती हैं। उन्हीं का जाल फैला है ऊपर। आँखें उन्हीं को पकड़ती हैं, कान उन्हीं को

सुनते हैं। लहर को ही आप देख रहे हैं और लहर बदली जा रही है। देख भी नहीं पाये कि बदल गयी। लहर का मतलब ही है, जो हो रही है, नहीं हो रही है। जिसका होना और न होना एक साथ चल रहा है। वह उठ रही है और गिर रही है। जो है और नहीं है। जो एक साथ डोल रही है। इस लहर को ही हम देखते हैं।

जिसने लहरों को ही सागर समझा, वह चिन्तित हो सकता है कि क्या होगा? लहरें मिट रही हैं, क्या होगा? लेकिन जो सागर को जानता है वह कहेगा, लहरों को बनने दो, मिटने दो। लहरों में जो पानी है, सागर है। वह पहले भी था, जब लहर नहीं थी और बाद में भी होगा, जब लहर नहीं होगी।

जीसस से बहुत पहले अब्राहम नामक एक 'प्रोफेट' हुआ है जेरूसलम में। अब्राहम जीसस से बहुत पहले हुआ है। एक बार जीसस से किसी ने पूछा कि आप अब्राहम के संबंध में क्या जानते हैं? तो जीसस ने कहा, 'जब अब्राहम हुआ, उसके पहले भी मैं था—'बिफोर अब्राहम, आई वाज'—मैं अब्राहम के पहले भी था।' निश्चित ही उस आदमी को शक हुआ होगा। तीस साल से ज्यादा उम्र नहीं थी जीसस की। अब्राहम को मरे हजारों साल हो गये और यह आदमी कहता है कि अब्राहम के पहले भी मैं था। जब अब्राहम नहीं हुआ था, तब भी मैं था। असल में जीसस सागर की बात कर रहे हैं। उस लहर की बात नहीं कर रहे, जो मरियम से उठी। वह जो जीसस नाम की लहर है, उसकी बात नहीं कर रहे हैं। वह उस सागर की बात कर रहे हैं, जो लहरों के पहले और लहरों के बाद है।

जब कृष्ण कहते हैं कि पहले भी हम थे, तू भी था, मैं भी था। यह जो लोग सामने युद्ध के स्थल पर खड़े हैं, ये भी थे। ये बाद में भी होंगे। तो वे सागर की बात कर रहे हैं। और अर्जुन लहर की बात कर रहा है। और अक्सर सागर और लहर की बात करने वाले लोगों में संवाद बड़ा मुश्किल है, 'कम्युनिकेशन' बहुत मुश्किल है। क्योंकि कोई पूरब की बात कर रहा है, कोई पश्चिम की बात कर रहा है।

गीता इतनी लंबी चलेगी, क्योंकि अर्जुन बार-बार लहरों की बात उठायेगा। और कृष्ण बार-बार सागर की बात करेंगे, और उनके बीच कहीं भी मिलन नहीं होता। कहीं वे एक दूसरे को काटते नहीं, काट दें तो बात हल हो जाय। इसलिए लंबी चलेगी बात। और अर्जुन फिर-फिर लहरों पर लौट आयेगा। उसे लहरें ही दिखायी पड़ती हैं और जिसे लहरें ही दिखायी पड़ती हैं, उसका भी

कसूर क्या है? लहरें ही ऊपर होती हैं। वे जो देखने पर ही निर्भर हैं, उन्हें लहरें ही दिखायी पड़ेंगी। अगर सागर को देखना हो तो खुली आँख से देखना जरा मुश्किल है। आँख बन्द करके देखना पड़ेगा। अगर सागर को देखना हो, तो सच तो यह है कि आँख से देखना ही नहीं पड़ता, सागर में डुबकी लगानी पड़ती है। और डुबकी लगाते वक्त आँख बन्द कर लेनी पड़ती है। लहरों से नीचे उतरना पड़ता है सागर में। लेकिन जो अभी अपने ही चित्त की लहरों से नीचे न उतरा हो, वह दूसरे के ऊपर उठी लहरों के नीचे नहीं जा सकता है। अर्जुन की सारी पीड़ा आत्म अज्ञान की है।

● **प्रश्नकर्ता :** भगवान् श्री, यह भी लहर का ही सवाल है। कृष्ण जब अर्जुन से यह कह रहे हैं कि मैं, तू और ये सब लोग पहले भी थे और बाद में भी होंगे, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कन्टेन्ट का फॉर्म के बजाय ज्यादा महत्व है। लेकिन क्या यह संभावना भी नहीं हो सकती है कि फॉर्म की बजाय कन्टेन्ट की सम्यक् अभिव्यक्ति नहीं हो सकती?

भगवान् श्री : अभिव्यक्ति और अस्तित्व में फर्क है। 'एग्जिस्टेंस' और 'एक्सप्रेशन' में फर्क है। जो अभिव्यक्त नहीं है, वह भी हो सकता है। एक बीज में एक वृक्ष छिपा है, वृक्ष उसमें अभिव्यक्त नहीं है, लेकिन है। इस अर्थ में कि हो सकता है, है इस अर्थ में कि छिपा है। है इस अर्थ में कि 'पोटेंशियल' है।

अभी आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी की एक लेबोरेटरी में, डिलाबार प्रयोगशाला में, एक बहुत अनूठा वैज्ञानिक प्रयोग चल रहा है। और वह प्रयोग मैं समझता हूँ, इस समय चलने वाले प्रयोगों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। वह प्रयोग यह है कि बहुत संवेदनशील कैमरे बीज में छिपे हुए उस वृक्ष का भी चित्र ले सकते हैं, जो बीस साल बाद पूरा का पूरा प्रगट होगा।

यह बहुत हैरानी वाली बात है। एक कली का चित्र लेते वक्त भूल से यह घटना घट गयी। और विज्ञान की बहुत-सी खोजें भूल से होती हैं। क्योंकि वैज्ञानिक बहुत 'ट्रेडिशनल माइंड' (रूढ़िगत चित्त) के होते हैं। वैज्ञानिक बहुत 'कंफर्मिस्ट' होते हैं। वैज्ञानिक आमतौर से क्रांतिकारी नहीं होता। क्रांतिकारी कभी-कभी वैज्ञानिक हो जाते हैं, यह दूसरी बात है। लेकिन वैज्ञानिक आमतौर से क्रांतिकारी नहीं होता। वैज्ञानिक तो जितना विज्ञान जानता है उसको जोर से पकड़ता है और किसी भी नयी चीज को प्रवेश नहीं करने देता। पिछले पूरे विज्ञान का इतिहास यह बताता है कि हर विज्ञान की नयी खोज में बाकी वैज्ञानिकों ने जितनी बाधा डाली, उतनी और किसी ने भी नहीं डाली है। तो

अक्सर नयी घटना भूल से घटती है। वैज्ञानिक उसको कर नहीं रहा होता, 'एक्सिडेंटल' होती है।

डिलाबार प्रयोगशाला में बहुत संवेदनशील कैमरों के साथ फूलों पर कुछ अध्ययन किया जा रहा है और एक कली का फोटो लिया गया, लेकिन कली का फोटो तो नहीं आया, फोटो फूल का आया। कैमरे के सामने कली थी और कैमरे के भीतर फूल आया। तब पहले तो यही ख्याल हुआ कि जरूर कुछ कैमरे की फ़िल्म में भूल हो गयी है। कोई 'एक्सपोज़र' पहले हो गया। कुछ न कुछ गलती हो गयी है। लेकिन फिर भी फूल के खिलने तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। और जब फूल खिला तो बड़ी कठिनाई हो गयी।

गलती कैमरे की फिल्म में नहीं हुई थी, गलती वैज्ञानिकों की समझ में थी। जब फूल खिला, तो ठीक वह वैसा ही था, जैसा कि चित्र बना था। तब फिर काम इस पर आगे जारी हुआ। और ऐसा समझा गया कि जो कल होने वाला है, वह भी किन्हीं सूक्ष्म तरंगों के जगत् में, इस समय भी हो रहा है, तभी कल हो पायेगा। एक बच्चा पैदा होता है माँ से, नौ महीने अंतर्गर्भ में छिपा होता है। किसी को पता नहीं कि क्या हो रहा है। नौ महीने के बाद बच्चा पैदा होता है। वह नौ महीने बाद अचानक नहीं आ जाता, नौ महीने की इसने अन्तर्यात्रा की है। एक कली जब फूल बनती है, तो फूल बनने के पहले उसके आस-पास की विद्युत तरंगें यात्रा करती हैं—फूल बनने की—गर्भ में। वह चित्र लिया जा सकता है। इसका मतलब यह हुआ कि आज नहीं कल, हम एक बच्चे के चित्र से उसके बुढ़ापे का चित्र भी ले सकेंगे। मैं मानता हूँ कि ले सकेंगे।

एक अर्थ में ज्योतिष अब बहुत वैज्ञानिक आधार लेगा। अब तक ज्योतिष वैज्ञानिक नहीं बन सका है। इस अर्थ में वैज्ञानिक बनेगा कि जो कल होने वाला है, वह आज भी किसी तल पर हो रहा है, हमें चाहे दिखायी पड़े, चाहें न दिखायी पड़े। कठिनाई कुछ ऐसी है कि मैं एक वृक्ष के नीचे बैठा हूँ, आप वृक्ष के ऊपर बैठे हैं। आप कहते हैं कि एक बैलगाड़ी रास्ते पर दिखायी पड़ रही है। मैं कहता हूँ, मुझे दिखायी नहीं पड़ रही है। मैं कहता हूँ, कोई बैलगाड़ी नहीं है, रास्ता खाली है। जहाँ तक रास्ता मुझे दिखायी पड़ता है, रास्ता खाली है। मेरे लिए बैल-गाड़ी भविष्य में है, 'फ्यूचर' में है। झाड़ पर आप बैठे हैं, आपके लिए प्रेजेन्ट में है, वर्तमान में है। आप कहते हैं, नहीं, बैलगाड़ी है। मैं कहता हूँ होगी। है तो नहीं, भविष्य में होगी। लेकिन आप कहते हैं, वर्तमान में है, मुझे दिखायी

पड़ रही है। फिर बैलगाड़ी मुझे भी दिखायी पड़ने लगती है। भविष्य से मेरे लिए भी वर्तमान में आ जाती है। फिर रास्ते पर चली जाती है, थोड़ी देर में मुझे दिखायी पड़नी बन्द हो जाती है। अतीत में चली जाती है—'पास्ट' में। लेकिन झाड़ पर से आप कहते हैं : नहीं, मुझे अभी भी दिखायी पड़ रही है। मेरे लिए अभी भी वर्तमान में है। मेरे लिए बैलगाड़ी भविष्य में थी, वर्तमान में हुई, फिर अतीत में हो गयी। आपके लिए एक ही तल में—प्रेजेन्ट में चल रही है, वर्तमान में चल रही है। आप मुझसे जरा ऊँचाई पर बैठे हैं और कोई खास फर्क नहीं है।

जहाँ से कृष्ण देख रहे हैं, वह ऊँचाई से देखना है, 'फ्रॉम द पीक'। वहाँ से वे कह रहे हैं कि नहीं, कल भी थे, परसों भी थे, पहले भी थे। अभी भो हैं, कल भी होंगे, परसों भी होंगे। असल में कृष्ण जहाँ से देख रहे हैं वहाँ 'एव्हर प्रेजेन्ट' है, वहाँ सब वर्तमान है। अर्जुन जहाँ से देख रहा है, वहाँ से वह कहता है, क्या पता जन्म के पहले थे या नहीं थे। मुझे पता नहीं, बस उसकी यात्रा इस जन्म तक जाती है। जन्म तक भी नहीं जाती।

आप भी यदि ठीक से देखेंगे, तो चार वर्ष से पहले की स्मृति आपको नहीं होती है। चार वर्ष से पहले की बात अनुमान है। लोग कहते हैं, इसलिए आपको पता है। चार वर्ष तक आपकी स्मृति जाती है। जो बहुत बुद्धिमान होता है, उसकी स्मृति तीन वर्ष तक चली जायेगी, कोई बहुत ही प्रतिभाशाली हुआ तो दो वर्ष तक चली जायेगी। लेकिन दो वर्ष तक भी जाय, तो दो वर्ष तक आप थे, कुछ कहा नहीं जा सकता! स्मृति ही आधार है, तो दो वर्ष के पहले आप नहीं थे। लेकिन अचानक कैसे हो जायेंगे, यदि दो वर्ष तक न रहे हों। लेकिन अगर याद आ जाय जन्म तक, (दूसरे याद दिला देते हैं) तो भी माँ के पेट में आप थे, उसकी कोई स्मृति नहीं है। लेकिन गहरी 'हिप्नोसिस' में उसकी स्मृति भी आ जाती है। गहरे सम्मोहन में व्यक्ति को बेहोश किया जाय, तो वह बता देता है कि वह तीन महीने का जब माँ के पेट में था तो माँ गिर पड़ी थी। बच्चे को भी चोट लगती है, जब माँ गिरती है। गर्भ की भी स्मृति याद आ जाती है। गर्भ के पार की भी स्मृति आ सकती है। पिछले जन्म की भी स्मृति आ सकती है, लेकिन वह हमारे लिए 'पास्ट' होगा। उसकी स्मृति जगानी पड़ेगी।

कृष्ण के लिए सब शाश्वत वर्तमान है, 'द इटरनल नाउ', अभी ही है सब। वे जिस जगह से खड़े होकर देख रहे हैं, वे कहते हैं, 'नहीं अर्जुन, पहले भी सब थे, बाद में भी सब होंगे। मैं भी था, तुम भी थे।'

यहाँ भी डर है कि भूल हो जायेगी। यहाँ भी डर यह है कि अर्जुन समझेगा कि मैं अर्जुन नाम का व्यक्ति पहले भी था। कृष्ण यह नहीं कह रहे हैं। अर्जुन नाम का व्यक्ति कभी नहीं था, पहले हो नहीं सकता। अर्जुन नाम का व्यक्ति तो सिर्फ एक वस्त्र है। वस्त्र के पीछे जो छिपी है चेतना, वह निराकार थी। और अर्जुन नाम का व्यक्ति आगे भी नहीं होगा। वह तो वस्त्र है, वह तो मौत के साथ खो जायेगा। हाँ, जिस पर टँगा है वस्त्र, वह आगे भी होगा।

कृष्ण जो कह रहे हैं, अगर अर्जुन कुछ समझेगा, तो भी भूल होने वाली है। वह भूल यह होगी कि वह ज्यादा से ज्यादा यही समझेगा कि मैं अर्जुन और तुम कृष्ण, हम पहले भी थे। ये जो लोग खड़े हैं, ये पहले भी थे। वह फिर भी वही पूछेगा कि ये आकृतियाँ पहले भी यही थीं? आकृतियाँ कभी यही न थीं।

आकृति अभिव्यक्ति है। अनाकृति, निराकार, अस्तित्व अभिव्यक्ति नहीं है। लेकिन अस्तित्व, अनस्तित्व भी हो सकता है, अनमेनिफेस्ट' भी हो सकता है। जो प्रगट है वही नहीं है, जो अप्रगट है वह भी है। प्रगट हमारे सामने है ही क्या! बहुत थोड़ा सामने प्रगट है। अगर हम वैज्ञानिक से पूछें तो आज वैज्ञानिक कहने लगा है कि हमारे सामने प्रगट बहुत थोड़ा-सा है। यहाँ हम बैठे हैं, आज से दो सौ साल पहले तो रेडियो नहीं था। आज रेडियो है। यहाँ हम रेडियो रखे हैं और उसे लगाते हैं और लंदन की आवाज सुनायी पड़नी शुरू हो जाती है। जब आप रेडियो पर बटन घुमाते हैं, क्या तब लंदन की आवाज शुरू होती है? नहीं, लंदन की आवाज तो गुजर ही रही है पूरे वक्त। सिर्फ आपके पास रेडियो नहीं था जो पकड़े। जब नहीं सुन रहे थे तब भी गुजर रही थी, 'मैनिफेस्ट' नहीं थी, प्रगट नहीं थी। अप्रगट गुजर रही थी। कान उसे नहीं पकड़ पाते हैं। और भी हजारों आवाजें गुजर रही हैं।

वैज्ञानिक कहते हैं, हमारी आवाज सुनने का एक 'रेंज' है। एक खास तरह की तरंगों तक हम सुनते हैं। उतनी तरंगों के नीचे भी नहीं सुनते, उसके ऊपर भी नहीं सुनते। हमारी सुनने की क्षमता की एक सीमा है, उसके पार बहुत कुछ गुजर रहा है, जो हमें सुनायी नहीं पड़ता है। वह भी है। उसके नीचे भी बहुत कुछ गुजर रहा है, जो हमें सुनायी नहीं पड़ता। वह भी है। जो हमें दिखायी नहीं पड़ता, वह भी है। अस्तित्व उतना ही प्रगट होता है, जितनी हमारे पास इंद्रियाँ हैं।

समझ लें, एक अंधा आदमी है, उसके लिये प्रकाश का कोई अस्तित्व नहीं है। क्योंकि अन्धे आदमी के लिए प्रकाश प्रकट होने में असमर्थ है। क्योंकि अन्धे

आदमी के पास कोई माध्यम नहीं है। जरा हम सोचें, कहीं न कहीं, किसी ग्रह-उपग्रह पर जरूर ऐसे प्राणी होंगे जिनके पास पाँच से ज्यादा इंद्रियाँ होंगी। उनको पता चलता होगा और भी अन्य चीजों का जिनका हमें कोई भी पता नहीं है।

वैज्ञानिक कहते हैं, कम से कम पचास हजार 'प्लेनेट्स', ग्रहों पर जीवन है। कोई चार अरब ग्रहों-उपग्रहों का पता है, उनमें कम से कम पचास हजार ग्रहों पर जीव के होने की संभावना है। इन पर अलग-अलग तरह का जीवन विकसित हुआ होगा—कहीं सात इंद्रियों वाले, कहीं पन्द्रह इंद्रियों वाले, कहीं बीस इंद्रियों वाले व्यक्ति होंगे। तो वे, वे चीजें जान रहे होंगे, जिनका हम सपना भी नहीं देख सकते, क्योंकि सपना भी हम वही देख सकते हैं, जो हम जानते हैं। सपने में भी हम वह नहीं देख सकते जो हम जानते नहीं। हम कल्पना भी नहीं कर सकते, हमारे कालिदास, हमारे भवभूति और हमारे रवीन्द्रनाथ भी कविता नहीं लिख सकते, कल्पना भी नहीं कर सकते उसकी, जो हमारी इंद्रियों से बाहर है। लेकिन वह है। चूँकि हमें नहीं दिखायी पड़ता है, इसलिए नहीं है, ऐसा कहने का कोई भी कारण नहीं है।

और फिर अभिव्यक्ति बहुत ऊपरी घटना है। अस्तित्व बहुत भीतरी घटना है। अस्तित्व घटना नहीं है, कहना चाहिए, अस्तित्व होना है, 'बीइंग' है और अभिव्यक्ति 'हैपनिंग' है, घटना है। मैं यहाँ बैठा हूँ। मैं एक गीत गाऊँ। जब तक मैंने गीत नहीं गाया था, तब तक गीत मेरे भीतर कहाँ था? कहीं था। कोई 'फीजियोलॉजिस्ट' मेरे शरीर को काट-पीट कर क्या गीत पकड़ सकता है? कोई वैज्ञानिक, कोई मनोवैज्ञानिक, कोई मस्तिष्क का सर्जन मेरे मस्तिष्क को काटकर क्या गीत की कड़ी पकड़ सकता है? कहीं भी खोजने से मेरे भीतर गीत नहीं मिलता। जो गीत मैं गा रहा हूँ, अगर वह मेरे भीतर नहीं था, तो उसके आने का उपाय ही कहाँ है! वह 'अनमेनिफेस्ट' था, वह कहीं बीज रूप में था, वह कहीं छिपा था। वह कहीं सूक्ष्मतम तरंगों में था, वह कहीं अस्तित्व में तो था, अभिव्यक्त नहीं था। फिर वह प्रगट हुआ है। प्रगट होने पर ही वह हो गया है ऐसा नहीं, प्रगट होने के पहले भी था। और ऐसा भी नहीं कि वह पूरा प्रगट हो गया हो, क्योंकि प्रगट होने में मेरी सीमाएँ भी बाधा डालती हैं।

रवीन्द्रनाथ मरते दम तक यह कहते रहे कि मैं जो गाना चाहता था, वह मैं गा नहीं पाया। लेकिन जिसको तुम गा ही नहीं पाये, तुम्हें कैसे पता चला कि

तुम उसे गाना चाहते हो! जरूर कहीं भीतर कुछ एहसास हो रहा है। कहीं कोई 'फीलिंग' हो रही है कि कुछ गाना था। कई बार आपको लगता है कि किसी का नाम जबान पर रखा है और याद नहीं आता। बड़े पागलपन की बात कहते हैं आप कि जबान पर रखा है तो अब और याद आने की जरूरत ही क्या है, निकालिये जबान से! लेकिन नहीं, आप कहते हैं, रखा तो जबान पर है, लेकिन याद नहीं आता।

क्या मतलब हुआ इसका? इसका मतलब हुआ कि कहीं कोई एक सरकता एहसास है कि मालूम है, लेकिन फिर भी 'मैनिफेस्ट' नहीं हो पा रहा है, फिर भी अभिव्यक्त नहीं हो पा रहा है, मन पकड़ नहीं पा रहा है। और कहीं आप मर जायें या आपको काट डाला जाय और हम आपके भीतर खोज-बीन करें कि जो जबान पर रखा था वह कहाँ है, तो जबान मिल जायेगी, जबान पर रखा हुआ कुछ नहीं मिलेगा। मस्तिष्क मिल जायेगा, तंतु मिल जायेंगे, हजारों-हजारों सेल की व्यवस्था मिल जायेगी, लेकिन वह ऐहसास कहीं मिलेगा नहीं। अनभिव्यक्त, 'अनमेनिफेस्ट', कहीं छिपा, कहीं अंतराल में, अस्तित्व में दबा वह खो जाता है।

कृष्ण यह कह रहे हैं कि जो तू प्रगट हुआ है, वही तू नहीं है। वह जो अप्रगट रह गया है, वही तू है। और जो अप्रगट है, वह बहुत बड़ा है और जो प्रगट हुआ है वह एक छोर भर है। ऐसे छोर बहुत बार प्रगट हुए हैं, ऐसे छोर बहुत बार प्रगट होते रहेंगे। लेकिन वह जो अप्रगट है, वह अनन्त है। वह जो अप्रगट है, अनादि है। वह जो अप्रगट है, असीम है। वह कभी चुकता नहीं है। सारी अभिव्यक्तियों के बाद भी वह अनचुका, पीछे शेष रह जाता है! निश्चित ही अभिव्यक्त न होगा तो हम इंद्रियों से उसे पहचान न पायेंगे। हम इंद्रियों से उसे न पहचान पायेंगे, क्योंकि इंद्रियाँ सिर्फ अभिव्यक्त को पकड़ती हैं। लेकिन हम इंद्रियों के भीतर उतरने की कला सीख जायँ, तो जो अभिव्यक्त नहीं है, वह भी पकड़ा जा सकता है, वह भी पहचाना जा सकता है, वह भी देखा जा सकता है, वह भी सुना जा सकता है, वह भी हृदय के किसी गहन तल पर स्पर्शित हो जाता है।

अभिव्यक्ति अस्तित्व की अनिवार्यता नहीं है, अभिव्यक्ति अस्तित्व का खेल है; आकृति अस्तित्व की अनिवार्यता नहीं है, आकृति अस्तित्व का खेल है। इसलिए कृष्ण जगत् को, जीवन को, एक लीला से ज्यादा नहीं कहते हैं। और लीला का मतलब है कि मंच पर कोई आया है, राम बनकर आया है, बस वह एक आकृति

है। कोई रावण बनकर आया है, एक आकृति है। वे 'धनुष-बाण' लेकर लड़ने खड़े हुए हैं, वे आकृतियाँ हैं। पर्दे के पीछे अभी थोड़ी देर बाद वे मित्र बन जावेंगे, सीता को भूल जावेंगे। झगड़ा बन्द हो जायेगा, चाय पियेंगे, ग्रीनरूम में बैठकर।

जो कृष्ण कह रहे हैं वह ग्रीनरूम की बात कह रहे हैं। अर्जुन जो बात कर रहा है, वह मंच की बात कर रहा है। पर जो मंच पर प्रगट हुआ है, वह सिर्फ रूप है, अभिनय है, वह एक आकृति है। और आकृति के बिना अस्तित्व हो सकता है। लेकिन अस्तित्व के बिना आकृति नहीं हो सकती है। जैसा मैंने कहा, लहर नहीं हो सकती सागर के बिना, सागर बिना लहर के हो सकता है।

नाटक के बाद जब राम और रावण पर्दे के पीछे जाकर गप-शप करके चाय पीने लगेंगे तब राम और रावण की जो आकृतियाँ बनीं थीं, वे कहाँ हैं? वे नहीं हैं, वे लहरें हैं। वे सिर्फ आकार थे। जो पीछे प्राण न हो, तो 'नहीं' हो जाते हैं। रूप बदलता है, फॉर्म बदलता है, आकृति बदलती हैं, अभिनय बदलता है, अभिनेता नहीं, वह जो पीछे खड़ा है, वह नहीं। कृष्ण उसकी ही बात करते हैं।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र मुह्यति ॥१३॥

किन्तु जैसे जीवात्मा की इस देह में कुमार, युवा और वृद्ध अवस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीर की प्राप्ति होती है। उस विषय में धीर पुरुष नहीं मोहित होता है।

भगवान् श्री : कृष्ण कह रहे हैं, जैसे एक इस शरीर में भी बदलाहट है—बचपन है, जवानी है, बुढ़ापा है, जन्म है, मृत्यु है—जैसे इस एक शरीर में भी कुछ स्थिर नहीं है, जैसे इस एक शरीर में भी सब अस्थिर, सब बदला जा रहा है—बच्चे जवान होते जा रहे हैं, जवान बूढ़े होते जा रहे हैं, बूढ़े मृत्यु में उतरे जा रहे हैं। लेकिन बड़े मजे की बात है कि भाषा में पता नहीं चलता, क्योंकि शब्दों में गति नहीं होती। वे ठहरे हुए, स्थिर होते हैं, 'स्टैटिक' होते हैं। भाषा में शब्द ठहरे होते हैं। जीवन के साथ भाषा बड़ा अनाचार करती है। जीवन में कुछ भी ठहरा हुआ नहीं होता है। न ठहरे हुए जीवन पर, जब हम ठहरे हुए शब्दों को जड़ देते हैं, तो बड़ी गलती हो जाती है।

हम बोलते हैं, यह बच्चा है। गलत बोलते हैं। बच्चा 'है' की स्थिति में कभी नहीं होता, बच्चा पूरे वक्त 'होने' की स्थिति में होता है, हो रहा है। कहना चाहिए बच्चा 'हो रहा है'। हम कहते हैं, बूढ़ा है। गलत बात कहते हैं। 'है' की स्थिति में कोई बूढ़ा नहीं होता। 'बूढ़ा हो रहा है'। प्रत्येक चीज हो रही है। 'है' की स्थिति में कोई भी चीज नहीं है। 'इज' की हालत में कोई भी चीज नहीं है, प्रत्येक चीज 'बिकमिंग' में है। हम कहते हैं, नदी है। कैसी गलत बात कहते हैं—नदी ग्रौर 'है', हो सकती है? नदी का मतलब ही है, कि जो बह रही है, हो रही है।

सब शब्द स्थिर हैं ग्रौर जीवन में कहीं भी कुछ थिर नहीं है। इसीलिए जीवन के साथ बड़ी भूल हो जाती है। ग्रौर इन शब्दों को दिन-रात, बोलते-बोलते हम भूल जाते हैं। जब हम किसी ग्रादमी को जवान कहते हैं, तो जवान का मतलब क्या होता है जीवन में? भाषा-कोश में नहीं, शब्द-कोष में नहीं। शब्द-कोश में तो जवान का मतलब, जवान होता है। जिन्दगी में क्या होता है? जिन्दगी में जवान का मतलब, सिर्फ बूढ़े होने की तैयारी होती है। ग्रौर कुछ नहीं होता। शब्द-कोश में कहीं नहीं लिखा है। शब्द-कोश में बूढ़े का मतलब बूढ़ा होता है। जिन्दगी में बूढ़े का मतलब, मरने की तैयारी होती है। ग्रौर तैयारी भी ऐसी नहीं कि जो हो गयी। वह तो हो रही है, होती ही जा रही है।

कृष्ण कह रहे हैं, इस जीवन में भी ग्रर्जुन, चीजें ठहरी हुई नहीं हैं। इस जीवन में भी जिन ग्राकृतियों को तू देख रहा है, कल वे बच्ची थीं, जवान हुईं, बूढ़ी हो गयीं।

बड़े मजे की बात है। माँ के पेट में जब पहली दफे बीजारोपण होता है, उस 'सेल,' उस कोष्ठ का चित्र ले लिया जाय ग्रौर ग्रापको बताया जाय कि ग्राप यही थे पचास साल पहले, तो ग्राप मानने को राजी न होंगे कि क्या मजाक करते हैं, मैं ग्रौर यह! एक छोटा सेल जो नंगी ग्राँख से दिखायी भी नहीं पड़ता, जिसको खुर्दबीन से देखना पड़ता है। जिसमें न कोई ग्राँख है, न कोई कान है, न कोई हड्डी है। जिसमें कुछ भी नहीं है। जिसका पता नहीं कि स्त्री होगी कि पुरुष होगा। एक छोटा-सा बिन्दु, यह काला धब्बा, यह मैं! मजाक कर रहे हैं। यह मैं कैसे हो सकता हूँ! लेकिन यही ग्रापकी पहली तस्वीर है। इसे ग्रपने ग्राल्बम में लगाकर रखना चाहिए। ग्रौर ग्रगर यह ग्राप नहीं हैं, तो जो तस्वीर ग्रापकी ग्राज है, वह भी ग्राप नहीं हो सकते हैं। प्रतिपल वह भी बदल जायेगी। ग्रगर हम एक ग्रादमी की जो पहले दिन पैदा हुग्रा था, तब की तस्वीर ग्रौर जिस

दिन मरता है, उस दिन की तस्वीर ग्रास-पास रखें, तो क्या इन दोनों के बीच कोई भी ताल-मेल दिखायी पड़ेगा? कोई भी संबंध हम जोड़ पायेंगे? क्या हम कभी कल्पना भी कर पायेंगे, यह वही बच्चा है, जो पैदा हुग्रा था, वही यह बूढ़ा मर रहा है! कोई संगति नहीं दिखायी पड़ेगी, बड़ी ग्रसंगत बात दिखायी पड़ेगी कि कहाँ वह, कोई इसका संबंध दिखायी नहीं पड़ता है। लेकिन इतने ग्रसंगत प्रवाह की भी हम कभी चिन्ता, कभी विचार नहीं करते हैं।

कृष्ण यही विचार उठाना चाह रहे हैं ग्रर्जुन में। वे कह रहे हैं कि जिन ग्राकृतियों को तू कह रहा है कि मिट जायेंगी, वे ग्राकृतियाँ मिट ही रही हैं। ये चौबीस घंटे मिटती ही रही हैं। ये सदा मिटने के क्रम में ही लगी हैं। ग्रादमी पूरी जिन्दगी मरने के सिवाय ग्रौर कुछ करता ही नहीं। उसकी सारी जिन्दगी मरने का ही एक लम्बा क्रम है। जन्म में जो शुरू होता है, मृत्यु में वह पूरा होता है।

जन्म की प्रक्रिया एक कदम है, मृत्यु की प्रक्रिया दूसरा कदम है ग्रौर ऐसा भी नहीं है कि ग्रचानक मौत एक दिन ग्रा जाती है। मौत जन्म के दिन से रोज-रोज ग्राती ही रहती है। तभी तो पहुँच पाती है। उसको सत्तर साल लग जाते हैं, ग्राप तक ग्राने में। या ऐसा समझिये कि ग्रापको सत्तर साल लग जाते हैं उस तक पहुँचने में। लेकिन यात्रा पहले दिन ही शुरू हो जाती है।

सब बदल रहा है, लेकिन फिर भी यह ख्याल नहीं ग्राता कि इतनी बदलाहट के बीच मुझे यह ख्याल क्यों बना रहता है कि मैं वही हूँ, जो बच्चे में था। मैं वही हूँ, जो जवान में था। मैं वही हूँ, जो बूढ़े में है। यह 'ग्राइडेन्टिटी,' यह तादात्म्य, इतनी बदलाहट के बीच यह सातत्य, यह स्मृति, यह रिमेम्बरिंग कहाँ बनी रहती है, किसे बनी रहती है, क्यों बनी रहती है? एक स्वर तो जरूर भीतर होना चाहिए जो ग्रनबदला है, ग्रन्यथा कौन याद करेगा?

मैं कहता हूँ कि दस साल का था तो ऐसी घटना घटी। मेरे भीतर जो दस साल में था वह जरूर किसी तल पर ग्राज भी होना चाहिए। ग्रन्यथा दस साल पहले जो घटना घटी उसे मैं कैसे याद रख सकता हूँ। मैं तो नहीं था, जो मैं ग्राज हूँ, यह तो मैं नहीं था। जो भी ग्राज दिखायी पड़ता है, वह दस साल में मैं नहीं था। तो किसे याद है? यह स्मृति का सूत्र कहाँ है? जरूर गहरे में कोई कील होनी चाहिए, जिस पर सब बदल गया है, रास्ते बदल गये हैं। ग्रनेक-ग्रनेक रास्तों पर वह रथ घूम चुका है, लेकिन कोई एक कील जरूर होनी चाहिए

जिसने चक्के की हर स्थिति देखी है। चक्का भी खुद याद नहीं रख सकता है, रोज बदल रहा है पूरे समय। कोई अनबदला तत्त्व चाहिए।

कृष्ण कह रहे हैं कि बचपन था, जवानी थी, बुढ़ापा था। इस सब बदलाहट के बीच कोई थिर, कोई नहीं बदलने वाला, कोई अपरिवर्तित, कोई 'अनमूविंग' तथ्य, उसकी स्मृति जगाने को हो, तब फिर हम ऐसा न कह सकेंगे कि मैं बच्चा था, फिर हम ऐसा न कह सकेंगे कि मैं जवान था। फिर हम ऐसा न कह सकेंगे कि मैं बूढ़ा हूँ।

नहीं! तब हमारी बात और होगी! तब हम कहेंगे कि मैं कभी बचपन में था, मैं कभी जवानी में था, मैं कभी बुढ़ापे में था। मैं कभी जन्मा, मैं कभी मरने में था। लेकिन यह जो 'मैं' है, यह इन सारी स्थितियों से ऐसे टूट जायेगा, जैसे कोई यात्री स्टेशनों से गुजरता है, तो अहमदाबाद के स्टेशन को नहीं कहता कि मैं अहमदाबाद हूँ। वह कहता है कि मैं अहमदाबाद के स्टेशन पर हूँ। बम्बई पहुँचकर वह यह नहीं कहता कि मैं बम्बई हो गया हूँ। वह कहता है, मैं बम्बई के स्टेशन पर हूँ। क्योंकि वह बम्बई हो जाय तो फिर अहमदाबाद कभी नहीं हो सकेगा। अहमदाबाद हो जाय तो फिर बम्बई कभी नहीं हो सकेगा।

आप अगर बच्चे थे, तो जवान कैसे हो सकते हैं? अगर आप जवान थे, तो बूढ़े कैसे हो सकते हैं? निश्चित ही कोई आपके भीतर होना चाहिए जो बच्चा नहीं था। इसलिए बचपन भी आया और गया। जवानी भी आयी और गयी। बुढ़ापा भी आया और जायेगा। जन्म भी आया, मृत्यु भी आयी। और कोई है, जो इस सब के भीतर खड़ा है और सब आ रहा है और जा रहा है, स्टेशन की तरह। यह फासला दिखायी पड़ जाय कि जिन्हें हम अपना होना मान लेते हैं, वे केवल स्थितियाँ हैं। हमारा होना, वहाँ से गुजरा है, लेकिन हम वही नहीं हैं—उसके ही स्मरण के लिए कृष्ण कह रहे हैं।

● **प्रश्नकर्ता** : कहा जाता है कि यह शरीर छोड़कर आत्मा अन्य शरीर में प्रवेश करता है। मरण और जन्म के बीच के अन्तराल में आत्मा का क्या केवल अस्तित्व रहता है, या अभिव्यक्ति भी? उस अवस्था का स्वरूप कैसा होता है।

भगवान् श्री : उस अन्तराल में अभिव्यक्ति भी होती है। लेकिन वह अभिव्यक्ति, जैसी अभिव्यक्ति से हम परिचित रहे हैं शरीर के भीतर, वैसी नहीं होती। उस अभिव्यक्ति का माध्यम पूरा बदल जाता है। वह अभिव्यक्ति सूक्ष्म शरीर की अभिव्यक्ति होती है। उसे भी देखा जा सकता है विशेष 'ट्यूनिंग' में

जैसे रेडियो सुना जा सकता है विशेष 'ट्यूनिंग' में। उसे भी स्पर्श किया जा सकता है विशेष व्यवस्था से।

साधारण शरीर, जिसे हम जानते हैं वैसा शरीर, जो हम दफना आते हैं, वह नहीं रह जाता। लेकिन वही अकेला शरीर नहीं है हमारे भीतर। उसके भीतर और शरीर भी हैं। उसके भीतर शरीरों का एक जाल है! साधारण मृत्यु में सिर्फ पहला (भौतिक) शरीर गिरता है। उसके पीछे छिपा दूसरा शरीर हमारे साथ ही यात्रा करता है।

सूक्ष्म शरीर कहें, कोई नाम दे दें, 'एस्ट्रल बॉडी' कहें, कोई भी नाम दे दें—वह हमारे साथ यात्रा करता है। उस शरीर में ही हमारी सारी स्मृतियाँ, सारे अनुभव, सारे कर्म, सारे संस्कार संग्रहीत होते हैं। यह हमारे साथ यात्रा करता है। उस शरीर को देखा जा सकता है। बहुत कठिन नहीं है उसे देखना। बहुत ही सरल है। परन्तु जैसे-जैसे दुनिया आगे बढ़ी है सभ्यता में, उसे देखना थोड़ा कठिन हो गया, अन्यथा इतना कठिन नहीं था। कुछ चीजें खो गयी हैं, हमें दिखायी पड़नी मुश्किल हो गयी हैं। सिर्फ हम आदी नहीं रहे उनको देखने के। उस दिशा से हमारे मन हट गये हैं। उस दिशा में हमने खोज-बीन बन्द कर दी है। अन्यथा वह सूक्ष्म शरीर बहुत सरलता से देखा जा सकता था। अभी भी देखा जा सकता है। और अभी तो वैज्ञानिक आधारों पर भी देखने की बड़ी सफल चेष्टाएँ की गयी हैं। उस सूक्ष्म शरीर के सैकड़ों हजारों चित्र भी लिये गये हैं, समस्त वैज्ञानिक उपकरणों से जाँच भी की गयी है।

यहाँ हम इतने लोग बैठे हैं। हम इतने ही लोग नहीं बैठे हैं। (अगर किसी दिन हम वैसा कैमरा बहुत ठीक से विकसित कर पाये, जो कि हो ही जायेगा, क्योंकि चित्र तो सूक्ष्म शरीरों के लिये ही जाने लगे हैं।) यहाँ का चित्र किसी दिन उस कैमरे से लिया जाय, जो सूक्ष्म शरीरों को भी पकड़ता हो, तो लोग इतने ही नहीं दिखायी पड़ेंगे, जितने बैठे हैं। और भी बहुत से लोग दिखायी पड़ेंगे जो हमें दिखायी नहीं पड़ रहे हैं।

महावीर की सभाओं के लिए कहा जाता है कि उनमें बड़ी भीड़ होती थी। लेकिन उस भीड़ में बहुत तरह के व्यक्ति सम्मिलित होते थे। उसमें वे व्यक्ति सम्मिलित होते थे, जो गाँवों से सुनने आये थे; वे भी सम्मिलित होते थे, जो आकाश से सुनने आये थे। सदा ही सब जगह वे चेतनाएँ भी मौजूद हैं। कभी-कभी मृत-आत्माएँ अपनी तरफ से भी कोशिश करती हैं कि आपको

दिखायी पड़ जायँ। कभी आप कोशिश करें, तो भी वे दिखायी पड़ सकती हैं। लेकिन उनसे उनके दिखायी पड़ने का संबंध विशेष है, सामान्य नहीं है।

एक शरीर से दूसरे शरीर की यात्रा में बीच में सूक्ष्म शरीर तो होता ही है, क्योंकि सूक्ष्म शरीर अगर न हो तो नया शरीर ग्रहण नहीं किया जा सकता। सूक्ष्म शरीर को अगर विज्ञान की भाषा में कहें तो वह 'बिल्ट-इनप्रोग्रैम' है। उसमें नये शरीर के ग्रहण करने की सारी योजनाएँ 'ब्लूप्रिन्ट' की तरह होती हैं, नहीं तो नये शरीर को ग्रहण करना मुश्किल हो जायेगा। आपने अब तक इस जिन्दगी में जो भी संग्रह किया है : संस्कार, अनुभव, ज्ञान, कर्म—जो भी आपने इकट्ठा किया है, जो भी आप हैं, सब उसमें है।

कभी आपने देखा, रात जब आप सोते हैं, तो रात सोते समय जो आपका आखिरी विचार होता है, वह सुबह उठते वक्त आपका पहला विचार होता है। नहीं देखा हो तो थोड़ा ख्याल करना। रात सोते वक्त नींद के उतरने के आखिरी क्षण में जब नींद उतर रही है, उस वक्त आपका जो विचार होगा, सुबह जब नींद टूट रही होगी, तब वही आपका पहला विचार होगा। रात का आखिरी विचार सुबह का पहला विचार होगा। वह रात भर कहाँ था, आप तो सो गये थे! अब तक उसे खो जाना चाहिए था। वह आपके सूक्ष्म शरीर में प्रतीक्षा करता रहा, ताकि आप उठें तो फिर आपको पकड़े।

जैसे ही यह शरीर छूटता है, आप एक 'बिल्ट-इन-प्रोग्रैम', जिन्दगी भर की आकांक्षाओं, वासनाओं, कामनाओं का संग्रहीत 'ब्लूप्रिंट', एक नक्शा, अपने सूक्ष्म शरीर में लेकर यात्रा पर निकल जाते हैं। वह नक्शा तब तक प्रतीक्षा करेगा, जब तक कि आप नये शरीर को ग्रहण न करें। जैसे ही शरीर ग्रहण होगा, फिर जो-जो संभावना शरीर में उपलब्ध होने लगेगी, जिस-जिस चीज का अवसर बनने लगेगा, वह सूक्ष्म शरीर उन-उन चीजों को प्रगट करना शुरू कर देगा।

एक बार ऐसी मृत्यु भी होती है, जब सूक्ष्म शरीर भी आपके साथ नहीं होता। वैसी मृत्यु को ही मुक्ति, वैसी मृत्यु को ही मोक्ष कहते हैं। उसके बाद सिर्फ अस्तित्व होता है, फिर कोई अभिव्यक्त शरीर नहीं होता। लेकिन साधारण मृत्यु में आपके साथ एक शरीर होता है। असाधारण मृत्यु जो है, वह महामृत्यु सिर्फ समाधिस्थ की होती है। जो इस जन्म में समाधि को उपलब्ध होगा, उसका मतलब होता है, उसने जीते जी अपने सूक्ष्म शरीर को विसर्जित कर दिया। समाधि का मतलब भी यही है, उसने जीते जी सूक्ष्म शरीर को विसर्जित

कर दिया, 'बिल्ट-इन-प्रोग्रैम' तोड़ डाला। अब आगे की यात्रा के लिए उसके पास कोई योजना न रही। अब कोई पंचवर्षीय योजना नहीं है उसके पास, कोई पाँच जीवन की। अब उसके पास कोई योजना नहीं है। अब वह योजना-मुक्त हो गया। अब इस शरीर के गिरते ही उसके पास सिर्फ अस्तित्व रह जायेगा, अभिव्यक्ति नहीं।

अभिव्यक्ति बंधन है, क्योंकि अभिव्यक्ति पूरे की अभिव्यक्ति नहीं है। इसलिए थोड़ा तो प्रगट होता है और जो अप्रगट रहता है वह बेचैन होता है। हमारे प्राणों में जो स्वतंत्रता की छटपटाहट है, वह हमारे प्राणों में जो मुक्ति की आकांक्षा है, वह इस कारण से है कि बड़ा थोड़ा-सा प्रगट हो रहा है। जैसे एक आदमी के सारे शरीर में जंजीरें बाँध दी और सिर्फ एक अँगुली खुली छोड़ दी। आज वह अपनी अँगुली हिला रहा है। वह तकलीफ में पड़ा हुआ है। वह कहता है, मुझे स्वतंत्रता चाहिए। मेरा पूरा शरीर जकड़ा हुआ है। इसी प्रकार हमारा पूरा अस्तित्व जकड़ा हुआ है। एक छोटे से द्वार से जो जरा-सी अभिव्यक्ति हो रही है, वह अभिव्यक्ति बन्धन मालूम पड़ती है। वही हमारी पीड़ा है। हम छटपटा रहे हैं। लेकिन इस छटपटाहट का हम दो तरह के प्रयोग कर सकते हैं या तो वह जो छोटा-सा द्वार है हमारा शरीर, उसी के माध्यम से हम अपने को मुक्त करने की कोशिश में लगे रहें, तो हम उसको बड़ा करेंगे।

एक आदमी बड़ा मकान बनाता है। उसका मतलब सिर्फ यह है कि वह अपने शरीर को बड़ा बना रहा है। एक आदमी बड़ा मकान बनाता है और बड़े मकान में उसे लगता है कि थोड़ा मुक्त हुआ। 'स्पेस' बढ़ी, जगह बड़ी हुई। छोटी कोठरी में ज्यादा बन्द मालूम होता था, बड़े मकान में जरा खुला मालूम पड़ता है। लेकिन थोड़े दिन में वह भी छोटा मालूम पड़ने लगता है। फिर एक बड़ा महल बनाता है, थोड़े दिन में वह भी छोटा मालूम पड़ने लगता है।

असल में आदमी के पास इतना बड़ा अस्तित्व है कि पूरा आकाश भी छोटा है। इसलिए वह कितने ही बड़े मकान बनाता जाय, वे छोटे पड़ जायेंगे। उसको इतनी 'स्पेस' (जगह) चाहिए जितनी परमात्मा को मिली है। इससे कम में काम नहीं चल सकता। भीतर भी परमात्मा ही है। वह पूरी जगह चाहता है, वह असीम चाहता है—जहाँ कहीं कोई सीमा न आती हो। जहाँ भी सीमा आयेगी, वहीं बंधन मालूम होगा। शरीर बहुत तरह की सीमाएँ बना लेता है। देखने की सीमा, सुनने की सीमा, सोचने की सीमा, सब चीज की सीमा है।

असीम है अस्तित्व और सीमित है अभिव्यक्ति, इसलिए अभिव्यक्ति से मुक्त

होना ही संसार से मुक्त होना है। वह जिसको हम पुरानी भाषा में कहें, आवागमन से मुक्त होना, वह अभिव्यक्ति से मुक्त होना है। वह खुद अस्तित्व की तलाश है, 'प्योर एग्जिस्टेंस' की तलाश है। वह उस अस्तित्व की तलाश है जहाँ अभिव्यक्ति नहीं होगी, बस होना ही होगा। 'जस्ट बीइंग', सिर्फ होना ही रह जायेगा। उसकी सीमा नहीं है, **सिर्फ होने में सीमा नहीं है।** तो जिस दिन कोई समाधि को पाकर, सब 'बिल्ट-इन-प्रोग्रैम' को तोड़कर, अभिव्यक्ति की सारी आकांक्षाएँ छोड़कर, अभिव्यक्ति की सारी वासनाओं को छोड़कर मरता है, उस दिन उसके पास फिर कोई शरीर नहीं होता, फिर हम उसका 'फोटोग्राफ' नहीं ले सकते।

अभी पश्चिम में 'साइकिक रिसर्च सोसाइटीज' ने जो 'फोटोग्राफ्स' लिये हैं उन फोटोग्राफ में महावीर का फोटोग्राफ नहीं हो सकता, उस फोटोग्राफ में बुद्ध को नहीं पकड़ा जा सकता, उस फोटोग्राफ में कृष्ण को नहीं पकड़ा जा सकता, उस फोटोग्राफ में उनको हो पकड़ा जा सकता, जो अभी 'बिल्ट-इन-प्रोग्रैम' लेकर चले हैं, जिनके पास एक योजना है, एक 'ब्लू-प्रिन्ट' है शरीर का, उनको पकड़ा जा सकता है। महावीर का फोटोग्राफ नहीं पकड़ा जा सकता है, कोई उपाय नहीं। अस्तित्व का कोई भी चित्र नहीं लिया जा सकता। अस्तित्ववान का चित्र लिया जा सकता है, अस्तित्व का कोई चित्र नहीं लिया जा सकता है। अस्तित्व का क्या चित्र होगा? क्योंकि अस्तित्व की कोई सीमा नहीं है। चित्र उसी का हो सकता है जिसकी सीमा हो। तो साधारण मृत्यु में शरीर रहेगा, पर सूक्ष्म हो जायेगा। असाधारण मृत्यु में, यौगिक मृत्यु में, महा मृत्यु में, निर्वाण में कहीं कोई शरीर नहीं रह जाता। न ही कोई लहर रह जाती, तब सागर ही रह जाता है।

● **प्रश्नकर्ता** : मृत्यु के बाद मृतात्मा की वासना की शांति के लिए पुत्र-पत्नी कुछ कर सकते हैं? क्योंकि गीता में पिण्डदान का उल्लेख आता है।

भगवान् श्री : वासना, प्रत्येक व्यक्ति की अपनी ही है, दूसरा उसमें कुछ भी नहीं कर सकता। वासना मेरी है, मेरी पत्नी कुछ नहीं कर सकती। हाँ, लेकिन मेरी वासना के लिए करने के बहाने से, अपनी वासना के लिए कुछ कर सकती है। पर वह बहुत दूसरी बात है। पति मर गया है। पत्नी अपने पति को वासनामुक्त करने की कोशिश करती है—प्रार्थना करती है, हवन करती है, पिण्डदान करती है, कुछ भी करती है, कई आयोजनाएँ करती है। इससे उसके

पति की वासना में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता है, लेकिन उसकी स्वयं की वासना में अन्तर पड़ सकता है। और योजना का 'सीक्रेट' (रहस्य) यही है।

योजना पति की वासना की मुक्ति के लिए नहीं है, क्योंकि पति की वासना मुक्ति अगर आप करवा दें, तब तो पति को वासना भी पकड़ा सकते हैं आप। तब तो इस दुनिया में मुश्किल हो जायेगी। महावीर मर जायँ और महावीर की पत्नी वासना पकड़ाये तो महावीर क्या करेंगे? क्योंकि **जिसे हम मुक्त कर सकते हैं, उसे हम बाँध भी सकते हैं।** तब तो मुक्ति भी बंधन बन जायेगी, तब तो मुक्ति भी असंभव है। नहीं, लेकिन राज़ दूसरा है, 'सीक्रेट' दूसरा है। वह 'सीक्रेट' साधारणतः खोला नहीं गया है। राज़ यह है कि पति मर गया है। पति के लिए तो पत्नी कुछ भी नहीं कर सकती। जिन्दा में ही नहीं कुछ कर सकती, मरने के बाद करना तो बहुत मुश्किल है। दूसरे व्यक्ति का अपना होना है, जिसमें हमारा कोई प्रवेश नहीं है—न पति का, न पत्नी का, न माँ का, न पिता का। लेकिन पति के बहाने वह जो करेगी—अगर वह पति को वासना-मुक्त करने की आकांक्षा से प्रार्थना करे, तो यह प्रार्थना, यह आकांक्षा, यह वासनामुक्ति की कामना उसकी अपनी वासना को तिरोहित करेगी।

यह बड़े मजे की बात है कि दूसरे की वासना जगाने में हम अपनी ही वासना जगाते हैं। असल में दूसरे के साथ जो हम करते हैं, गहरे में अपने ही साथ करते हैं। सच तो यह है कि दूसरे के साथ सिर्फ किये जाने का दिखावा हो सकता है। सब करना अंततः अपने ही साथ है। उपयोगी है, लेकिन कृपा करके ऐसा मत सोचें कि वह जो यात्रा पर निकल गया है उसके लिए उपयोगी है। आपके लिए उपयोगी है। आपके लिए सार्थक है।

यह बात यदि ऐसी ही कही गयो होती, जैसा मैं कह रहा हूँ, तो शायद पत्नी प्रार्थना भी न करती। सोचती ठीक है। लेकिन मरे हुए पति के लिए इतना करने की आकांक्षा उसके मन में होती है कि शायद उनको सुगम मार्ग मिल जाय, आनंद की राह मिल जाय, स्वर्ग का द्वार मिल जाय।

जिन्दा रहते तो हम एक दूसरे को सिर्फ नर्क के द्वार तक पहुँचाते हैं, एक दूसरे को दुःख में धक्के देते हैं। इसलिए मरने के बाद पश्चतावा, 'रिपेन्टेंस' शुरू होता है। मरने के बाद पति, पत्नी को जितना प्रेम करता हुआ दिखायी पड़ने लगता है, ऐसा जिन्दगी में कभी नहीं किया था। 'रिपेन्टेंस' शुरू होता है। जीते के साथ जो किया था उससे बिलकुल उल्टा शुरू होता है। बाप के साथ बेटा जिन्दा में जो कर रहा था, वह मरने के बाद कुछ और करता है। जिन्दा में

कभी आदर न दिया था, मरने के बाद तस्वीर लगाता है, फूल चढ़ाता है। जिन्दा में कभी पैर न दबाये थे, मरने के बाद राख को समेट कर गंगा ले जाता है। जिन्दा बाप ने कहा होता कि गंगा ले चलो, तो भूलकर न ले गया होता। मरे बाप को गंगा ले जाता है।

बहुत गहरे में हम जिन्दा लोगों के साथ इतना दुर्व्यवहार कर रहे हैं कि फिर मरों के साथ क्षमा याचना ही कर सकते हैं, और कुछ नहीं। पति के लिए पत्नी कर सकती है, पति पत्नी के लिए कर सकता है, बेटा बाप के लिए कर सकता है, बेटा माँ के लिए कर सकता है। अपने लिए शायद नहीं भी करेगा। इसलिए एक बहुत मनोवैज्ञानिक सत्य को, एक बहुत गलत कारण देकर पकड़ाने की कोशिश की गयी है। वह सत्य केवल इतना है कि **हम दूसरे की वासना शान्ति के लिए किये गये प्रयास से अपनी वासना को शांत करने में सक्षम होते हैं।** पर यह छोटी बात नहीं है। मगर यह जानकर ही की जानी चाहिए। और अब यह जानकर ही होगी; क्योंकि युग बदलता है तो प्रौढ़ता बढ़ती है मस्तिष्क की।

घर में यदि मिठाई रखी है, तो हम बच्चों से कह देते हैं कि भूत है कमरे में, मत जाना। कोई भूत नहीं होता, मिठाई होती है। लेकिन मिठाई बच्चा ज्यादा न खा ले, और बच्चे को अभी समझाने का कोई उपाय नहीं होता कि मिठाई ज्यादा खा लोगे तो नुकसान हो जायेगा। काम हो जाता है, भूत के नाम पर, बच्चा नहीं जाता। लेकिन जब बच्चा जवान हो जाता है, अब इसको कहिये कि भूत है, तो कहेगा : रहने दो, कोई फिक्र नहीं। बल्कि भूत की वजह से और आकर्षण पैदा होता है, वह और जाता है। वैसे शायद न भी जाता। अब तो उचित है कि इसे पूरी बात ही समझा दी जाय।

आदमियत ने जो-जो धारणाएँ मनुष्यता के बचपन में निर्मित की थीं, वह सब की सब अब अस्त-व्यस्त हो गयी हैं। अब उचित है कि सीधी और साफ बातें कह दी जायें। आज से पाँच हजार साल पहले, जब गीता कही गयी होगी या और भी पहले, तो जो धारणाएँ मनुष्य के विकास की प्राथमिक अवस्थाओं में कही गयी थीं, वह अब हँसने योग्य हो गयी हैं। अगर उन्हें बचाना हो तो उनके राज़ खोल देने जरूरी हैं, उन्हें सीधा साफ कह देना जरूरी है कि वे किस लिए हैं। भूत नहीं है, मिठाई है। और मिठाई खाने के नुकसान क्या हैं, वह साफ कह देने उचित हैं।

मनुष्य प्रौढ़ हुआ है और इसलिए मनुष्य सारी दुनिया में अधार्मिक दिखायी

पड़ रहा है। यह मनुष्य की प्रौढ़ता है, अधार्मिकता नहीं है। असल में प्रौढ़ आदमी के लिए, 'एडल्ट ह्यूमैनिटी' के लिए, प्रौढ़ हो गयी मनुष्यता के लिए, बचपन में दिये गये मनुष्यता के जो सिद्धांत हैं, अब उनकी आत्मा को फिर से नये शरीर देने की जरूरत है!

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

हे कुन्तीपुत्र, सर्दी, गर्मी और सुख दुःख को देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो क्षणभंगुर और अनित्य हैं। इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन, उनको तू सहन कर।

भगवान् श्री : जो भी जन्मता है, मरता है। जो भी उत्पन्न होता है वह विनष्ट होता है। जो भी निर्मित होगा वह बिखरेगा, समाप्त होगा। कृष्ण कह रहे हैं, इसे स्मरण रख भारत, इसे स्मरण रख कि जो भी बना है वह मिटेगा और जो जन्मा है वह मरेगा। इसका अगर स्मरण हो, इसकी अगर याददाश्त हो, इसका अगर होश, 'अवेयरनेस' हो तो उनके मिटने के लिए दुःख का कोई कारण नहीं रह जाता। और जिसके मिटने में दुःख का कारण नहीं रह जाता, उसके होने में सुख का भी कोई कारण नहीं रह जाता।

हमारे सुख-दुःख, हमारी इस भ्रांति से जन्मते हैं कि जो भी मिला है वह रहेगा। प्रियजन आकर मिलता है तो सुख मिलता है, लेकिन जो आकर मिलेगा, वह जायेगा। जहाँ मिलन है वहाँ विरह है। मिलन में विरह को देख लें तो उसके मिलन का सुख विलीन हो जाता है और उसके विरह का दुःख भी विलीन हो जाता है। जो जन्म में मृत्यु को देख ले, उससे जन्म की खुशी बिदा हो जाती है, उसकी मृत्यु का दुःख बिदा हो जाता है और जहाँ सुख और दुःख बिदा हो जाते हैं, वहाँ जो शेष रह जाता है, उसका नाम ही आनन्द है। आनन्द, सुख नहीं है। आनन्द सुख की बड़ी राशि का नाम नहीं है, आनन्द सुख के स्थिर होने का नाम नहीं है, आनन्द मात्र दुःख का अभाव नहीं है, आनन्द मात्र दुःख से बच जाना नहीं है—**'आनन्द' सुख और दुःख दोनों से ही ऊपर उठ जाना है।** दोनों से ही बच जाना है।

सुख और दुख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जो मिलन में सिर्फ मिलन को देखता और विरह को नहीं देखता, वह क्षण भर के सुख को उपलब्ध होता है।

फिर जो विरह में सिर्फ विरह को देखता है, मिलन को नहीं देखता, वह क्षण भर के दुःख को उपलब्ध होता है। और जब कि मिलन और विरह एक ही प्रक्रिया के दो हिस्से हैं, एक ही चुम्बक के दो ध्रुव हैं। एक ही चीज के दो छोर हैं। इसलिए जो सुखी हो रहा है, उसे जानना चाहिए कि वह दुःख की ओर अग्रसर हो रहा है। जो दुखी हो रहा है, उसे जानना चाहिए कि वह सुख की ओर अग्रसर हो रहा है। सुख और दुःख एक ही अस्तित्व के दो छोर हैं। और जो भी चीज निर्मित है, जो भी चीज बनी है वह बिखरेगी। बनने में ही उसका बिखरना छिपा है। निर्मित होने में ही उसका विनाश छिपा है। जो व्यक्ति इस सत्य को पूरा का पूरा देख लेता है वह सुख और दुःख से मुक्त हो जाता है। हम आधे सत्य को देखते हैं। और दुखी होते हैं।

यह बड़े मजे की बात है कि असत्य दुःख नहीं देता, आधे सत्य दुःख देते हैं। असत्य जैसी कोई चीज है भी नहीं, क्योंकि असत्य का मतलब ही यह होता है, जो नहीं है। सिर्फ आधे सत्य ही असत्य हैं। वे भी हैं इसीलिए कि वे भी सत्य के आधे हिस्से हैं, पूरा सत्य आनन्द में ले जायेगा, आधा सत्य सुख-दुःख में डांवाडोल करता रहता है।

इस जगत् में असत्य से मुक्त नहीं होना है, सिर्फ आधे सत्यों से मुक्त होना है। ऐसा समझिये कि आधा सत्य, 'हाफ ट्रुथ' ही असत्य है। और कोई असत्य है नहीं। असत्य को भी खड़ा होना पड़े, तो सत्य के ही आधार पर खड़ा होना पड़ता है, वह अकेला खड़ा नहीं हो सकता, उसके पास अपने कोई पैर नहीं हैं।

कृष्ण कह रहे हैं अर्जुन से कि तू पूरे सत्य को देख। तू आधे सत्य को देखकर विचलित, पीड़ित, परेशान हो रहा है। जो भी विचलित, पीड़ित, परेशान हो रहा है, वह किसी न किसी आधे सत्य से ही परेशान होगा। जहाँ भी दुःख है, जहाँ भी सुख है, वहाँ आधा सत्य होगा। और आधा सत्य पूरे समय पूरा सत्य बनने की कोशिश कर रहा है।

जब आप सुखी हो रहे हैं, तभी आपके पैर के नीचे से जमीन खिसक गयी है और दुःख आ गया है। जब आप दुखी हो रहे हैं, तभी आप जरा गौर से देखें, आस-पास दुःख के पीछे सुख कहीं छाया की तरह आ रहा है। इधर सुबह होती है, साँझ होती है। इधर दिन निकलता है, उधर रात होती है। इधर रात है, उधर दिन तैयार हो रहा है। जीवन पूरे समय, अपने से विपरीत में यात्रा

है। एक छोर से दूसरे छोर पर लहरें जा रही हैं। कृष्ण कहते हैं, भारत! पूरा सत्य देख। पूरा तुझे दिखायी पड़े, तो तू अनुद्विग्न हो सकता है।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ, दुःख-सुख को समान समझनेवाले जिस धीर पुरुष को यह इन्द्रियों के विषय व्याकुल नहीं कर सकते, वह मोक्ष के लिए योग्य होता है।

भगवान् श्री : दो में, ध्रुवों में बँटा हुआ जो हमारा अस्तित्व है, इन दोनों के बीच, इन दोनों की आकृतियों के भेद को देखकर, इनके भीतर अस्तित्व की एकता को जो अनुभव कर लेता है, ऐसा व्यक्ति ही ज्ञानी है। जिसे जन्म में मृत्यु की यात्रा दिखायी पड़ जाती है, जिसे सुख में दुःख की छाया दिखायी पड़ जाती है, मिलन में विरह आ जाता है जिसके पास, जो प्रतिपल विपरीत को मौजूद देखने में समर्थ हो जाता है, वैसा व्यक्ति ही ज्ञानी है—जो देखने में समर्थ हो जाता है। ऐसा मानने में समर्थ हो जाता है, वह ज्ञानी नहीं हो जाता है। मान लिया ऐसा, तो काम नहीं चलता है।

माने हुए सत्य अस्तित्व के जरा से धक्के में गिर जाते हैं। जाने हुए सत्य ही जीवन में नहीं बिखरते। जो ऐसा जान लेता है, ऐसा देख लेता है, या कहें कि ऐसा अनुभव कर लेता है, वह इनसे मुक्त हो जाता है। और बड़े मजे की बात है कि अनुभव करने कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं है। जिन्दगी रोज मौका देती है, प्रतिपल मौका देती है। ऐसा कोई सुख जाना है आपने, जो दुःख न बन गया हो? ऐसी कोई सफलता जानी है, जो विफलता न बन गयी हो? ऐसा कोई यश जाना है जो अपयश न बन गया हो?

लाओत्से कहा करता था कि मुझे जीवन में कभी कोई हरा नहीं पाया। वह मर रहा है, आखिरी क्षण है। उसके शिष्यों ने पूछा, वह राज हमें भी बता दो, क्योंकि चाहते तो हम भी हैं कि जीतें, कोई हमें हरा न पाये। जरूर बता दें जाने के पहले वह राज, वह 'सीक्रेट'। तो लाओत्से हँसने लगा। उसने कहा, तुम गलत आदमी हो। तुम्हें बताना बेकार है, तुमने मेरी पूरी बात भी न सुनी और बीच में ही पूछ लिया। मैं इतना ही कह पाया था कि मुझे जिन्दगी में कोई हरा नहीं पाया। पूरी बात तो सुन लो। आगे मैं कहने वाला था कि मुझे जिन्दगी में कोई हरा नहीं पाया, क्योंकि मैंने जिन्दगी में किसी को जीतना ही

नहीं चाहा। क्योंकि मुझे दिखायी पड़ गया कि जीता कि हारने की तैयारी की। इसलिए मुझे कोई हरा नहीं पाया; **क्योंकि मैं कभी जीता ही नहीं।** उपाय ही नहीं रहा मुझे हराने का। मुझे हराने वाला आदमी नहीं था पृथ्वी पर। कोई हरा ही नहीं सकता था, क्योंकि मैं पहले से ही हारा हुआ था। मैंने जीतने की कोई चेष्टा ही नहीं की। लेकिन तुम कहते हो कि हम भी जीतना चाहते हैं और हम भी चाहते हैं, कि कोई हमें हरा न पाये, तो तुम हारोगे। क्योंकि जीत और हार एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

कृष्ण कह रहे हैं कि 'ऐसा जो देख लेता है....' और देखने का ध्यान रखें, यह देखना 'एजिस्टेंसियल' अनुभव है। यह अस्तित्वगत अनुभव है। हम रोज जानते हैं, लेकिन पता नहीं कैसे चूक जाते हैं देखने से, कैसे अपने को बचा लेते हैं देखने से! शायद बड़ी ही चालाकी हम अपने साथ करते हैं। अन्यथा ऐसा जीवंत सत्य दिखायी न पड़े यही आश्चर्य है।

रोज अनुभव में आता है कि सब चीजें अपने से विपरीत में बदल जाती हैं। ज्यादा गहरी मित्रता करें और शत्रुता जन्मनी शुरू हो जाती है। लेकिन तरकीब क्या है हमारी इससे बच जाने की? तरकीब हमारी यह है कि जब मित्र शत्रु बनने लगता है, तो हम ऐसा नहीं समझते हैं कि मित्रता शत्रुता बन रही है, हम समझते हैं कि मित्र शत्रु बन रहा है! जब कोई मित्र शत्रु बनने लगता है तो हम समझते हैं कि मित्र शत्रु बन रहा है। दूसरा कोई मित्र होता तो नहीं बनता, यह आदमी दगाबाज था। तीसरा कोई मित्र होता तो नहीं बनता। वह दूसरा मित्र, जब आप भी उसके शत्रु बन रहे हैं, तब वह भी यही सोचता है कि गलत आदमी चुन लिया। ठीक आदमी होता तो कभी ऐसा नहीं होने वाला था। मित्र जब शत्रु बनता है, तब हम सत्य से वंचित रह जाते हैं। **सत्य यह है कि मित्रता शत्रुता बन जाती है।** लेकिन हम मित्र पर थोपकर, फिर दूसरे मित्र की तलाश करने लग जाते हैं।

एक आदमी ने अमेरिका में आठ बार शादियाँ कीं। मगर होशियार आदमी होगा। पहली शादी साल भर बाद हुई, फिर तलाक किया। देखा कि पत्नी गलत है। कोई अनहोनी बात नहीं देखी, सभी पति देखते हैं, सभी पत्नियाँ देखती हैं। देखा कि पत्नी गलत है, चुनाव गलत हो गया। तलाक कर दिया। फिर दूसरी पत्नी चुनी। छः महीने बाद पता चला कि फिर गलत हो गया! इस प्रकार आठ बार जिन्दगी में शादी की, लेकिन मैंने कहा आदमी होशियार होगा। क्योंकि आठ बार की भूल से भी जो ठीक सत्य पर पहुँच जाय, वह भी

असाधारण आदमी है। आठ हजार बार भी करके नहीं पहुँचते, क्योंकि हमारा तर्क तो वही रहता है हर बार।

आठ बार के बाद उसने शादी नहीं की। उसके मित्रों ने पूछा कि तुमने शादी क्यों न की? तो उसने कहा कि आठ बार में एक अजीब अनुभव हुआ. कि हर बार जिस स्त्री को मैं ठीक समझकर लाया, वह पीछे गलत साबित हुई। तो पहली दफा मैंने सोचा कि वह स्त्री गलत है, दूसरी दफे सोचा यह स्त्री गलत है लेकिन तीसरी दफे शक पैदा होने लगा। चौथी दफा तो बात बहुत साफ दिखायी पड़ने लगी। फिर भी मैंने कहा, एक दो प्रेम और कर लेना चाहिए। आठवीं बार बात स्पष्ट हो गयी कि सवाल स्त्री के गलत और सही होने का नहीं है। जिससे भी सुख चाहा, उससे दुःख मिलेगा। क्योंकि सब सुख, दुःख में बदल जाते हैं। जिससे भी मित्रता चाही, उससे शत्रुता मिलेगी। क्योंकि सभी मित्रताएँ, शत्रुताओं की शुरुआत है।

'ट्रिक' कहाँ है मन की, धोखा कहाँ है? तरकीब है कि अनुभूति के सत्य को, स्थिति के सत्य को, हम व्यक्तियों पर थोप देते हैं। फिर नया व्यक्ति खोजने निकल जाते हैं। साइकिल नहीं है घर में, साइकिल खरीद ली। फिर पाते हैं, सोचा था बहुत सुख मिलेगा, नहीं मिला। लेकिन तब तक यह ख्याल भी नहीं आता कि जिस साइकिल के लिए रात-रात भर सपने देखे थे कि मिल जाय, तो बहुत सुख मिलेगा, अब बिलकुल नहीं मिल रहा है, लेकिन वह बात ही भूल जाते हैं। तब तक हमें कार मिल जाय तो उसके सुख में लग जाते हैं। फिर कार भी मिल जाती है। फिर भूल जाते हैं कि जितना सुख सोचा था क्या उतना मिला? वह कभी मिलता नहीं।

मिलता है दुःख, खोजा जाता है सुख। मिलती है घृणा, खोजा जाता है प्रेम। मिलता है अंधकार, यात्रा की जाती है सदा प्रकाश की। लेकिन इन दोनों को हम कभी जोड़कर नहीं देख पाते, गणित को हम कभी पूरा नहीं कर पाते। उसका एक कारण और भी ख्याल में ले लेना जरूरी है। क्योंकि दोनों के बीच में 'टाइम-गैप' होता है, इसलिए हम नहीं जोड़ पाते हैं।

आफ्रिका में जब पहली दफा पश्चिम के लोग पहुँचे, तो बड़े हैरान हुए। क्योंकि आफ्रिकनों में यह ख्याल ही नहीं था कि बच्चों का सम्भोग से कोई सम्बन्ध है। उनको पता ही नहीं था इस बात का कि बच्चे का जन्म संभोग से किसी भी तरह जुड़ा हुआ था, 'टाइम-गैप' बड़ा है। एक तो सभी संभोग से बच्चे पैदा नहीं होते। दूसरे नौ महीने का फर्क पड़ता है। आफ्रिका में ख्याल ही

नहीं था कबीलों में कि बच्चे का कोई संबंध सम्भोग से है। संभोग से कुछ लेना-देना ही नहीं है। 'कॉज' और 'एफेक्ट' में इतना फासला जो है—कारण नौ महीने पहले, कार्य नौ महीने बाद। तो जोड़ नहीं हो पाते थे।

सुख को जब हम पकड़ते हैं, जब तक दुःख बनता है, तब तक बीच में 'टाइम' गिरता है। हम जोड़ नहीं पाते कि कब दोनों बिन्दु जुड़े। यह वही सुख है जो अब दुःख बन गया, लेकिन हम नहीं जोड़ पाते। मित्र को शत्रु बनने में समय लगेगा न। आखिर कुछ भी बनने में समय लगता है। तो जब मित्र बना तब, और जब शत्रु बना तब, वर्षों बीच में गुजर जाते हैं। जोड़ नहीं पाते कि मित्र बनने में और शत्रु तक पहुँचने में इतना वक्त लगा। मित्र बनने की घटना अलग है और शत्रु बनने की घटना अलग है, तब तय नहीं कर पाते। तब व्यक्ति पर ही थोप देते हैं कि गलती व्यक्ति के साथ हो गयी।

कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि तू आर-पार देख, पूरा देख, और जो इस पूरे को देख लेता है वह ज्ञानी हो जाता है। और ज्ञानी को फिर ठण्डा और गरम, सुख और दुःख पीड़ा नहीं देते। लेकिन इसका यह मतलब मत समझ लेना कि ज्ञानी को ठण्डे और गरम का पता नहीं चलता है। ऐसी भ्रांति हुई है इसलिए मैं कहता हूँ। ऐसी भ्रांति हुई है, तब तो वह ज्ञानी न हुआ, जड़ हो गया। अगर 'सेंसिटिविटी' (संवेदनशीलता) मर जाय तो उसको पता ही न चले। कई जड़-बुद्धि ज्ञानी होने के भ्रम में पड़ जाते हैं। क्योंकि उन्हें ठण्डक और गर्मी का पता नहीं चलता। थोड़े अभ्यास से पता नहीं चलेगा। इसमें कोई कठिनाई नहीं है।

ध्यान रहे, ज्ञानी को ठण्डे और गर्म से, सुख और दुःख से पीड़ा नहीं होती। सुख और दुःख में चुनाव नहीं रह जाता, 'च्वाइस' नहीं रह जाती, 'च्वाइसलेसनेस' हो जाती है। इसका यह मतलब नहीं है कि दिखायी नहीं पड़ता। इसका यह मतलब नहीं है कि ज्ञानी को सुई चुभाएँ तो पता नहीं चलेगा। इसका यह मतलब नहीं कि ज्ञानी के गले में फूल डालें तो सुगन्ध न आयेगी और दुर्गंध फेंकें तो दुर्गंध न आयेगी। नहीं, सुगंध और दुर्गन्ध दोनों आएँगी, आपसे ज्यादा आयेंगी। उसकी संवेदनशीलता आपसे ज्यादा होगी। उसकी सेंसिटिविटी' ज्यादा होगी, क्योंकि वह अस्तित्व के प्रति ज्यादा सजग होगा। क्षण के प्रति ज्यादा जागा होगा। उसकी अनुभूति आपसे तीव्र होगी। लेकिन वह यह जानता है कि सुगन्ध और दुर्गंध, गन्ध के ही दो छोर हैं।

कभी जहाँ सुगन्ध बनती है, उस फैक्टरी के पास से गुजरें तो पता चल

जायेगा। असल में दुर्गन्ध को ही सुगन्ध बनाया जाता है। खाद डाल देते हैं और फूल में सुगन्ध आ जाती है। सुगन्ध और दुर्गन्ध, गन्ध के ही दो छोर हैं। गन्ध अगर प्रीतिकर लगती है, तो सुगन्ध मालूम होती है, गन्ध अगर अप्रीतिकर लगती है तो दुर्गन्ध मालूम पड़ती है। ऐसा नहीं कि ज्ञानी को पता नहीं चलता कि क्या है सौंदर्य और क्या है कुरूपता। बहुत पता चलता है। लेकिन यह भी पता चलता है कि सौंदर्य और असौंदर्य आकृतियों के दो छोर हैं, एक ही लहर के दो छोर हैं।

इससे बड़ी भ्रांति हुई है और वह भ्रांति यह हुई है कि जिस आदमी को सर्दी-गर्मी का पता न चले, वह ज्ञानी हो गया। यह बहुत आसान है। वह काम बहुत कठिन है जो मैं कह रहा हूँ। सर्दी-गर्मी का पता न चले, इसके लिए तो थोड़ा-सा अभ्यास मात्र करने की जरूरत है। सर्दी-गर्मी का पता नहीं चलेगा, चमड़ी जड़ हो जायेगी। उनका बोध कम हो जायेगा। जरा नाक में, नासापुटों में जो थोड़े से गन्ध के तन्तु हैं, अगर थोड़े दिन दुर्गंध के पास बैठे रहें तो वे अभ्यासी हो जायेंगे। तो परमहंस भी हो जाते हैं लोग, दुर्गन्ध के पास बैठकर। ना-समझ उनके चरण भी छूते हैं कि बड़ा परमहंस है, दुर्गन्ध का पता नहीं चलता है! किस भंगी को पता चलता है? नासापुट नष्ट हो जाते हैं, लेकिन इससे भंगी परमहंस नहीं हो जाते।

खलील जिब्रान ने एक छोटी-सी कहानी लिखी है, वह मैं कहूँ, फिर आज की बात पूरी करूँ।

जिब्रान ने लिखा है कि गाँव से, देहात से, एक औरत शहर आयी। मछलियाँ बेच रही है। मछलियाँ बेच दी। लौटती थी साँझ को, उसकी सहेली थी शहर में। गाँव की ही लड़की थी। उसने उसे ठहरा लिया कि आज रात रुक जा। वह माली की पत्नी थी, मालिन थी। बगिया थी सुन्दर उसके पास। फूल ही फूल थे। मेहमान घर में आया है, गरीब मालिन, उसके पास तो कुछ और न था। उसने बड़े फूल—मोंगरे के, गुलाब के, जुही के, चमेली के उसके चारों तरफ लाकर रख दिये। रात उसे नींद न आयी। वह करवट बदले, और बदले, और नींद न आये। मालिन ने उससे पूछा, नींद नहीं आती है? कोई तकलीफ? उसने कहा, तकलीफ है। यह फूल हटाओ। और मेरी टोकरी जिसमें मैं मछलियाँ लायी थी, वह मुझे दे दो, उसमें थोड़ा पानी छिड़क दो। (अपरिचित मकान हो तो मुश्किल हो जाती है।) अपरिचित गंध है। मछलियों की गंध से उसे नींद आ गई।

किसी को फूलों की सुगंध न मोहे, मरी मछलियों की दुर्गन्ध से कष्ट न हो, इससे कोई परमहंस नहीं हो जाता। सर्दी और गर्मी का पता न चले तो कोई ज्ञानी नहीं हो जाता। सुख-दुःख का पता न चले तो कोई ज्ञानी नहीं हो जाता। सुख-दुःख का पूरी तरह पता चले और फिर भी सुख-दुःख का संतुलन न खोए; सुख-दुःख का पूरी तरह पता चले, लेकिन सुख में भी दुःख की छाया देखे, दुःख में भी सुख की छाया देखे; सुख-दुःख आर-पार, 'ट्रांसपेरेंट' दिखायी पड़ने लगें, तो व्यक्ति ज्ञान को उपलब्ध होता है।

* *

सातवाँ प्रवचन

प्रथम गीता ज्ञान-यज्ञ, अहमदाबाद, प्रातः, दिनांक २ दिसम्बर, १९७०

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः । ॥ १६ ॥

और, हे अर्जुन, असत् [वस्तु] का तो अस्तित्व नहीं है और सत् का अभाव नहीं है। इस प्रकार, इन दोनों को हम तत्त्व-ज्ञानी पुरुषों द्वारा देखा गया है।

भगवान् श्री : क्या है सत्य, क्या है असत्य, उसके भेद को पहचान लेना ही ज्ञान है, प्रज्ञा है। किसे कहें 'है', किसे कहें 'नहीं है', इन दोनों की भेद-रेखा को खींच लेना ही जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। क्या है स्वप्न और क्या है यथार्थ, इसके अन्तर को समझ लेना ही मुक्ति का मार्ग है। कृष्ण ने इस वचन में कहा है, जो है, और सदा है, और जिसके न होने का कोई उपाय नहीं है, और जिसके न होने की कोई सम्भावना ही नहीं है, वही सत् है। वही 'रीयल' है, जो है। लेकिन जो कभी नहीं था और फिर कभी नहीं हो सकता है, जिसके न हो जाने की संभावना है, वही असत् है, वही 'अनरीयल' है।

यहां बहुत समझ लेने जैसी बात है। साधारणतः असत्, 'अनरीयल' हम उसे कहते हैं, जो नहीं है। लेकिन जो नहीं है, उसे तो असत् कहने का भी कोई

अर्थ नहीं है। जो नहीं है, उसे तो कुछ भी कहने का कोई अर्थ नहीं है। जो नहीं है, उसे इतना भी कहना कि वह नहीं है, गलत है, क्योंकि हम 'है' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। जब हम कहते हैं 'नहीं है', तब भी हम 'है' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। जो नहीं है, उसके लिए नहीं है, कहना भी गलत है। जो नहीं है, वह नहीं ही है, उसकी कोई बात ही अर्थहीन है।

इसलिए असत् का अर्थ 'नॉन-एग्जिस्टेंस' नहीं होता है। असत् का अर्थ होता है जो नहीं है, फिर भी है। जो नहीं है, फिर भी होने का भ्रम देता है। जो नहीं है, फिर भी प्रतीत होता है कि है। रात स्वप्न देखा है, यह नहीं कह सकते कि वह नहीं है। नहीं था, तो देखा कैसे? नहीं था, तो स्वप्न भी हो सके, यह संभव नहीं है। देखा है, जिया है, गुजरे हैं, लेकिन सुबह उठकर कहते हैं कि स्वप्न था। यह सुबह उठकर जिसे स्वप्न कहते हैं, उसे 'बिलकुल नहीं', 'नॉन-एग्जिस्टेंट' नहीं कहा जा सकता। था तो जरूर। देखा है, गुजरे हैं, और ऐसा भी नहीं था कि जिसका परिणाम न हुआ हो। जब रात स्वप्न में भयभीत हुए हैं, तो कँप गये हैं। असली शरीर कँप गया है। प्राण कँप गये हैं, रोयें खड़े हो गये हैं। नींद भी टूट गयी है, स्वप्न में, तो भी छाती धड़कती रही है।

जागकर देख लिया है कि स्वप्न था, लेकिन छाती धड़की जा रही है, हाथ-पैर कँपे जा रहे हैं। वह जो स्वप्न बिलकुल ही नहीं होता, तो उसका कोई भी परिणाम नहीं हो सकता था। था, लेकिन उस अर्थ में नहीं था, जिस अर्थ में जागकर जो दिखायी पड़ता है, वह है। उसे किस कोटि में रखें—न होने की, होने की? उसे किस जगह रखें। था जरूर और फिर भी नहीं है? असत् की जो कोटि है, असत् की जो 'केटेगरी' है, 'अनरियल' की जो कोटि है, वह अनस्तित्व की कोटि नहीं है।

'अनरियल', असत् कोटि अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच की कोटि है। ऐसा सत्, जो सत् मालूम पड़ता है, लेकिन नहीं है। लेकिन हम यह कैसे जानेंगे? क्योंकि स्वप्न में तो पता नहीं पड़ता कि जो हम देख रहे हैं, वह नहीं है। स्वप्न में तो मालूम होता है, जो देख रहे हैं, वह बिलकुल है। और ऐसा नहीं है कि पहली दफे स्वप्न देखने में ऐसा मालूम पड़ता हो, जीवन भर स्वप्न देखकर भी और रोज सुबह जागकर भी, जानकर कि नहीं था, फिर भी उसका होना स्पष्ट है। आज रात फिर जब स्वप्न आयेगा तब स्वप्न में पूरी तरह लगेगा कि है। लगता है पूरी तरह कि है। भासता है पूरी तरह कि है। फिर भी सुबह जागकर पाते हैं कि नहीं है।

यह जो 'एपीयरेंस' है, भासना है, यह जो दिखायी पड़ना है, यह जो होने जैसा धोखा है, इसका नाम असत्य है। संसार को जब असत् कहा है, तो उसका यह अर्थ नहीं है कि संसार नहीं है। उसका इतना ही अर्थ है कि चेतना की ऐसी अवस्था भी है (जब हम जागने से भी जागते हैं) जिसमें परिवर्तनशील संसार 'नहीं' हो जाता है। अभी हम स्वप्न से जागकर देखते हैं, तो पाते हैं, स्वप्न नहीं है। लेकिन जब हम जागने से भी जागकर देखते हैं, तो पाते हैं कि जिसे जागने में जाना था, वह भी नहीं है। **जागने से भी जाग जाने का नाम समाधि है**। जिसे अभी हम जागना कह रहे हैं, जब इससे भी जागते हैं, तब पता चलता है कि जो देखा था, वह भी नहीं है।

तो कृष्ण कह रहे हैं, जिसके आगे-पीछे, न होना हो और बीच में होना हो, वह असत्य है। जो एक समय था, कि नहीं था और एक समय आता है कि नहीं हो जाता है, उसके बीच की जो घटना है, बीच की जो 'हैपेनिंग' है, दो न होने के बीच जो होना है, उसका नाम असत्य है। उसका नाम अनरियल है।

लेकिन जिसका न होना है ही नहीं, जिसके पीछे भी होना है, बीच में भी होना है, आगे भी होना है, जो तीन तलों पर है ही—सोयें तो भी है, जागें तो भी है, जागकर भी जागें तो भी है; निद्रा में भी है, जागरण में भी है, समाधि में भी है—जो चेतना की हर स्थिति में है, उसका नाम सत् है। और ऐसा जो सत् है वह सदा है, अनादि है, अनंत है। जो ऐसे सत् को पहचान लेते हैं, वे बीच में आने वाले असत् के भँवर को, असत् की लहरों को देखकर न सुखी होते हैं, न दुखी होते हैं, क्योंकि वे जानते हैं, जो क्षण भर पहले नहीं था, वह क्षण भर बाद भी नहीं हो जायेगा। दोनों ओर न होने की खाई है, बीच में होने का शिखर है। तो 'जो है' वह सत् है।

कृष्ण कीमती कसौटी हाथ में देते हैं। उससे सत् की परख हो सकती है। सुख अभी है, अभी क्षण भर पहले नहीं था, और अभी क्षण भर बाद फिर 'नहीं' हो जाता है। दुख अभी है, क्षण भर पहले नहीं था, क्षण भर बाद 'नहीं' हो जाता है। जीवन अभी है, कल नहीं था, कल फिर 'नहीं' हो जाता है। जो-जो चीजें बीच में होती हैं और दोनों छोरों पर नहीं होती हैं, वे बीच में केवल होने का धोखा ही दे पाती हैं; क्योंकि जो दोनों ओर नहीं है, वह बीच में भी नहीं हो सकता है। सिर्फ भासता है, दिखायी पड़ता है, 'एपीयर' होता है।

जीवन की प्रत्येक चीज को इस कसौटी पर कसा जा सकता है। अर्जुन से कृष्ण यही कह रहे हैं कि तू कसकर देख। जो अतीत में नहीं था, जो भविष्य में

नहीं होगा, उसके अभी होने के व्यामोह में मत पड़। वह अभी भी वस्तुतः नहीं है। वह अभी भी सिर्फ दिखायी पड़ रहा है। वह सिर्फ होने का धोखा दे रहा है। और तू धोखे से जाग भी नहीं पायेगा कि वह, 'नहीं' हो जायेगा। तू उस पर ध्यान दे, जो पहले भी था, जो अभी भी है और आगे भी होगा। हो सकता है, वह तुझे दिखायी भी न पड़ रहा हो, लेकिन वही है। तू उसकी ही तलाश कर, तू उसकी ही खोज कर।

जीवन में सत्य की खोज, असत्य की परख से शुरू होती है। 'टु नो द फाल्स एज द फाल्स'—मिथ्या को जानना मिथ्या की भाँति, असत् को पहचान लेना असत् की भाँति, सत्य की खोज का आधार है। सत्य को खोजने का और कोई आधार भी नहीं है हमारे पास। हम कैसे खोजें कि सत्य क्या है? हम ऐसे ही शुरू कर सकते हैं कि असत्य क्या है। कई बार बड़ी उलझन पैदा होती है। क्योंकि कहा जा सकता है कि जब तक हमें सत्य पता न हो, तब तक हम कैसे जानें कि असत्य क्या है! सत्य पता हो तो ही असत्य को जान सकेंगे। और सत्य हमें पता नहीं है।

लेकिन इससे उल्टी बात भी कही जा सकती है। और सूफी फकीर उल्टी दलील भी देते रहे हैं। वे कहते हैं कि जब तक हमें यही पता नहीं है कि असत्य क्या है, तो हम कैसे समझ लेंगे कि सत्य क्या है। यह चक्रीय तर्क वैसा ही है, जैसे अण्डे और मुर्गी का है। कौन पहले है? अण्डा पहले है या मुर्गी पहले है? कहें कि मुर्गी पहले है तो मुश्किल में पड़ जाते हैं, क्योंकि मुर्गी बिना अण्डे के नहीं हो सकेगी। कहें कि अण्डा पहले है तो उतनी ही कठिनाई खड़ी हो जाती है, क्योंकि अण्डा बिना मुर्गी के पैदा नहीं हो सकता। लेकिन कहीं से प्रारंभ करना पड़ेगा अन्यथा उस दुष्चक्र में, उस 'विसियस सर्किल' में कहीं कोई प्रारम्भ नहीं है। अगर ठीक से पहचानें, तो मुर्गी और अण्डे दो नहीं हैं, इसीलिए दुष्चक्र पैदा होता है। अण्डा, हो रही मुर्गी है; मुर्गी बन रहा, अण्डा है। वे दो नहीं हैं, वे एक ही प्रॉसेस, एक ही हिस्से के, एक ही लहर के दो भाग हैं। और इसीलिए दुष्चक्र पैदा होता है कि कौन पहले। उनमें कोई भी पहले नहीं है। एक ही साथ हैं, 'साइमल्टेनियस' हैं, युगपत हैं। अण्डा मुर्गी है, मुर्गी अण्डा है।

यह सत् और असत् का भी करीब-करीब सवाल ऐसा ही है। जिसको हम असत् कहते हैं, उसका आधार भी सत् है, क्योंकि वह असत् भी सत् होकर ही भासता है। वह भी दिखायी पड़ता है। एक रस्सी पड़ी है और अँधेरे में साँप दिखाई पड़ता है। साँप का दिखायी पड़ना बिलकुल ही असत्य है। पास जाते हैं

और पाते हैं कि साँप नहीं है, रस्सी है। वह रस्सी साँप जैसी भास सकी, पर रस्सी थी भीतर। रस्सी का होना सत् है। वह साँप एक क्षण को दिखायी पड़ा, फिर नहीं दिखायी पड़ा, वह असत् था। पर उसके आधार में भी सत् था, सबस्टेंस में, कहीं गहरे में सत् था। उस सत् के ही आभास से, उस सत् के ही प्रतिफलन से वह असत् भी भास सका है।

लहर के पीछे भी सागर है, मृत के पीछे भी अमृत है, शरीर के पीछे भी आत्मा है, पदार्थ के पीछे भी परमात्मा है। अगर पदार्थ भी भासता है, तो परमात्मा के ही प्रतिफलन से, 'रिफ्लेक्शन' से, अन्यथा भास नहीं सकता। आप एक नदी के किनारे खड़े हैं और नीचे आपका एक प्रतिबिम्ब बनता है। निश्चित ही वह प्रतिबिम्ब आप नहीं हैं। लेकिन वह प्रतिबिम्ब आपके बिना भी नहीं है। निश्चित ही वह प्रतिबिम्ब सत् नहीं है, पानी पर बनी केवल छबि है, लेकिन फिर भी वह प्रतिबिम्ब जहाँ से आ रहा है, वहाँ सत् है।

असत्, सत् की ही झलक है, क्षण भर को मिली। क्षण भर को सत् ने जो आकृति ली, अगर हमने उस आकृति को जोर से पकड़ लिया, तो हम असत् को पकड़ लेते हैं। और अगर हमने उस आकृति में से उसको पहचान लिया जो निराकार, निर्गुण, उस क्षण भर की आकृति में झलका था, तो हम सत् को पकड़ लेते हैं। लेकिन जहाँ हम खड़े हैं, वहाँ आकृतियों का जगत् है। जहाँ हम खड़े हैं, वहाँ प्रतिफलन ही दिखायी पड़ते हैं। हमारी आँखें इस तरह झुकी हैं कि नदी के तट पर कौन खड़ा है, वह दिखायी नहीं पड़ता, नदी के जल में जो प्रतिबिम्ब बन रहा है, वही दिखायी पड़ता है। हमें उससे ही शुरू करना पड़ेगा। हमें असत् से ही शुरू करना पड़ेगा। हम स्वप्न में हैं, तो स्वप्न से ही शुरू करना पड़ेगा। अगर हम स्वप्न को ठीक से पहचान जायें, तो स्वप्न तिरोहित होता चला जाएगा।

यह बड़े मजे की बात है, कभी प्रयोग करके देखें। रोज रात को सोते समय स्मरण रखकर सोयें, सोते-सोते एक ही स्मरण रखे रहें कि जब स्वप्न आये तब मुझे होश बना रहे कि यह स्वप्न है। बहुत कठिन पड़ेगा, लेकिन संभव हो जाता है। नींद लगती जाय, लगती जाय, और आप स्मरण करते जायें, करते जायें कि जैसे ही स्वप्न आये, मैं जान पाऊँ कि यह स्वप्न है। थोड़े ही दिन में यह संभव हो जाता है, नींद में भी यह स्मृति प्रवेश कर जाती है। अचेतन में उतर जाती है और जैसे ही स्वप्न आता है, वैसे ही पता चलता है, यह स्वप्न है। लेकिन इस प्रयोग में एक बहुत मजे की घटना होगी। जैसे ही पता चलेगा कि यह स्वप्न है, स्वप्न तत्काल टूट जावेगा—तत्काल, इधर पता चला कि यह

स्वप्न है कि उधर स्वप्न टूटा और बिखरा । स्वप्न को स्वप्न की भाँति पहचान लेना, उसकी हत्या कर देना है । वह तभी तक जी सकता है, जब तक सत्य प्रतीत हो । उसके जीने का आधार उसके सत्य होने की प्रतीति में है । इस प्रयोग को जरूर करना ही चाहिए ।

इस प्रयोग के बाद कृष्ण का यह सूत्र बहुत साफ समझ में आ जायेगा कि वे इतना जोर देकर क्यों कह रहे हैं कि अर्जुन, असत् और सत् के बीच की भेद-रेखा को जो पहचान लेता है, वह ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है । स्वप्न से ही शुरू करेंगे, रात के—फिर बाद में दिन के स्वप्न को भी जागकर देखें और वहाँ भी स्मरण रखें कि जो है, दो 'नहीं' के बीच में—वह स्वप्न है, और तब अचानक आप पायेंगे कि आपके भीतर कोई रूपांतरित होता चला जा रहा है । और जहाँ कल मन पकड़ लेने का होता था, आज वहाँ मुट्ठी नहीं बँधती । कल जहाँ मन रोक लेने का होता था किसी स्थिति को, आज वहाँ हँस कर गुजर जाने का मन होता है । क्योंकि जो दोनों तरफ नहीं है, उसे पकड़ना, हवा को मुट्ठी में बाँधने जैसा है । जितने ही जोर से पकड़ो, उतने ही हाथ के बाहर हो जाती है । मत पकड़ो तो बनी रहती है । पकड़ो तो खो जाती है । जैसे ही यह दिखायी पड़ गया कि दो 'नहीं' के बीच में जो है, 'है' मालूम पड़ता है, वह स्वप्न है, वैसे ही आपकी जिन्दगी से असत् की पकड़ गिरनी शुरू हो जायेगी । स्वप्न बिखरना शुरू हो जायेगा । जो शेष रह जाता है, 'द रिमेनिंग', वह सत्य है । जिसको आप पूरी तरह जागकर भी नहीं मिटा पाते, जिसको आप पूरी तरह स्मरण करके भी नहीं मिटा पाते, जो आपके बावजूद शेष रह जाता है, वही सत्य है । वह शाश्वत है । उसका कोई आदि नहीं है, उसका कोई अंत नहीं है । कहना चाहिए वह 'टाइमलेस' है । यह भी थोड़ा समझ लेने जैसा है ।

असत् हमेशा टाइम में होगा, समय में होगा क्योंकि जो कल नहीं था, आज है, और कल नहीं हो जायेगा, उसके समय के तीन विभाजन हुए—अतीत, वर्तमान, और भविष्य । लेकिन जो कल भी था, आज भी है, कल भी होगा, उसके तीन विभाजन नहीं हो सकते । उसका कौन सा अतीत है, उसका कौन सा वर्तमान है, उसका कौन सा भविष्य है ? वह सिर्फ है । इसलिए सत्य के साथ समय की कोई धारणा नहीं है । **सत्य कालातीत है, समय के बाहर है । असत्य समय के भीतर है ।**

जैसा मैंने कहा, आप नदी के तट पर खड़े हैं और आपका 'रिफ्लेक्शन', प्रतिफलन नदी में बन रहा है । आप भले ही नदी के बाहर हो सकते हैं, लेकिन

'रिफ्लेक्शन' नदी के भीतर ही सदा बन सकता है । पानी का माध्यम जरूरी है । कोई भी माध्यम जो दर्पण का काम कर सके, कोई भी माध्यम जो प्रतिफलन कर सके, वह जरूरी है । परन्तु आपके होने के लिए, कोई प्रतिफलन करने वाले माध्यम की जरूरत नहीं है । लेकिन आपका चित्र बन सके, उसके लिए प्रतिफलन के माध्यम की जरूरत है । 'टाइम,' समय प्रतिफलन का माध्यम है ।

किनारे पर सत् खड़ा होता है, समय में असत् पैदा होता है । समय की धारा में, **समय के दर्पण पर, 'टाइम मिरर' पर जो प्रतिफलन बनता है, वह असत् है ।** और 'समय' में कोई भी चीज थिर नहीं हो सकती । जैसे पानी में कोई चीज थिर नहीं हो सकती, क्योंकि पानी अथिर है । इसलिए कितना ही थिर प्रतिबिम्ब हो, फिर भी कँपता ही रहेगा । पानी कंपन है । यह जो कँपते हुए प्रतिबिम्ब हैं, समय के दर्पण पर बने हुए, वे कल नहीं थे, अभी हैं, कल नहीं होंगे, कल भी बड़ी बात है । बीते क्षण में नहीं थे, अगले क्षण में नहीं हो जायेंगे । ऐसा जो क्षण-क्षण बदल रहा है, जो क्षणिक है, वह असत् है । जो क्षण के पार है, जो सदा है, वही सत् है । इसकी भेद-रेखा को जो पहचान लेगा, कृष्ण कहते हैं, वह ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है ।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

इस न्याय के अनुसार नाशरहित तो उसको जानो कि जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, क्योंकि इस अविनाशी का विनाश करने को कोई भी समर्थ नहीं है ।

भगवान् श्री : जिसने सारे जगत् को व्याप्त किया है, वह सूक्ष्मतम और अविनाशी है । लेकिन जिससे यह सारा जगत् व्याप्त हुआ है, वह वस्तु स्थूल है और विनाशवान है । इसे ऐसा समझें, एक कमरा है खाली है, कुछ भी सामान नहीं है । वह जो कमरे का खालीपन है, वह पूरा का पूरा व्याप्त किये है कमरे को । उचित तो यही होगा कहना कि जब कमरा नहीं था, तब वह खालीपन था । पीछे हमने दीवालें उठाकर उस खालीपन को चारों तरफ से बन्द किया है । कमरा नहीं था, तब भी वह खालीपन था । कमरा नहीं होगा, तब भी वह खालीपन होगा । कमरा है, तब भी वह खालीपन है । कमरा बना है, मिटेगा । कभी नहीं था, कभी नहीं हो जायेगा, पर वह जो खालीपन है, वह जो 'स्पेस' है, वह जो अवकाश है, वह था, है, रहेगा ।

'स्पेस' के लिए 'था', 'है', इस तरह के शब्द उचित नहीं हैं। क्योंकि जो कभी भी 'नहीं' नहीं हुआ, उसके लिए 'है' कहना ठीक नहीं है। 'हाँ', सिर्फ उसी चीज के लिए कहना ठीक है, जो "नहीं है" भी हो सकती है। 'वृक्ष है' कहना ठीक है, 'आदमी है' कहना ठीक है। 'परमात्मा है' कहना ठीक नहीं है। परमात्मा के साथ यह कहना कि 'परमात्मा है' पुनरुक्ति है 'रिपिटीशन' है। परमात्मा का अर्थ ही है कि 'जो है'। उसको दोहराने की कोई जरूरत नहीं है कि परमात्मा है। इसका मतलब यह हुआ कि 'जो है', वह है। कोई और मतलब नहीं हुआ।

जो 'नहीं', नहीं हो सकता उसके लिए 'है' कहना बिलकुल बेमानी है। इसीलिए बुद्ध जैसे परम आस्तिक ने 'परमात्मा है', ऐसा शब्द कभी प्रयोग नहीं किया। नासमझ समझेगा कि नास्तिक है यह आदमी। लेकिन बुद्ध को लगा कि यह तो बड़ी भूल भरी बात कहनी है कि 'परमात्मा है'। क्योंकि 'है' सिर्फ उसी के लिए कहना चाहिए, जो 'नहीं है' भी हो जाता है। आदमी है, ठीक है बात। उस पर 'है', हम लगा सकते हैं। 'है', उस पर आयी हुई घटना है, कल खो जायेगी। लेकिन 'परमात्मा है' यह कहना ठीक नहीं। 'गॉड इज', कहना ठीक नहीं। क्योंकि गॉड का तो मतलब ही 'इजनेस' है। जो है ही, उसके लिए 'है' कहना, बड़ा कमजोर शब्द उपयोग करना है। गलत शब्द उपयोग करना है। पुनरुक्ति है।

खाली जगह है ही। कमरा नहीं था, तब भी थी। फिर कमरे में हम फर्नीचर ले आये, फिर कमरे में हमने तस्वीरें लगा दीं, फिर कमरे में हम आकर बैठ गये। कमरा पूरा सज गया, भर गया। अब इस कमरे में दो चीजें हैं। एक तो वह खालीपन, जो सदा से था और एक यह भरापन, जो सदा से नहीं था। लेकिन बड़े मजे की बात है कि कमरे का खालीपन हमें कभी दिखायी नहीं पड़ता, कमरे का भरापन दिखायी पड़ता है। कमरे में वही दिखायी पड़ता है, जो भरा हुआ है। वह नहीं दिखायी पड़ता, जो खाली है। किसी भी कमरे में आप प्रवेश करेंगे, तो वही दिखायी पड़ता है, जो वहाँ है। वह नहीं दिखायी पड़ता, जो वहाँ सदा था। वह नहीं दिखायी पड़ता, क्योंकि वह अदृश्य है। अगर खालीपन का भी पता चलता है, तो कहना चाहिए कि भरेपन के 'रिफरेंस' (संदर्भ) में पता चलता है।

यह कुर्सी रखी है, इसके आस-पास खाली जगह मालूम पड़ती है। खाली जगह के बीच में यह कुर्सी नहीं मालूम पड़ती। असलियत यही है कि खालीपन

के बीच में यह कुर्सी रखी है। कुर्सी हटायी जा सकती है, खालीपन हटाया नहीं जा सकता। भरा जा सकता है, हटाया नहीं जा सकता।

आप इस कमरे से कुर्सी बाहर निकाल ले सकते हैं, क्योंकि कुर्सी कमरे के अस्तित्व का हिस्सा नहीं है। लेकिन कमरे से खालीपन नहीं निकाल सकते। ज्यादा से ज्यादा कमरे में सामान भरकर खालीपन को दबा सकते हैं। अगर कमरे में से सब चीजें निकाल ली जायें तो आप कहेंगे, यहाँ तो कुछ भी नहीं है। और अगर कमरे से सब चीजें निकाल ली गयी हों, तो आपको सिर्फ कमरे की दीवालें दिखायी पड़ेंगी। अगर दीवालें भी निकाल ली जायें तो आप कहेंगे, यहाँ कमरा ही नहीं है।

दीवालें कमरा नहीं हैं। दीवालों के बीच में जो खाली जगह है, वही कमरा है। अंग्रेजी का शब्द 'रूम' बहुत अच्छा है। 'रूम' का मतलब होता है, खाली जगह। 'रूम' का मतलब ही होता है, खाली जगह। पर वह खाली जगह दिखायी भी नहीं पड़ती, ख्याल में भी नहीं आती, क्योंकि खाली जगह का हमें स्मरण ही नहीं। असल में खाली जगह इतनी सदा से है कि उसे हमें देखने की जरूरत ही नहीं पड़ी। ठीक ऐसे ही, यह जो विराट् आकाश है, यह स्पेस है अनंत में, यह जो खाली जगह है, यह जो 'एम्प्टिनेस' है, यह जो फैली हुई है अनन्त तक, जिसका कोई ओर-छोर नहीं है, जो कहीं शुरू नहीं होती और कहीं समाप्त नहीं होती, वह सदा से है।

आप ध्यान रखें, खाली जगह कभी भी शुरू और समाप्त नहीं हो सकती, सिर्फ भरी चीज शुरू और समाप्त हो सकती है। खालीपन का कोई 'बिगनिंग' और कोई 'एण्ड' नहीं हो सकता। कमरे के खालीपन की कौन-सी शुरूआत है और कौन-सा अन्त है? हाँ, दीवाल का होता है, सामान का होता है, कमरे का नहीं होता है, 'स्पेस' की कोई सीमाएँ नहीं हैं, आकाश का अर्थ ही है कि जिसकी कोई सीमा नहीं। यह जो असीम फैला हुआ है, यह सत् है और इस असीम के बीच में जो बहुत कुछ उठता है, बनता है, निर्मित होता है, बिखरता है, वह असत् है।

वृक्ष बने, तो खालीपन थोड़ी देर के लिए हरा हुआ। फूल खिले, खालीपन थोड़ी देर के लिए सुगन्ध से भरा। फिर फूल गिर गये, फिर वृक्ष गिर गया, खालीपन फिर अपनी जगह है। जब वृक्ष उठा था और फूल खिले थे, तब भी खालीपन में कोई अन्तर नहीं पड़ा था। वह वैसा ही था।

चीजें बनती हैं और मिटती हैं। जो बनता है और मिटता है, वह स्थूल है,

वह दिखायी पड़ता है। जो नहीं बनता, नहीं मिटता, वह सूक्ष्म है, वह अदृश्य है। सूक्ष्म कहना भी ठीक नहीं है। लेकिन मजबूरी में कृष्ण ने सूक्ष्म का प्रयोग किया। उचित नहीं है, लेकिन मजबूरी है। कोई उपाय नहीं है। असल में जब हम कहते हैं सूक्ष्म, तो हमारा मतलब यह होता है स्थूल का ही कोई हिस्सा। जब हम कहते हैं, छोटा, तो मतलब यह होता है कि बड़े का ही कोई हिस्सा। जब हम कहते हैं, बहुत सूक्ष्म, तो हमारा मतलब होता है, बहुत कम स्थूल। मनुष्य की भाषा में सूक्ष्म भी स्थूल से ही जुड़ा है। हम कितना ही कहें 'सूक्ष्मातिसूक्ष्म,' तो भी स्थूल से ही जुड़ा है।

आदमी की भाषा द्वन्द्व से बनी है। उसमें 'पेयर्स' हैं, उसमें दो-दो चीजों के जोड़ हैं। लेकिन कृष्ण जिसे सूक्ष्म कह रहे हैं, वह स्थूल का कोई हिस्सा नहीं है। कृष्ण सूक्ष्म कह रहे हैं उसे, जो स्थूल नहीं है। मजबूरी है, लेकिन उनके पास, हमारे पास, कोई शब्द नहीं है। इसलिए निकटतम गलत शब्द जो हो सकता है, वह सूक्ष्म है। यानी कम से कम गलत शब्द जो हो सकता है, वह है सूक्ष्म। उसके लिए कोई शब्द नहीं है। कुछ भी हम कहें।

हमने जितने भी शब्द बनाये हैं, वे बड़े मजेदार हैं। हम उल्टे से भी उल्टा शब्द प्रयोग करें, तो भी कोई अन्तर नहीं पड़ता। वह उल्टे से उल्टा भी हमारे पुराने शब्द से ही जुड़ा होता है। अगर हम कहें कि वह असीम है, तो भी हमें सीमा से वह शब्द बनाना पड़ता है।

अब यह बड़े मजे की बात है कि सीमा में असीम का कोई भाव नहीं होता। लेकिन असीम में सीमा का भाव होता है। हम कितनी ही कल्पना करें असीम की, हम ज्यादा से ज्यादा बहुत बड़ी सीमा की कल्पना करते हैं। हम कितना ही सोचें तो हमारा मतलब यही होता है कि सीमा और आगे हटा दो, और आगे हटा दो। लेकिन सीमा होगी ही नहीं, यह हमारा विचार नहीं सोच पाता। वह 'इन-कन्सीवेबिल' है। कोई चिन्तना नहीं हो सकती असीम की।

जब हम कहते हैं, कमरे में खालीपन है, तो उसका मतलब हमारे मन में यह होता है कि कमरे में खालीपन भरा है। हम 'एम्प्टिनेस' को भी वस्तु की तरह उपयोग करते हैं कि कमरे में खालीपन भरा है। जैसे खालीपन कोई चीज है। खालीपन का मतलब 'न भरा,' होता है। जहाँ कुछ भी नहीं है, लेकिन अगर हम 'कुछ भी नहीं' का प्रयोग करें, तो हम 'कुछ भी नहीं' का भी वस्तु की तरह प्रयोग कर रहे हैं। अंग्रेजी में शब्द है 'नथिंग', वह बना है 'नो-थिंग' से। 'नथिंग,' 'नहीं कुछ,' भी कहना हो, तो भी 'थिंग' (वस्तु) उसमें लानी

पड़ती है। बिना वस्तु के हम सोच नहीं सकते। बिना स्थूल के हम सोच ही नहीं सकते।

इसलिए कृष्ण के इस सूक्ष्म शब्द को, आदमी की मजबूरी समझें। इसका मतलब स्थूल का कोई अन्त नहीं है। सूक्ष्म का अर्थ है, जो स्थूल नहीं ही है। और स्थूल क्या है? जो दिखायी पड़ता है, वह स्थूल है। जो स्पर्श में आता है, वह स्थूल है। जो सुनायी पड़ता है, वह स्थूल है। असल में इंद्रियों की पकड़ में जो आता है, वह स्थूल है।

ऐसा भी नहीं है कि आप कल बड़ी दूरबीन बना लें, खुर्दबीन बना लें और उसकी पकड़ में आ जाय तो वह सूक्ष्म हो जायेगा। नहीं, जो भी पकड़ में आ जाय वह स्थूल है। क्योंकि दूरबीन कुछ भी नहीं करती, सिर्फ आपकी आँख की, इंद्रिय की शक्ति को बड़ा करती है। आपकी आँख ही, जैसे और बड़ी आँख हो जाती है। बड़े से बड़े यंत्र हम विकसित कर लें, तब भी जो पकड़ में आयेगा, वह स्थूल ही होगा। क्योंकि सब यंत्र, हमारी इंद्रियों के 'एक्सटेंशन' हैं। वे हमारी इंद्रियों के लिए, और जोड़े गये हिस्से हैं। एक आदमी आँख से चश्मा लगाकर देख रहा है। जो उसे आँख से नहीं दिखायी पड़ता था, वह अब दिखाई पड़ रहा है। लेकिन वह कोई सूक्ष्म चीज को नहीं देखता है।

वैज्ञानिक बड़ी दूर की चीजें देख रहे हैं। लेकिन वह भी स्थूल है। जो भी दिखायी पड़ेगा, जो भी सुनायी पड़ेगा, जो भी स्पर्श में आ जायेगा, इंद्रियों की सीमा के भीतर जो भी आ जायेगा, वह स्थूल है। सूक्ष्म का मतलब है, जो मनुष्य की इंद्रियों की सीमा में नहीं आता है, नहीं आ सकता है, नहीं लाया जा सकता है। असल में विचार भी जिसे नहीं पकड़ सकता, वही सूक्ष्म है।

वैज्ञानिकों के लिए कल तक परमाणु सूक्ष्मतम था। अब परमाणु भी टूट गया, अब इलेक्ट्रॉन है, न्यूट्रॉन है, प्रोट्रॉन है। अब वैज्ञानिक कहते हैं, वह सर्वाधिक सूक्ष्म है। क्योंकि अब वह दिखायी पड़ने के बाहर हो गया। अब अनुमान का ही मामला है। लेकिन जो अनुमान में भी आता है, वह भी सूक्ष्म नहीं है। क्योंकि अनुमान भी मनुष्य के विचार का हिस्सा है। इसलिए वैज्ञानिक जिसे इलेक्ट्रॉन कह रहे हैं, वह भी कृष्ण का 'सूक्ष्म', नहीं है। इलेक्ट्रॉन के भी पार, ठीक होगा कहना—'आलवेज द बियॉन्ड,' जहाँ तक आप पहुँच जायेंगे, उसके भी जो पार हो। वहाँ तक भी पहुँच जायेंगे, तो उसके भी जो पार है—'द ट्रांसेंडेंटल'। वह, जो सदा अतिक्रमण कर जाता है, वही सूक्ष्म है। पार होना ही

जिसका गुण है। आप जहाँ तक पकड़ पाते हैं, वह उसके पार सदा शेष रह जाता है। सदा ही शेष रह जाता है, और रह जायेगा।

यहाँ ठीक से समझ लेना उचित है। हमारे पास दो शब्द हैं—अज्ञात, 'अननोन' और अज्ञेय, 'अननोएबल'। साधारणतः जब हम सूक्ष्म को समझने जाते हैं, तो ऐसा लगता है, जो अज्ञात है, 'अननोन' है। नहीं, कृष्ण उसे सूक्ष्म नहीं कह रहे हैं। क्योंकि जो 'अननोन' है वह 'नोन' बन सकता है। जो अज्ञात है, वह कल ज्ञात हो जायेगा। वह सूक्ष्म नहीं है। जिसके ज्ञात होने की अनंत में भी कभी संभावना है, वह सूक्ष्म नहीं है।

स्थूल ही ज्ञात हो सकता है। आज न हो, कल हो जायेगा। कल न हो, कभी हो जायेगा। लेकिन जो भी ज्ञात हो सकता है, वह स्थूल है। जो ज्ञात हो ही नहीं सकता, जो सदा ही ज्ञान के बाहर छूट जाता है, जो सदा ही जानने की पकड़ के बाहर रह जाता है, वह 'अननोएबल', अज्ञेय है। जाना ही नहीं जा सकता जो, वही सूक्ष्म है। इसलिए सूक्ष्म का मतलब ऐसा नहीं है कि हमारे पास अच्छे उपकरण होंगे तो हम उसे जान लेंगे।

लोग पूछते हैं कि क्या विज्ञान कभी परमात्मा को जान पायेगा? जिसे भी विज्ञान जान लेगा, वह परमात्मा नहीं होगा। क्योंकि परमात्मा से अर्थ ही है कि जो जानने की पकड़ में नहीं आता। किसी दिन विज्ञान की प्रयोगशाला अगर परमात्मा को पकड़ लेगी, तो वह पदार्थ हो जायेगा। असल में जहाँ तक 'परमात्मा' पकड़ में आता है, उसका नाम पदार्थ है। और जहाँ पदार्थ पकड़ में नहीं आता, वहीं परमात्मा है।

सूक्ष्म का कृष्ण का अर्थ ठीक से समझ लेना जरूरी है। क्योंकि जो सूक्ष्म है, वही सत् है। जो पकड़ में आता है, वह असत् होगा। वह आज होगा, कल नहीं होगा। जो पकड़ में नहीं आता, वही सत् है।

एक कमरे में हम जायें, वहाँ फूल रखा है। फूल सुबह ठीक है, साँझ को मुरझा जायेगा। उसी फूल के नीचे शंकर जी की पिण्डी रखी है, पत्थर रखा है। वह सुबह भी था, साँझ भी होगा। लेकिन सौ वर्ष, दो सौ वर्ष, तीन सौ वर्ष में बिखर जायेगा। फूल एक दिन में बिखर गया। पत्थर था, हजारों वर्ष में बिखरा। इससे अन्तर नहीं पड़ता। कमरे में सिर्फ एक चीज है जो नहीं बिखरेगी, वह कमरे का कमरापन, 'रूमीनेस' है, वह जो खालीपन है, वह नहीं बिखरेगा। वही सूक्ष्म है, वही सत् है। बाकी कमरे में जो भी है, यह सब बिखर जायेगा।

मैंने ताओ चित्रकार की एक कहानी पढ़ी है। मैंने पढ़ा है कि एक ताओ गुरु ने अपने शिष्यों को कहा कि तुम एक चित्र बना लाओ। उन्होंने पूछा कि चित्र की कोई 'थीम', कोई विषय दे दें। तो उसने कहा—तुम एक चित्र बना लाओ, जिसमें गाय चर रही है। वे चित्र बनाकर ले आये। अच्छे-अच्छे चित्र बनाकर वे ले आये। लेकिन एक साधु, जो चित्र बनाकर लाया था, उसमें जरा चौंकने वाली बात थी। क्योंकि वह कोरा कागज ही ले आया था। गुरु ने पूछा, 'क्या बना नहीं पाये?' उसने कहा, 'नहीं, नहीं, चित्र बना है, देखें।' फिर गुरु ने उसके कागज की तरफ देखा, और शिष्यों ने भी कागज की तरफ देखा, फिर सबने उसकी तरफ देखा और पूछा कि गाय कहाँ है। तो उसने कहा, गाय घास चर कर जा चुकी है। तो उन्होंने पूछा, इसमें फिर क्या बचा? तो उसने कहा, जो गाय के पहले भी था, और घास के पहले भी था और गाय के बाद भी बचता है और घास के बाद भी बचता है, वही मैं बना लाया हूँ। लेकिन वे सब कहने लगे, यह कोरा कागज है। पर उसने कहा कि यही बचता है, यह कोरापन। कृष्ण इस कोरेपन को सूक्ष्म कह रहे हैं। जो सब लहरों के उठ जाने, गिर जाने पर बच जाता है, वही सत् है।

● **प्रश्नकर्ता :** भगवान् श्री, बुद्ध 'नथिंगनेस' (न-कुछ) की बात करते, हैं, और शंकर 'एव्हरीथिंगनेस' (सब कुछ वही) की बात करते हैं। इस विरोध का क्या कारण है, कृपया समझायें। दूसरी बात—आप कहते हैं कि न भोगो, न भागो वरन् जागो। तो जागना भी क्या एक प्रयास और चुनाव ही नहीं होगा?

भगवान् श्री : शून्य, 'नथिंगनेस' और सब कुछ, 'एव्हरीथिंगनेस', एक ही चीज को कहने के दो ढंग हैं। दो ओर से—नकार से या विधेय से, 'निगेटिव' से या 'पॉजिटिव' से। जब हम कहते हैं 'शून्य', तो यह हमारा चुनाव है नकार का। जब हम कहते हैं 'पूर्ण', यह हमारा चुनाव है विधेय का। लेकिन मजे की बात है कि **सिर्फ शून्य हो पूर्ण होता है और पूर्ण ही शून्य होता है।** सिर्फ शून्य ही पूर्ण होता है, क्योंकि शून्य के अपूर्ण होने का कोई उपाय नहीं है। आप अधूरा शून्य नहीं खींच सकते। आप शून्य के दो हिस्से नहीं कर सकते। आप शून्य में से कितना ही निकाल लें, तो भी शून्य में कुछ कम नहीं होता। आप शून्य में कितना ही जोड़ दें, तो शून्य में कुछ बढ़ता नहीं।

शून्य का मतलब ही यह है कि उससे बाहर-भीतर कुछ भी निकाला नहीं जा सकता। पूर्ण का भी मतलब यही है। पूर्ण का मतलब ही यह है कि जिसमें

जोड़ने को कुछ नहीं बचा। क्योंकि पूर्ण के बाहर कुछ नहीं बच सकता। 'द टोटल', अब उसके बाहर कुछ बचा नहीं, जिसको जोड़ें। जिसमें से कुछ निकालें तो कोई जगह नहीं बची, क्योंकि टोटल के बाहर कोई जगह नहीं बच जायेगी, जिसे निकाल लें। शून्य में से कुछ निकालें, तो पीछे शून्य ही बचता है। शून्य में कुछ जोड़ें, तो शून्य उतना ही रहता है। पूर्ण से कुछ निकालने का कोई उपाय नहीं, पूर्ण में कुछ जोड़ने का उपाय नहीं। क्योंकि पूर्ण में अगर कुछ जोड़ा जा सके तो इसका मतलब है कि वह पूर्ण न था पहले, इसलिए अब उसमें कुछ जोड़ा जा सकता है।

शून्य और पूर्ण एक ही सत्य के दो नाम हैं। हमारे पास दो रास्ते हैं, जहां से हम नाम दे सकते हैं। या तो हम नकार का उपयोग करें, या विधेय का उपयोग करें। 'सब कुछ' और 'कुछ भी नहीं' एक ही बात को कहने के दो ढंग हैं। यह हमारा चुनाव है कि हम कैसे इसे कहें। अगर यह ख्याल में आ जाय, तो इस जगत् में उठे बहुत बड़े विवाद की बुनियादी आधारशिला गिर जाती है।

बुद्ध और शंकर के बीच कोई विवाद नहीं है। सिर्फ नकार और विधेय के शब्दों के प्रयोग का फासला और भिन्नता है। बुद्ध नकारात्मक शब्दों का प्रयोग करते हैं। वे कहते हैं, नहीं है, शून्य है, निर्वाण है। 'निर्वाण' का मतलब है, दिये का बुझ जाना। जैसे दिया बुझ जाता है। बस, ऐसे ही सब कुछ नहीं हो जाता है।

शंकर कहते हैं सब ब्रह्म है। मोक्ष, ज्ञान, सब विधेय शब्दों का प्रयोग करते हैं। और बड़े मजे की बात यह है कि ये दोनों इशारे बिलकुल एक चीज की तरफ हैं। शंकर और बुद्ध से करीब दूसरा आदमी खोजना मुश्किल है। लेकिन शंकर और बुद्ध के करीब ही इस मुल्क में सबसे बड़ा विवाद खड़ा हुआ। 'हाँ' और 'ना' के बीच कितना फासला मालूम पड़ता है, इससे ज्यादा उल्टे शब्द नहीं हो सकते। लेकिन 'पूर्ण हाँ' और 'पूर्ण ना' के बीच कोई फासला नहीं है। लेकिन हमें अनुभव हो जाय दो में से किसी एक का, तो ही सत्य दिखायी पड़ सकता है।

पूछा है, मैं कहता हूं, भागें मत, जागें—समग्र के प्रति जागें, क्योंकि भागने का मतलब ही यह है कि हमने समग्र में से कुछ चुनाव कर लिया है कि इसे छोड़ेंगे, उसे पकड़ेंगे, तभी भागा जा सकता है। भागने का मतलब है, कुछ हम छोड़ेंगे, कुछ हम पकड़ेंगे। अगर पूरे को छोड़ें, तो भागकर कहाँ जायेंगे। अगर पूरे को

स्वीकार करें, तो भागकर कहाँ जायेंगे? अगर त्याग पूर्ण हो, तो भागना नहीं हो सकता। भागेंगे कहाँ? जहाँ भाग रहे हैं पूर्ण में, वह भी त्यागा जा चुका है। मक्का भागेंगे? मदीना भागेंगे? काशी भागेंगे? हरिद्वार भागेंगे? अगर त्याग पूर्ण है, तो भागना असंभव है। अगर भोग भी पूर्ण है, तो भागना असंभव है।

भागने की कोई जरूरत नहीं। सब अधूरे का खेल है, सब आधे का खेल है। तो जो हाफ-हार्टेड, जो आधे हृदय से जी रहे हैं, उनको पकड़ने का उपाय है। जो आधे हृदय से त्याग रहे हैं, उनको छोड़ने का उपाय है। लेकिन जो पूरे हृदय से जी रहे हैं, उनको न भागने को कुछ है, न त्यागने को कुछ है। उनको तो सिर्फ जानने को ही कुछ है—जागने को ही।

प्रश्न भागने का नहीं है, प्रश्न जागने का है। प्रश्न देखने का है, दर्शन का है। प्रश्न गहरे में झाँकने का है। प्रश्न यह नहीं है कि पदार्थ से भाग जाओ, क्योंकि कहीं भी भागोगे तो पदार्थ है। प्रश्न है कि पदार्थ में गहरे झाँको, ताकि परमात्मा दिखायी पड़े। तब भागने की कोई जरूरत न रह जायेगी।

आकृतियों से जो भागेगा वह जायेगा कहाँ? दूसरी आकृतियों के पास पहुँच जायेगा। एक स्थान से भागेगा, दूसरे स्थान पहुँच जायेगा। मकानों से भागेगा, दूसरे मकान में पहुँच जायेगा। लोगों से भागेगा, दूसरे लोगों में पहुँच जायेगा। भागकर जायेगा कहाँ? जहाँ भी भागेंगे वहाँ संसार है। संसार से नहीं भागा जा सकता। हर जगह पहुँचकर पता चलेगा, संसार है। फिर वहाँ से भी भागो, फिर वहाँ से भी भागो। भागते रहो।

अगर हम चाँद-तारों की रोशनी की गति भी पा जायें, तो भी संसार के बाहर न भाग सकेंगे। अभी कोई चाँद-तारों पर नहीं भाग सका, अभी तक कोई रोशनी की किरण न भाग सकी संसार के बाहर। अनंत-अनंत यात्रा है रोशनी के किरणों की। लेकिन होगी संसार के भीतर ही, भाग नहीं सकती। असल में जहाँ तक भाग सकते हैं, वहाँ तक तो संसार होगा ही। नहीं तो भागेंगे कैसे, रास्ता कहाँ पायेंगे?

जाग सकते हैं। ज्ञानी जागता है, अज्ञानी भागता है। हाँ, अज्ञानी के भागने के दो ढंग हैं। कभी वह स्त्री की तरफ भागता है, कभी वह स्त्री से भागता है। कभी धन की तरफ भागता है, कभी धन छोड़ने के लिए भागता है। कभी मुंह करके भागता है संसार की तरफ, कभी पीठ करके भागता है। न मुंह करके

कभी संसार को उपलब्ध कर पाता है, न पीठ करके कभी संसार को छोड़ पाता है।

जो न पाया जा सकता है, न छोड़ा जा सकता है, उसका नाम संसार है। सपने न पाये जा सकते हैं, न छोड़े जा सकते हैं। असत् न पाया जा सकता है, न छोड़ा जा सकता है। असत् के प्रति केवल जागा जा सकता है। 'वन कैन बी ग्रोनली ग्रवेयर।' सपने के प्रति सिर्फ जागा जा सकता है। जो आदमी सपना छोड़ कर भाग रहा है, वह काफी गहरे सपने में अभी है, क्योंकि जिसको सपना छोड़कर भागना पड़ रहा है, उसे इतना तो पक्का पता है कि सपना, सपना नहीं है। भागने योग्य तो मालूम ही हो रहा है। इतना सच तो दिखायी पड़ता ही है।

कृष्ण को समझेंगे तो दिखायी पड़ेगा। कृष्ण, अर्जुन को भागने से ही बचाने की चेष्टा में संलग्न हैं। **यह पूरी गीता भागने वालों के खिलाफ है।** यह पूरी गीता इस बात के खिलाफ है कि जो भागने वाले हैं, वे उसी पागलपन को उल्टी दिशा में कर रहे हैं, जो पकड़ने वाले करते हैं। लेकिन सिर्फ पागलपन उल्टा हो जाय, शीर्षासन करने लगे, तो इससे पागलपन नहीं रह जाता, ऐसा नहीं है। कोई पागल शीर्षासन करके खड़ा हो जाय, तो पागलपन मिट जाता है, ऐसा नहीं।

भोगी त्यागी हो जाते हैं, संसारी संन्यासी हो जाते हैं, उल्टे हो जाते हैं, तो कोई अन्तर नहीं पड़ता। हाँ, दिशा उल्टी दिखायी पड़ने लगती है, आदमी वही होता है। ढंग उल्टे हो जाते हैं, आदमी वही होता है।

कृष्ण गीता में एक बहुत ही अनूठी बात कह रहे हैं। और वह यह कह रहे हैं कि संसारी और संन्यासी विपरीत नहीं हैं। एक दूसरे से उल्टे नहीं हैं। **संसार से भागकर कोई संन्यासी नहीं होता, संसार में जागकर ही कोई संन्यासी होता है।** और जागना हो, तो यहीं जाग जाओ। कहीं भी भागो, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। जागने के लिए कोई खास जगह नहीं है, कहीं भी जागा जा सकता है। सपने मिटाने के लिए खास सपने देखने की जरूरत नहीं है, किसी भी सपने में जागा जा सकता है।

एक आदमी सपना देख रहा है चोर का, एक आदमी सपना देख रहा है साधु का। क्या साधु वाले सपना से जागना आसान है, बजाय चोर वाले सपने के? दोनों सपने हैं। जागना एक सा ही है। कोई अन्तर नहीं पड़ता। साधु होने के सपने से जागने में भी यही करना पड़ेगा कि जानना पड़ेगा कि यह सपना है। और चोर के सपने से भी जागने के लिए यही करना पड़ेगा कि जानना पड़ेगा कि यह सपना है। **सपने को सपने की भाँति जानना ही जागना है।**

सपने को सत्य की तरह जो मान लेता है, उसके सामने दो विकल्प हैं। या तो सपने में डूबे, भोगे या सपने से भागे और त्यागे। **गीता भोग और त्याग दोनों को प्रतियों को सपने के बीच मानेगी।** और जागने के लिए ही वे कह रहे हैं कि पहचान अर्जुन, क्या सत् है, क्या असत् है। यह तू पहचान, तो यह पहचान, यह 'रिकग्नीशन' ही तेरा जागरण बन जाने वाला है।

● **प्रश्नकर्ता :** आप यह तो कहेंगे न कि जागना भी भागने का शीर्षासन है? इतना तो प्रयास (एफर्ट) करना ही पड़ेगा?

● **भगवान श्री :** नहीं, जागना भागने से जरा भी संबंधित नहीं है। जागना भागने से संबंधित ही नहीं है। क्योंकि जागने में भागने का कोई भी तत्त्व नहीं है, विपरीत तत्त्व भी नहीं है। दूसरी तरफ भागना भी नहीं है। जागने का मतलब ही है कि जो है, उसे हम देखने को तत्पर होते हैं। धन है, इसके साथ भागने के दो काम हो सकते हैं। एक काम हो सकता है कि छाती से लगाकर पकड़कर बैठ जायें; इसमें से एक पैसा न भाग जाय, इसका ध्यान रखें। दूसरा हो सकता है कि इससे ऐसे भागें कि लौटकर न देखें।

मुझे कोई कह रहा था कि विनोबा के सामने पैसा करो, तो दूसरी तरफ मुंह कर लेते हैं। पैसे से इतना डर है, तो पैसे में काफी ताकत मालूम पड़ती है। रामकृष्ण के पास अगर कोई पैसा रख दे, तो ऐसी छलांग लगाकर उचकते हैं कि मानो वह साँप-बिच्छू हो। पैसे में साँप-बिच्छू? तो सपना टूटा नहीं। सपनों ने दूसरी शकल ले ली है। पहले पैसा स्वर्ग मालूम पड़ता था, अब नर्क मालूम पड़ने लगा। लेकिन पैसा कुछ है, यह जारी है।

पैसा कुछ भी नहीं है; है तो लहर है, न त्यागने योग्य, न पकड़ने योग्य। जागना बहुत और बात है, उसमें पैसे से आँख बन्द करने की जरूरत नहीं, पैसे को छाती से पकड़ लेने की भी जरूरत नहीं। पैसा वहाँ है, आप यहाँ हैं। पैसे ने कभी आपको नहीं पकड़ा, न पैसा कभी आपसे भागा। आपकी पैसे ने कभी इतनी फिक्र नहीं की, जितनी फिक्र आप पैसे की कर रहे हैं। पैसा कहीं ज्यादा ज्ञानी मालूम पड़ता है। आप चले जाओ तो रोता नहीं है, आप आ जाओ तो प्रसन्न नहीं होता। कहता भी नहीं कि आइए, स्वागत है, बड़ा अच्छा हुआ।

जहाँ हैं, (कहीं न कहीं हैं) किसी न किसी सपने में हैं। कोई आश्रम के सपने में होगा, कोई दूकान के सपने में होगा। जहाँ हैं, किसी न किसी सपने में हैं, वहाँ जागें। इस सपने को पहचानें कि यह सत्य हैं। इस बात की जिज्ञासा, इस बात की खोज कि जो मैं देख रहा हूँ, वह क्या है। नहीं, मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि आप कहने लगें, यह सपना है। अगर आपको कहना पड़े कि यह सपना है, तो जागना नहीं होगा, तब 'एफर्ट' होगा। अगर आपको कोशिश करनी पड़े कि यह सब सपना है, आपको अगर कोशिश करके अपने को समझाना पड़े कि यह सब सपना है, तब तो समझ लेना कि अभी आपको सपने का पता नहीं चला। सपने का पता अगर चल जाय, तो यह कहने की कोई जरूरत नहीं रह जाती कि सब सपना है। सब सपना है, यह तो वही आदमी दोहराता है अपने मन में, जिसे अभी सपने का कोई भी पता नहीं है।

एक सूफी फकीर को मेरे पास लाये थे। वह मित्र जो लाये थे, कहने लगे कि उन फकीर को सब जगह परमात्मा दिखायी पड़ता है। मैंने उनसे पूछा, संसार भी दिखायी पड़ता है? परमात्मा भी दिखायी पड़ता है? दोनों दिखायी पड़ते हैं? उन्होंने कहा, हाँ, उन्हें कण-कण में परमात्मा दिखायी पड़ता है। तो मैंने कहा, कण भी दिखायी पड़ता है, कण में परमात्मा भी दिखायी पड़ता है? उन्होंने कहा, आप कैसी बातें पूछ रहे हैं? मैंने कहा, अगर परमात्मा ही दिखायी पड़ता है, तो कण दिखायी नहीं पड़ना चाहिए। और कण दिखायी पड़ता है, तो परमात्मा आरोपित होगा, 'इम्पोज्ड' होगा। इसके लिए कोशिश की गयी होगी।

जो आदमी कहता है कि कण-कण में परमात्मा दिखायी पड़ता है, उसे दो चीजें दिखायी पड़ गयीं, कण भी दिखायी पड़ रहा है, परमात्मा भी दिखायी पड़ रहा है। ये दोनों चीजें एक साथ दिखायी नहीं पड़ सकतीं। इनमें से एक ही चीज एक बार दिखायी पड़ सकती है। अगर परमात्मा दिखायी पड़ता है, तो कण दिखायी नहीं पड़ता, क्योंकि परमात्मा के अतिरिक्त कण की कोई जगह नहीं रह जाती, जहाँ उसे देखें। और अगर कण दिखायी पड़ता है, तो परमात्मा दिखायी नहीं पड़ता। क्योंकि जब तक कण दिखायी पड़ रहा है तब तक परमात्मा दिखायी पड़ना मुश्किल है। तो मैंने उनसे कहा, कोशिश की होगी, समझाया होगा अपने को, लिखा है किताबों में कि कण-कण में परमात्मा है। नहीं, उन्होंने कहा, मुझे वर्षों से दिखायी पड़ता है। मैंने कहा, और वर्षों के पहले कोशिश की होगी?

मैंने कहा, आप रुकें। मेरे पास रुक जायें और दो-चार दिन अब देखने की कोशिश न करें। दूसरे दिन सुबह उन्होंने मुझसे कहा कि आपने मुझे भारी नुकसान पहुँचाया। मेरी तीस साल की साधना खराब कर दी। क्योंकि मैंने रात से कोशिश नहीं की तो मुझे वृक्ष फिर वृक्ष दिखायी पड़ने लगे। अब मुझे परमात्मा दिखायी नहीं पड़ता। तो मैंने कहा, जिसको तीस साल देखकर भी, दो-चार घण्टे देखने की कोशिश न की जाय और वह खो जाता हो, तो आप वृक्षों के ऊपर अपना एक सपना आरोपित कर रहे हैं। उसका परमात्मा से कोई लेना-देना नहीं है। कह रहे हैं कि वृक्ष में परमात्मा है। अपने मन को समझाये ही चले जायें, तो दिखायी पड़ने लगेगा।

यह वह परमात्मा नहीं है, जिसकी कृष्ण बात कर रहे हैं। आपको परमात्मा थोपना नहीं है जगत पर, आपको तो जगत् के प्रति ही जाग जाना है। जागते ही जगत् खो जाता है और परमात्मा शेष रह जाता है। आपको सपने के संबंध में अपने को समझाना नहीं है कि यह झूठ है, वह झूठ है। नहीं, सपने को देख लेना है ठीक से कि क्या है, और जैसे ही सपने को देख लिया जाता है कि क्या है, आप अचानक पाते हैं कि सपना टूट गया और वह नहीं है। फिर जो शेष रह जाता है, वही सत्य है।

प्रयास तो हमें असत्य के लिए करने पड़ते हैं, सत्य के लिए नहीं करने पड़ते हैं। 'एफर्ट' तो असत्य के लिए करना पड़ता है, सत्य के लिए नहीं करना पड़ता। क्योंकि जो सत्य मनुष्य के प्रयास से मिलता होगा, वह सत्य नहीं हो सकता। जो सत्य मनुष्य के प्रयास के बिना ही मौजूद है, वही सत्य है।

सत्य आपको निर्मित नहीं करना है, वह आपका 'कंस्ट्रक्शन' नहीं है कि आप उसका निर्माण करेंगे। सत्य तो है ही। कृपा करके असत्य भर निर्माण न करें, जो है, वह दिखायी पड़ जायेगा। मैं एक वृक्ष की शाखा को अपने हाथ से खींच लेता हूँ। फिर मैं राह चलते आपसे पूछता हूँ कि वृक्ष की शाखा को मैंने इसकी जगह से नीचे खींच लिया है, अब मैं इसे इसकी जगह वापस पहुँचाना चाहता हूँ, तो क्या करूँ? तो आप क्या कहेंगे मुझसे कि कुछ करिये? आप कहेंगे, कृपा करके खींचिये भर मत। छोड़ दीजिये। शाखा अपनी जगह पहुँच जायेगी, शाखा अपनी जगह थी ही। आपकी कृपा से ही अपनी जगह से हट गयी है।

परमात्मा में पहुँचने के लिए मनुष्य की किसी 'एफर्ट', प्रयास की जरूरत

नहीं है। परमात्मा को खोने के लिए उसने जो प्रयास किया है, कृपा करके उतना प्रयास भर वह न करे, तो अपनी जगह पहुँच जायेगा।

स्वप्न हमारे निर्माण हैं। सत्य हमारा निर्माण नहीं है, इसलिए बुद्ध को जब ज्ञान हुआ और लोगों ने बुद्ध से पूछा कि तुम्हें क्या मिला, तो बुद्ध ने कहा, मुझे कुछ मिला नहीं, सिर्फ मैंने कुछ खोया है। तब तो वे लोग बहुत हैरान हुए। लोगों ने कहा—हम तो सोचते थे कि आपको कुछ मिला है। उन्होंने कहा—मिला कुछ भी नहीं। जो था ही, उसे ही मैंने जाना है। हां, खोया जरूर कुछ। जो-जो मैंने बनाया था, वह मुझे सब खो देना पड़ा। अज्ञान मैंने खोया और ज्ञान मैंने पाया नहीं, क्योंकि ज्ञान था ही। जिस अज्ञान को मैं जोर से पकड़े था, उसकी वजह से दिखायी नहीं पड़ रहा था। खोया जरूर, पाया कुछ भी नहीं। पाया वही जो पाया ही हुआ था, जो सदा से मिला ही हुआ था। ठीक से समझें तो सिर्फ जागकर देखने की जरूरत है। आँख खोलकर, प्रज्ञा को पूरी तरह जगा कर, चेतना को पूरे होश से अप्रमाद में लाकर देखने भर की जरूरत है कि क्या है। और जैसे ही हम देखते हैं कि क्या है, उसमें जो नहीं है वह गिर जाता है, जो है वह शेष रह जाता है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८॥

और, इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्मा के ये शरीर नाशवान कहे गये हैं। इसलिए, हे भरतवंशी अर्जुन, तू युद्ध कर।

भगवान् श्री : अर्जुन को युद्ध बड़ा सत्य मालूम पड़ रहा है। देह बहुत सत्य मालूम पड़ रही है। मृत्यु बहुत सत्य मालूम पड़ रही है। उसकी अड़चन स्वाभाविक है। उसकी अड़चन हमारी सबकी अड़चन है। जो हमें सत्य मालूम पड़ता है, वही अर्जुन को भी सत्य मालूम पड़ रहा है। कृष्ण उसे दूसरी दुनिया की बातें कह रहे हैं। वे कह रहे हैं, ये देह, ये शरीरधारी लोग, यह दिखायी पड़ने वाला सारा जाल, यह स्वप्न है। तू इसकी फिक्र मत कर और लड़।

कृष्ण का लड़ने के लिए यह आह्वान तथाकथित धार्मिक लोगों को, 'सो कॉल्ड रिलीजस' लोगों को सदा ही कष्ट का कारण रहा है। समझ के बाहर रहा है, क्योंकि एक तरफ समझाने वाले लोग हैं, जो कहते हैं, चींटी पर पैर

पड़ जाय तो बचाना, यही अहिंसा है। पानी छानकर पीना। दूसरी तरफ यह कृष्ण है, जो कह रहा है कि लड़, क्योंकि यहाँ न कोई मरता, न मारा जाता। यह देह स्वप्न है।

अर्जुन, साधारणतः ठीक कहता मालूम पड़ता है। गांधी ने चाहा होता कि अर्जुन की बात कृष्ण मान लेते, अहिंसावादियों ने चाहा होता कि कृष्ण की बात न चलती, अर्जुन की चल जाती। लेकिन कृष्ण बड़ी अजीब बात कह रहे हैं। वे कह रहे हैं, जो स्वप्न है, उसके लिए तू दुखी हो रहा है। जो नहीं है, उसके लिए तू पीड़ित और परेशान हो रहा है? साधारण नीति के बहुत पार चली गयी बात है।

जब पहली बार गीता के अनुवाद पश्चिम में पहुँचे तो पश्चिम के नीतिविदों की छातियाँ कँप गयीं। भरोसा न हुआ कि कृष्ण और ऐसी बात कहेंगे। जिन्होंने सिर्फ पुरानी बाइबिल के 'टेन कमांडमेंट्स' पढ़े थे धर्म के नाम पर, जिन्होंने पढ़ा था कि चोरी मत कर, जिन्होंने पढ़ा था कि असत् मत बोल, जिन्होंने पढ़ा था कि किसी को दुख मत पहुँचा, उनके प्राण कँप गये होंगे। बड़ा शॉकिंग था कि कृष्ण कहते हैं कि यह सब स्वप्न है। तू लड़।

पश्चिम के नीतिविदों को लगा कि गीता जैसी किताब नैतिक नहीं है। या तो अनैतिक है या अतिनैतिक है। या तो 'इम्मॉरल' है या 'एमॉरल' है। कम से कम 'मॉरल' तो नहीं है। यह क्या बात है? और ऐसा पश्चिम में ही लगा हो ऐसा नहीं, जैन विचारकों ने तो कृष्ण को नर्क में डाल दिया। जैन चिन्तन को अनुभव हुआ कि यह आदमी क्या कह रहा है! मारने को खुली छूट है। अगर अर्जुन का वश चलता तो महाभारत शायद न होता। कृष्ण ने ही करवा दिया। अहिंसा की धारा इस मुल्क में भी थी। उसने कृष्ण को नर्क में डालने की जरूरत महसूस की। इस आदमी को नर्क में डाल ही देना चाहिए। यह बड़ा मुद्दा है और बड़े विचार का है।

इसमें ध्यान रखना जरूरी है कि नीति धर्म नहीं है। नीति बहुत कामचलाऊ व्यवस्था है। नीति बिलकुल सामाजिक घटना है। नीति स्वप्न के बीच व्यवस्था है। स्वप्न में रास्तों पर चलना हो तो नियम बनाने पड़ेंगे। स्वप्न में भी जीना हो तो व्यवस्थापन, 'डिसिप्लिन', अनुशासन बनाना पड़ेगा। नीति धर्म नहीं है, नीति बिलकुल सामाजिक व्यवस्था है। इसलिए नीति, रोज बदल सकती है। समाज बदलेगा और नीति बदलेगी। कल जो ठीक था, आज गलत हो जायेगा। जो आज ठीक है, कल वह सही हो जायेगा। नीति भी असत् का हिस्सा है।

इसका यह मतलब नहीं है कि धर्म अनीति है। जब नीति तक असत् का हिस्सा है, तो अनीति तो असत् का हिस्सा होगी ही। **धर्म नीति और अनीति को पार करता है**। असल में धर्म संसार को पार करता है, इसलिए कृष्ण की बात जिस तल से कही जा रही है, उस तल से बहुत मुश्किल से समझी जा सकी है।

जैनों ने नर्क में डाल दिया है कृष्ण को। वह एक उपाय था, उनसे छुटकारा पाने का। गांधी ने पूरी गीता को 'मेटाफर' (रूपक कथा) मान लिया। मान लिया है कि यह हुई नहीं घटना कभी, क्योंकि कृष्ण कहां युद्ध करवा सकते हैं? यह किसी असली युद्ध की बात नहीं है, यह तो शुभ-अशुभ के बीच जो युद्ध चलता है, उसकी प्रतीक-कथा, 'सिम्बॉलिक मिथ' है। यह दूसरी तरकीब थी, ज्यादा सबल। लेकिन मतलब वही छुटकारा पाने का है। मतलब यह कि घटना कभी घटी नहीं, क्योंकि कृष्ण युद्ध कैसे करवा सकते हैं? कृष्ण कैसे कह सकते हैं कि युद्ध करो। नहीं, कृष्ण तो यह कह ही नहीं सकते। इसलिए अब एक दूसरा उपाय है—होशियारी से कृष्ण से बच जाने का। और वह यह है कि कहो कि 'मेटाफर' है, 'सिम्बल' है, एक कहानी है, प्रतीक-कथा है। यह घटना कभी घटी नहीं, ऐसा कोई युद्ध कभी हुआ नहीं कि जिसमें कृष्ण द्वारा युद्ध करवाया गया हो। ये सब तो प्रतीक पुरुष हैं। यह अर्जुन और दुर्योधन और ये सब—ये व्यक्ति नहीं हैं, ये ऐतिहासिक तथ्य नहीं हैं, यह तो सिर्फ एक 'पैरेबल' है। एक प्रतीक-कथा है, जिसमें शुभ और अशुभ की लड़ाई हो रही है और अशुभ के खिलाफ लड़ने के लिए कृष्ण कह रहे हैं।

यह तो कृष्ण को एकदम विकृत करना है। कृष्ण अशुभ के खिलाफ लड़ने को नहीं कह रहे हैं। अगर कृष्ण को ठीक समझें, तो वे कह रहे हैं कि—**शुभ और अशुभ एक ही स्वप्न के हिस्से हैं**। हिंसा और अहिंसा एक ही स्वप्न के हिस्से हैं। कृष्ण यह नहीं कह रहे हैं कि हिंसा ठीक है, कृष्ण इतना हीं कह रहे हैं कि हिंसा और अहिंसा अच्छे और बुरे आदमी के स्वप्न हैं। स्वप्न ही हैं और **पूरे स्वप्न को, स्वप्न की भांति जो जानता है, वह सत्य को उपलब्ध होता है**। नीति का अतिक्रमण करती है यह बात। अनैतिक नहीं है। अनीति का भी अतिक्रमण करती है यह बात। इन अर्थों में कृष्ण का संदेश बहुत कठिन हो जाता है समझना।

चुनाव आसान पड़ता है—यदि पता हो कि यह बुरा है, यह ठीक है। लेकिन ठीक और बुरा दोनों ही स्वप्न हैं, यहां हमारे पैर डगमगा जाते हैं।

लेकिन जो यहां पैर को थिर रख सके, वही गीता में आगे प्रवेश कर सकेगा। इसलिए इस बात को बिलकुल ठीक से समझ लेना कि कृष्ण न हिंसक हैं, न अहिंसक। क्योंकि हिंसक की मान्यता है कि मैं दूसरे को मार डालता हूं। और अहिंसक की मान्यता है कि मैं दूसरे को बचा रहा हूं। और कृष्ण कहते हैं कि जो मारा नहीं जा सकता, वह बचाया भी नहीं जा सकता है। उसे न तुम बचा सकते हो, न तुम मार सकते हो। जो है, वह है, और जो नहीं है वह नहीं है। तुम यदि मारने या बचाने की भाषा में सोचते हो तो एक दूसरे से विपरीत स्वप्न देख रहे हो।

एक आदमी किसी की छाती में छुरा भोंक देता है तो सोचता है कि मिटा डाला इसे। और दूसरा आदमी उसकी छाती से छुरा निकाल कर मलहम-पट्टी करता है, तो सोचता है कि बचा लिया इसे। इन दोनों ने सपने देखे विपरीत—एक बुरे आदमी का सपना, एक अच्छे आदमी का सपना। और हम चाहेंगे कि अगर सपना ही देखना है तो अधिक लोग अच्छे आदमी का सपना देखें।

लेकिन कृष्ण यह कह रहे हैं कि दोनों सपने हैं। और एक और तल है देखने का, जहां बचाने वाला और मारने वाला एक सी ही भूल कर रहा है। वह भूल यही है कि जो है, उसे या तो मिटाया जा सकता है, या बचाया जा सकता है। कृष्ण कह रहे हैं, जो नहीं है, वह नहीं है, जो है, वह है। वे यह नहीं कह रहे हैं कि बुरे आदमी का सपना देखें, वे यह कह रहे हैं कि दोनों ही सपने हैं। और अगर देखना ही है तो पूरे सपने को देखें, ताकि जाग जायें। अगर देखना ही है तो बुरे-अच्छे आदमी के सपनों में चुनाव न करें, पूरे सपने को ही देखें और जाग जायें।

यह जागरण की, 'अवेयरनेस' की जो प्रक्रिया कृष्ण, अर्जुन को कह रहे हैं, वह अर्जुन की कैसे समझ में आयेगी, बड़ी कठिनाई है। क्योंकि अर्जुन बड़ी नीतिवादी बातें कर रहा है। और वह नैतिक सपना देखने को बड़ा उत्सुक है। वह अनैतिक सपने से ऊबा हुआ मालूम पड़ता। अब वह नैतिक सपना देखने को उत्सुक है। और कृष्ण कहते हैं, सपने में ही चुनाव कर रहा है। पूरे सपने के प्रति ही जाग जा। एक श्लोक और पढ़ लें फिर रात हम बात करेंगे।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥

और, जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है, तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते हैं। क्योंकि, यह आत्मा न मारता है और न मारा जाता है।

भगवान् श्री : जो है, वह न मरता है, न मारा जाता है, और जो है हमारे भीतर, उसका नाम आत्मा है। और जो है हमारे बाहर, उसका नाम परमात्मा है। जो मारा जाता है और जो मार सकता है, या जो अनुभव करता है कि मारा गया हमारे भीतर, उसका नाम शरीर है, हमारे बाहर उसका नाम जगत् है। जो अमृत है, जो 'इम्मॉर्टल' है, वही चेतना है और जो मर्त्य है, वही जड़ है। साथ ही जो मर्त्य है, वही लहर है, असत् और जो अमृत है, वही सागर है, सत् है।

अर्जुन के मन में यही चिन्ता, दुविधा और पीड़ा है कि मैं कैसे मारने में संलग्न न हो पाऊँ। इससे तो बेहतर है कि मैं ही मर जाऊँ। ये दोनों बातें एक साथ ही होंगी। जो दूसरे को सोच सकता है मरने की भाषा में, वह अपने को भी मरने की भाषा में सोच सकता है। जो सोच सकता है कि मृत्यु संभव है, वह स्वभावतः दुखी हो जायेगा। लेकिन कृष्ण कह रहे हैं कि **मृत्यु एक मात्र असंभावना है—'ओनली इम्पासिबिलिटी'**। मृत्यु हो ही नहीं सकती। मृत्यु एक असंभावना है। लेकिन जिन्दगी में जहाँ हम जीते हैं, वहाँ तो मृत्यु से ज्यादा निश्चित और कोई संभावना ही नहीं है। वहाँ सब चीजें असंभव हो सकती हैं, मृत्यु भर सुनिश्चित रूप से संभव है।

एक बात तय है, वह है मृत्यु, और सब बातें तय नहीं हैं। और सब बदलाहट हो सकती है। कोई दुखी होगा, कोई सुखी होगा। कोई स्वस्थ होगा, कोई बीमार होगा। कोई सफल होगा, कोई असफल होगा। कोई दीन होगा, कोई सम्राट होगा और सब होगा और सब विकल्प खुले हैं, एक विकल्प बन्द है। वह मृत्यु का विकल्प है, वह होगा ही। सम्राट भी वहाँ पहुँचेगा, भिखारी भी वहाँ पहुँचेगा—सफल भी, असफल भी स्वस्थ भी, बीमार भी। सब वहाँ पहुँच जायेंगे। एक बात, जिस जीवन में हम खड़े हैं वहाँ तय है कि मृत्यु है।

कृष्ण बिलकुल उल्टी बात कह रहे हैं, वे यह कह रहे हैं कि एक बात भर सुनिश्चित है कि मृत्यु असंभावना है। न कभी कोई मरा और न कभी कोई मर सकता है। **मृत्यु अकेला भ्रम है**। शायद इस मृत्यु के आस-पास ही हमारे जीवन के सारे कोण निर्मित होते हैं। जो देखता है कि मृत्यु सत्य है, उसके जीवन में शरीर से ज्यादा का अनुभव नहीं है। यह बड़े मजे की बात है कि

आपको मृत्यु का कोई अनुभव नहीं है। आपने दूसरों को मरते देखा है, अपने आपको मरते कभी नहीं देखा।

समझें कि एक व्यक्ति को हम विकसित करें, जिसने मृत्यु न देखी हो, किसी को मरते न देखा हो। कल्पना करें कि एक व्यक्ति को हम इस तरह बड़ा करते हैं कि जिसने मृत्यु नहीं देखी। क्या यह आदमी कभी भी सोच पायेगा कि मैं मर जाऊँगा? क्या इसके मन में कभी भी यह कल्पना भी उठ सकती है कि मैं मर जाऊँगा? असंभव है। मृत्यु हमारा अनुमान है, दूसरों को मरते देखकर किया गया। और मजा यह है कि जब दूसरा मरता है तो आप मृत्यु को नहीं देख रहे हैं, क्योंकि मृत्यु की घटना आपके लिए सिर्फ इतनी है कि वह कल तक बोलता था, अब नहीं बोलता। कल तक चलता था, अब नहीं चलता। आप चलते हुए को, न चलते हुए की अवस्था में गया हुआ देख रहे हैं। बोलते हुए को, न बोलते की अवस्था में देख रहे हैं। धड़कते हुए हृदय को, न धड़कते हुए हृदय की अवस्था में देख रहे हैं। लेकिन क्या इतने से काफी है कि आप कहें कि जो भीतर था, वह मर गया? क्या इतना कारण पर्याप्त है? क्या इतना काफी है? मृत्यु की निष्पत्ति लेने को क्या यह काफी हो गया है? यह काफी नहीं है।

दक्षिण में एक योगी थे कुछ वर्ष पहले—ब्रह्मयोगी। उन्होंने ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी में, कलकत्ता और रंगून युनिवर्सिटी में तीन जगह मरने का प्रयोग करके दिखाया। वह बहुत कीमती प्रयोग था। वह दस मिनट के लिए मर जाते थे। जब ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी में उनका प्रयोग हुआ तो डॉक्टर्स मौजूद थे। उन्होंने कहा कि इस दस मिनट में आप मेरी जाँच पड़ताल करके लिख दें सर्टिफिकेट कि यह आदमी मर गया या जिन्दा है। फिर उनकी श्वास खो गयी। फिर उनकी नाड़ी बन्द हो गयी। फिर हृदय ने धड़कना बन्द कर दिया। फिर खून की चाल सब शांत हो गयी। और दस डॉक्टरों ने, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी के मेडिकल कॉलेज के डॉक्टरों ने सर्टिफिकेट लिखा कि यह आदमी मर गया। और मरने के सारे सिम्प्टम्स (लक्षण) इस आदमी ने पूरे कर दिये। और दस आदमियों ने दस्तखत किया।

ब्रह्मयोगी दस मिनट के बाद वापस जिन्दा हो गये। श्वास फ़िर चलने लगी, हृदय फिर धड़कने लगा, खून फिर बहने लगा, नाड़ी फिर वापस लौट आयी और उन्होंने कहा कि फिर सर्टिफिकट लिखें कि इस आदमी के बाबत क्या ख्याल है! उन डॉक्टरों ने कहा, हम बड़ी मुश्किल में पड़ गये। आप हम पर अदालत में कोई मुकदमा तो न चलायेंगे? क्योंकि 'मेडिकल साइंस' जो कह सकती थी,

हमने कह दिया। तो ब्रह्मयोगी ने कहा कि मुझे यह भी लिखकर दें कि अब तक जितने लोगों को आपने मरने के 'सर्टिफिकेट' दिये, वे संदिग्ध हो गये। और डॉक्टर चक्कर में पड़ गये।

असल में जिसे हम मृत्यु कह रहे हैं, वह जीवन का शरीर से सरक जाना है। जैसे कोई दिया अपनी किरणों को सिकोड़ ले वापस, ऐसे जीवन का फैलाव वापस सिकुड़ जाता है। बीच में वापस लौट जाता है। फिर नयी यात्रा पर निकल जाता है। लेकिन बाहर से इस सिकुड़ने को हम मृत्यु समझ लेते हैं।

बटन दबा दी हमने, बिजली का बल्ब जलता था, किरणें समाप्त हो गयीं। बल्ब से अंधकार झरने लगा। क्या बिजली मर गयी? सिर्फ 'मेनिफेस्टेशन' बन्द हो गया। फिर बटन दबाते हैं, फिर किरणें बिजली की वापस बहने लगीं। क्या बिजली पुनरुज्जीवित हो गयी? क्योंकि जो मरी नहीं थी, उसको पुनरुज्जीवित कहने का कोई अर्थ नहीं है। बिजली पूरे समय वहीं थी। सिर्फ 'अभिव्यक्ति' खो गयी थी।

जिसे हम मृत्यु कहते हैं, वह प्रगट का फिर पुनः अप्रगट हो जाना है। जिसे हम जन्म कहते हैं, वह अप्रगट का पुनः प्रगट हो जाना है। कृष्ण कहते हैं कि शरीर को मारने से न ही आत्मा मरती है, और न शरीर को बचाने से आत्मा बचती है। आत्मा न मरती है, न बचती है। असल में जो मरने और बचने के पार है, वही आत्मा है, वही अस्तित्व है।

* *

आठवाँ प्रवचन

प्रथम गीता ज्ञान-यज्ञ, अहमदाबाद, रात्रि, दिनांक २ दिसम्बर, १९७०

● **प्रश्नकर्ता :** भगवान् श्री, "य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।" इस श्लोक के बारे में सुबह जो चर्चा हुई, उसके अनुसार यदि आत्मा हननकर्त्ता नहीं या हनन्य भी नहीं है, तो जनरल डायर या नाजियों के 'कन्सेन्ट्रेशन कैंप' की घटनाएं कैसे 'जस्टि-फाई' हो सकती हैं ? 'टोटल एक्सेप्टिबिलिटी' में इनकी क्या उपादेयता है ?

भगवान् श्री : न कोई मरता है, और न कोई मारता है। जो है, उसके विनाश की कोई संभावना नहीं। तब क्या इसका यह अर्थ लिया जाय कि हिंसा करने में कोई भी बुराई नहीं है ? क्या इसका यह अर्थ लिया जाय कि जर्मनी के आउश्वित्ज कन्सेन्ट्रेशन कैम्प में या हिरोशिमा में जो महान हिंसा हुई, वह निन्दा योग्य नहीं है ? स्वीकार योग्य है ?

नहीं, कृष्ण का ऐसा अर्थ नहीं है। इसे समझ लेना उपयोगी है। हिंसा नहीं होती, इसका यह अर्थ नहीं है कि हिंसा करने की आकांक्षा बुरी नहीं है। **हिंसा तो होती ही नहीं, लेकिन हिंसा की आकांक्षा होती है,** हिंसा का अभि-प्राय होता है, हिंसा की मनोदशा होती है।

जो हिंसा करने के लिए इच्छा रख रहा है, जो दूसरे को मारने में रस ले रहा है, जो दूसरे को मारकर प्रसन्न हो रहा है, जो दूसरे को मारकर समझ रहा है कि मैंने मारा--कोई नहीं मरेगा पीछे, लेकिन इस आदमी की यह समझ कि मैंने मारा, इस आदमी का यह रस कि मारने में मजा मिला, इस आदमी की यह मनोकांक्षा कि मारना संभव है, इस सबका पाप है।

पाप हिंसा होने में नहीं है, पाप हिंसा करने में है। होना तो असंभव है, करना संभव है। जब एक व्यक्ति हिंसा कर रहा है, तो दो चीजें हैं वहां।

हिंसा की घटना तो, कृष्ण कहते हैं, असंभव है, लेकिन हिंसा की मनोभावना बिलकुल संभव है। ठीक इससे उल्टा भी सोच लें कि फिर क्या महावीर की अहिंसा और बुद्ध की अहिंसा का कोई अर्थ नहीं? अगर हिरोशिमा और आउश्वित्ज के कन्सेन्ट्रेशन कैम्प में होने वाली हिंसा का कोई अर्थ नहीं, तो बुद्ध और महावीर की अहिंसा का भी कोई अर्थ नहीं रह जाता। अगर आप समझते हों कि अहिंसा का अर्थ तभी है, जब हम किसी मरते और मिटते को बचा पायें, तो कोई अर्थ नहीं है। नहीं, महावीर और बुद्ध की अहिंसा का अर्थ और है।

यह बचाने की आकांक्षा, यह न मारने की आकांक्षा, यह मारने में रस लेने की स्थिति, यह बचाने में रस लेने का मनोभाव...जब महावीर एक चींटी को बचाकर निकलते हैं, तो ऐसा नहीं है कि महावीर के बचाने से चींटी बच जाती है। चींटी में जो बचने वाला है, बचा ही रहेगा, और जो नहीं बचने वाला है वह महावीर के बचाने से नहीं बचता है। लेकिन महावीर का यह भाव, बचाकर निकलने का, बड़ा कीमती है। इस भाव से चींटी को लाभ-हानि नहीं होती, लेकिन महावीर को जरूर होती है।

बहुत गहरे में प्रश्न भाव का है, घटना का नहीं है। बहुत गहरे में प्रश्न भावना का है कि व्यक्ति क्या सोच रहा है। क्योंकि व्यक्ति जीता है अपने विचारों में घिरा हुआ। घटनाएं घटती हैं यथार्थ में, व्यक्ति जीता है विचार में, भाव में।

हिंसा बुरी है। कृष्ण के यह कहने के बाद भी बुरी है कि हिंसा नहीं होती और कृष्ण का कहना जरा भी गलत नहीं है। असल में कृष्ण अस्तित्व से कह रहे हैं। अस्तित्व के बीच बोल रहे हैं।

हिटलर जब लोगों को मार रहा है, तो वह कृष्ण की मनोदशा में नहीं है। हिटलर को लोगों को मारने में रस और आनन्द है—मिटाने में, विनाश करने में। विनाश होता है या नहीं होता है, यह बिलकुल दूसरी बात है। लेकिन हिटलर को विनाश में रस है। यह रस हिंसा है।

अगर ठीक से समझें तो **विनाश का रस हिंसा है**। मारने की इच्छा हिंसा है। मारना होता है या नहीं होता है, यह बिलकुल दूसरी बात है। और यह जो रस हिटलर का है, यह 'डिसीज्ड', रुग्ण चित्त का रस है।

समझ लेना जरूरी है कि जब भी विनाश में रस मालूम पड़े, तो ऐसा आदमी भीतर विक्षिप्त है। **जितना ही भीतर आदमी शांत और आनन्दित**

होगा, उतना ही विनाश में रस असंभव है। जितना ही भीतर आनंदित होगा, उतना सृजन में रस होगा, उतना 'क्रिएटिविटी' में रस होगा। महावीर की अहिंसा एक 'क्रिएटिव फीलिंग' है, जगत् के प्रति एक सृजनात्मक भाव है। हिटलर की हिंसा जगत् के प्रति एक विनाशात्मक भाव है, एक 'डिस्ट्रक्टिव' भाव है। यह भाव महत्वपूर्ण है। और जहां हम जी रहे हैं, वहां अस्तित्व में क्या होता है, यह मूल्यवान नहीं है। एक छोटी सी घटना से समझाने की कोशिश करूँ।

कबीर के घर बहुत भक्त आते हैं। गीत, भजन, सत्संग आदि चलता है। और जब वे जाने लगते हैं, तो कबीर कहते हैं, भोजन करते जायं। अन्त में कबीर का बेटा और पत्नी परेशान हो गये। बेटे ने एक दिन कहा, अब बरदाश्त के बाहर है। कब तक कर्ज लेते जायं! हम कहां से लोगों को खिलायें! अब आप निमंत्रण देना बन्द करें। कबीर ने कहा, मुझे याद ही नहीं रहता, जब घर पर मेहमान आता है तो मुझे ख्याल ही नहीं रहता कि घर में कुछ नहीं है। और घर कोई आया हो तो कैसे ख्याल रखा जाय कि घर में कुछ नहीं है। तो मैं कहे जाता हूँ कि भोजन करते जायं। फिर तो बेटे ने कहा, क्या हम चोरी करने लगें? व्यंग में कहा, क्रोध में कहा कि क्या हम चोरी करने लगें? कबीर ने कहा, अरे, तुझे यह पहले ख्याल क्यों न आया। वह बेटा तो हैरान हुआ, क्योंकि उसे आशा न थी कि कबीर और ऐसा कहेंगे। तो उसने कहा, तो फिर आज मैं चोरी करने जाऊं? वह बेटा भी साधारण नहीं था; कबीर का ही बेटा था। कबीर ने कहा, बिलकुल जा। तो बेटे ने और परीक्षा लेने के लिए कहा, आप भी चलियेगा? कबीर ने कहा, चला चलूंगा। रात हो गयी, बेटे ने कहा, चलें। बेटा भी आखिरी तर्क की सीमा तक देखना चाहता था कि बात क्या है। क्या कबीर चोरी करने को राजी हैं? कबीर और चोरी करने को राजी! बेटे की समझ के बिलकुल बाहर था। अर्जुन की समझ के भी बाहर है कि कृष्ण हिंसा करने को राजी हैं।

ले गया कबीर का बटा कमाल, कबीर को। फिर जाकर दीवाल तोड़ी। दीवाल तोड़कर बीच-बीच में देखता भी रहा। कबीर उससे कहते हैं, तू इतना घबड़ाता क्यों है? इतना कंपता क्यों है? उसने दीवाल भी तोड़ ली। फिर उसने कहा, मैं भीतर जाऊं? कबीर ने कहा कि जरूर जा। वह भीतर भी गया। वह गेहूं का बोरा घसीटकर भी लाया। वह सोचा, अब रोकेंगे, अब रोकेंगे। बहुत हो गया, हद्द हो गयी। कबीर ने बोरा भी निकलवा लिया। फिर बेटे से

कहा, घर में लोग सोये होंगे, उनको उठाकर कह आओ कि तुम्हारे घर में हमने चोरी की है, हम एक बोरा गेहूं ले जा रहे हैं। तो उस बटे ने कहा, यह किस प्रकार की चोरी है ? चोरी कहीं बतायी जाती है ? कबीर ने कहा, जो चोरी बतायी नहीं जा सकती, वह फिर पाप हो गयी। खबर करो। तो बेटे ने कहा, आश्चर्य है कि आप चोरी करवा रहे हैं ! कबीर ने कहा, मुझे याद ही न रहा, क्योंकि जब से यह दिखायी पड़ने लगा कि सभी एक हैं, तब से कुछ अपना न रहा, कुछ पराया न रहा। कोई चीज दूसरे की है, तब चोरी पाप है, लेकिन वह याद ही न रहा, तुमने ठीक याद दिला दिया। कबीर ने कहा, तूने पहले याद क्यों नहीं दिलाया ?

कबीर कह रहे हैं, कोई चीज 'दूसरे' की है, तब तक तो चोरी पाप है। लेकिन अगर दूसरे की कोई चीज नहीं रह गयी, अगर सभी एक का ही है और उस तरफ जो श्वांस चलती है, वह भी मेरी है और इस तरफ जो श्वांस चलती है वह भी मेरी है, तो इस तल पर चोरी के पाप होने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। लेकिन यह अस्तित्व के तल की बात हुई। यह ब्रह्म-ज्ञान में प्रविष्ट व्यक्ति की बात हुई।

तो कबीर ने कहा, अगर न जगा सकता हो तो गेहूं का बोरा वापस लौटा दे। क्योंकि अपने को ही खबर करने में अगर हम डरते हैं, तो चीज फिर अपनी नहीं है। तो फिर वापस लौटा दे। किससे बचकर ले जाना है ?

अब यह बात दो तलों की बात हो गयी है, यह दो 'एग्जिस्टेंस' की बात हो गयी। इसे ठीक से ख्याल में ले लें। एक तो अस्तित्व का जगत् है जहां सब कुछ परमात्मा का है, वहां चोरी नहीं हो सकती। कबीर उसी जगत् में जी रहे हैं। एक मनोभावों का जगत् है, जहां 'दूसरा' दूसरा है। मैं 'मैं' हूं, मेरी चीज मेरी है, दूसरे की चीज दूसरे की है। वहां चोरी होती है, हो रही है, हो सकती है।

जब तक दूसरे की चीज दूसरे की है, तब तक चोरी पाप है। चोरी घटित होती नहीं, सिर्फ चीजें यहां से वहां रखी जाती हैं। चोरी की घटना क्या घट सकती है इस जमीन पर ! कल न मैं रहूंगा, न आप रहेंगे। मेरी चीजें भी मेरी न रह जायेंगी, आपकी चीजें भी आपकी न रह जायेंगी। चीजें यहां पड़ी हैं, इस घर में या उस घर में क्या फर्क पड़ेगा !

अस्तित्व के तल पर चोरी नहीं घटती। भाव के तल पर चोरी घटती है। अगर हिटलर यह कह सके कि मरने में हिंसा होती ही नहीं, तो हिटलर

को फिर अपने आस-पास संतरी खड़े करने की जरूरत नहीं। फिर वह मारे लोगों को, हमें कोई एतराज नहीं। लेकिन खुद को बचाने के लिए जो तत्पर है, दूसरे को मारने को जो आतुर है वह जानता है, मानता है कि हिंसा होती है।

अगर कृष्ण अर्जुन से यह कहें कि ये कोई मरने वाले नहीं हैं, तू बेफिक्री से मार, लेकिन तू मरने वाला है, जरा अपने को सम्हालना, बचाना। तब तो बेईमानी हो जायेगी। लेकिन कृष्ण उससे कहते हैं कि न कोई मरता है, न कोई मारा जाता है। अगर ये भी तुझे मार डालें, तो भी कुछ मरता नहीं। अगर तू भी इन्हें मार डाले तो भी कुछ मरता नहीं। वे बहुत अस्तित्व की गहरी बात कह रहे हैं। इतना स्मरण रखना जरूरी है।

हिरोशिमा में हिंसा हुई, क्योंकि जिन्होंने बम पटका, उन्होंने मारने के लिए पटके थे। हिटलर ने हिंसा की, क्योंकि वह मानकर चल रहा है कि दूसरे को मार रहे हैं। मरता है, नहीं मरता है, यह बहुत दूसरी बात है। इससे हिटलर का कोई लेना-देना नहीं है। जब तक मैं अपने को बचाने को उत्सुक हूं, तब तक मैं दूसरे को मारने को 'सही सिद्धांत' नहीं बना सकता। जब तक मैं कहता हूं, यह मेरी चीज है, कोई चोरी न कर ले जाय, तब तक मैं दूसरे के घर चोरी करने जाऊं तो वह चोरी कबीर की चोरी नहीं हो सकती। **कबीर की चोरी चोरी ही नहीं है। कृष्ण की हिंसा हिंसा ही नहीं है।** इसलिए सवाल उचित है।

कृष्ण की गीता और कृष्ण का संदेश समझकर कोई अगर ऐसा समझ ले कि दूसरे को मारना मारना ही नहीं है, तो यह बिलकुल झूठ है। ऐसा समझें—लेकिन खुद का भी मारा जाना मारा जाना नहीं है, इस शर्त को ध्यान में रख कर, तब कोई हर्ज नहीं है। लेकिन अपने को बचायें और दूसरों को मारें, (और मजा यह है कि हम अपने को बचाने के लिए ही दूसरे को मारते हैं) तब फिर कृष्ण को भूल ही जायें तो अच्छा है।

खतरा हुआ है। इस मुल्क ने जीवन के इतने गहरे सत्यों को पहचाना था, उसकी वजह से यह मुल्क बुरी तरह पतित हुआ। असल में बहुत गहरे सत्य बेईमान आदमियों के हाथों में पड़ जायं, तो असत्यों से बदतर सिद्ध होते हैं। इस मुल्क ने इतने गहरे सत्यों को पहचाना था कि उन सत्यों को जब तक हम पूरा न जान लें, तब तक उनका आधा उपयोग हम नहीं कर सकते। इस मुल्क ने भलीभांति जाना था कि व्यवहार तो माया है, वह

तो सपना है। तो फिर ठीक है, बेईमानी में ही कौन सी बुराई है। अगर यह मुल्क पाँच हजार साल की निरंतर चिन्तना के बाद आज पृथ्वी पर सर्वाधिक बेईमान है तो उसका कारण है। अगर हम इतनी अच्छी बातें करने के बाद भी जीवन में एकदम विपरीत सिद्ध होते हैं, तो उसका कारण है। उसका कारण यही है कि जिस तल पर बातें हैं, उस तल पर हम नहीं उठते, बल्कि जिस तल पर हम हैं, उसी तल पर उन बातों को ले आते हैं।

कृष्ण के तल पर अर्जुन उतरे, उठे, तब तो ठीक, और अगर अर्जुन कृष्ण को अपने तल पर खींच लाये तो खतरा होने वाला है। और **अक्सर ऐसा होता है कि कृष्ण के तल तक उठना तो मुश्किल हो जाता है, कृष्ण को ही खींचकर हम अपने तल पर ले आते हैं।** तब हम ऐसी सुविधा में हो जाते हैं। तब हम कह पाते हैं, सब माया हैं। तब हम बेईमानी कर पाते हैं, कह पाते हैं, माया है। और बड़े मजे की बात है, जिस आदमी को माया दिखायी पड़ गयी है, क्या वह आदमी बेईमानी करने में इतना रस-लिप्त हो सकता है?

एक मित्र आये। कहने लगे, जब से ध्यान करने लगा हूँ तो मन सरल हो गया है। एक आदमी धोखा देकर मेरा झोला ले गया। ऐसे तो सब माया है। उन्होंने कहा, "ऐसे तो सब माया है, लेकिन वह धोखा दे गया, झोला ले गया। अब आगे ध्यान करूं कि न करूं?" ऐसे तो सब माया है, इसे वे बार-बार कहते हैं। मैंने कहा, ऐसे तो माया है, तो झोले से इतने क्यों परेशान हो रहे हैं? और ऐसे सब माया है, तो वह आदमी कैसे धोखा दे गया? और ऐसे सब माया है, तो किसका झोला कौन ले गया?

नहीं, उन्होंने कहा, ऐसे तो सब माया है, लेकिन पूछने मैं आया हूँ कि ऐसा ही ध्यान में सरल होता जाऊँ, और हर कोई धोखा देने लगे तो जीवन कैसे चलेगा? अब यह दो तलों की बातें हैं। उनके ख्याल में नहीं पड़तीं, कि यदि सब माया है, तो झोले का चोरी जाना भी माया ही है। लेकिन 'सब माया है', यह सुनी हुई बात है। हम वहां खड़े नहीं है।

यह जो बात है, यह किसी शिखर से कही गयी है। हम जहाँ खड़े हैं वहाँ यह बात सत्य बिलकुल नहीं है। इस देश के पतन में, इस देश के चारित्रिक ह्रास में, इस देश के जीवन में एकदम अंधकार भर जाने में

गंदगी भर जाने में, हमारे ऊंचे से ऊंचे सिद्धान्तों की हमने जो व्याख्या की है वह कारण है।

यह सवाल महत्वपूर्ण है।

कृष्ण आपसे नहीं कह रहे हैं कि बेफिक्री से हिंसा करो। कृष्ण यह कह रहे हैं कि अगर तुम्हारी समझ में यह आ जाय कि कोई मरता नहीं, कोई मारा नहीं जाता, तब ... तब जो होता है, होने दो। लेकिन दोहरा है यह तीर। 'डबल ऐरोड' है। ऐसा नहीं है कि दूसरे को मारना है तो मारो, क्योंकि कोई नहीं मरता, और जब खुद मरने लगो तो चिल्लाओ कि कहीं मुझे मार मत डालना। ऐसा हो गया है।

हम इस देश में सर्वाधिक मानते हैं कि आत्मा अमर है और सबसे ज्यादा मरने से डरते हैं। जर्मीन पर हमसे ज्यादा कोई भी मरने से नहीं डरता। जिनको हम नास्तिक कहते हैं, जिनको हम कहते हैं कि वे ईश्वर को नहीं मानते, आत्मा को नहीं मानते, वे भी नहीं डरते हैं मरने से। वे भी कहते हैं कि ठीक है, मौका आ जाय तो जिंदगी दाँव पर लगा दें। लेकिन हम एक **हजार साल तक गुलाम रह सके क्योंकि जिन्दगी दांव पर लगाने की हमारी हिम्मत ही नहीं रही।** हाँ, घर में बैठकर हम बात करते हैं कि आत्मा अमर है। अगर आत्मा अमर है, तो इस मुल्क को एक सैकेंड के लिए भी गुलाम नहीं किया जा सकता था।

आत्मा जरूर अमर है। लेकिन हम बेईमान हैं। 'आत्मा अमर है,' यह हम कृष्ण से सुन लेते हैं और हम मरने वाले हैं यह भी हम भली भांति जानते हैं। फिर भी अपने को बचाये चले जाते हैं। आत्मा अमर है इसका पाठ रोज इसीलिए करते हैं ताकि भरोसा आ जाय कि मरेंगे नहीं। कम से कम मैं तो नहीं मरूँगा,' इसका भरोसा दिला रहे हैं, इससे अपने आप को समझा रहे हैं। यह दो भिन्न तल की बात है—एक जहाँ कृष्ण खड़े हैं और दूसरा जहाँ हम खड़े हैं। इस भिन्नता को, इस फासले को ठीक से समझ लेना है।

कृष्ण की बात तभी पूरी सार्थक होगी, जब **आप कृष्ण के तल पर उठें। परन्तु कृपा करके कृष्ण को अपने तल पर मत लायें।** हालांकि वही आसान है, क्योंकि कृष्ण कुछ भी नहीं कर सकते। आप गीता को जिस तल पर ले जाना चाहें, वहाँ ले जा सकते हैं। कटघरे में रहते हों, 'गोडाउन' में रहते

हों या नर्क में रहते हों, जहाँ भी ले जायें गीता को, वह वहीं चली आयेगी। कृष्ण कुछ भी नहीं कर सकते।

कृपा करके जीवन के जो परम सत्य हैं, उन्हें जीवन की अँधेरी गुहाओं में मत ले जाना। वे जीवन के परम सत्य शिखरों पर जाने गये हैं। आप भी शिखरों पर चढ़ना, तभी उन परम सत्यों को समझ पायेंगे। वे परम सत्य सिर्फ पुकार हैं, सिर्फ आपके लिए चुनौतियां हैं कि आओ इस ऊंचाई पर, जहां प्रकाश ही प्रकाश है, जहां आत्मा ही आत्मा है, जहाँ अमृत ही अमृत है। लेकिन जिन अँधेरी गलियों में हम जीते हैं, जहाँ अँधेरा ही अंधेरा है, वहाँ प्रकाश की कोई किरण नहीं पहुँचती मालूम पड़ती।

वहाँ यह सुनकर कि प्रकाश ही प्रकाश है, अंधकार है ही नहीं, अपने हाथ के दिये को मत बुझा देना, यह समझ कर कि जब प्रकाश ही प्रकाश है, तब इस दिये की क्या जरूरत है, फूंक दो। उस दिये को बुझाने से गली और अँधेरी हो जायेगी। जहाँ आदमी जी रहा है, वहाँ हिंसा और अहिंसा का भेद है, अँधेरा है वहाँ। जहाँ आदमी जी रहा है, वहाँ चोरी और अचोरी में भेद है, अँधेरा है वहां। वहां कृष्ण की बात सुनकर अपने इस भेद के छोटे से दिये को मत फूंक देना। नहीं तो सिर्फ अँधेरा घना हो जायेगा, और कुछ भी नहीं होगा। हाँ, कृष्ण की बात सुनकर सिर्फ समझना इतना कि एक शिखर है चेतना का, जहाँ अँधेरा है ही नहीं, जहाँ दिया जलाना पागलपन है। पर उस शिखर को यात्रा करनी होती है। उस शिखर की यात्रा पर हम धीरे-धीरे बढ़ेंगे। वह शिखर, कैसे हम उस जगह पहुँच जायँ जहां जीवन अमृत है, और जहाँ अहिंसा और हिंसा बचकानी, 'चाइल्डिश' बातें हैं? लेकिन जहाँ हम हैं, वहाँ बड़ी सार्थक हैं, वहाँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

यह आत्मा किसी काल में भी न जन्मता है और न मरता है, अथवा न यह आत्मा हो करके फिर होने वाला है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश होने पर भी यह नष्ट नहीं होता है।

भगवान् श्रीः जहाँ हम हैं, जो हम हैं, वहाँ सभी कुछ 'जात' है, जन्मता है। जिससे भी हम परिचित हैं, वहाँ अजात, अजन्मा, कुछ भी नहीं है। जो भी हमने देखा है, जो भी हमने पहचाना है, वह सब जन्मा है, सब मरता है। लेकिन जन्म और मरण की इस प्रक्रिया को भी संभव होने के लिए इसके पीछे कोई, इस सब जन्मने और मरने की श्रृंखला के पीछे (जैसे माला के गुरिये को कोई धागा पिरोता है, दिखाई नहीं पड़ता है, गुरिये दिखायी पड़ते हैं) इस जन्म और मरण के गुरियों की लंबी माला को पिरोनेवाला कोई अजात धागा भी चाहिए, अन्यथा गुरिये बिखर जाते हैं। उसके अभाव में वे टिक भी नहीं सकते, साथ खड़े भी नहीं हो सकते, उनका कोई जोड़ भी नहीं हो सकता। दिखती है माला ऊपर से गुरियों की, होती नहीं है गुरियों की। गुरिए टिके होते हैं एक धागे पर, जो सब गुरियों के बीच से दौड़ता है।

जन्म है, मृत्यु है, आना है, जाना है, परिवर्तन है। इस सब के पीछे है एक अजात सूत्र—'अनबार्न', 'अनडाइंग', अजात, अमृत – न जो जन्मता, न जो मरता। ऐसा एक सूत्र चाहिए ही। वही अस्तित्व है, वही आत्मा है, वही परमात्मा है। सारे रूपांतरण के पीछे, सारे रूपों के पीछे, अरूप भी चाहिए। वह अरूप न हो, तो रूप टिक न सकेंगे। फिल्म देखते हैं सिनेमा गृह में बैठकर। प्रतिपल दौड़ते रहते हैं फिल्म के चित्र। चित्रों में कुछ होता नहीं बहुत। सिर्फ किरणों का जाल होता है। छाया और प्रकाश का जोड़ होता है। लेकिन पीछे एक पर्दा चाहिए। वह पर्दा तब तक बिलकुल दिखायी नहीं पड़ता, जब तक कि फिल्म दौड़ती रहती है। उसे दिखायी पड़ना भी नहीं चाहिए। अगर वह पर्दा दिखायी पड़े, तो फिल्म दिखायी न पड़े।

जब तक फिल्म चलती रहती है, रूप आते और जाते रहते हैं, तब तक पीछे फिर खड़ा पर्दा दिखायी नहीं पड़ता। लेकिन उस पर्दे को हटा दें, तो ये रूप कहीं भी प्रगट नहीं हो सकते। ये आकृतियां कहीं प्रगट भी नहीं हो सकतीं। इन आकृतियों की दौड़ती हुई परिवर्तन की इस लीला में, पीछे कोई थिर पर्दा चाहिए, जो उन्हें सम्हाले। एक चित्र आयेगा, तब भी पर्दा वही होगा। दूसरा चित्र आयेगा, तब भी पर्दा वही होगा। तीसरा चित्र आयेगा, तब भी पर्दा वही होगा। चित्र बदलते जायेंगे, पर्दा वही होगा। तभी इन चित्रों में एक संगति, तभी इन चित्रों में एक श्रृंखला, तभी इन चित्रों में

एक संबंध दिखायी पड़ेगा। वह संबंध, पीछे जो थिर पर्दा है, उससे ही पैदा हो रहा है।

सारा जीवन चित्रों का फैलाव है। ये चित्र टिक नहीं सकते। जन्म भी एक चित्र है, मृत्यु भी एक चित्र है—जवानी भी, बुढ़ापा भी, सुख भी, दुःख भी, सौंदर्य भी, कुरुपता भी, सफलता-असफलता भी। वे सब चित्रों की धाराएं हैं। उन चित्रों की धारा को सम्हालने के लिए कोई चाहिए, जो दिखायी नहीं पड़ेगा। उसको दिखायी पड़ने का कोई उपाय नहीं है। जब तक चित्रों को आप देख रहे हैं तब तक दिखायी नहीं पड़ेगा।

वह, पर्दे की तरह जो पीछे खड़ा है, वही अस्तित्व है। उसे कृष्ण कहते हैं, अजात, अजन्मा, जो कभी जन्मता नहीं, कभी मरता नहीं, लेकिन भूल कर भी ऐसा मत समझ लेना कि यह आपके संबंध में कहा जा रहा है। आप तो जन्मते हैं और मरते हैं। और जिस 'आप' के संबंध में यह कहा जा रहा है, उस 'आप' का, आपको कोई भी पता नहीं है। जिस 'आप' को आप जानते हैं, वह तो जन्मता है। उसकी तो जन्म तारीख है। उसकी तो मृत्यु की तिथि भी होगी। कब्र पर पत्थर लगेगा, तो उसमें जन्म और मृत्यु दोनों की तारीखें लग जायेंगी। लोगों ने, जब आप जन्मे थे तो बैन्ड-बाजे बजाये थे, खुशी मनाई थी। जब आप मरेंगे तो लोग रोयेंगे, दुःखी होंगे। आप जितना अपने को जानते हैं, वह सिर्फ चित्रों का समूह है। इसे थोड़ा वैज्ञानिक ढंग से भी समझना उपयोगी है कि सच में ही जिसे आप जानते हैं, वह चित्रों का समूह है।

अब तो हम 'ब्रेन-वाश' (स्मृति-नाश) कर सकते हैं। अब तो वैज्ञानिक रास्ते उपलब्ध हैं, जिससे हम आपके चित्त की सारी स्मृति को पोंछ डाल सकते हैं। एक आदमी है पचास साल का, उसे पता है कि चार लड़कों का पिता है। उसकी पत्नी है, मकान है, यह उसका नाम है, यह उसकी वंशावली है। उसने यह-यह काम किया है। सब पचास साल की कथा का 'ब्रेन-वाश' किया जा सकता है। उसके मस्तिष्क को हम साफ कर डाल सकते हैं। फिर भी वह होगा, लेकिन फिर वह यह भी न बता सकेगा कि उसका नाम क्या है? और यह भी न बता सकेगा कि उसके कितने लड़के हैं।

मेरे एक मित्र हैं डॉक्टर। ट्रेन से गिर पड़े। चोट खाने से स्मृति चली गयी। बचपन से मेरे साथी हैं, साथ मेरे पढ़े हैं। देखने उन्हें मैं उनके गाँव

गया। जाकर सामने बैठ गया, उन्होंने मुझे देखा और जैसे नहीं देखा। मैंने उनसे पूछा, पहचाना नहीं? उन्होंने कहा कि कौन हैं आप? उनके पिता ने कहा, सारी स्मृति चली गयी है, जब से ट्रेन से गिरे, उनकी सारी स्मृति चली गयी। कुछ भी स्मरण नहीं रहा। इस आदमी के पास इसका कोई अतीत नहीं। चित्र खो गये। कल तक यह कहता था, मैं यह हूँ, मेरा यह नाम है। अब वह सब चित्र खो गये। वह फिल्म 'वाश' हो गयी। वह सब धुल गया। अब वह खाली है—कोरा कागज। अब इस कोरे कागज पर फिर से लिखा जायेगा।

अब उसकी नयी स्मृति बननी शुरू हुई। दुबारा, जब मैं मिलने गया, तो उसने कहा कि आपको पता ही होगा कि तीन साल पहले मैं गिर पड़ा, चोट लग गयी। अब इस तीन साल की स्मृति फिर से निर्मित होनी शुरू हुई। लेकिन तीन साल के पहले वह कौन था, वह बात समाप्त हो गयी। हाँ, उसे याद दिलाते हैं कि तुम डाक्टर थे, तो वह कहता है कि आप लोग कहते हैं, कि मैं डाक्टर था, लेकिन कुछ मुझे पता नहीं। मेरा इतिहास तो वहीं से समाप्त हो जाता, है जहाँ वह दुर्घटना घट गयी।

आज चीन में तो कम्युनिस्टों ने ब्रेनवाश के पोलिटिकल, राजनैतिक उपाय बना लिये है। रूस और चीन में तो वह चल ही रहा है। अब आने वाली दुनिया में किसी राजनैतिक विरोधी को मारने की जरुरत नहीं होगी। क्योंकि इससे बडी हत्या क्या हो सकती है कि उसके 'ब्रेन' को 'वाश' कर दो। विरोधी को पकड़ो और उसके मस्तिष्क को साफ कर दो। विद्युत के धक्कों से और दूसरे 'केमिकल्स' से और दूसरी मानसिक-प्रक्रियाओं से, उसकी स्मृति को पोंछ डालो, फिर विरोध की क्या बात है? वह समाप्त हो गयी। अगर मार्क्स के दिमाग को साफ कर दो तो 'कैपिटल' साफ हो जायेगी। उसके दिमाग में जो है, वह मिट जायेगा। फिर उस आदमी की कोई 'आइडेन्टिटी', उसका कोई तादात्म्य पीछे से नहीं रह जायेगा।

तो हम जिसे कहते हैं मैं, जो कभी पैदा हुआ, जो किसी का बेटा है, किसी का पिता है, किसी का पति है, यह सिर्फ चित्रों का संग्रह है, 'एलबम' (संग्रह) है। इससे ज्यादा नहीं है। अपना-अपना एलबम हम सम्हाले बैठे हैं। उसी को लौट-लौट कर देख लेते हैं, दूसरों को भी दिखा

देते हैं, कोई घर में आता है तो दिखाते हैं कि यह एलबम है। बाकी यह आप नहीं हैं।

अगर इस एलबम को आप समझते हों कि कृष्ण कह रहे हैं अजात, तो इस गलती में मत पड़ना। यह अजात नहीं है। यह तो जन्मा है। यह तो जात है। यह मरेगा भी। **जो जन्मा है, वह मरेगा भी**। जन्म एक छोर है, मृत्यु दूसरा अनिवार्य छोर है। आप तो मरेंगे ही।

इस बात को ठीक से समझ लें तो शायद उस 'आप' को खोजा जा सके, जो कि नहीं मरेगा। लेकिन हम इसी 'मैं' को पकड़े रह जाते हैं, जो जन्मा है। यह 'मैं' मैं नहीं हूं। यह सिर्फ मेरे उस गहरे 'मैं' पर इकट्ठे हो गये चित्र हैं, जिनसे मैं गुजरा हूँ।

जापान में झेन फकीर के पास जब कोई साधक जाता है और उससे पूछता है कि मैं क्या साधना करूँ, तो वह कहता है कि तू यह साधना कर कि तू अपना 'ओरीजनल' फेस, जो जन्म के पहले तेरा चेहरा था, वह खोजकर आ। जन्म के पहले कहीं कोई चेहरा होता है? और कोई आपसे कहने लगे कि मरने के बाद जो आपकी शक्ल होगी, उसको खोजकर लाओ। कोई आपसे कहे कि जन्म के पहले जो शकल थी, वह खोजकर लाओ। झेन फकीर ठीक कहते हैं। वे वही कहते हैं, जो कृष्ण कह रहे हैं। वे यह कहते हैं कि तुम उसका पता लगाओ, जो तुममें कभी जन्मा नहीं था।

अगर ऐसे किसी सूत्र को तुम खोज सकते हो, जो जन्म के पहले भी था, तो विश्वास रखो फिर कि यह मृत्यु के बाद भी होगा। जो जन्म के पहले था, उसे मृत्यु नहीं पोछ सकेगी। जो जन्म के पहले था, वह मृत्यु के बाद भी होगा। और जो जन्म के बाद ही हुआ है, वह मृत्यु के पहले तक साथी हो सकता है, उसके आगे साथी नहीं हो सकता है।

कृष्ण कह रहे हैं कि कोई है अजन्मा, जो नहीं जन्मता, नहीं मरता, जिसे शस्त्रों से छेदा नहीं जा सकता। आपको, मुझे छेदा जा सकता है। इसलिए ध्यान रखना, जिसे छेदा जा सकता है, कृष्ण उसके सम्बन्ध में बात नहीं कर रहे हैं। वे कहते हैं कि उसे छेदा नहीं जा सकता शस्त्रों से, आग में जलाया नहीं जा सकता, पानी में डुबाया नहीं जा सकता। हमें तो छेदा जा सकता

है, कोई कठिनाई नहीं है छेदे जाने में। आग में जलाये जाने में कोई कठिनाई नहीं है। पानी में डुबाये जाने में कोई कठिनाई नहीं है। तो जो पानी में डुबाया जा सकता, आग में जलाया जा सकता, शस्त्रों से काटा जा सकता, उसकी यह चर्चा नहीं है। जिसके ऊपर सर्जन (डॉक्टर) कुछ कर सकता है, उसकी यह चर्चा नहीं है। जिसके लिये डॉक्टर कुछ कर सकता है उसकी यह चर्चा नहीं है।

डॉक्टर जिससे उलझा है वह सत्य है, और सर्जन जिस पर काम कर रहा है, वह मरणधर्मा है। विज्ञान की प्रयोगशाला में, जिस पर खोज-बीन हो रही है, वह मरणधर्मा है। इससे उसका कोई लेना-देना नहीं है। इसलिए अगर वैज्ञानिक सोचता हो कि अपनी प्रयोगशाला की टेबल पर किसी दिन वह कृष्ण के अजात को, अजन्मे को, अमृत को पकड़ लेगा, तो भूल में पड़ा है। वह कभी पकड़ नहीं पायेगा। उसके सब सूक्ष्मतम औजार भी उसको ही पकड़ पायेंगे, जो छेदा जा सकता है। लेकिन जो नहीं छेदा जा सकता, अगर वह दिखायी पड़ जाय, तो अजन्मा का पता चल सकता है। वह दिखाई पड़ सकता है।

सिकन्दर हिन्दुस्तान आया। जब वह हिन्दुस्तान से वापस लौटने लगा, तो हिन्दुस्तान की सीमा को छोड़ते वक्त, उसके मित्रों ने याद दिलाया कि जब हम यूनान से चले थे, तो यूनान के दार्शनिकों ने कहा कि हिन्दुस्तान से एक संन्यासी को लेते आना। **संन्यासी, जगत् को हिन्दुस्तान की देन है, अकेली देन है**। पर अकेली काफी है। जगत् की सारी देनें भी एक ओर इकट्ठी कर ली जायें, तो दूसरी तरफ एक संन्यासी भी यदि हमने जगत् को दिया, तो हमने बैलेंस पूरा कर दिया है। और शायद जिस दिन दुनिया की सब देनें बेकार सिद्ध हो जायेंगी, उस दिन हमारा दिया संन्यास ही, सारी दुनिया के लिए अर्थ का हो सकता है।

याद दिलायी मित्रों ने सिकन्दर को कि एक संन्यासी तो ले चलो, बहुत चीजें लूट लीं, बहुत धन लूट लिया, लेकिन धन वहाँ भी है। बहुमूल्य चीजें, हीरे-जवाहरात भी ले जा रहे हैं, लेकिन वे वहां भी हैं। एक संन्यासी को भी ले चलें, जो वहां नहीं है। सिकन्दर ने सोचा कि जैसे और चीजें ले जायी जा सकती हैं, वैसे संन्यासी को ले जाने में क्या तकलीफ है। उसने कहा, जाओ, पकड़ लाओ कहीं से, किसी संन्यासी को।

गांव में गये लोग, गांव में पूछा कि कोई संन्यासी है ? लोगों ने कहा, संन्यासी तो है, लेकिन प्रयोजन क्या है ? तुम्हारे ढंग संन्यासी के पास जाने जैसे नहीं मालूम पड़ते। नंगी तलवारें हाथ में लिए हो, पागल मालूम पड़ते हो, क्या बात है ? तो उन्होंने कहा, पागल नहीं, हम सिकन्दर के सिपाही हैं। और किसी संन्यासी को पकड़ कर यूनान ले जाना चाहते हैं। उन लोगों ने कहा कि जो संन्यासी तुम्हारी पकड़ में आ जाय, समझना कि वह संन्यासी ही नहीं है। जाओ, हालांकि इस गांव में एक संन्यासी है, हम तुम्हें उसका पता दिये देते हैं। नदी के किनारे तीस वर्षों से एक आदमी नग्न रहता है। जैसा हमने सुना है और जैसा हमने उसे देखा है, जैसा तीस वर्षों में हमने उसे जाना है, हम कह सकते हैं कि वह संन्यासी है, लेकिन तुम उसे पकड़ न पाओगे।

उन्होंने कहा, दिक्कत क्या है ? तलवारें हमारे पास, जंजीरे हमारे पास! गांव वालों ने कहा, तुम जाओ, उसी से निपटो। वे गए। उस संन्यासी से उन्होंने कहा कि महान सिकन्दर की आज्ञा है कि तुम हमारे साथ यूनान चलो। हम तुम्हें सम्मान देंगे, सत्कार देंगे, शाही व्यवस्था देंगे। यूनान तुम्हें जाना है। कोई पीड़ा, दुःख, कोई रास्ते में तकलीफ नहीं होने देंगे। वह संन्यासी हँसने लगा। उसने कहा कि अगर सत्कार ही मुझे चाहिए होता, अगर स्वागत ही मुझे चाहिए होता, अगर सुख ही मुझे चाहिए होता, तो मैं संन्यासी कैसे होता ? छोड़ो सपने की बातें मत करो। मतलब की बात कहो।

तो उन सैनिकों ने कहा कि मतलब की बात यह है कि अगर नहीं जाओगे, तो हम जबरदस्ती पकड़कर ले जायेंगे। तो उस संन्यासी ने कहा, जिसे तुम पकड़कर ले जाओगे वह संन्यासी नहीं है। **संन्यासी परम स्वतंत्र है,** उसे कोई पकड़कर नहीं ले जा सकता। उन्होंने कहा, मार डालेंगे। तो उस संन्यासी ने कहा, वह तुम कर सकते हो। लेकिन मैं तुमसे कहता हूँ, तुम मारोगे, लेकिन भ्रम में रहोगे, क्योंकि तुम जिसे मारोगे, वह मैं नहीं हूँ। तुम अपने सिकन्दर को ही लिवा लाओ। शायद उसकी कुछ समझ में आ जाय।

सिपाही सिकन्दर को बुलाने गये। सिकन्दर से उन्होंने कहा कि अजीब आदमी है। वह कहता है, मार डालो, तो भी जिसे तुम मारोगे, वह मैं नहीं हूँ। कौन है फिर वह, सिकन्दर ने कहा। हमने तो कोई ऐसा आदमी नहीं देखा जो मारने के बाद बचता हो। बचेगा कैसे ? सिकन्दर अनुभव से कहता था,

हजारों लोग मारे थे उसने। उसने कहा, मैंने कभी किसी आदमी को मरने के बाद बचते नहीं देखा।

सिकन्दर गया, नंगी तलवार उसके हाथ में है। संन्यासी से उसने कहा, चलना पड़ेगा। अन्यथा यह तलवार गर्दन को शरीर से अलग कर देगी। संन्यासी खिलखिलाकर हँसने लगा। उसने कहा, जिस गर्दन और शरीर के अलग करने की तुम बात कर रहे हो, उसे मैं बहुत पहले अलग है, ऐसा जान चुका हूँ। इसलिए अब तुम और ज्यादा अलग न कर सकोगे। इतनी अलग जान चुका हूँ कि तुम्हारी तलवार के लिए, बीच में गुजर जाने के लिए, काफी फासला है, जगह है। काफी अलग जान चुका हूँ। अब तुम और अलग न कर सकोगे। सिकन्दर को क्या समझ में आती ये बातें !

उसने तलवार उठा ली, उसने कहा, अभी काट दूंगा। देखो सिद्धान्तों की बातों में मत पड़ो। फिलॉसफी से मुझे बहुत लेना-देना नहीं है। मैं आदमी व्यावहारिक हूं, 'प्रेक्टिकल' हूँ। यह ऊँची बातें छोड़ो, एक झटका दूंगा और गर्दन अलग हो जायेगी। सिकन्दर को संन्यासी ने कहा, तुम मारो तलवार। जिस तरह तुम देखोगे कि गर्दन नीचे गिर गयी, उसी तरह हम भी देखेंगे कि गर्दन नीचे गिर गयी।

अब यह जो आदमी है, यह कह रहा है वही, जो कृष्ण कह रहे हैं। छेदने से छिदता नहीं है, काटने से कटता नहीं। इसलिए जब तक आप छेदने से छिद जाते हों और काटने से कट जाते हों, तब तक जानना कि अभी अपने होने का पता नहीं चला। जब छेदने से शरीर छिद जाता हो और भीतर कुछ अनछिदा रह जाता हो, जब काटने से शरीर कट जाता हो और भीतर अनकटा कुछ शेष रह जाता हो, जब बीमार होने से शरीर बीमार हो जाता हो और भीतर बीमारी के बाहर कोई रह जाता हो, जब दुःख आता हो, तब शरीर दुःख से भर जाता हो और भीतर दुःख के पार कोई खड़ा देखता रह जाता हो, तब जानना कि कृष्ण उसी 'आप' की बात कर रहे हैं। उस 'आप' का अब तक आपको पता नहीं है। अर्जुन वही बात कर रहा है, जो सिकन्दर कर रहा है। 'टाइप' (संस्कार का ढांचा) भी उनका एक ही है। उनके 'टाइप' में भी बहुत फर्क नहीं है, लेकिन हम सबका टाईप वही है।

निरंतर खोजते रहना....कांटा तो चुभता है रोज पैर में, तब जरा देखना कि अनचुभा भी भीतर कोई रह गया ? बीमारी तो आती है रोज, जरा भीतर देखना, बीमारी के बाहर कोई बचा ? दुःख आता है रोज। रोना, हँसना, सब आता है रोज, तो देखना, खोजना उसे, जो इनके बाहर बच जाता है।

धीरे-धीरे खोजने से वह दिखायी पड़ने लगता है। और जब एक बार दिखायी पड़ता है, तो पता चलता है कि जिसे हमने अब तक समझा था कि 'मैं' हूँ, वह सिर्फ छाया थी, सिर्फ 'शेडो' थी। छाया को ही समझा था कि मैं हूँ, और उसका हमें कोई पता ही नहीं था, जिसकी छाया बन रही है। छाया के साथ ही एक होकर जिये थे। वह छाया हमारी स्मृतियों का जोड़ है। हमारे जन्म से लेकर मृत्यु तक बने हुए चित्रों का वह एलबम है।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्तिकम् ॥ २१ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन, जो पुरुष इस आत्मा को नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है।

भगवान् श्रीः कृष्ण कहते हैं, जो ऐसा जानता है, 'वन हू नोज लाइक दिस'। नहीं कहते हैं कि जो ऐसा मान रहा है। 'वन हू बिलीव्ज लाइक दिस'। इतना कह सकते थे, 'जो पुरुष ऐसा मानता है कि न जन्म है, न मृत्यु है।' तब तो हम सबको भी बहुत आसान होता। **मानने से ज्यादा सरल कुछ भी नहीं है। क्योंकि मानने के लिए कुछ भी नहीं करना पड़ता। जानने से ज्यादा कठिन कुछ भी नहीं है। क्योंकि जानने के लिए तो पूरी आत्मक्रांति से गुजर जाना पड़ता है।**

कृष्ण कहते हैं, 'जो पुरुष ऐसा जानता है।' इस 'जानने' शब्द को ठीक से पहचान लेना जरूरी है। **क्योंकि सारा धर्म 'जानने' शब्द को छोड़कर 'मानने' शब्द के इर्द-गिर्द घूम रहा है।** सारी पृथ्वी पर बहुत-बहुत नामों से जो धर्म प्रचलित हैं, वे सब मानने के आसपास घूम

रहे हैं। सारे धर्म कह रहे हैं, 'मानो', ऐसा मानोगे तो हो जायेगा। लेकिन कृष्ण कहते हैं, 'जो जानता है'। अब **'जानने का क्या मतलब ?**

जानना भी दो तरह से हो सकता है। शास्त्र से कोई पढ़ ले तो भी जान लेता है। अनुभव से कोई जाने तो भी जान लेता है। क्या ये दोनों जानना एक ही अर्थ रखते हैं ? शास्त्र से जानना तो बड़ा सरल है। लिखा है, पढ़ा है, और जाना है। इस जानने के लिए सिर्फ शिक्षित होना काफी है, पठित होना काफी है। उसके लिए धार्मिक होने की कोई जरूरत नहीं। **शास्त्र से पढ़कर जो जानना है, वह जानना नहीं है, जानने का धोखा है।** वह सिर्फ 'इन्फर्मेशन' है, सूचना है। लेकिन सूचना से धोखे हो जाते हैं। पढ़ लेते हैं कि आत्मा अजर है, अमर है, वह नहीं जन्मता, नहीं मरता। इसे पढ़ लेते हैं, दोहरा लेते हैं। बार-बार दोहरा लेने से भूल जाते हैं कि जानते नहीं हैं, सिर्फ दोहराते हैं। बहुत बार-बार दोहराने से बात ही भूल जाती है कि जो हम कह रहे हैं, वह अपना जनाना नहीं है।

एक आदमी शास्त्र में पढ़ ले तैरने की कला। जान ले पूरा शास्त्र। चाहे तैरने पर बोलना हो, तो बोले। लिखना चाहे, तो लिखे। चाहे तो कोई युनिवर्सिटी से 'पी. एच. डी.' ले ले। डॉक्टर हो जाय तैरने के संबंध में। लेकिन फिर भी उस आदमी को भूलकर नदी में धक्का मत देना, क्योंकि उसकी 'पी. एच. डी.' तैरा न सकेगी। उसकी 'पी. एच. डी.' और जल्दी डुबा देगी, क्योंकि काफी वजनी होती है। पत्थर का काम करेगी।

तैरने के संबंध में जानना, तैरना जानना नहीं है। **सत्य के संबंध में जानना, सत्य को जानना नहीं है।** 'टु नो अबाउट', किसी के संबंध में जानना, बिलकुल बराबर है 'न जानने' के। सत्य के संबंध में जानना, सत्य को न जानने के बराबर है। लेकिन एकदम बराबर कहना ठीक नहीं है। थोड़ा खतरा है, सत्य को न जानना। ऐसा जानना, सत्य की तरफ जाने में बाधा बन जाती है। सत्य को बिना जानते हुए जान लेना ही, सत्य की तरफ जाने में बाधा बन जाती है। नहीं, बराबर (एक्वीवेलेंट) भी नहीं है।

कृष्ण के इस शब्द को बहुत ठीक से समझ लेना चाहिए। क्योंकि इस शब्द के आस-पास ही 'ऑथेंटिक रिलीजन', वास्तविक धर्म का, जाने गये

धर्म का जन्म होता है। मानने के आस-पास 'नॉन-ऑथेंटिक', अप्रमाणिक धर्म का जन्म होता है। जानने से जो उपलब्ध होता है उसका नाम श्रद्धा है और मानने से जो उपलब्ध होता है उसका नाम विश्वास है, 'बिलीफ' है। और जो लोग विश्वासी हैं, वे धार्मिक नहीं हैं। वे बिना जाने मान रहे हैं।

यह शब्द बहुत छोटा नहीं है, बड़े से बड़ा शब्द है। लेकिन भ्रांति इसके साथ निरंतर होती रहती है। हमारे पास एक शब्द है वेद। वेद का अर्थ है, जानना। लेकिन हम तो वेद से मतलब लेते हैं संहिता, वह जो किताब है। हमने कहा, वेद अपौरुषेय है, जानना अपौरुषेय है। लेकिन हम मतलब लेते हैं कि वह जो किताब है हमारे पास, वेद नाम की, वह परमात्मा की लिखी हुई है। **वेद किताब नहीं है, वेद जीवन है।**

लेकिन जानने को मानना बना लेना बड़ा आसान है, ज्ञान को किताब बना लेना बड़ा आसान है। जानने को शास्त्र पर निर्भर कर देना बहुत आसान है, क्योंकि तब बहुत कुछ करना नहीं पड़ता। जानने की जगह केवल स्मृति की जरूरत होती है। बस याद कर लेना काफी होता है। तो बहुत लोग गीता याद कर रहे हैं।

मैं एक गांव में गया था, अभी तो वहाँ पर उन्होंने एक गीता-मंदिर बनाया है। मैंने पूछा, एक छोटी सी गीता के लिए इतना बड़ा मंदिर? तो उन्होंने कहा, नहीं, जगह कम पड़ रही है। मैंने कहा, क्या कर रहे हैं यहाँ आप? उन्होंने कहा, अब तक हम यहां एक लाख गीता हाथ से लिखवा कर रखवा चुके हैं। अब जगह कम पड़ रही है। हिन्दुस्तान भर में हजारों लोग गीता लिख-लिख कर भेज रहे हैं। मैंने कहा, यह क्या हो रहा है? इससे क्या होगा? उन्होंने कहा, कोई आदमी दस दफे लिख चुका, कोई पचास दफे लिख चुका, कोई सौ दफे लिख चुका। लिखने से ज्ञान होगा।

तो मैंने उनसे कहा, छापे-खाने तो परम ज्ञानी हो गये होंगे। 'कंपोजिटरों के तो हमको चरण पकड़ लेना चाहिए, 'कंपोजिटर' जहां भी मिल जाय, क्योंकि कितनी गीताएं छाप चुके वे। अब महात्माओं की तलाश मुद्रणशाला में करनी चाहिए, और कहीं नहीं करना चाहिए।

यह पागलपन क्यों पैदा होता है? इसके होने का कारण है। ऐसा लगता है कि शास्त्र से जानना हो जायेगा। शास्त्र से सूचना मिल सकती है, 'इन्फर्मेशन' मिल सकती है, इशारे मिल सकते हैं, ज्ञान नहीं मिल सकता। ज्ञान तो जीवन के अनुभव से ही मिलेगा। और जब तक जीवन के अनुभव से यह पता न चल जाय कि हमारे भीतर कोई अजन्मा है, तब तक रुकना मत, तब तक कृष्ण कितना ही कहें, मान मत लेना। कृष्ण के कहने से इतना ही जानना कि जब इतने जोर से यह आदमी कह रहा है, तो खोजें, तो पता लगायें। जब इतने आश्वस्त ढंग से यह आदमी भरा है, इतने सहज आश्वासन से कह रहा है, तो जाना है इसने। इसने जिया है कुछ, देखा है कुछ। हम भी देखें, हम भी जानें, हम भी जियें। **काश! शास्त्र इशारे बन जायें और हम यात्रा पर निकल जायें, लेकिन शास्त्र मंदिर बन जाते हैं** और हम विश्राम को उपलब्ध हो जाते हैं।

इस 'जानने' शब्द को स्मरण रखना, क्योंकि पीछे कृष्ण फिर बार-बार, गहरे से गहरा जोर इस पर देते हैं।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि ग्रह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यान्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

और यदि तू कहे कि मैं तो शरीरों के वियोग का शोक करता हूँ तो यह भी उचित नहीं है; क्योंकि जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर, दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है।

भगवान् श्रीः वस्त्रों की भांति—जीर्ण हो गये वस्त्रों की भाँति शरीर को छोड़ती है आत्मा, नये शरीरों को ग्रहण करती है, लेकिन वस्त्रों की भाँति। हमने क्या कभी अपने शरीर को वस्त्र की भांति अनुभव किया है—ऐसा, जिसे हमने ओढ़ा हो? जिसे हमने पहना हो?

ऐसा जो हमारे बाहर हो ? ऐसा, जिसके हम भीतर हों ? क्या कभी हमने वस्त्र की तरह शरीर को अनुभव किया है ?

नहीं, हमने तो अपने को शरीर की तरह ही अनुभव किया है। जब भूख लगती है, तो ऐसा नहीं लगता कि भूख लगी है, ऐसा मुझे पता चल रहा है। ऐसा लगता है कि मुझे भूख लगी। जब सिर में दर्द होता है, तो ऐसा नहीं लगता है कि सिर में दर्द हो रहा है; ऐसा मुझे पता चल रहा है। नहीं, ऐसा लगता है कि मेरे सिर में दर्द हो रहा है, मुझे दर्द हो रहा है। **शरीर से हमारा तादात्म्य (आइडेन्टिटी) गहरा है।** ऐसा नहीं लगता कि मैं और शरीर दो हैं। ऐसा लगता है, शरीर ही मैं हूँ।

कभी आँख बन्द करके क्या यह देखा है कि शरीर की उम्र पचास वर्ष हुई, मेरी कितनी उम्र है ? क्या कभी आँख बन्द करके तत्क्षण सोचा है कि शरीर की उम्र पचास साल हुई, मेरी कितनी उम्र है ? क्या कभी आँख बन्द कर चिन्तन किया है कि शरीर का तो ऐसा चेहरा है, मेरा कैसा चेहरा है ? कभी सिर में दर्द हो रहा है तो आँख बन्द करके क्या खोज-बीन की है कि दर्द मुझे हो रहा है या मुझसे कहीं दूर हो रहा है ?

पिछले महायुद्ध में एक बहुत अद्भुत घटना घटी। फ्रांस में एक अस्पताल में एक आदमी भर्ती हुआ। युद्ध में बहुत आहत होकर, चोट खाकर। उसका पूरा का पूरा पैर जख्मी हो गया। अंगूठे में उसे भयंकर पीड़ा है। चीखता है, चिल्लाता है, बेहोश हो जाता है। होश आता है, फिर चीखता और चिल्लाता है। रात उसे डॉक्टरों ने बेहोश करके घुटने से नीचे का पूरा पैर काट डाला। क्योंकि उसके पूरे शरीर के विषाक्त हो जाने का डर था। चौबीस घंटे बाद वह होश में आया। होश में आते ही उसने चीख मारी। उसने कहा, मेरे पैर में बहुत दर्द हो रहा है ! पर अब अंगूठा था नहीं!

पास खड़ी नर्स हँसी और उसने कहा, जरा सोच कर कहिये। सच में दर्द हो रहा है ? उसने कहा, क्या मजाक कर रहा हूँ ? अंगूठे में मुझे बहुत भयंकर दर्द हो रहा है। कम्बल पड़ा है उसके पैर पर, उसे दिखाई तो पड़ता नहीं। उसे नर्स ने कहा, और जरा सोचिये, थोड़ा भीतर खोज-बीन

करिये। उसने कहा, खोज-बीन की बात क्या है, दर्द इतना साफ है। नर्स ने कंबल उठाया और कहा, देखिये अँगूठा कहाँ है? अंगूठा तो नहीं था। आधा पैर भी नहीं था। पर उस आदमी ने कहा, देख तो रहा हूँ अंगूठा नहीं है, आधा पैर भी कट गया है, लेकिन दर्द फिर भी मुझे अंगूठे में ही हो रहा है। तब तो एक मुश्किल की बात ही गयी।

चिकित्सक बुलाये गये। चिकित्सकों के सामने भी पहली दफा ऐसा सवाल आया था। जो अंगूठा नहीं है, उसमें दर्द कैसे हो सकता है। लेकिन फिर जाँच पड़ताल की, तो पता चला कि हो सकता है। जो अँगूठा नहीं है, उसमें भी दर्द हो सकता है। यह बड़ी 'मेटाफिजिकल' बात हो गयी, यह तो बड़ा अध्यात्म हो गया। डॉक्टरों ने पूरी जाँच पड़ताल की तो लिखा कि वह आदमी ठीक कह रहा है, दर्द उसे अँगूठे में हो रहा है।

तब तो उस आदमी ने कहा, क्या मजाक कर रहे हैं। पहले उन्होंने उसे कहा था, क्या मजाक कर रहे हो ? फिर उस आदमी ने कहा, कैसी मजाक कर रहे हैं, मैं जरूर किसी भ्रम में पड़ गया होऊँगा। लेकिन आप भी कहते हैं कि दर्द हो सकता उस अँगूठे में, जो नहीं है। तो डॉक्टरों ने कहा, हो सकता है, क्योंकि दर्द अँगूठे में होता है, पता कहीं और चलता है। अँगूठे और पता चलने की जगह में बहुत फासला है। जहाँ पता चलता है, वह चेतना है। जहाँ दर्द होता है, वह अँगूठा है। दर्द से चेतना तक सन्देश लाने के लिए जिन स्नायुओं का काम रहता है, भूल से वे स्नायु अभी तक खबर दे रहे हैं कि दर्द हो रहा है।

जब अंगूठे में दर्द होता है, तो उससे जुड़े हुए स्नायुओं के तंतु कंपने शुरू हो जाते हैं। कंपन से ही वे खबर पहुँचाते हैं। जैसे टिक्-टिक्-टिक् की ध्वनि से टेलिग्राफ में खबर पहुँचायी जाती है, ऐसा ही कंपित होकर स्नायु मस्तिष्क तक खबर पहुँचाते हैं। कई केंद्रों से गुजरती है वह खबर आपके मस्तिष्क तक आने में। फिर मस्तिष्क चेतना तक खबर पहुँचाता है। इसमें कई 'ट्रांसफार्मेशन्स' होते हैं। कई 'कोड लेंग्वेज' बदलती हैं। कई बार कोड बदलता है, क्योंकि इन सबकी भाषा अलग-अलग है।

तो कुछ ऐसा हुआ कि अँगूठा तो कट गया, लेकिन जो संदेशवाहक

नाड़ियाँ खबर ले जा रही थीं, वे कँपती ही रहीं। वे कँपती रहीं, तो संदेश पहुँचता रहा। संदेश पहुँचता रहा और मस्तिष्क कहता रहा कि अँगूठे में दर्द हो रहा है।

क्या ऐसा हो सकता है कि हम एक आदमी के पूरे शरीर से उसके मस्तिष्क को अलग कर लें? उसके मस्तिष्क को निकाल लें? अब तो हो जाता है। पूरे शरीर से मस्तिष्क को अलग किया जा सकता है। मस्तिष्क को बचाया जा सकता है, अकेले मस्तिष्क को। अगर एक आदमी को हम बेहोश करें, और उसके पूरे शरीर को अलग करके, उसके मस्तिष्क को प्रयोगशाला में रख लें और अगर मस्तिष्क से हम पूछ सकें कि तुम्हारा शरीर के बाबत क्या ख्याल है? तो वह कहेगा कि सब ठीक है। कहीं कोई दर्द नहीं हो रहा है। शरीर है ही नहीं। वह कहेगा, सब ठीक है।

शरीर का जो बोध है वह, कृष्ण कहते हैं, वस्त्र की भाँति है। लेकिन वस्त्र ऐसा है कि जिससे हम इतने चिपट गये हैं कि वह वस्त्र नहीं रहा, हमारी चमड़ी हो गया। इतने जोर से चिपट गये हैं, इतना तादात्म्य है जन्मों-जन्मों का, कि शरीर ही मैं हूँ, ऐसी हमारी पकड़ हो गयी है। जब तक यह शरीर और मेरे बीच 'डिस्टेंस', फासला पैदा नहीं होता, तब तक कृष्ण का यह सूत्र समझ में नहीं आयेगा कि 'जीर्ण वस्त्रों की भाँति...'

थोड़े से प्रयोग करें, तो ख्याल में आने लगेगा। बहुत ज्यादा प्रयोग नहीं, बहुत थोड़े से प्रयोग। सत्य तो यही है, जो कहा जा रहा है। असत्य वह है, जो हम माने हुए हैं। लेकिन माने हुए असत्य वास्तविक सत्यों को छुपा देते हैं। माना हुआ है हमने अपने को शरीर, वह हमारी मान्यता है। और बचपन से हम सिखाते हैं और मान्यताएँ घर करती हुई चली जाती हैं। हमने माना हुआ है कि मैं शरीर हूँ।

शरीर सुन्दर होता है, तो हम मानते हैं कि मैं सुन्दर हूँ। शरीर स्वस्थ होता है, तो हम मानते हैं कि मैं स्वस्थ हूँ। शरीर को कुछ होता है, तो उसे हम मैं के साथ एक करके मानते हैं। फिर यह प्रतीति गहरी होती चली जाती है, यह स्मृति सघन हो जाती है। फिर शरीर वस्त्र नहीं रह जाते, हम ही वस्त्र हो जाते हैं।

एक मेरे मित्र हैं। वृद्ध हैं, सीढ़ियों से पैर फिसल पड़ा उनका। पैर में बहुत चोट पहुँची। कोई पचहत्तर साल के वृद्ध हैं। गया उनके गांव। लोगों ने कहा, तो मैं उन्हें देखने गया। बहुत कराहते थे और डॉक्टरों ने तीन महीने के लिए बिस्तर पर उन्हें सीधा बाँध रखा था। और कहा था कि तीन महीने हिलना–डुलना नहीं। सक्रिय आदमी हैं, पचहतर साल की उम्र में भी उन्हें बिना भागे–दौड़े चैन नहीं आती थी। तीन महीने तो उनको अनन्त काल मालूम होने लगे।

मैं गया तो कोई छः सात दिन हुये थे। वे रोने लगे। हिम्मतवर आदमी हैं। कभी आँख उनकी आँसुओं से भरेगी, मैंने सोचा नहीं था। एकदम असहाय हो गये और कहा कि इससे तो बेहतर है, मैं मर जाता। ये तीन महीने इस तरह बँधे हुए! यह तो नर्क हो गया। यह मैं न गुजार सकूंगा। वे मुझसे बोले, मेरे लिए प्रार्थना करिये, भगवान् मुझे उठा ही ले। अब जरूरत भी क्या है। अब काफी जी भी लिया। अब तीन महीने इस खाट पर बँधे–बँधे ज्यादा कठिन हो जायेंगे। तकलीफ भी बहुत है, पीड़ा भी बहुत है।

मैंने उनसे कहा, एक छोटा सा प्रयोग करें। आँख बन्द कर लें और पहला काम तो यह करें कि पता लगायें भीतर कि तकलीफ कहाँ है, उसे 'एक्जेक्ट पिन प्वाइंट' करें कि तकलीफ कहाँ है। वह बोले, पूरे पैर में तकलीफ है। मैंने कहा कि थोड़ा आँख बन्द करके खोज–बीन करें, सच में पूरे पैर में तकलीफ है? क्योंकि आदमी की 'एग्जाजरेट' करने की, बढ़ाने की, आदत है। न तो इतनी तकलीफ होती है, न इतना सुख होता है।

हम सब चीजें बढ़ा कर देखते हैं। आदमी के पास 'मेग्निफाइंग माइंड' है। जैसे लैंस होता है जो चीजों को बड़ा करके बता देता है, ऐसी आदमी की खोपड़ी हर चीज को बड़ा करके देखती है। कोई फूल माला पहना देता है तो वह समझता है, भगवान् हो गये। कोई जरा सा व्यंग से हँस देता है, तो वह समझता है, गयी, सब इज्जत पानी में मिल गयी। 'मेग्निफाइंग ग्लास' का काम करता है दिमाग।

मैंने उनसे कहा, जरा खोजें, मैं नहीं मानता कि पूरे पैर में दर्द हो सकता है। क्योंकि पूरे पैर में होता तो पूरे शरीर में दिखायी पड़ता, जरा खोजें।

आँख बन्द करके उन्होंने खोजना शुरू किया। पन्द्रह मिनट बाद मुझसे कहा कि हैरानी की बात है। दर्द जितनी जगह फैला हुआ लगता था, इतनी जगह है नहीं। बस, घुटने के ठीक पास मालूम पड़ता है। मैंने पूछा, कितनी जगह घेरता होगा? उन्होंने कहा, जैसे कोई एक बड़ी गेंद के बराबर है। मैंने कहा, और थोड़ा खोजें। और थोड़ा खोजें। उन्होंने फिर आँख बन्द कर ली और अब तो आश्वस्त थे, क्योंकि दर्द इतना सिकुड़ा कि सोचा भी नहीं था कि मन ने इतना फैलाया होगा। और खोजा, पन्द्रह मिनट मैं बैठा रहा।

वह खोजते चले गये। फिर उन्होंने आँखें नहीं खोली। चालीस मिनट, पैंतालीस मिनट और उनका चेहरा मैं देख रहा हूँ, उनका चेहरा बदलता जा रहा है। कोई सत्तर मिनट बाद उन्होंने आँख खोली और कहा, आश्चर्य है कि वह तो ऐसा रह गया, जैसे कोई सुई चुभाता हो इतनी जगह में। फिर मैंने कहा, फिर क्या हुआ? आपको जवाब देना है, मुझे जल्दी जाना है, मैं सत्तर मिनट से बैठा हुआ हूँ, आप आँख नहीं खोले। उन्होंने कहा, दर्द बिलकुल सिकुड़ गया। ऐसा लगने लगा कि बस, एक जरा सी बिन्दु जहाँ पिन चुभायी जा रही हो, वहीं दर्द है। तो मैं उसे और गौर से देखने लगा। मैंने सोचा, जो इतना सिकुड़ सकता है, वह खो भी सकता है। और ऐसे क्षण आने लगे कि जब मुझे लगा कि दर्द है ही नहीं। और कभी लगे कि है, कभी लगे कि खो गया है। और एक क्षण लगे कि सब ठीक है, और एक क्षण लगे कि वापस आ गया है।

फिर मैंने कहा, फिर भी मुझे खबर कर देते, तो मैं जाता। उन्होंने कहा, लेकिन एक और नयी घटना घटी, जिसके लिए मैं सोच ही नहीं रहा था। वह घटना यह घटी कि जब मैंने इतने गौर से दर्द को देखा, तो मुझे लगा कि दर्द कहीं बहुत दूर है और मैं कहीं बहुत दूर हूँ। दोनों के बीच बड़ा फासला है।

तो मैंने कहा कि तीन महीने इसका ही ध्यान करते रहें। जब भी दर्द हो, फौरन आँख बन्द करें और ध्यान में लग जायें। तीन महीने बाद वह मुझे मिले तो उन्होंने पैर पकड़ लिये, फिर रोये। लेकिन अब आँसू आनन्द के थे और उन्होंने कहा, भगवान् की कृपा है कि मरने के पहले तीन महीने खाट पर लगा

दिये, अन्यथा मैं कभी आँख बन्द करके बैठने वाला आदमी नहीं। लेकिन इतना आनंद मुझे मिला है कि मैं जीवन में सिर्फ इसी घटना के लिए अनुग्रहीत हूँ परमात्मा का।

मैंने पूछा, क्या हुआ आपको? उन्होंने कहा, दर्द को मिटाते–मिटाते मुझे यह पता चला कि दर्द तो जैसे दीवाल पर हो रहा है और मैं तो घर का मालिक हूँ, दर्द से बहुत अलग!

शरीर को भीतर से जानना पड़े, 'फ्रोम दी इंटीरियर'। हम अपने शरीर को बाहर से जानते हैं। जैसे कोई आदमी अपने घर को बाहर से जानता हो। हमने कभी शरीर को भीतर से 'फील' (अनुभव) नहीं किया है। उसे बाहर से ही जानते हैं। यह हाथ हम देखते हैं, यह हम बाहर से देखते हैं। वैसे ही जैसे आप मेरे हाथ को देख रहे हैं बाहर से, ऐसे ही मैं भी अपने हाथ को बाहर से जानता हूँ। हम सिर्फ 'फ्राम द विदाउट', बाहर से ही परिचित हैं अपने शरीर से। हम अपने शरीर को भी भीतर से नहीं जानते। फर्क है दोनों बातों में। घर के बाहर से खड़े होकर देखें, तो बाहर की दीवाल दिखायी पड़ती है, घर के भीतर से खड़े होकर देखें तो घर का 'इन्टीरियर', भीतर की दीवाल दिखायी पड़ती है।

इस शरीर को हम जब तक बाहर से देखेंगे, तब तक जीर्ण वस्त्रों की तरह यह शरीर दिखायी नहीं पड़ सकता है। इसे भीतर से देखें, इसे आँख बन्द करके भीतर से एहसास करें कि शरीर भीतर से कैसा है। 'इनर लाइनिंग' कैसी है? कोट के भीतर से सिलाई कैसी है, बाहर से तो ठीक है, भीतर से कैसी है? इसकी भीतर की रेखाओं को पकड़ने की कोशिश करें। और जैसे जैसे साफ होने लगेगा वैसे–वैसे लगेगा कि जैसे एक दिया जल रहा है और उसके चारों तरफ से काँच है। अब तक काँच से ही हमने देखा था, तो काँच ही मालूम पड़ता था कि ज्योति है। जब भीतर से देखा तो पता चला कि ज्योति अलग है। काँच तो केवल बाहरी आवरण है।

एक बार, एक क्षण को भी यह एहसास हो जाय कि ज्योति अलग है, और शरीर बाहरी आवरण है, तो फिर सब मृत्यु वस्त्रों का बदलना है, फिर सब जन्म नये वस्त्रों का ग्रहण है, फिर सब मृत्यु पुराने वस्त्रों का छोड़ना है।

तब जीर्ण वस्त्रों की तरह यह शरीर छोड़ा जाता है, नये वस्त्रों की तरह ग्रहण किया जाता है और आत्मा अपनी अनंत यात्रा पर अनंत वस्त्रों को ग्रहण करती और छोड़ती है। तब जन्म और मृत्यु, जन्म और मत्यु नहीं है, केवल वस्त्रों का परिवर्तन है। तब सुख–दुख का कोई कारण नहीं रह जाता।

लेकिन **जो कृष्ण कहते हैं, यह गीता पढ़ने से समझ में न आयेगा, यह अपने भीतर जाकर अनुभव करना पड़ेगा।** धर्म के लिए प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं ही प्रयोगशाला बन जाना पड़ता है। यह कृष्ण जो कह रहे हैं, इसको पढ़ कर यह मत समझ लेना कि आप समझ लेंगे। मैं जो समझा रहा हूँ, उसे समझ कर समझ लेंगे, इस भ्रांति में मत पड़ जाना। इससे तो ज्यादा से ज्यादा चुनौती मिल सकती है। लौटकर घर प्रयोग करने लग जाना। लौट कर ही क्यों, यहां से चलते वक्त ही रास्ते पर जरा देखना कि यह जो चल रहा है शरीर, इसके भीतर क्या कोई अचल भी है। और चलते-चलते ही भीतर अचल का अनुभव होना शुरू हो जायेगा। यह जो श्वांस चल रही है, यही मैं हूँ या श्वाँसों को भी देखने वाला पीछे कोई है? तब श्वाँस भी दिखायी पड़ने लगेगी कि यह रही मुझसे अलग और जिसको दिखायी पड़ रही है, वह श्वाँस नहीं हो सकती, क्योंकि श्वाँस को श्वाँस दिखायी नहीं पड़ सकती।

तब विचारों को जरा भीतर से देखने लगना, कि ये जो विचार चल रहे हैं मस्तिष्क में, क्या यही मैं हूँ? तब पता चलेगा, जिसको विचार दिखायी पड़ रहे हैं, वह विचार कैसे हो सकता है। कोई एक विचार दूसरे विचार को देखने में समर्थ नहीं है। किसी एक विचार ने दूसरे विचार को कभी देखा नहीं है। जो देख रहा है साक्षी, वह अलग है। और जब शरीर, विचार, श्वाँस; चलना, खाना, भूख, प्यास, सुख–दुख अलग मालूम पड़ने लगें, तब पता चलेगा कि कृष्ण जो कह रहे हैं कि जीर्ण वस्त्रों की तरह यह शरीर छोड़ा जाता है, नये वस्त्रों की तरह पुनः ग्रहण किया जाता है, उसका क्या अर्थ है। और यह अगर दिखायी पड़ जाय तो फिर कैसा दुख, कैसा सुख? मरने में फिर मृत्यु नहीं, जन्म में फिर जन्म नहीं। जो था वह है, सिर्फ वस्त्र बदले जा रहे हैं।

● **प्रश्नकर्ता :** भगवान् श्री, यहाँ हुए सक्रिय ध्यान–प्रयोग में लोग वस्त्र रहित हो जाते हैं, निर्वस्त्र हो जाते हैं, वह क्या कोई 'मेटाफोरिकल' या 'सिम्बॉलिक ऐक्ट' है?

भगवान् श्री : यह अलग विषय हो जायेगा। श्लोक से सम्बंधित प्रश्न पूछें।

● **प्रश्नवार्ता :** भगवान् श्री, आत्मा व्यापक है, पूर्ण है, तो वह पूर्ण से पूर्ण में कहाँ जाता है? आत्मा एक शरीर से छूटकर दूसरे कौन से शरीर में जाता है? कहाँ से शरीर में आता है? आत्मा का उदर-प्रवेश हो तो उसे आत्मा का गर्भ में आना कहते हैं। सर्व व्यापक आत्मा का गर्भ प्रवेश कैसे संभव है?

भगवान् श्री : आत्मा न तो आता है, न जाता है। आने–जाने की सारी बात शरीर की है। मोटे हिसाब से दो शरीर समझ लें। एक शरीर तो जो हमें दिखायी पड़ रहा है। यह शरीर माता–पिता से मिलता है, जन्मता है, और इसके पास अपनी सीमा है, अपनी सामर्थ्य है। उतने ही दिन यह चलता है और समाप्त हो जाता है। यंत्र है। माता–पिता से सिर्फ यंत्र मिलता है। गर्भ में माता–पिता सिर्फ यंत्र की 'सिचुएशन' हैं। स्थिति पैदा करते हैं। यह शरीर जो हमें दिखायी पड़ रहा है, यह जन्म के साथ शुरू होता है और मृत्यु के साथ समाप्त होता है। यह आता है और जाता है।

एक और शरीर है जो आत्मा के लिए और भीतर का वस्त्र है। कहें कि 'अण्डरवियर' है। ऊपर का वस्त्र है यह स्थूल शरीर, वह जरा भीतरी वस्त्र है। वह शरीर पिछले जन्म से साथ आता है। वह सूक्ष्म शरीर है। सूक्ष्म है, इसका अर्थ इतना है कि यह स्थूल शरीर बहुत पौद्गलिक, 'मैटीरियल' है, वह शरीर 'इलेक्ट्रॉनिक' है। वह शरीर विद्युत-कणों से निर्मित है। वह जो विद्युतकणों से निर्मित दूसरा शरीर है, वह आपके साथ पिछले जन्म से आता है। वही यात्रा करता है।

यह दूसरा सूक्ष्म शरीर गर्भाधान के समय स्थूल शरीर में प्रवेश कर जाता है, गर्भ में प्रवेश कर जाता है। उसका प्रवेश होना वैसा ही 'आटोमैटिक', स्वचालित है, जैसे पानी पहाड़ से उतरता है, नदियों से बहता है और सागर में चला जाता है। जैसे पानी का नीचे की तरफ बहना प्राकृतिक है, ऐसा ही **सूक्ष्म शरीर का अपने योग्य अनुकूल शरीर में प्रवाहित होना एकदम प्राकृतिक घटना है।** इसीलिए साधारण आदमी जब मरता है तो तत्काल

जन्म मिल जाता है, क्योंकि चौबीसों घण्टे पृथ्वी पर लाखों गर्भ उपलब्ध हैं असाधारण आदमी मरता है तो समय लगता है, जल्दी गर्भ नहीं मिलता। चाहे बुरा असाधारण आदमी मरे,चाहे असाधारण अच्छा आदमी मरे,इन दोनों के लिए प्रतीक्षा का समय लम्बा होता है। दोनों के लिए तत्काल गर्भ उपलब्ध नहीं होता। 'रेडीमेड' गर्भ सिर्फ बिलकुल मध्यवर्गीय लोगों को मिलते हैं। उनके लिए रोज गर्भ उपलब्ध हैं। इधर मरे कि उधर नये गर्भ ने पुकारा। इधर मरे, और उधर नये गर्भ के गड्ढे में बहे। इसमें देर नहीं लगती।

बहुत बुरा आदमी, हिटलर जैसा आदमी हो, तो मुश्किल हो जाती है। हिटलर जैसे आदमी को माँ–बाप की प्रतीक्षा में काफी समय लग जाता है। गाँधी जैसे आदमी को भी काफी समय लग जाता है। इनको जल्दी गर्भ उपलब्ध नहीं हो सकता। हमारे हिसाब से कभी सैकड़ों वर्ष भी लग जाते हैं। उनके हिसाब से नहीं कह रहा हूँ। उनके लिए 'टाइम–स्केल' (समय का माप) अलग है। हमारे हिसाब से कभी सैकड़ों वर्ष लग जाते हैं। जैसे ही योग्य गर्भ उपलब्ध हुआ कि वैसे ही योग्य सूक्ष्म शरीर उसमें प्रवेश कर जाता है। सारी यात्रा इन्हीं शरीरों की है।

अब आत्मा किस भाँति स्वचालित होता है इस सब में? असल में जो भी प्रतीक हैं, अब तक आदमी के पास, वे सब आने–जाने के हैं। घर में कोई आया और कोई गया, तो आदमी प्रतीकों का उपयोग करेगा। प्रतीक कभी भी ठीक–ठीक नहीं होते। आने–जाने की बात बहुत ठीक नहीं है आत्मा के सम्बध में। अब आत्मा को हम किस प्रतीक से कहें! कृष्ण के वक्त में तो प्रतीक और भी नहीं हैं। प्रतीक तो बहुत 'क्रूड' (स्थूल) हैं। उनसे हमें काम चलाना पड़ता है। जैसे एक दो उदाहरण लेने से ख्याल में आ जायगा।

एक आदमी समुद्र में एक छोटे से द्वीप पर रहता है। वहाँ कोई फूल नहीं होते। पत्थर ही पत्थर हैं। रेत ही रेत है। वह आदमी यात्रा पर निकलता है और किसी महाद्वीप पर बहुत से फूल देखकर लौटता है। उसके द्वीप के लोग उससे पूछते हैं कि क्या नयी चीज देखी। वह कहता है, फूल। तो लोग कहते हैं, फूल यानी क्या? 'व्हाट डू यू मीन'। उस द्वीप पर फूल तो नहीं होते। अब वह क्या करे! वह नदी के किनारे से चमकदार पत्थर उठा लाता है, रंगीन पत्थर उठा लाता है। वह कहता है, ऐसे होते हैं। निश्चित ही उस

द्वीप का आदमी उस पर सवाल नहीं उठायेगा। क्योंकि सवाल का कोई कारण नहीं है। लेकिन उस आदमी की जो फूल देखकर आया, बड़ी मुसीबत है। कोई प्रतीक उपलब्ध नहीं है, जिससे वह कहे। हम जिस जगत् में जीते हैं, वहाँ आना–जाना प्रतीक है। तो जन्म को हम कहते हैं आना, मृत्यु को हम कहते हैं जाना। लेकिन सच में ही आत्मा न आती है, न जाती है। और इसके लिए एक प्रतीक मेरे ख्याल में आता है, वह शायद और करीब है, वह आपके समझ में आ जाय।

अभी पश्चिम में कुछ लोगों का ख्याल है कि पेट्रोल से ज्यादा दिन तक कार नहीं चलायी जा सकेगी। क्योंकि पेट्रोल ने बहुत नुकसान कर दिया है। 'इकोलाजी' का एक नया आन्दोलन सारे योरोप और अमेरिका में चलता है। इतनी गन्दी कर दी है हवा पेट्रोल ने कि वह आदमी के जीने योग्य नहीं रह गयी। तो अब पेट्रोल से कार नहीं चलायी जा सकती ज्यादा दिन। तो बिजली से ही चलायी जायेगी। या तो बैटरी से चलायी जाय, तो थोड़ी महंगी होगी। लेकिन बिजली से कैसे चलायी जाय? बिजली कार को कैसे मिलती रहे? तो रूसी वैज्ञानिकों का एक सुझाव कीमती मालूम पड़ता है। उनका कहना है कि इस सदी के पूरे होते–होते, हम सारे रास्तों के नीचे बिजली के तार बिछा देंगे। जो भी कार ऊपर से चलेगी रास्ते के नीचे से उसे बिजली उपलब्ध होती रहेगी। जैसे ट्राम चलती है आपकी। ऊपर तार होता है, उससे बिजली मिलती रहती है। ट्राम चलती है, बिजली की तार नहीं चलती। बिजली ऊपर से मिलती रहती है, नीचे से ट्राम दौड़ती रहती है। जितनी आगे बढ़ती है, उतनी बिजली उधर से मिल जाती है। उसे ऊपर से प्रतिपल बिजली मिलती रहती है। और जब बिजली न मिले तो ट्राम तत्काल रुक जाय। बिजली के द्वारा चलती है, लेकिन बिजली नहीं चलती, ट्राम चलती है।

ठीक वैसे ही रूस का वैज्ञानिक कहता है कि नीचे हम सड़कों पर तार बिछा देंगे, कार ऊपर से दौड़ती रहेगी। कार दौड़ते हुए बिजली लेती रहेगी। कार का मीटर तय करता रहेगा कि कितनी बिजली आपने ली। लेकिन बिजली नहीं चलेगी, चलेगी कार।

ठीक ऐसे ही, आत्मा व्यापक तत्त्व है, वह है ही सब जगह। सिर्फ हमारा

सूक्ष्म शरीर बदलता रहता है, दौड़ता रहता है। और जहाँ भी जाता है, आत्मा से उसे जीवन मिलता रहता है।

जैसे एक दिन ट्राम टूट जाती है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर भी बिखर जाता है, बिजली अपनी जगह रह जाती है, ट्राम टूट जाती है, स्थूल शरीर टूट ज़ाता है। और जब सूक्ष्म शरीर भी खोता है, तो आत्मा परमात्मा से मिल जाती है ऐसा नहीं, आत्मा परमात्मा से सदा मिली ही हुई थी। सूक्ष्म शरीर की दीवाल के कारण अलग मालूम पड़ती थी, अब अलग नहीं मालूम पड़ती है।

आने-जाने की जो धारणा है, आवागमन की, वह बड़ी स्थूल है। वह बहुत ही दूर की है, लेकिन कोई उपाय नहीं है। मैं यह कह रहा हूँ कि आत्मा तो चारों तरफ मौजूद है, हमारे भीतर भी, बाहर भी। जैसे यहाँ बिजली के बल्ब जल रहे हैं। एक सौ कैंडिल का बल्ब जल रहा है, एक पचास कैंडिल का जलता है, एक बीस कैंडिल का जल रहा है, एक बिलकुल जुगनू की तरह पांच कैंडिल का जल रहा है। इन सबके भीतर एक सी बिजली दौड़ रही है। और प्रत्येक अपनी कैंडिल के आधार पर उतनी बिजली ले रहा है।

यह माइक है, इसमें तो कोई बल्ब नहीं लगा हुआ है, यह माइक अपनी उपयोगिता के लिए बिजली ले रहा है। रेडियो अपनी उपयोगिता की बिजली ले रहा है, पखा अपनी उपयोगिता की बिजली ले रहा है। बिजली में कोई फर्क नहीं है, पंखे के यंत्र में फर्क है, माइक के यंत्र में फर्क है, बल्ब के यंत्र में फर्क है। परमात्मा चारों तरफ मौजूद है। सब तरफ वही है। हमारे पास एक सूक्ष्म यंत्र है, सूक्ष्म शरीर है। उसके अनुसार हम उससे शक्ति और जीवन ले रहे हैं। इसलिए अगर हमारे पास पाँच कैंडिल का सूक्ष्म शरीर है, तो हम पाँच कैंडिल की ताकत ले रहे हैं, पचास कैंडिल का है, तो पचास कैंडिल की ले रहे हैं। महावीर के पास हजार कैंडिल का है, तो वे हजार कैंडिल का ले रहे है। हम गरीब हैं बहुत, एक ही कैंडिल का सूक्ष्म शरीर है, तो एक ही कैंडिल की ले रहे हैं। परमात्मा की कंजूसी नहीं है इसमें।

हम जितना बड़ा पात्र लेकर आ गये हैं, उतना ही उपलब्ध हो रहा है। हम चाहें तो हम हजार कैंडिल के हो जायँ, तो ठीक महावीर से जैसी प्रतिभा प्रगट होती है, वैसी हमसे भी प्रगट हो जाय। और एक सीमा आती है कि

महावीर कहते हैं, हजार से भी काम नहीं चलेगा। हम तो अनंत कैंडिल चाहते हैं, तो फिर बल्ब तोड़ दो और अनंत कैंडिल के हो जाओ। क्योंकि बल्ब जब तक रहेगा सीमा रहेगी ही कैंडिल की, चाहे हजार हो, दो हजार हो, लाख हो, दस लाख हो। लेकिन अगर अनंत प्रकाश चाहिए तो बल्ब तोड़ दो। तो फिर महावीर कहते हैं, **हम बल्ब तोड़ देते हैं, हम मुक्त हो जाते हैं।** मुक्त होने का कुल मतलब इतना है कि अब खेल चुके यंत्रों से बहुत, लेकिन **देखा कि हर यंत्र सीमा बन जाता है। और जहाँ सीमा हैं वहाँ दुख है।** इसलिए तोड़ देते हैं यंत्र को, हम पूरे के साथ एक ही हुए जाते हैं।

यह भाषा की गलती है कि एक ही हुए जाते हैं, एक थे ही। यंत्र बीच में था इसलिए कम मिलता था। यंत्र टूट गया तो पूरा है।

आत्मा आती–जाती नहीं, सूक्ष्म शरीर आता है, जाता है। स्थूल शरीर आता है, जाता है। स्थूल शरीर मिलता है माता–पिता से, सूक्ष्म शरीर मिलता है पिछले जन्म से। और आत्मा सदा से है।

सूक्ष्म शरीर न हो, तो स्थूल शरीर ग्रहण नहीं किया जा सकता। सूक्ष्म शरीर टूट जाय, तो स्थूल शरीर ग्रहण करना असंभव है। इसलिए सूक्ष्म शरीर के टूटते ही दो घटनाएँ घटती हैं। एक तरफ सूक्ष्म शरीर गिरा कि स्थूल शरीर की यात्रा बन्द हो जाती है। और दूसरी परमात्मा से जो हमारी सीमा थी, वह मिट जाती है। **सूक्ष्म शरीर का गिर जाना ही साधना की उपलब्धि है।** बीच का जो 'ब्रिज' (सेतु) है हमें जोड़ने वाला, इस तरफ शरीर से और उस तरफ परमात्मा से वह गिर जाता है। उसको गिरा देना ही समस्त साधना है।

वह सूक्ष्म शरीर जिन चीजों से बना है, उन्हें समझ लेना जरूरी है। वह हमारी इच्छाओं से, कामनाओं से, आकांक्षाओं से, अपेक्षाओं से, हमारे किए कर्मों से, हमारे न किये गये लेकिन चाहे गये कर्मों से, हमारे विचारों से, हमारे कामों से, हम जो भी रहे हैं, हमने जो भी सोचा है, विचारा है, किया है, अनुभव किया है, भावना की है, उस सबका, उस सबके इलेक्ट्रॉनिक प्रभावों से, उस सबके वैद्युतिक प्रभावों से निर्मित हमारा सूक्ष्म शरीर है।

उस सूक्ष्म शरीर का विसर्जन ही दो परिणाम लाता है। एक यह कि गर्भ की यात्रा बन्द हो जाती है। जब ज्ञान हुआ तब बुद्ध ने कहा कि घोषणा करता हूँ कि मेरे मन, तू जिसने कि अब तक बहुत शरीरों के घर बनाये, अब तू विश्राम को उपलब्ध हो सकता है। अब तुझे मेरे लिए कोई और घर बनाने की जरूरत नहीं है। धन्यवाद देता हूँ और तुझे छुट्टी देता हूँ। अब तेरे लिये कोई काम नहीं बचा, क्योंकि मेरी कोई कामना नहीं बची। अब तक मेरे लिए अनेक-अनेक घर बनाने वाले मन, अब तुझे आगे कोई घर बनाने की जरूरत नहीं।

मरते वक्त जब बुद्ध से लोगों ने पूछा कि अब, जब कि आपकी आत्मा परम में लीन हो जायेगी, तो आप कहाँ होंगे। तो बुद्ध ने कहा, अगर मैं कहीं होऊँगा तो परम में लीन कैसे हो सकूँगा। क्योंकि **जो 'समव्हेयर' है, जो 'कहीं' है, वह 'एव्हरीव्हेयर' नहीं हो सकता, वह 'सब कहीं' नहीं हो सकता।** जो 'कहीं' है, वह 'सब कहीं' नहीं हो सकता। तो बुद्ध ने कहा, यह पूछो ही मत, अब मैं 'कहीं' नहीं होऊँगा, क्योंकि 'सब कहीं' होऊँगा। मगर फिर-फिर पूछते हैं भक्त, कुछ तो बतायें, तब आप कहाँ होंगे?

बूंद से पूछ रहे हैं कि सागर में गिरकर तू कहाँ होगी? बूंद कहती है सागर ही हो जाऊँगी। लेकिन और बूंदें पूछना चाहेंगी कि वह तो ठीक है, लेकिन फिर भी कहाँ होगी? कभी मिलने आयें। तो बूंद जो सागर हो हो गयी है, वह कहती है, तू सागर में ही आ जाना, तो मिलन हो जायेगा। लेकिन बूंद से मिलन नहीं होगा, सागर से ही मिलन होगा।

जिसे बुद्ध से मिलना हो, कृष्ण से मिलना हो, महावीर से मिलना हो, जीसस से, मुहम्मद से मिलना हो, तो अब उनकी बूंद से मिलना नहीं हो सकता। कितनी ही मूर्ति बनाकर रखे रहें। अब बूंद से मिलना नहीं हो सकता। बूंद गयी सागर में, इसीलिए तो मूर्ति बनायी। यही तो मजा है, पैराडॉक्स है।

मूर्ति इसीलिए बनायी कि बूंद सागर में गयी। बनाने योग्य हो गयी मूर्ति अब इसकी। लेकिन अब मूर्ति में कुछ मतलब नहीं। **अब मिलना हो तो सागर में ही जाना पड़ेगा।**

माता-पिता से मिलता है बूंद का आकार—बाह्य, स्वयं के पिछले जन्मों मे मिलती है बूंद की भीतरी व्यवस्था। और परमात्मा से मिलती है जीवन ऊर्जा, वह है हमारी आत्मा। लेकिन जब तक इस बूंद की दोहरी पर्तं को ठीक से न पहचान लें, तब तक उसको हम नहीं पहचान सकते, जो दोनों के बाहर है।

नौवाँ प्रवचन

प्रथम गीता ज्ञान-यज्ञ, अहमदाबाद, प्रातः, दिनांक ३ दिसम्बर, १९७०

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥

हे अर्जुन, इस आत्मा को शस्त्रादि नहीं काट सकते हैं और इसको आग नहीं जला सकती है तथा इसको जल नहीं गीला कर सकता है और वायु नहीं सुखा सकता है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥

क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है तथा यह आत्मा निःसंदेह नित्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥

और यह आत्मा अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों का अविषय और यह आत्मा अचिन्त्य अर्थात् मन का अविषय और यह आत्मा विकाररहित अर्थात् न बदलने वाला कहा जाता है। इससे हे अर्जुन, इस आत्मा को ऐसा जानकर तू शोक करने के योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है।

भगवान् श्री : आत्मा, न जन्म लेता, न मरता है। न उसका प्रारम्भ है, न उसका अन्त है। जब हम ऐसा कहते हैं, तो थोड़ी सी भूल हो जाती है। इसे दूसरे ढंग से कहना ज्यादा सत्य के करीब होगा कि जिसका जन्म नहीं होता, जिसकी मृत्यु नहीं होती, जिसका कोई प्रारम्भ नहीं है, जिसका कोई अंत नहीं है, ऐसे अस्तित्व को ही हम 'आत्मा' कहते हैं। निश्चित ही अस्तित्व प्रारम्भ और अंत से मुक्त होना चाहिए। जो है, 'दैट व्हिच इज', उसका कोई प्रारम्भ नहीं हो सकता। प्रारम्भ का अर्थ यह होगा कि वह शून्य से उतरे, 'न कुछ' से उतरे। और प्रारम्भ होने के लिए भी प्रारम्भ के पहले कुछ तैयारी करनी पड़ेगी। प्रारम्भ आकस्मिक नहीं हो सकता। सब प्रारम्भ पूर्व की तैयारी से, पूर्व के कारण से बँधे होते हैं, 'कॉजेलिटी' से बँधे होते हैं।

एक बच्चे का जन्म होता है, हो सकता है, क्योंकि माँ-बाप के दो शरीर उसके जन्म की तैयारी करते हैं। तब प्रारम्भ की धारणा के साथ ही हम अपने से भी पहले किसी चीज को स्वीकार करते हैं। इसलिए कोई प्रारम्भ मौलिक रूप से प्रारम्भ नहीं होता। किसी चीज का प्रारम्भ हो सकता है, लेकिन शुद्ध प्रारम्भ नहीं हो सकता। ठीक वैसे ही किसी चीज का अंत हो सकता है, लेकिन अस्तित्व का अंत नहीं हो सकता। क्योंकि कोई भी चीज समाप्त हो तो भी उसके भीतर जो होना था, जो अस्तित्व था, वह शेष रह जाता है।

जब हम कहते हैं, आत्मा का कोई जन्म नहीं, कोई मृत्यु नहीं, तो इसे ठीक से समझ लेना चाहिए। दूसरी तरफ से समझ लेना उचित है कि जिसका कोई जन्म नहीं, जिसकी कोई मृत्यु नहीं, उसी का नाम हम आत्मा कह रहे हैं। **आत्मा का अर्थ है—अस्तित्व, 'बीइंग,**। लेकिन हमारी भ्रांति वहाँ से शुरू होती है जब आत्मा को हम समझ लेते हैं 'मैं'। मेरा तो प्रारम्भ है और मेरा अन्त भी है। लेकिन जिसमें मैं जन्मता हूँ और जिसमें मैं समाप्त हो जाता हूँ, उस अस्तित्व का कोई अन्त नहीं।

आकाश में बादल बनते हैं और बिखर जाते हैं। जिस आकाश में उनका बनना और बिखरना होता है, उस आकाश का कोई प्रारम्भ और कोई अंत नहीं है। आत्मा को आकाश समझें—'इनर स्पेस', भीतरी आकाश। आकाश में भीतर और बाहर का भेद नहीं किया जा सकता। **बाहर के आकाश को परमात्मा कहते हैं, भीतर के आकाश को आत्मा**। इस आत्मा को व्यक्ति न समझें, 'इण्डिवीजुअल' न समझें। व्यक्ति का तो प्रारम्भ होगा, और व्यक्ति

का अंत होगा, इस आंतरिक आकाश को अव्यक्ति समझें। इस आंतरिक आकाश को सीमित न समझें, सीमा का तो प्रारम्भ होगा और अंत होगा।

इसीलिए कृष्ण कह रहे हैं कि उसे आग नहीं जला सकती है। आग उसे क्यों नहीं जल सकती ? पानी उसे क्यों नहीं डुबा सकता ? अगर आत्मा कोई भी वस्तु है, तो आग जरूर जला सकती है। यह आग न जला सके, तो हम कोई और आग खोज लेंगे। बड़ी भट्ठी बना लेंगे, शायद वह जला सके। अगर आत्मा कोई वस्तु है, तो पानी क्यों नहीं डुबा सकता ? थोड़ा पानी नहीं डुबा सकता, तो बड़े 'पैसिफिक' महासागर में डुबा देंगे। जब वे यह कह रहे हैं कि आत्मा को न जलाया जा सकता है, न डुबाया जा सकता है पानी में, न नष्ट किया जा सकता है, तो वे यह कह रहे हैं कि आत्मा कोई वस्तु नहीं है। 'थिंगनेस', वस्तु उसमें नहीं है।

आत्मा सिर्फ अस्तित्व का नाम है। आत्मा 'एग्जिस्टेंट' (अस्तित्वयुक्त) वस्तु नहीं है। आत्मा है 'एग्जिस्टेंस इटसेल्फ'। वस्तुओं का अस्तित्व होता है, **आत्मा स्वयं अस्तित्व है**। इसलिए आग न जला सकेगी, क्योंकि आग भी अस्तित्व है। पानी न डुबा सकेगा, क्योंकि पानी भी अस्तित्व है। इसे ऐसा समझें कि आग भी आत्मा का एक रूप है, पानी भी आत्मा का एक रूप है। तलवार भी आत्मा का एक रूप है, इसलिए आत्मा से आत्मा को जलाया न जा सकेगा। आग उसको जला सकती है, जो उससे भिन्न हो।

आत्मा किसी से भी भिन्न नहीं है। आत्मा अस्तित्व से अभिन्न है, अस्तित्व ही है। अगर हम आत्मा शब्द को अलग कर दें, और अस्तित्व शब्द पर विचार करें, तो कठिनाई बहुत कम हो जायेगी। क्योंकि आत्मा से हमें लगता है 'मैं'। हम आत्मा और 'इगो' को, अहंकार को पर्यायवाची मानकर चलते हैं। इससे बहुत जटिलता पैदा हो जाती है। आत्मा अस्तित्व का नाम है। उस अस्तित्व में उठी हुई लहर का नाम 'मैं' है। वह लहर उठेगी, गिरेगी। बनेगी, बिखरेगी। उस 'मैं' को जलाया भी जा सकता है, डुबाया भी जा सकता है। ऐसी आग खोजी जा सकती है, जो 'मैं' को जलाये। ऐसा पानी खोजा जा सकता है, जो 'मैं' को डुबाये। ऐसी तलवार खोजी जा सकती है, जो 'मैं' को काटे। इसलिए 'मैं' को छोड़ दें। आत्मा का 'मैं' से कोई भी लेना-देना नहीं है। दूर का भी कोई वास्ता नहीं है।

'मैं' को छोड़ कर जो पीछे शेष रह जाता है, वह आत्मा है। लेकिन 'मैं' को छोड़कर हमने अपने भीतर कभी कुछ नहीं देखा है। जब भी कुछ

देखा है, 'मैं' उसमें मौजूद हूँ। जब भी कुछ सोचा है, मैं वहाँ मौजूद हूँ। मैं हर जगह मौजूद हूँ। भीतर इतने घने रूप से हम 'मैं' के आस-पास जीते हैं कि मैं के पीछे जो खड़ा है सागर, वह हमें कभी दिखायी नहीं पड़ता।

हम कृष्ण की बात सुनकर प्रफुल्लित भी होते हैं। जब सुनाई पड़ता है कि आत्मा को जलाया नहीं जा सकता, तो हमारी रीढ़ सीधी हो जाती है। हम सोचते हैं, मुझे जलाया नहीं जा सकता। जब हम सुनते हैं कि आत्मा मरेगी नहीं, तो हम भीतर आश्वस्त हो जाते हैं कि मैं मरूँगा नहीं। इसलिए बूढ़ा होने लगता है आदमी, तो गीता ज्यादा पढ़ने लगता है। मृत्यु पास आने लगती है, तो कृष्ण की बात समझने का मन होने लगता है। मृत्यु कंपाने लगती है मन को, तो मन समझना चाहता है, मानना चाहता है कि कोई तो मेरे भीतर हो, जो मरेगा नहीं, ताकि मैं मृत्यु को झुठला सकूं।

इसीलिए मंदिर में, मस्जिद में, गुरुद्वारे में जवान दिखायी नहीं पड़ते। क्योंकि, अभी मौत जरा दूर मालूम पड़ती है। अभी इतना भय नहीं, अभी पैर काँपते नहीं। वृद्ध मंदिर-मस्जिद में दिखायी पड़ने लगते हैं। सारी दुनिया में धर्म के आस-पास बूढ़े आदमियों के इकट्ठे होने का एक ही कारण है कि जब 'मैं' मरने के करीब पहुँचता है तो 'मैं' चाहता है, कोई आश्वासन, कोई सहारा, कोई भरोसा, कोई 'प्रॉमिस' कि नहीं, मौत को झुठला सकेंगे, बच जायेंगे मौत के पार भी।

कोई कह दे कि मरोगे नहीं। कोई 'अथॉरिटी', कोई प्रमाण वचन, कोई शास्त्र! इसलिए जो वृद्धावस्था में आस्तिक होने लगता है, उसके आस्तिक होने का मौलिक कारण सत्य की तलाश नहीं होता, मौलिक कारण भय से बचाव होता है, 'फीयर' से बचाव होता है। और इसलिए दुनिया में जो तथाकथित आस्तिकता है, वह भगवान् के आस-पास निर्मित नहीं हैं, भय के आस-पास निर्मित है। और अगर भगवान् भी है उस आस्तिकता का, तो वह भय का ही रूप है। वह उससे भिन्न नहीं है। वह भय के प्रति ही सुरक्षा है, 'सिक्योरिटी' है।

जब कृष्ण यह कह रहे हैं, तो एक बात बहुत स्पष्ट समझ लेना कि आप नहीं जलाये जा सकेंगे, इस भ्रांति में मत पड़ना। इसमें तो बहुत कठिनाई नहीं है। घर जाकर जरा आग में हाथ डालकर देख लेना, तो कृष्ण एकदम गलत मालूम पड़ेंगे। एकदम ही बात गलत मालूम पड़ेगी। गीता पढ़ कर आग में हाथ डाल कर देख लेना कि आप जलते हैं कि नहीं। गीता पढ़ कर पानी में

डुबकी लगा कर देख लेना, तो पता चल जायेगा कि डूब सकते हैं या नहीं। लेकिन कृष्ण गलत नहीं हैं। जो डूबता है पानी में, कृष्ण उसकी बात नहीं कर रहे हैं। जो जल जाता है आग में, कृष्ण उसकी बात नहीं कर रहे हैं। लेकिन क्या आपको अपने भीतर किसी एक भी ऐसे तत्त्व का पता है, जो आग में नहीं जलता, पानी में नहीं डूबता ? अगर पता नहीं है, तो कृष्ण को मानने की जल्दी मत करना। खोजना, ताकि मिल जाये वह सूत्र, जिसकी वे बात कर रहे हैं।

एक मित्र पूछते हैं कि आत्मा न भी करती हो यात्रा, सूक्ष्म शरीर, 'लिंग शरीर' अगर यात्रा करता है, तो भी आत्मा का सहयोग है ही। आत्मा 'कोऑपरेट' तो करती ही है। अगर इन्कार कर दे सहयोग करने से, तब तो यात्रा नहीं हो सकेगी। तो इसे भी दो तलों पर समझ लेना जरूरी है।

सहयोग भी इस जगत् में दो प्रकार के हैं। एक वैज्ञानिक जिसको 'कैटॅलिटिक कोऑपरेशन', कहते हैं, 'कैटॅलिटिक एजेंट' कहते हैं, इस बात को समझ लेना उचित है। एक सहयोग है, जिसमें हम 'पार्टिसिपेंट' (भागीदार) होते हैं। एक सहयोग है, जिसमें हमें भागीदार होना पड़ता है। एक और सहयोग है जिसमें मौजूदगी काफी है—'जस्ट प्रेजेंस'। सुबह सूरज निकला। आपकी बगिया का फूल खिल गया। सूरज को पता भी नहीं है कि उसने इस फूल को खिलाया। सूरज इस फूल को खिलाने के लिए निकला भी नहीं। यह फूल न होता, तो सूरज के निकलने में कोई बाधा भी नहीं पड़ती। यह न होता तो सूरज यह न कहता कि फूल तो है नहीं, मैं किसलिए निकलूं। यह खिल गया है, इसके लिए सिर्फ सूरज की मौजूदगी (प्रेजेंस) काफी है।

सूरज की मौजूदगी के बिना फूल खिल भी न सकता, यह बात पक्की है। लेकिन सूरज की मौजूदगी इसको खिलाने के लिए नहीं है, यह बात भी इतनी ही पक्की है। सूरज की मौजूदगी में यह खिल गया है, लेकिन यह भी बहुत ठीक नहीं है। क्योंकि सूरज की किरणें कुछ करती हैं। चाहे सूरज को पता हो, चाहे न पता हो। सूरज की किरणें उसकी कलियों को खोलती हैं, सूरज की किरणें उस पर चोट भी करती हैं। चोट कितनी ही बारीक और सूक्ष्म हो, लेकिन चोट होती है।

सूरज की किरणों का भी वजन है। सूरज की किरणें भी प्रवेश करती हैं। कोई एक वर्ग मील पर जितनी सूरज की किरणें पड़ती हैं, उसका कोई एक छटांक वजन होता है, कम से कम। एक वर्ग मील पर जितनी किरणें

पड़ती हैं, अगर हम इकट्ठी कर सकें, तो कहीं एक छटाँक वजन होगा। इसको इकटठा करना मुश्किल है। अनुमान है वैज्ञानिकों का कि इतना वजन होगा। इतना भी सही, तो भी सूरज फूल की पंखुड़ियों पर कुछ करता है। तो वह 'कैटॅलिटिक एजेंट' नहीं है, 'इनडायरेक्ट पार्टिसिपेंट' है, परोक्ष रूप से भाग लेता है। लेकिन 'कैटॅलिटिक एजेंट' वैज्ञानिक बहुत दूसरी चीज को कहते हैं। जैसे कि हाइड्रोजन और आक्सीजन मिलकर पानी बनता है, तो आप हाइड्रोजन और आक्सीजन एक कमरे में बन्द कर दें तो भी पानी नहीं बनेगा। सब तरह से सब मौजूद हैं, लेकिन पानी नहीं बनेगा।

उस कमरे में बिजली की धारा दौड़ा दें। बस, तत्काल आक्सीजन और हाइड्रोजन के अणु मिलकर पानी बनाना शुरू कर देंगे। सब तरह से खोज-बीन की गयी, बिजली की धारा कुछ भी नहीं करती। न वह हाइड्रोजन को छूती है, न वह आक्सीजन को छूती है। न स्पर्श करती है, न उसके साथ कुछ करती। बस, उसकी मौजूदगी, सिर्फ उसका होना ही पर्याप्त है। उसकी मौजूदगी के बिना कुछ नहीं हो पाता। कहना चाहिए उसकी मौजूदगी ही कुछ करती है। बिजली कुछ नहीं करती।

कृष्ण कह रहे हैं इस सूत्र में कि आत्मा निष्क्रिय है, अक्रिय है, 'इनऐक्टिव' है। आत्मा अक्रिय है, निष्क्रिय है, कर्म नहीं करती, तो फिर यह सारी की सारी यात्रा, यह जन्म और मरण, यह शरीर और शरीर का छूटना और नये वस्त्रों का ग्रहण और जीर्ण वस्त्रों का त्याग, यह कौन करता है? आत्मा की मौजूदगी के बिना यह नहीं हो सकता है, इतना पक्का है। लेकिन आत्मा की मौजूदगी सक्रिय तत्व की तरह काम नहीं करती, **निष्क्रिय उपस्थिति की तरह** काम करती है।

जैसे समझें कि बच्चों की क्लास लगी है। शिक्षक नहीं है। बच्चे चिल्ला रहे हैं, शोरगुल कर रहे हैं, नाच रहे हैं। फिर शिक्षक कमरे में आया। सन्नाटा छा गया। चुप्पी हो गयी। बच्चे अपने जगह बैठ गये, किताबें पढ़ने लगे। अभी शिक्षक ने एक शब्द नहीं कहा है। अभी शिक्षक ने कुछ किया नहीं। अभी उसने यह भी नहीं कहा कि चुप हो जाओ। अभी उसने यह भी नहीं कहा कि गलत कर रहे हो। अभी उसने कुछ किया ही नहीं। अभी वह सिर्फ प्रविष्ट हुआ है। वह मौजूद हुआ है और कुछ हो गया है। शिक्षक 'कैटॅलिटिक एजेंट' है इस क्षण में। वह अभी कुछ कर नहीं रहा है।

ये सारे उदाहरण बिलकुल ठीक नहीं है, सिर्फ आपको ख्याल आ सके

इसलिए कह रहा हूं। पूछा जा सकता है कि मौजूद होने का उसका निर्णय तो है ही। 'डिसीशन' तो है ही। शिक्षक कमरे में आया है, नहीं आता। आने का निर्णय तो लिया ही है। यह भी तो कुछ कम काम तो नहीं है। आया है। आत्मा कम से कम निर्णय तो ले ही रही है जीवन में होने का, अन्यथा जीवन के प्रारम्भ का अर्थ नहीं। कैसे जीवन का प्रारंभ होगा!

तो आत्मा क्यों निर्णय ले रही है जीवन के प्रारंभ का? मौजूद होने की भी क्या जरूरत है? क्या 'परपज़' है? तो यहां थोड़े और गहरे उतरना पड़ेगा। एक बात तो यह समझ लेनी जरूरी है कि स्वतंत्रता सदा दोहरी होती है। स्वतंत्रता कभी इकहरी नहीं होती। स्वतंत्रता का मतलब ही यह होता है कि आदमी या जिसके लिए स्वतंत्रता है, वह विपरीत भी कर सकता है।

समझ लें, एक गांव में हम डुंडी पीटते हैं कि प्रत्येक आदमी अच्छा काम करने के लिए स्वतंत्र है, लेकिन बुरा काम नहीं कर सकता, तो उस गांव में अच्छा काम करने की स्वतंत्रता भी न रह जायेगी। अच्छा काम करने की स्वतंत्रता में 'इम्प्लाइड' है, छिपी है—बुरा काम करने की स्वतंत्रता। और जो आदमी बुरा काम कर ही नहीं सकता, उसने अच्छा काम किया है, ऐसा कहने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। स्वतंत्रता दोहरी है—समस्त तलों पर।

आत्मा स्वतंत्र है, अस्तित्व स्वतंत्र है। उस पर कोई परतंत्रता नहीं है। उसके अतिरिक्त कोई है ही नहीं, जो उसे परतंत्र कर सके। अस्तित्व 'फ्रीडम' है, अस्तित्व स्वातंत्र्य है और स्वातंत्र्य में हमेशा दोहरे विकल्प हैं। आत्मा चाहे तो दोनों यात्राएँ कर सकती है। संसार में, शरीर में, बन्धन में, बन्धन के बाहर, संसार के बाहर, शरीर के बाहर। ये दोनों संभावनाएँ हैं और संसार का अनुभव, संसार के बाहर उठने की अनिवार्य आधारशिला है। विश्रांति का अनुभव, तनाव के अनुभव के बिना असंभव है। मुक्ति का अनुभव अमुक्त हुए बिना असंभव है।

मैं एक छोटी सी कहानी निरंतर कहता रहता हूं। एक अमीर आदमी, एक करोड़पति, जीवन के अंत में सारा धन पाकर चिन्तित हो उठा। चिन्तित हो उठा कि आनंद अब तक मिला नहीं। सोचा था जीवन में सिर्फ धन, धन, धन। सोचा था कि धन साधन बनेगा, आनंद साध्य होगा। साधन पूरा हो गया, आनंद की कोई खबर नहीं। साधन इकटठे हो गये, आनंद की वीणा पर कोई स्वर नहीं बजता है। साधन इकट्ठा हो गया, भवन तैयार है, लेकिन आनंद का मेहमान आता हुआ दिखायी नहीं पड़ता। उसकी कोई

पदचाप सुनायी नहीं पड़ती। उसका चिन्तित हो जाना स्वाभाविक है। गरीब आदमी कभी चिन्तित नहीं हो पाता, यही उसका दुर्भाग्य है। अगर कोई चिन्तित भी होता है तो साधन के लिए होता है कि कैसे धन मिले, कैसे मकान मिले। अमीर आदमी की जिन्दगी में पहली दफा साध्य की चिन्ता शुरू होती है। क्योंकि साधन पूरा होता है।

अब वह देखता है कि साधन सब इकट्ठे हो गये, जिसके लिए इकट्ठे किये थे, वह कहाँ है! इसलिए **जब तक किसी आदमी की जिन्दगी में साध्य का ख्याल न उठे, तब तक वह गरीब है**। चाहे उसके पास कितना ही धन इकट्ठा हो गया हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है। उसके अमीर होने की खबर उसी दिन मिलती है, जिस दिन वह यह सोचने को तैयार हो जाता है कि सब है, जिससे आनन्द मिलना चाहिए ऐसा सोचा था, लेकिन वह आनन्द कहां है? **साधन पूरे हो गये, लेकिन वह साध्य कहां है?** भवन बन गया, लेकिन अतिथि कहां है? उसी दिन आदमी अमीर होता है, वही उसका सौभाग्य है।

बहुत कम अमीर आदमी अमीर होते हैं। वह अमीर आदमी अमीर था। चिन्ता पकड़ गयी उसे। उसने अपने घर के लोगों से कहा, बहुत दिन प्रतीक्षा कर ली, अब मैं खोजने जाता हूँ। अब तक सोचता था कि इन्तजाम कर लूँगा, तो आनंद का अतिथि आ जायेगा। इन्तजाम पूरा है, अतिथि का कोई पता चलता नहीं। अब मैं उसकी खोज पर निकलता हूं। बहुत से हीरे-जवाहरात अपने साथ लेकर वह गया। गाँव-गाँव पूछता था लोगों से कि आनंद कहाँ मिलेगा? लोगों ने कहा, हम खुद ही तलाश में हैं। इस गांव तक हम उसी की तलाश में पहुँचे हैं। रास्तों पर लोगों से पूछता, वह आनंद कहाँ मिलेगा? वे यात्री कहते, हम भी सहयात्री हैं, 'फेलो ट्रेवलर्स' हैं हम भी खोज में निकले हैं। तुम्हें पता चल जाय, तो हमें खबर कर देना।

जिससे पूछा उसी ने कहा, तुम्हें खबर मिल जाय, तो हमें भी बता देना। हमें कुछ पता नहीं, हम भी खोजते हैं। थक गया, परेशान हो गया, मौत करीब दिखायी पड़ने लगी। कोई खबर नहीं। फिर एक गाँव से गुजर रहा था, तो झाड़ के नीचे एक आदमी बैठा हुआ था। देख कर ऐसा लगा कि शायद यह आदमी कोई जवाब दे सके। क्योंकि अंधकार घिर रहा था सांझ का, लेकिन उस आदमी के आस-पास कुछ अलौकिक प्रकाश मालूम पड़ता था। रात उतरने को थी, लेकिन उसके चेहरे पर चमक थी सुबह की। पकड़

लिए उसके पैर, धन की थैली पटक दी और कहा कि यह हैं अरबों-खरबों रुपये के हीरे जवाहरात। मुझे आनंद चाहिए।

उस फकीर ने आँखें ऊपर उठाई और कहा, सच में चाहिए? बिलकुल तुम्हें आज तक कभी आनंद नहीं मिला? अमीर ने कहा, कभी नहीं मिला। पूछा गया कि याद करो, कभी कोई थोड़ी बहुत ध्वनि बजी हो। उसने कहा, कोई ध्वनि नहीं बजी। उसने कहा, याद करो कभी थोड़ा बहुत स्वाद आया हो। उस आदमी ने कहा, बातों में समय खराब मत करो, तुम पहले आदमी हो, जिसने एकदम से यह नहीं कहा कि मैं भी खोज रहा हूं, मुझे भी बताओ! उस फकीर ने फिर पूछा, कोई परिचय नहीं है? उसने कहा, कोई परिचय नहीं।

इतना कहना था कि वह फकीर उस झोले को, जिसमें हीरे-जवाहारात थे, लेकर भाग खड़ा हुआ। उस अमीर ने सोचा भी नहीं था। वह उसके पीछे भागा और चिल्लाया, मैं लुट गया। तुम आदमी कैसे हो? गांव परिचित था फकीर का। अमीर का तो परिचित नहीं था। गली-कूचे वह चक्कर देने लगा। सारा गांव जुट गया। गांव भी पीछे भागने लगा। अमीर चिल्ला रहा है छाती पीटकर, आंख से आंसू बहे जा रहे हैं। वह कह रहा है, मैं लुट गया। मैं मर गया, मेरी जिन्दगी भर की कमाई है। उसी के सहारे मैं आनंद को खोज रहा हूं, अब क्या होगा! मेरे दुख का कोई अन्त नहीं। मुझे बचाओ इस आदमी से, किसी तरह मेरा धन वापस दिलवाओ। गांव भर में चक्कर लगा-कर भागता हुआ फकीर उसी झाड़ के नीचे आ गया, जहां अमीर का घोड़ा खड़ा था। झोला जहां से उठाया था वहीं पटक कर, जहाँ बैठा था वहीं झाड़ के पास बैठ गया।

पीछे से आया भागता हुआ अमीर और सारा गांव। अमीर ने झोला उठा कर छाती से लगा लिया और भगवान् की तरफ हाथ उठाकर कहा, हे भगवन्, तेरा परम धन्यवाद! फकीर ने पूछा, कुछ आनंद मिला? उस अमीर ने कहा, कुछ? बहुत-बहुत मिला। ऐसा आनंद इतने जीवन में कभी नहीं मिला। उस फकीर ने कहा, आनंद के पहले दुखी होना जरूरी है। पाने के पहले खोना जरूरी है। होने के पहले न होना जरूरी है, मुक्ति के पहले बन्धन जरूरी है, **ज्ञान के पहले अज्ञान जरूरी है, प्रकाश के पहले अंधकार जरूरी है**। इसलिए आत्मा एक यात्रा पर निकलती है, वह धन खोने की यात्रा है। असल में जिसे हम कभी खोते नहीं, उसे हम पाने का अनुभव नहीं कर सकते।

इसलिए जब जिन्होंने पाया है, जैसे कृष्ण, जैसे बुद्ध...जब बुद्ध को मिला ज्ञान तो लोगों ने पूछा, क्या मिला ? बुद्ध ने कहा, मिला कुछ भी नहीं। जो मिला ही हुआ था, उसको जाना भर। लेकिन बीच में खोना जरूरी था। स्वास्थ्य का अनुभव होने के लिए भी बीमार होना एक अनिवार्य प्रक्रिया है। ऐसा जीवन का तथ्य है।

तो आप जब पूछते हैं कि क्या जरूरत है आत्मा को संसार में जाने की, तो मैं कहता हूं मुक्ति के अनुभव के लिए, और आत्मा संसार में आने के पहले भी मुक्त है। लेकिन उसे मुक्ति का कोई बोध नहीं हो सकता। उस मुक्ति की कोई प्रतीति नहीं हो सकती। उस मुक्ति का कोई एहसास नहीं हो सकता। खोये बिना एहसास असंभव है। इसलिए संसार एक परीक्षण है। **संसार एक 'एक्सपेरिमेंट' है स्वयं को खोने का**। संसार इससे ज्यादा कुछ भी नहीं है। यह आत्मा का अपना ही चुनाव है कि वह खोये और पाये। परमात्मा संसार में अपने को खो कर ही पा रहा है। खोता रहेगा, पाता रहेगा। अंधेरे में उतरेगा और प्रकाश में आकर जागेगा कि प्रकाश है।

कृष्ण से अगर हम पूछेंगे तो वे कहेंगे लीला है—अपने से ही अपने को छिपाने की, अपने से ही अपने को खोजने की, अपने से ही अपने को पाने की। लीला है, बहुत गंभीर मामला नहीं है। बहुत 'सीरियस' होने की जरूरत नहीं है। इसलिए **कृष्ण से ज्यादा नॉन-सीरियस', गैर-गंभीर आदमी खोजना मुश्किल है**। और जो गंभीर हैं, वे खबर देते हैं कि उन्हें जीवन के पूरे राज का अभी तक पता नहीं चला। जीवन का पूरा राज यही है कि जिसे हम तलाश रहे हैं, उसे हमने खोया है। जिसे हम खोज रहे हैं, उसे हमने छिपाया है। जिसकी तरफ हम जा रहे हैं, उसकी तरफ से हम खुद आये हैं।

यदि आप पूछें कि ऐसा है, तो क्यों है ? तो उस **'क्यों' का कोई उत्तर नहीं है**। एक क्यों तो जरूर जिन्दगी में होगा, जिसका कोई उत्तर नहीं होगा। वह 'क्यों' हम कहां जाकर पकड़ते हैं यह दूसरी बात है, लेकिन **'अल्टीमेट व्हाई' 'आखिरी क्यों' का कोई उत्तर नहीं हो सकता है**। नहीं हो सकता, इसीलिए 'फिलॉसफी', दर्शन शास्त्र फिजूल के चक्कर में घूमता रहता है। वह 'क्यों' की तलाश करता है। इसको थोड़ा समझ लेना उचित है।

दर्शनशास्त्र 'क्यों' की तलाश करता है कि ऐसा क्यों है। एक कारण मिल जाता है, फिर वह पूछता है, यह कारण क्यों है ? फिर दूसरा कारण मिल जाता है, फिर वह पछता, है यह कारण क्यों है ? फिर 'इनफिनेट-रिग्रेस' हो जाता है।

फिर अंतहीन है यह सिलसिला, हर उत्तर नये प्रश्न को जन्म दे जाता है। हम कोई भी कारण खोज लें, फिर भी 'क्यों' तो पूछा ही जा सकता है। क्या ऐसा कोई कारण हो सकता है, जिसके संबंध में सार्थक रूप से 'क्यों' न पूछा जा सके ? नहीं हो सकता। इसलिए दर्शन शास्त्र एक बिलकुल ही अन्धी गली है।

विज्ञान नहीं पूछता है 'क्यों', विज्ञान पूछता है क्या, 'व्हाट'। इसलिए विज्ञान अंधी गली नहीं है। धर्म भी नहीं पूछता है 'क्यों' ? धर्म भी पूछता है 'व्हाट', क्या। इसे आप समझ लेना।

विज्ञान और धर्म बहुत निकट हैं। विज्ञान की अगर दुश्मनी है, तो 'फिलॉसफी' से है और धर्म की भी अगर दुश्मनी है, तो 'फिलॉसफी' से है। आमतौर से ऐसा ख्याल नहीं है। लोग समझते हैं कि धर्म तो खुद ही एक फिलॉसफी' है। तो धर्म बिलकुल भी 'फिलॉसफी' नहीं है।

धर्म एक विज्ञान है। धर्म पूछता है, 'क्या', 'क्यों' नहीं। क्योंकि धर्म जानता है कि अस्तित्व से 'क्या' का उत्तर मिल सकता है। 'क्यों' का कोई उत्तर नहीं मिल सकता। विज्ञान भी पूछता है 'क्या'। विज्ञान पूछता है, पानी क्या है ? हाइड्रोजन और आक्सीजन। आप पूछें कि हाइड्रोजन और आक्सीजन क्यों मिलते हैं ? तो वैज्ञानिक कहेगा कि दार्शनिक से पूछो। हमारी लेबोरेटरी (प्रयोगशाला) में हम 'क्या' खोजते हैं। हम बता सकते हैं कि हाइड्रोजन और आक्सीजन से मिलकर पानी बनता है। 'क्या' हम बताते हैं। 'कैसे' हम बताते हैं। 'क्यों' कृपा करके हमसे न पूछें। या तो पागलों से या फिलॉसफर से ही 'क्यों' पूछें। वैज्ञानिक कहता है कि हम कितना ही खोजें, हम इतना जान सकते हैं कि 'क्या' है और जब हमें 'क्या' पता चल जाय तो हम जान सकते हैं 'कैसे'। पानी हाइड्रोजन और आक्सीजन से मिलकर बना है, हमने जान लिया। अब हम खोज कर सकते हैं कि कैसे मिले हैं। इसलिए विज्ञान 'क्या' की खोज करता है और 'कैसे' को प्रयोगशाला में ढूंढ लेता है।

धर्म भी अस्तित्व के 'क्या' की खोज करता है। और योग में 'कैसे' की प्रक्रिया को खोज लेता है। इसलिए धर्म का जो आनुसांगिक अंग है, वह **योग** है और विज्ञान का जो आनुसांगिक अंग है, वह **प्रयोग** है। लेकिन धर्म का कोई संबंध नहीं है 'क्यों' से, क्योंकि एक बात सुनिश्चित है कि हम अस्तित्व के 'क्यों' को न पूछ पायेंगे। अस्तित्व है और यहीं बात समाप्त हो

जाती है।

तो कृष्ण कह रहे हैं कि वह जो आत्मा है, वह मरणधर्मा नहीं है। पूछें 'क्यों ?' तो क्यों का कोई सवाल नहीं है। ऐसा है।

वह जो आत्मा है, वह आत्मा जल नहीं सकती, जन्म नहीं लेती, मरती नहीं। 'क्यों ?' कृष्ण कहेंगे, ऐसा है। अगर तुम पूछो कि कैसे हम जानें उस आत्मा को, तो रास्ता बताया जा सकता है उसे पाने का, जो नहीं मरती, नहीं जन्मती। लेकिन अगर पूछें कि क्यों नहीं मरती ? तो कृष्ण कहते हैं, कोई उपाय नहीं है। यहां जाकर सब निरुपाय हो जाता है। यहाँ जाकर आदमी एकदम 'हेल्पलेस' हो जाता है। यहाँ जाकर बुद्धि एकदम थक जाती और गिर जाती है। लेकिन बुद्धि 'क्यों' ही पूछती है, उसका रस 'क्यों' में ही है। क्योंकि अगर आप 'क्यों' पूछें, तो बुद्धि कभी नहीं गिरेगी और कभी न थकेगी। वह पूछती चली जायेगी, पूछती चली जायेगी, पूछती चली जायेगी।

बचपन मैंने एक कहानी सुनी है, आपने भी सुनी होगी। एक बूढ़ी औरत (नानी) है। बच्चे घर में घेर लेते हैं और कहानी पूछते हैं। वह थक गयी है, उसकी सब कहानियाँ चुक गयी हैं। लेकिन बच्चे हैं कि रोज ही पूछे चले जाते हैं। वे फिर जिद करते हैं रोज रात, कहानी के लिए। और वह बूढ़ी थक गयी है, उसकी सब कहानियाँ चुक गयी हैं। अब वह क्या करे और क्या न करे ! और बच्चे हैं कि पीछे पड़े हैं। तो फिर उसने एक कहानी ईजाद की, ठीक वैसी ही जैसी परमात्मा की कहानी है। उसने कहानी ईजाद की। उसने कहा, एक वृक्ष पर अनंत पक्षी बैठे हैं। बच्चे खुश हुए, क्योंकि अनंत पक्षी हैं, कथा अनंत चल सकेगी। उसने कहा, एक शिकारी ने, जिसके पास अनंत बाण हैं, उसने एक तीर छोड़ा। तीर के लगते ही वृक्ष पर एक पक्षी उड़ा। बच्चों ने पूछा, फिर ? उस बूढ़ी ने कहा, उस शिकारी ने दूसरा तीर छोड़ा, फिर एक पक्षी उड़ा। बच्चों ने पूछा, फिर ! तो उस बूढ़ी ने कहा, फिर शिकारी ने एक तीर छोड़ा। फिर एक पक्षी उड़ा—फुर्र। बच्चों ने पूछा, फिर ! फिर यह कहानी चलने लगी, बस ऐसी ही चलने लगी। फिर बच्चे थक गये और उन्होंने कहा, कुछ और नहीं होगा। उस बूढ़ी स्त्री ने कहा, अब मैं थक गयी हूं, अब और कहानी नहीं। अब यह एक कहानी काफी रहेगी। अब तुम रोज पूछना। और अनंत हैं तीर, अनंत हैं पक्षी।

यह हमारे 'क्यों' का जो जगत् है, वह ठीक बच्चों जैसा है, जो पूछ रहे हैं, क्यों? 'क्यों' का सवाल 'चाइल्डिश है। यद्यपि बहुत बुद्धिमान लोग पूछते हुए मालूम पड़ते हैं। असल में बुद्धिमानों से ज्यादा बाल-बुद्धि के लोग खोजने मुश्किल हैं। 'क्यों' का सवाल एकदम बचकाना है, लेकिन बड़ा कीमती मालूम पड़ता है। क्योंकि दुनिया में जिनको हम बुद्धिमान कहते हैं, वे यही पूछ रहे हैं, चाहे वे यूनान के दार्शनिक हों, चाहे भारत के हों और चाहे चीन के हों, वे यह 'क्यों' ही पूछते रहे हैं। और फिर 'क्यों' के उत्तर खोजते रहे हैं। किसी उत्तर ने किसी को तृप्ति नहीं दी। किसी उत्तर से हल नहीं हुआ क्योंकि हर उत्तर के बाद पूछने वाले ने पूछा 'क्यों', 'क्यों' ? फिर एक तीर, फिर एक पक्षी उड़ जाता है। और फिर इससे कोई अंतर नहीं पड़ता है।

इसलिए निरन्तर मैंने पीछे आपसे कहा कि कृष्ण की गीता 'मेटाफिजिकल' नहीं है। यह कृष्ण का संदेश जो अर्जुन को है, यह कोई दार्शनिक, कोई तत्त्व-ज्ञान का नहीं, यह मनस-विज्ञान का है। इसलिए वे कह रहे हैं, ऐसा है। और एक आत्मा जब यात्रा करती है तो कैसे यात्रा करती है, वह मैंने आपसे कहा। यात्रा का 'क्या' इतना ही ज्ञात है, इतना ही ज्ञात हो सकता है, इतना ही ज्ञात हो सकता है, इससे शेष अज्ञात ही रहेगा।

स्वतंत्रता के पूर्ण अनुभव के पहले परतन्त्रता का अनुभव जरूरी है। मुक्ति के पूरे आकाश में उड़ने के पहले, किसी कारागृह, किसी पिंजरे के भीतर, थोड़ी देर टिकना उपयोगी है। उसकी 'यूटिलिटी' है। इसलिए आत्मा यात्रा करती है। और जब तक आत्मा बहुत गहरी नहीं उतर जाती—पाप अंधकार, बुराई और कारागृह में, तब तक लौटती भी नहीं।

कल कोई दोपहर मुझसे पूछ रहा था कि वाल्मीकि जैसे पापी उपलब्ध हो जाते हैं ज्ञान को ! तो मैंने कहा, वही हो पाते हैं। जो 'मिडियॉकर' हैं, जो बीच में होते हैं, उनका अनुभव ही अभी पाप का इतना नहीं कि पुण्य की यात्रा शुरू हो सके। इसलिए वे बीच में ही रहते हैं। लेकिन वाल्मीकि के लिए तो आगे जाने का रास्ता ही खत्म हो जाता है। 'कलडिसेक' आ जाता है, वहाँ सब रास्ते खत्म हो जाते हैं। अब और वाल्मीकि क्या पाप करें ? आखिरी आ गयी यात्रा। अब दूसरी यात्रा शुरू होगी।

इसलिए अकसर गहरा पापी गहरा सन्त हो जाता है। साधारण पापी साधारण सज्जन ही होकर जीता है। जितने गहरे अन्धकार की यात्रा होगी, उतनी अन्धकार से मुक्त होने की आकांक्षा का जन्म होता है। उतनी ही तीव्रता से

यात्रा भी होती है दूसरी दिशा में भी। इसलिए आत्मा निष्क्रिय होते हुए भी कामना तो करती है यात्रा की। निष्क्रिय कामना भी हो सकती है। आप कुछ न करें, सिर्फ कामना करें, लेकिन आत्मा के तल पर कामना ही 'ऐक्ट' बन जाती है। 'द व्हेरी डिजार बिकम्स द एक्ट'। वहाँ सिर्फ कामना करना ही कृत्य हो जाता है। वहाँ कोई और कृत्य करने की जरूरत नहीं होती।

इसलिए शास्त्र कहते हैं, परमात्मा ने कामना की तो जगत् निर्मित हुआ। बाइबल कहती है कि परमात्मा ने कहा, 'लेट देअर बी लाइट, एन्ड देअर वाज लाइट'। कहा, प्रकाश हो, और प्रकाश हो गया। यहां 'प्रकाश हो' कहने और प्रकाश हो जाने के बीच कोई भी कृत्य नहीं है। सिर्फ कामना है। आत्मा की कामना कि अन्धेरे को जाने, कि यात्रा शुरू हो गयी। आत्मा की कामना कि मुक्ति हो, यात्रा शुरू हो गयी। आत्मा की कामना कि जानें परम सत्य को, कि यात्रा शुरू हो गयी। और आपको अगर कृत्य करने पड़ते है, तो इसलिए करने पड़ते हैं कि कामना पूरी नहीं है। असल में कृत्य सिर्फ कामना की कमी को पूरा करते हैं। फिर भी पूरा नहीं कर पाते। **अगर कामना पूरी है, तो कृत्य तत्काल हो जाता है।** अगर आप इसी क्षण पूरे भाव से कामना कर पायें कि परमात्मा को जानूं, तो एक सेकेण्ड भी नहीं गिरेगा और परमात्मा जान लिया जायेगा।

बाधा पड़ती है तो कृत्य की कमी से नहीं, बाधा पड़ती है क्योंकि भीतर मन ही पूरा नहीं कहता। वह कहता है जरा और सोच लूं, इतनी जल्दी भी क्या है जानने की। आधा मन कहता है जानें। आधा मन कहता है, छोड़ो। क्या रखा है! परमात्मा है भी, नहीं है, कुछ पता नहीं है। कामना ही पूरी नहीं है।

कृष्ण जब कहते हैं कि आत्मा निष्क्रय है, तो इस बात को ठीक से समझ लेना कि आत्मा के लिए कृत्य करने की अनिवार्यता भी नहीं है। आत्मा के लिए कामना करना ही पर्याप्त कृत्य है। अगर यह ख्याल में आ जाय, तो ही यह बात ख्याल में आ पायेगी कि कृष्ण अर्जुन को समझाये चले जा रहे हैं, इस आशा में कि अगर समझ भी पूरी हो जाय, तो बात पूरी हो जाती है। कुछ और करने को बचता नहीं। कुछ ऐसा नहीं है कि समझ पूरी हो जाय तो फिर शीर्षासन करना पड़े, आसन करना पड़े, व्यायाम करना पड़े, फिर मंदिर में घण्टी बजानी पड़े। फिर पूजा करनी पड़े, फिर प्रार्थना करनी पड़े। अगर 'अन्डर स्टैंडिंग' (समझ) पूरी हो जाय तो करने को कुछ बचता नहीं।

वह पूरी नहीं होती है इसलिए सब उपद्रव करना पड़ता है। सारा 'रिचुअल' 'सब्स्टिट्यूट' (परिपूरक) है। जो भी क्रिया-काण्ड है, वह समझ की कमी को पूरा करवा रहा है और कुछ नहीं, उससे कमी पूरी होती भी नहीं। सिर्फ वहम पैदा होता है कि पूरी हो रही है। **अगर समझ पूरी हो जाय, तो तत्काल घटना घट जाती है।**

एडिंगटन ने अपने आत्म-संस्मरणों में लिखा है कि जब मैंने जगत् की खोज शुरू की थी, तो मैं कुछ और सोचता था। मैं सोचता था, जगत् वस्तुओं का एक संग्रह है। अब जब कि मैंने जगत् की खोज की, जितनी मुझसे हो सकती थी, करके बिदा की बेला में आ गया। तो मैं कहना चाहता हूँ 'द वर्ल्ड इज लेस लाइक ए थिंग एण्ड मोर लाइक ए थॉट'। अब यह 'नोबुल प्राइज विनर' वैज्ञानिक कहे तो थोड़ा सोचने जैसा है। वह कहता है, जगत् वस्तु के जैसा कम और विचार के जैसा ज्यादा है। अगर जगत् विचार के जैसा ज्यादा है, तो कृत्य मूल्यहीन है, संकल्प मूल्यवान है। **कृत्य संकल्प की कमी है। इसलिए हमें लगता है, कुछ करें, तब ही पूरा हो पायेगा।**

संकल्प ही काफी है। आत्मा बिलकुल निष्क्रिय है। और उसका संकल्प ही एक मात्र सक्रियता है। संकल्प है कि हम जगत् में जायें तो हम आ गये। जिस दिन संकल्प होगा कि उठ जायें वापस, उसी दिन हम वापस लौट जाते हैं। लेकिन जगत् का अनुभव लौटने के संकल्प के लिए जरूरी है।

● **प्रश्नकर्त्ता :** भगवान् श्री, बहुत सारे स्रोताओं की जिज्ञासा मंडराती है प्रेतात्माओं के बारे में। क्या 'इथरिक बॉडी' और प्रेतात्मा एक ही चीज हैं? क्या एक प्रेतात्मा दूसरे पुरुष शरीर में प्रवेश कर सकती है? परेशान कर सकती है? इसका क्या उपाय है?

भगवान् श्री : जैसा मैंने कहा, चार तरह के लोग हैं। साधारण जन, जो बुरे और अच्छे के मिश्रण हैं। असाधारण जन, जो या तो शुद्ध बुरे हैं अधिकतम या शुद्ध अच्छे हैं अधिकतम। तीसरे वे लोग, जो न बुरे है, न अच्छे—दोनों नहीं हैं। इनके लिए क्या नाम दें, कहना कठिन है। चौथे वे लोग, जो बुराई और अच्छाई में बिलकुल समतुल हैं, बैलेंस्ड हैं। ये तीसरे और चौथे लोग ऐसे हैं, जिनके जन्म की यात्रा बन्द हो जायेगी। उनकी हम पीछे बात करेंगे। पहले और दूसरे लोग ऐसे हैं, जिनकी जन्म की यात्रा जारी रहेगी।

जो पहली तरह के लोग हैं, मिश्रण—अच्छे भी, बुरे भी, दोनों ही एक

साथ। कभी बुरे, कभी अच्छे। अच्छे में भी बुरे, बुरे में भी अच्छे। सबका जोड़ हैं। निर्णायक नहीं, 'इनडिसीसिव' हैं, इधर से उधर दौड़ते रहते हैं, इनके लिए साधारणतः मरने के बाद तत्काल गर्भ मिल जाता है। क्योंकि इनके लिए बहुत गर्भ उपलब्ध हैं। सारी पृथ्वी इन्हीं के लिए गर्भ 'मैन्युफैक्चर' कर रही है, इनके लिए फैक्टरी जगह-जगह है। इनकी मांग बहुत असाधारण नहीं है। ये जो चाहते हैं, वह बहुत असाधारण व्यक्तित्व है, जो कहीं भी मिल सकता है। ऐसे आदमी प्रेत नहीं होते। ऐसे आदमी तत्काल नया शरीर ले लेते हैं।

बहुत अच्छे लोग और बहुत बुरे लोग दोनों ही बहुत समय तक अटक जाते हैं। उनके लिए उनके योग्य गर्भ मिलना मुश्किल हो जाता है। जैसा मैंने कहा कि हिटलर के लिए या चंगेज के लिए या स्टैलिन के लिए या गांधी के लिए या अलबर्ट सवित्जर के लिए, इस तरह के लोगों के लिए नया जन्म (मृत्यु के बाद) काफी समय ले लेता है। जब तक योग्य गर्भ उपलब्ध न हो। तो बुरी आत्माएं और अच्छी आत्माएं जो 'एक्स्ट्रीमिस्ट' हैं, जिन्होंने बड़े होने का ठेका ही ले रखा था जीवन में, ऐसी आत्मा, जिन्होंने भले होने का ठेका ले रखा था, ऐसी आत्माओं को गर्भ के लिए रुक जाना पड़ता है। जो इनमें बुरी आत्माएं हैं, उनको ही हम भूत-प्रेत कहते हैं, और इनमें जो अच्छी आत्माएं हैं उनको ही हम **देवता** कहते रहे हैं, ये काफी समय तक रुक जाती हैं, कई बार तो बहुत समय तक रुक जाती हैं। हमारी पृथ्वी पर हजारों साल बीत जाते हैं, तब तक रुक जाती हैं।

पूछा है कि क्या ये दूसरे के शरीर में प्रवेश कर सकती हैं? कर सकती हैं। प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में जितनी संकल्पवान आत्मा हो, उतनी ही रिक्त जगह नहीं होती। जितनी 'विल पावर' की आत्मा हो, उतनी ही उसके शरीर में रिक्त जगह नहीं होती, जिसमें कोई दूसरी आत्मा प्रवेश कर सके। जितनी संकल्पहीन आत्मा हो, उतनी ही रिक्त जगह होती है।

इसे थोड़ा समझना जरूरी है। **जब आप संकल्प से भरते हैं, तब आप फैलते हैं।** संकल्प 'एक्सपैंडिंग' चीज है, और **जब आपका संकल्प निर्बल होता है, तब आप सिकुड़ते हैं।** जब आप हीन-भाव से भरते हैं, तब सिकुड़ जाते हैं। यह बिलकुल सिकुड़ने और फैलने की घटना घटती है भीतर। तो जब आप कमजोर होते हैं, भयभीत होते हैं, डरे हुए होते हैं, आत्मग्लानि से भरे होते हैं, आत्म-अविश्वास से भरे होते हैं, स्वयं के प्रति अश्रद्धा से भरे होते हैं,

स्वयं के प्रति निराश से भरे होते हैं, तब आपके भीतर का जो सूक्ष्म शरीर है, वह सिकुड़ जाता है। और आपके इस शरीर में इतनी जगह होती है फिर कि कोई भी आत्मा प्रवेश कर सकती है। आप स्थान दे देते हैं।

आमतौर से भली आत्माएं प्रवेश नहीं करती हैं। नहीं करने का कारण है। क्योंकि भली आत्मा जिन्दगी भर ऐन्द्रिक सुखों से मुक्त होने की चेष्टा में लगी रहती है। एक अर्थ में, भली आत्मा शरीर से ही मुक्त होने की चेष्टा में लगी रहती है। लेकिन बुरी आत्मा के जीवन के सारे अनुभव शरीर के सुख के अनुभव होते हैं। और बुरी आत्मा के शरीर से बाहर होने पर जब उसे नया जन्म नहीं मिलता है, तो उसकी तड़फन भारी हो जाती है। उसकी पीड़ा भारी हो जाती है। उसको अपना शरीर तो मिल नहीं रहा है, गर्भ उपलब्ध नहीं है, लेकिन वह किसी के शरीर पर सवार होकर इंद्रिय के सुखों को चखने की चेष्टा करती है। तो अगर कहीं भी कमजोर संकल्प का आदमी हो तो उसमें प्रेतात्मा का प्रवेश हो सकता है। इसलिए पुरुषों की बजाय स्त्रियों में प्रेतात्माओं का प्रवेश ज्यादा मात्रा में होता है।

स्त्रियों को हम अब तक संकल्पवान नहीं बना पाये हैं—जिम्मा पुरुष का है, क्योंकि पुरुष ने स्त्रियों का संकल्प तोड़ने की निरंतर कोशिश की है। क्योंकि जिसे भी गुलाम बनाना हो, उसे संकल्पवान नहीं बनाया जा सकता। जिसे गुलाम बनाना हो, उसके संकल्प को हीन करना पड़ता है, इसलिए **स्त्री के संकल्प को हीन करने की निरन्तर चेष्टा की गयी है हजारों साल में।** जो आध्यात्मिक संस्कृतियाँ हैं, उन्होंने भयंकर चेष्टा की है कि स्त्री के संकल्प को हम हीन करें, उसे डरायें, उसे भयभीत करें। क्योंकि पुरुष की प्रतिष्ठा उसके भय पर ही निर्भर करेगी।

तो स्त्रियों में प्रेतात्मा प्रवेश की संभावना बहुत ज्यादा है। दस प्रतिशत पुरुष ही प्रेतात्माओं से पीड़ित होते हैं, नब्बे प्रतिशत स्त्रियाँ पीड़ित होती हैं। संकल्प नहीं है, जगह खाली है। प्रवेश आसान है।

संकल्प जितना मजबूत हो, स्वयं पर श्रद्धा जितनी गहरी हो, तो हमारी आत्मा हमारे शरीर को पूरी तरह घेरे रहती है। अगर संकल्प और भी बड़ा हो जाय, तो हमारा सूक्ष्म शरीर हमारे इस शरीर के बाहर भी घेराव बनाता है, बाहर भी। इसलिए कभी, किन्हीं व्यक्तियों के पास जाकर, जिनका संकल्प बहुत बड़ा है, आप तत्काल अपने संकल्प में परिवर्तन पायेंगे। क्योंकि उनका संकल्प उनके शरीर के बाहर भी वर्तुल बनाता है, उस वर्तुल के भीतर अगर

आप गये, तो आपका संकल्प परिवर्तित होता हुआ मालूम पड़ेगा। बहुत बुरे आदमी के पास भी—अगर एक वेश्या के पास जाते हैं, तो भी फर्क पड़ेगा। एक संत के पास जाते हैं, तो भी फर्क पड़ेगा। क्योंकि उसके संकल्प का वर्तुल, उसके सूक्ष्म शरीर का वर्तुल, उसके स्थूल शरीर से बाहर फैला होता है। यह फैलाव बहुत बड़ा भी हो सकता है। इस फैलाव के भीतर आप अचानक पायेंगे कि आपके भीतर कुछ होने लगा, जो आपका नहीं मालूम पड़ता। आप कुछ और तरह के आदमी थे, लेकिन कुछ और हो रहा है भीतर।

हमारा संकल्प इतना छोटा भी हो सकता है कि वह स्थूल शरीर के भीतर ही सिकुड़ जाय। इतना बड़ा भी हो सकता है कि शरीर के बाहर भी फैल जाय। वह इतना बड़ा भी हो सकता है कि पूरे ब्रह्माण्ड को घेर ले। जिन लोगों ने कहा, 'अहं ब्रह्मास्मि,' वह विराट संकल्प के एक क्षण में उन्हें अनुभव हुआ है। जब सारा संकल्प सारे ब्रह्मांड को घेर लेता है, तब चाँद-तारे बाहर नहीं भीतर चलते हुए मालूम पड़ते हैं, तब सारा अस्तित्व अपने में भीतर समाया हुआ मालूम पड़ता है। संकल्प इतना भी सिकुड़ जाता है कि आदमी को यह भी पक्का पता नहीं चलता कि मैं जिन्दा हूं कि मर गया। इतना भी सिकुड़ जाता है।

संकल्प के अति सिकुड़े होने की हालत में ही नास्तिकता का गहरा हमला होता है। संकल्प के फैलाव की स्थिति में ही आस्तिकता का गहरा हमला होता है। संकल्प जितना फैलता है, उतना ही आदमी अपने को आस्तिक अनुभव करता है। क्योंकि संकल्प इतना बड़ा हो जाता है कि नास्तिक होने का कोई कारण नहीं रह जाता। संकल्प जब बहुत सिकुड़ जाता है, तो व्यक्ति अपने को नास्तिक अनुभव करता है। अपने ही पैर डावांडोल हों, अपना ही अस्तित्व न होने जैसा हो, उस क्षण आस्तिकता नहीं उभर सकती। उस वक्त जीवन के प्रति 'नहीं' का भाव, 'न' का भाव पैदा होता है।

नास्तिकता और आस्तिकता मनोवैज्ञानिक सत्य हैं सिर्फ। मनोवैज्ञानिक सिम्मॉन वेल ने लिखा है कि तीस साल की उम्र में मेरे सिर में भारी दर्द था। वह चौबीस घण्टे होता था। तो मैं कभी सोच नहीं पायी कि परमात्मा हो सकता है। जिसके सिर में चौबीस घण्टे दर्द है, उसको बहुत मुश्किल मानना कि परमात्मा हो सकता है। यह बड़े मजे की बात है कि सिर-दर्द जैसी छोटी चीज भी, परमात्मा को दरवाजे से बाहर कर सकती है। वह

ईश्वर के न होने की बात करती रही। उसे कभी ख्याल न आया कि ईश्वर के न होने का गहरा कारण 'मेडिकल' है। उसे ख्याल भी नहीं आया कि ईश्वर न होने का कारण सिर-दर्द है, तर्क और दलीलें नहीं।

जिसके सिर में दर्द है, उसके मन से 'नहीं' का भाव उठता है। उसके मन से 'हां' का भाव नहीं उठता। 'हां' के भाव के लिए भीतर बड़ी प्रफुल्लता चाहिए, तब 'हाँ' का भाव उठता है।

फिर सिर दर्द ठीक हो गया। तब उसे एहसास हुआ कि उसके भीतर से इन्कार का भाव कम हो गया है। तब उसे एहसास हुआ कि वह न मालूम किस अनजाने क्षण में नास्तिक से आस्तिक होने लगी।

संकल्प अगर क्षीण है, तो प्रेतात्माएं प्रवेश कर सकती हैं, बुरी प्रेतात्माएं, जिन्हें हम भूत कहें, प्रवेश कर सकती हैं, क्योंकि वे आतुर हैं। वे पूरे समय आतुर हैं कि अपना शरीर नहीं है, तो आपके शरीर से ही थोड़ा सा रस ले लें। और **शरीर के रस, शरीर के बिना नहीं लिये जा सकते।** शरीर के रस, शरीर से ही लिए जा सकते हैं।

अगर एक कामुक आत्मा है, 'सेक्सुअल' आत्मा है और उसके पास अपना शरीर नहीं है, तो 'सेक्सुआलिटी' तो पूरी होती है, शरीर नहीं होता, इंद्रियां नहीं होतीं। अब उसकी पीड़ा आप समझ सकते हैं। उसकी पीड़ा बड़ी मुश्किल की हो गयी। चित्त कामुक है, और उपाय बिलकुल नहीं है। शरीर नहीं है पास में। वह किसी के भी शरीर में प्रवेश करके काम वासना को तृप्त करने की चेष्टा कर सकती है।

शुभ आत्माएँ आमतौर से प्रवेश नहीं करतीं, जब तक कि आमंत्रित न की जायं। 'अनइनवाइटेड' उनका प्रवेश नहीं होता। क्योंकि उनके लिए शरीर की कोई आकांक्षा नहीं है। लेकिन 'इनविटेशन' पर, आमंत्रण पर उनका प्रवेश हो सकता है। आमंत्रण का मतलब इतना ही हुआ कि अगर कोई ऐसी घड़ी हो, जहाँ उनका उपयोग किया जा सके, जहाँ वे सहयोगी हों और सेवा दे सकें, तो वे तत्काल उपलब्ध हो जाती हैं। बुरी आत्मा हमेशा 'अनइनवाइटेड' प्रवेश करती है, घर के पीछे के दरवाजे से। भली आत्मा आमंत्रित होकर प्रवेश करती है।

भली आत्माओं का प्रवेश निरन्तर कम होता चला गया है, क्योंकि आमंत्रण की विधि खो गयी। और बुरी आत्माओं का प्रवेश बढ़ता चला गया

है। क्योंकि संकल्प दीन-हीन, नकारात्मक, 'निगेटिव' हो गया। इसलिए आज पृथ्वी पर देवता की बात करना झूठ है। भूत की बात करना झूठ नहीं है। प्रेत अभी भी अस्तित्ववान हैं। देवता कल्पना हो गये हैं। **लेकिन देवताओं को बुलाने की, निमंत्रण की विधियाँ थीं।** सारा वेद उन्हीं विधियों से भरा हुआ है। उसके अपने 'सीक्रेट मैथड्स' हैं, कि उन्हें कैसे बुलाया जाय। उनसे कैसे तारतम्य, उनसे कैसे 'कम्युनिकेशन', उनसे कैसे संबंध स्थापित किया जाय, उनसे चेतना कैसे जुड़े। और निश्चित ही, बहुत कुछ है जो उनके द्वारा ही जाना गया है। और इसलिए, उसके लिए आदमी के पास कोई प्रमाण नहीं है।

अब यह जान कर आपको हैरानी होगी कि सात सौ साल पुराना, एक पृथ्वी का नक्शा बेरूत में मिला है। वह नक्शा ऐसा है, जो बिना हवाई जहाज के नहीं बनाया जा सकता है। जिसके लिए, हवाई जहाज की ऊंचाई पर उड़कर पृथ्वी देखी जाय, तो ही बनाया जा सकता है, लेकिन सात सौ साल पहले हवाई जहाज भी नहीं था। इसलिए बड़ी मुश्किल में वैज्ञानिक पड़ गये उस नक्शे को पाकर। बहुत कोशिश की गयी कि सिद्ध हो जाय, वह नक्शा सात सौ साल पुराना नहीं है, लेकिन सिद्ध करना मुश्किल हुआ है। वह कागज सात सौ साल पुराना है। वह स्याही सात सौ साल पुरानी है। वह भाषा सात सौ साल पुरानी है। जिन दीमकों ने उस कागज को खा लिया है, वे छेद भी पांच सौ साल पुराने हैं।

वह नक्शा बिना हवाई जहाज का नहीं बन सकता। उसका एक रास्ता तो यह है कि सात सौ साल पहले हवाई जहाज रहा हो, जो कि ठीक नहीं है। सात हजार साल पहले रहा हो, इसकी संभावना है, सात सौ साल पहले रहा हो, इसकी संभावना नहीं है। क्योंकि सात सौ साल बहुत लम्बा फासला नहीं है। सात सौ साल पहले हवाई जहाज रहा हो, और बाइसिकल न रही हो, यह नहीं हो सकता। क्योंकि हवाई जहाज एकदम से आसमान से नहीं बनते। उनकी यात्रा है, बाइसिकल है, कार है, रेल है, तब हवाई जहाज बन पाता है। एकदम से टपक नहीं जाता है वह आसमान से। तो एक तो रास्ता यह है कि हवाई जहाज रहा हो, जो कि सात सौ साल पहले नहीं था।

दूसरा रास्ता यह है कि अंतरिक्ष के यात्री आये हों, जैसा कि एक रूसी वैज्ञानिक ने सिद्ध करने की कोशिश की है कि किसी दूसरे प्लेनेट (ग्रह) से दूसरे यात्री आये हों, और उन्होंने यह नक्शा दिया हो। लेकिन दूसरे प्लेनेट

से यात्री सात सौ साल पहले आये हों, यह भी संभव नहीं है। सात हजार साल पहले आये हों, यह संभव है। क्योंकि सात सौ साल बहुत लम्बी बात नहीं है। इतिहास के घेरे की बात है। हमारे पास कम से कम दो हजार साल का तो सुनिश्चित इतिहास है। उसके पहले का इतिहास नहीं है। इसलिए इतनी बड़ी घटना सात सौ साल पहले घटी हो कि अंतरिक्ष से यात्री आये हों, और उसका एक भी उल्लेख न हो, (जबकि सात सौ साल पहले की किताबें पूरी तरह उपलब्ध हैं) यह संभव नहीं है।

मैं तीसरा सुझाव देता हूँ, जो अब तक नहीं दिया गया और वह सुझाव मेरा यह है कि यह जो नक्शे की खबर है, यह किसी आत्मा के द्वारा दी गयी खबर है, जो किसी व्यक्ति में 'इनवाइटेड' (आमंत्रित) हुई। जो किसी व्यक्ति के द्वारा बोली कि पृथ्वी गोल है। यह तो पश्चिम में अभी पता चला। ज्यादा समय नहीं हुआ, अभी सिर्फ कोई तीन सौ साल पहले। लेकिन हमारे पास भूगोल शब्द हजारों साल पुराना है। अब भूगोल जिन्होंने शब्द गढ़ा होगा, उनको पृथ्वी गोल है, यह ऐसा पता न रहा हो, नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वे भूगोल शब्द कैसे गढ़ेंगे!

लेकिन आदमी के पास, जमीन गोल है, इसको जानने के साधन बहुत मुश्किल मालूम पड़ते हैं। सिवाय इसके कि यह संदेश कहीं से उपलब्ध हुआ हो। आदमी के ज्ञान में बहुत सी बातें हैं जिनको जानने के लिए कोई प्रयोग-शालाएँ नहीं थीं, जिनको जानने का कोई उपाय नहीं था। जैसे कि लुकमान के संबंध में कथा है। अब तो वैज्ञानिकों को भी संदेह होने लगा है कि कथा ठीक होनी चाहिए।

लुकमान के संबंध में कथा है कि उसने पौधों से जाकर पूछा कि बता दो, तुम किस बीमारी में काम आ सकते हो। पौधे बताते हुए मालूम नहीं पड़ते, लेकिन दूसरी बात भी मुश्किल मालूम पड़ती है। लाखों पौधों के संबध में जो लुकमान ने खबर दी है, वह इतनी सही है, कि या तो लुकमान की उम्र लाखों साल रही हो, और लुकमान के पास आज से भी ज्यादा विक-सित फार्मेसी की प्रयोगशालाएं रही हों, तब वह जांच कर पाये कि कौन सा पौधा किस बीमारी में काम आता है। लेकिन लुकमान की उम्र लाखों साल नहीं है। और लुकमान के पास कोई प्रयोगशाला की खबर नहीं है। लुकमान तो अपना झोला लिये, जंगलों में घूम रहा है, और पौधों से पूछ रहा है। पौधे बता सकेंगे?

मेरी अपनी समझ और है। पौधे तो नहीं बता सकते, लेकिन शुभ आत्माएँ पौधों के संबंध में खबर दे सकती हैं। बीच में 'मीडिएटर' (मध्यस्थ) कोई आत्मा काम कर रही है, जो पौधों के बाबत खबर दे सकती है कि यह पौधा इस काम में आ जायेगा। अब यह बड़े मजे की बात है, क्योंकि हमारे मुल्क में **आयुर्वेद की सारी खोज बहुत गहरे में प्रयोगात्मक नहीं है, बहुत गहरे में देवताओं के द्वारा दी गयी सूचनाओं पर निर्भर है।** इसलिए आयुर्वेद की कोई दवा आज भी प्रयोगशाला में सिद्ध होती है कि ठीक है। हमारे पास कभी कोई बड़ी प्रयोगशाला नहीं थी, जिसमें हमने उनको सिद्ध किया हो।

जैसे सुश्रुत से लेकर अब तक, सर्पगन्धा के लिए जो ख्याल था, वह ठीक साबित हुआ। लेकिन अब पश्चिम में बहुप्रचलित सर्पेन्टीना, सर्पगन्धा का ही रूप है। अब वह भारी उपयोग की चीज हो गयी। पागलों के इलाज के लिए वह अनिवार्य चीज हो गयी है। लेकिन सर्पगन्धा का हमें पता कैसे चला होगा? क्योंकि आज तो पश्चिम के पास प्रयोगशाला है, जिसमें सर्पगन्धा की 'केमिकल ऐनालिसिस' हो सकती है। लेकिन हमारे पास इसकी कोई प्रयोग-शाला थी, इसकी खबर नहीं मिलती। यह सर्पगन्धा की खबर, आमंत्रित आत्माओं से मिली हुई खबर है।

बहुत देर नहीं है कि हमें आमंत्रित आत्माओं के उपयोग फिर खोजने पड़ेंगे। इसलिए आज जब आप वेद को पढ़ें, तो कपोल कल्पना हो जाती है, झूठ मालूम पड़ता है कि क्या बातचीत कर रहे हैं। इंद्र आओ, वरुण आओ, फलां आओ, ढिकां आओ, और इस तरह बात कर रहे हैं कि सच में आ रहे हों और फिर इन्द्र को भेंट कर रहे है, इन्द्र से प्रार्थना भी कर रहे हैं। और इतने बड़े वेद में कहीं भी एक जगह, कोई ऐसी बात नहीं मालूम पड़ती कि कोई एक भी आदमी शक कर रहा हो कि क्या पागलपन की बातें कर रहे हैं! किससे बातें कर रहे हैं! देवता, वेद के समय में बिलकुल जमीन पर चलते हुए मालूम पड़ते हैं। उनके निमंत्रण की विधि थी। सब हवन, यज्ञ बहुत गहरे में निमंत्रण की विधियां हैं, 'इनविटेशंस' हैं, 'इनव्होकेशंस' हैं। उसकी बात तो कहीं आगे होगी, तो बात कर लेंगे।

सूक्ष्म शरीर ही स्थूल शरीर से मुक्त रहकर प्रेत और देव की तरह दिखायी पड़ते हैं।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥ २६॥

और यदि तू इसको सदा जन्मने और सदा मरने वाला माने, तो भी हे अर्जुन, इस प्रकार शोक करने को योग्य नहीं है।

भगवान् श्री : कृष्ण का यह वचन बहुत अद्भुत है। यह कृष्ण अपनी तरफ से नहीं बोलते, यह अर्जुन की मजबूरी देखकर बोलते हैं। कृष्ण कहते हैं, लेकिन तुम कैसे समझ पाओगे कि आत्मा अमर है, तुम कैसे जान पाओगे इस क्षण में कि आत्मा अमर है? छोड़ो, तुम यही मान लो, जैसा कि तुम्हें मानना सुगम होगा कि आत्मा मर जाती है। सब समाप्त हो जाता है। लेकिन महाबाहो! (कृष्ण कहते हैं अर्जुन से) अगर ऐसा ही तुम मानते हो, तब भी मृत्यु के लिए सोच करना व्यर्थ हो जाता है। जो मिट ही जाता है, उसको मिटाने में इतनी चिन्ता क्या है? जो मिट ही जायेगा, तुम नहीं मिटाओगे तो भी मिट जायेगा, उसको मिटाने में इतने परेशान क्यों हो? और जो मिट ही जाता है, उसमें हिंसा कैसी?

एक यंत्र को तोड़ते वक्त हम नहीं कहते कि हिंसा हो गयी। एक घड़ी को फोड़ दें पत्थर पर, तो नहीं कहते, हिंसा हो गयी, तो हम नहीं कहते कि बड़ा पाप हो गया! क्यों? क्योंकि कुछ भी तो नहीं था घड़ी में, जो न मिटने वाला हो। तो कृष्ण कहते हैं, जो मिट ही जाने वाले यन्त्र की भांति हैं, जिनमें कोई अजर, अमर तत्त्व ही नहीं हैं, तो मिटा दो इन यंत्रों को, हर्ज क्या है? फिर चिन्तित क्यों होते हो? और कल तुम भी मिट जाओगे तो किस पर लगेगा पाप? कौन होगा भागीदार पाप का, कौन भोगेगा? कौन सी यात्रा पर तुम जा रहे हो, जहाँ कि इनको मारने का जिम्मा और 'रिस्पाँसिबिलिटी' तुम्हारी होने को है? तुम नहीं बचोगे। ये भी मर जायेंगे, तुम भी मर जाओगे–'डस्ट अनटु डस्ट', धूल धूल में मिल जायेगी। तुम चिंता क्या करते हो? लेकिन ध्यान रहे, यह कृष्ण अपनी तरफ से नहीं बोलते। कृष्ण इतनी बात कहकर अर्जुन की आंखों में देखते होंगे। कुछ परिणाम नहीं होता है। परिणाम आसान भी नहीं है। आपकी आँखों में देखूं, तो जानता हूं, वहां भी नहीं होता है।

आत्मा अमर है, सुनने से नहीं होता है कुछ। देखा होगा कृष्ण ने, वह अर्जुन वैसा ही निढाल बैठा है। ये बातें उसके सिर पर से गुजर जाती हैं। सुनता है कि आत्मा अमर है, लेकिन उसकी चिन्ता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। तो कृष्ण यह वचन मजबूरी में अर्जुन की तरफ से बोलते हैं। वे

कहते हैं, छोड़ो, मुझे छोड़ो। मैं जो कहता हूं, उसे जाने दो। फिर ऐसा ही मान लो कि तुम जो कहते हो, वही ठीक है। लेकिन ध्यान रहे, वे कहते हैं, कि ऐसे ही मान लो, 'लेट अस सपोज'। कहते हो, ऐसा ही स्वीकार कर लेते हैं। तुम जो कहो वही मान लेते हैं कि आत्मा मर जाती है, तो फिर तुम चिन्ता कैसे कर रहे हो ? फिर चिन्ता का कोई भी कारण नहीं। फिर धूल, धूल में गिर जायेगी। मिट्टी मिट्टी में मिल जायेगी। पानी, पानी में खो जायेगा। आग, आग में लीन हो जायेगी। आकाश, आकाश में तिरोहित हो जायेगा, फिर चिन्ता कैसी ? यह अर्जुन की ही ओर से कृष्ण कोशिश करते हैं। यह कृष्ण का वक्तव्य बताता है कि अर्जुन को देखकर कैसी निराशा उन्हें हुई होगी। यह वक्तव्य बहुत मजबूरी में दिया हुआ वक्तव्य है। यह वक्तव्य खबर देता है कि अर्जुन बैठा सुनता रहा होगा। फिर भी उसकी आँखों में वही प्रश्न रहे होंगे, वही चिन्ता रही होगी, वही उदासी रही होगी। सुन लिया होगा उसने, और कुछ भी नहीं सुना होगा। इस वक्त जीसस का मुझे स्मरण आता है।

जीसस ने कहा है, कान हैं तुम्हारे पास, लेकिन तुम सुनते कहाँ हो ? आँख है तुम्हारे पास, लेकिन तुम देखते कहाँ हो ? कृष्ण को ऐसा ही लगा होगा। नहीं सुन रहा है, नहीं सुन रहा है, नहीं समझ रहा है। बात भी सुनने और समझने से आने वाली कहाँ है ! कसूर भी उसका क्या है ! **बात अस्तित्वगत है, बात अनुभूतिगत है। मात्र सुनने से कैसे समझ में आ जायेगी ?** नहीं, अभी कृष्ण को और मेहनत लेनी पड़ेगी। और-और आयामों के दरवाजे उनको खटखटाने पड़ेंगे। अभी तक वे जो कह रहे थे, पर्वत के शिखर से कह रहे थे। अब वह अंधेरी गली का तर्क ही अंधेरी गली के लिए उपयोग कर रहे हैं।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८॥

क्योंकि ऐसा होने से तो जन्मनेवाले की निश्चित मृत्यु और मरनेवाले का निश्चित जन्म होना सिद्ध हुआ। इससे भी तू इस बिना उपायवाले विषय में शोक करने को योग्य नहीं है। (और यह भीष्मादिकों के शरीर मायामय होने से अनित्य हैं, इससे शरीरों के लिये शोक करना उचित नहीं है, क्योंकि) हे अर्जुन, संपूर्ण प्राणी जन्म से पहले बिना शरीर वाले और मरने के बाद भी बिना शरीर वाले ही हैं। केवल बीच में ही शरीरवाले (प्रतीत होते) हैं। फिर उस विषय में क्या चिन्ता है ?

भगवान् श्री : ख्याल आपको आया होगा कि कृष्ण जब अपनी तरफ से बोल रहे थे, तब उन्होंने अर्जुन को मूर्ख भी कहा। जब वह अपनी सतह से बोल रहे थे, तब अर्जुन को मूढ़ कहने में कठिनाई न हुई। लेकिन जब वे अर्जुन की तरफ से बोल रहे हैं, तब उसे महाबाहो, भारत, आदि कह रहे हैं, तब उसे बड़ी प्रतिष्ठा दे रहे हैं, बड़े औपचारिक शब्दों का उपयोग कर रहे हैं। जब अपनी तरफ से बोल रहे थे, तब उसे कहा कि तू निपट मूढ़, तू निपट गँवार है, तू बिलकुल मूढ़ है। तू बिलकुल मन्द-बुद्धि है। लेकिन अब उसी मन्द-बुद्धि अर्जुन को वे कहते है, हे महाबाहो ! अब उसकी ही जगह उतरकर बात कर रहे हैं। अब ठीक उसके कंधे पर हाथ रखकर बात कर रहे हैं, अब ठीक मित्र जैसे बात कर रहें हैं। क्योंकि इतनी बात से लगा है कि जिस शिखर की उन्होंने बात कही है, वह उसकी पकड़ में शायद नहीं आती। बहुत बार ऐसा हुआ है।

मुहम्मद ने कहा है, मैं वैसा कुआँ-नहीं हूँ कि तुम अगर मेरे पास पानी पीने न आओ, तो मैं तुम्हारे पास न आऊं। अगर तुम मुहम्मद के पास न आओगे, तो मुहम्मद तुम्हारे पास आयेगा। और अगर प्यासा कुएँ के पास न आयेगा, तो कुआँ ही प्यासे के पास जायेगा। कृष्ण अर्जुन के पास वापस आकर खड़े हो गये हैं। ठीक वहीं खड़े थे, भौतिक शरीर तो वहीं खड़ा था पूरे समय, लेकिन पहले वे बोल रहे थे बड़ी ऊँचाई से—वहाँ से, जहाँ आलोकित शिखर है। तब वह अर्जुन को कह सके कि तू नासमझ है। अब वे अर्जुन को कह रहे हैं कि तेरी समझ ठीक है। अब तू अपनी ही समझ का उपयोग कर। अब मैं तेरी ही समझ से कहता हूँ।

लेकिन अब वे जो कह रहे हैं, वह सिर्फ तर्क और दलील की बात है। क्योंकि जो अनुभव को न पकड़ पाये, फिर उसके लिए तर्क और दलील के अतिरिक्त पकड़ने को कुछ भी शेष नहीं रह जाता है। कोई उपाय नहीं रह जाता है। वह तर्क और दलील को ही पकड़ पायेगा। तो फिर तर्क और दलील की बात कहनी पड़ती है। लेकिन इस बात में प्राण नहीं है, वह बल

नहीं है, वह बल हो नहीं सकता । क्योंकि कृष्ण जानते हैं कि वे जो कह रहे हैं अब, वह सिर्फ तर्क है, अब सिर्फ दलील है । अब वे यह कह रहे हैं कि तुझे ही ठीक मान लेते हैं । लेकिन यह शरीर जिन भौतिक तत्वों से बना है, जिस माया से बना है, उसी में खो जायेगा । विद्वान पुरुष इसके लिए चिन्ता नहीं किया करते हैं ।

विद्वान और ज्ञानी के फर्क को भी ठीक से समझ लेना चाहिए । क्योंकि कृष्ण पूरे समय कह रहे हैं कि 'जो ऐसा जान लेता है, वह ज्ञान को उपलब्ध होता है ।' लेकिन अब वे कह रहे हैं, ज्ञानी नहीं, अब वे कह रहे हैं कि विद्वान लोग चिन्ता को उपलब्ध नहीं होते । विद्वान का वह तल नहीं है, जो ज्ञानी का है । विद्वान तर्क के तल पर जीता है, युक्ति के तल पर जीता है । ज्ञानी अनुभूति के तल पर जीता है । **ज्ञानी जानता है, विद्वान सोचता है ।**

कृष्ण कहते हैं, ज्ञानी होने की तेरी तैयारी नहीं हो, तो विद्वान ही हो जा । सोच मत कर, चिन्ता मत कर । क्योंकि सीधी सी बात है कि जब सब खो ही जाता है, तो चिन्ता क्या करनी । इतना तो तू सोच ही सकता है, यह तो विचार में ही आ जाता है कि सब खो जाता है, सब मिट जाता है । तो फिर चिन्ता मत कर, मिट जाने दे । तू बचायेगा कैसे, तू बचा कैसे सकेगा ? कहते हैं, तो जो अपरिहार्य है, 'दैट व्हिच इज इनेव्हिटेबल', वह होगा ही, होकर ही रहेगा, उसमें तू ज्यादा से ज्यादा निमित्त मात्र है, अपने को निमित्त समझ ले । विद्वान हो जा, चिन्ता से मुक्त हो ।

लेकिन इसे समझ लेना । कृष्ण ने जब अर्जुन को मूढ़ भी कहा, तब भी इतना अपमान न था, जितना अब विद्वान होने के लिए कहकर हो गया है । मूढ़ कहा, तब तक भरोसा था उस पर अभी । अभी आशा थी कि उसे खींचा जा सकता है शिखर पर । उसे देखकर वह आशा छूटती जा रही है । अब वे उसे प्रलोभन दे रहे हैं विद्वान होने का । वे कह रहे हैं कि कम से कम, बुद्धिमान तो तू है ही । और बुद्धिमान पुरुष को चिन्ता का कोई कारण नहीं । क्योंकि बुद्धिमान पुरुष ऐसा मानकर चलता है कि सब चीजें बनी हैं, मिट जाती हैं । कुछ बचता ही नहीं है पीछे, बात समाप्त हो जाती है ।

रास्ते में मैं आ रहा था, तो मेरे जो सारथी, 'ड्राइव्हर' थे यहाँ लाने वाले, वे कहने लगे कि कृष्ण बड़ा अपमान करते हैं अर्जुन का! कभी मूर्ख कहते हैं, कभी नपुंसक कह देते हैं । यह बात ठीक नहीं है । अब वे बड़ा सम्मान कर रहे हैं । वे कह रहे हैं, हे महाबाहो, हे भारत, विद्वान पुरुष तो मुक्त हो जाते

हैं । तू भी विद्वान है । लेकिन मैं आपसे कहता हूँ कि अपमान अब हो रहा है। जब उसे मूढ़ कहा था, तो बड़ी आशा से कहा था कि शायद यह चिनगारी, शायद यह चोट काम कर जाय । वह ठीक 'शॉक ट्रीटमेंट' था । वह बेकार चला गया । वह ठीक 'शॉक ट्रीटमेंट', बड़ा धक्का था । अर्जुन को काफी क्रोध चढ़ा देते हैं ।

लेकिन अर्जुन को क्रोध भी नहीं चढ़ा । उसे सुनायी ही नहीं पड़ा कि कृष्ण क्या कह रहे हैं । वह अपनी ही रटे चला जाता है । तब, अब बिलकुल निराश हालत में कृष्ण कह रहे हैं । ऐसे बहुत उतार-चढ़ाव गीता में चलेंगे । कभी आशा बनती है कृष्ण को तो ऊँची बात करते हैं, कभी निराशा आ जाती है, तो नीचे उतर आते हैं । इसलिए कृष्ण भी, इसमें जो बहुत सी बातें करते हैं, वह एक ही तल पर कही गयी बातें नहीं हैं । कृष्ण भी चेतना के बहुत से सोपानों पर बात करते हैं । अथक् चेष्टा करते हैं कि अर्जुन कहीं से भी उस यात्रा को निकल जाय, जो अमृत को और प्रकाश को उसके अनुभव में ला दे।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन–
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।। २९ ।।

और हे अर्जुन, यह आत्मतत्त्व बड़ा गहन है, इसलिए कोई (महापुरुष) ही इस आत्मा को आश्चर्य की तरह देखता है और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही आश्चर्य की तरह इसके तत्त्व को कहता है और दूसरा कोई ही इस आत्मा को आश्चर्य की तरह सुनता है और कोई सुनकर भी इस आत्मा को नहीं जानता ।

भगवान् श्रीः बड़ी अद्‌भुत बात है । एक तो कृष्ण कहते हैं, इस आत्मा की दिशा में किसी भी मार्ग से गति करने वाला एक आश्चर्य है––एक 'मिरेकल', एक चमत्कार । किसी भी दिशा से आत्मा की तरफ उन्मुख होने वाला एक चमत्कार है । क्योंकि करोड़ों-करोड़ों में कभी कोई एक उस ऊँचाई की तरफ आँख उठाता है, अन्यथा हमारी आँखें तो जमीन में गड़ी रह जाती हैं, आकाश की तरफ कभी उठती ही नहीं । नीचाइयों में उलझी रह जाती हैं, ऊँचाइयों की तरफ हमारी आँख की कभी उड़ान नहीं होती । कभी हम पंख नहीं फैलाते आकाश की तरफ । कभी करोड़ों–करोड़ों में कोई एक आदमी उस यात्रा पर

जाता है। इस जगत् में सबसे बड़ा आश्चर्य शायद यही है कि कभी कोई आदमी स्वयं को जानने के लिए आतुर और पिपासु होता है । होना नहीं चाहिए ऐसा। लेकिन है ऐसा।

मैं कौन हूँ ? यह कोई पूछता ही नहीं। होना तो यह चाहिए कि यह बुनियादी प्रश्न होना चाहिए प्रत्येक के लिए। क्योंकि जिसने अभी यह भी नहीं पूछा कि मैं कौन हूँ, उसके और किसी बात के पूछने का क्या अर्थ है ? और जिसने अभी यह भी नहीं जाना कि मैं कौन हूँ, वह और क्या जानने निकल पड़ा है ? जिसका खुद का घर अँधेरे से भरा है, जिसने वहाँ भी दिया नहीं जलाया, उससे ज्यादा आश्चर्य का आदमी नहीं होना चाहिए।

लेकिन कृष्ण बड़ा व्यंग करते हैं, वे बड़ी मजाक करते हैं। बहुत 'ग्रायरॉनिकल' स्थिति में हैं। वे कहते हैं, अर्जुन, बड़े आश्चर्य की बात है कि कभी करोड़ों-करोड़ों में कोई एक ग्रादमी ग्रात्मा के संबंध में खोज पर, जानने पर निकलता है। लेकिन पीछे और एक मजेदार बात कहते हैं...लेकिन वह ग्रात्मा सोचने-समझने, मनन से नहीं उपलब्ध होता है । विचार से नहीं उपलब्ध होता है। एक तो यही आश्चर्य है कि मुश्किल से कभी कोई उसके संबंध में विचार करता है। लेकिन विचार करने वाला भी उसे पा नहीं लेता। **पाता तो उसे वही है, जो विचार करते-करते विचार का भी अतिक्रमण कर जाता है।** जो विचार करते-करते वहाँ पहुँच जाता है, जहाँ विचार कह देता है: बस, ग्रब आगे मेरी गति नहीं है।

एक तो करोड़ों में कभी कोई विचार शुरू करता है, और फिर उन करोड़ों में जो विचार करते हैं, कभी कोई एक विचार की सीमा से आगे जाता है। और विचार की सीमा के आगे जाये बिना, उसका कोई अनुभव नहीं। क्योंकि ग्रात्मा का होना विचार के पूर्व है। आत्मा विचार के पीछे और पार है। विचार ग्रात्मा के ऊपर उठी हुई लहरें हैं, तरगें हैं। विचार आत्मा की सतह पर दौड़ते हुए हवा के झोके हैं। विचार से आत्मा को नही जाना जा सकता। आत्मा से विचारों को जाना जा सकता है, क्योंकि विचार ऊपर है, आत्मा नीचे है। विचार को आत्मा से जाना जा सकता है, विचार से ग्रात्मा को नहीं जाना जा सकता। मैं अपने हाथ से इस रूमाल को पकड़ सकता हूँ, लेकिन इस ख्याल से ग्रपने हाथ को नहीं पकड़ सकता। हाथ पीछे है, विचार वहुत ऊपर है।

एक जगत् है हमारे बाहर, वस्तुओं का। वह बाहर है। फिर हमारे भीतर

एक जगत् है, विचारों का, लेकिन वह भी बाहर है। हम उसके भी पीछे हैं। हमारे बिना वह नहीं हो सकता। हम उसके बिना भी हो सकते हैं। रात जब बहुत गहरी नींद में सो गये होते हैं, सुषुप्ति में, तब कोई विचार नहीं रह जाता। लेकिन आप होते हैं। सुबह कहते हैं, स्वप्न भी नहीं था, विचार भी नहीं था, बड़ी गहरी थी नींद। लेकिन आप तो थे। **विचार के बिना आप हो सकते हैं।** लेकिन कभी ग्रापका विचार आपके बिना नहीं हो सकता। वह जो पीछे है, वह विचार को जान सकता है, लेकिन विचार उसे नहीं जान सकते।

लेकिन हम विचार से ही जानने की कोशिश करते हैं। पहले तो हम जानने की कोशिश ही नहीं करते। वस्तुओं को जानने की कोशिश करते हैं। वस्तुओं से किसी तरह, करोड़ों में एक का छुटकारा भी होता है, तो वह विचारों में उलझ जाता है। क्योंकि वस्तुओं के बाद विचारों का जगत् है। विचार से भी किसी का छुटकारा हो, तो स्वयं को जान पाता है।

इसलिए कृष्ण कहते हैं: चिन्तन से, मनन से, ग्रध्ययन से, सुनकर उसे नहीं जाना जा सकता। एक और मजे की बात उन्होंने इसमें कही है कि आश्चर्य है कि कोई आत्मा के संबंध में समझायेगा, उपदेश देगा। पहली तो बात इसलिए आश्चर्य है कि कोई आत्मा के संबंध में उपदेश दे; क्योंकि ग्रात्मा किसी की भी ग्रावश्यकता नहीं है, 'नो वन्स नेसेसिटी'। उपदेश सुनेगा कौन ?

बाजार में वही चीज बिक सकती है, जो किसी को जरूरत हो । आत्मा किसी की भी जरूरत नहीं है। इसलिए जो ग्रात्मा के संबंध में उपदेश देने की हिम्मत करता है, वह कोई पागल आदमी है। जिस चीज को कोई लेने को तैयार नहीं, उसे बेचने कौन समझदार निकल पड़ेगा !

कृष्ण को खुद भी समझ में ग्रा रहा होगा कि अर्जुन की जो माँग नहीं, जो उसकी 'डिमाण्ड' नहीं, वे उसकी सप्लाई कर रहे हैं। वह बेचारा कुछ और मांगता है। वह मांग रहा है 'स्केप', वह माँग रहा है पलायन, वह माँग रहा है 'कॉन्सोलेशन', वह माँग रहा है सांत्वना। वह कह रहा है, मुझे किसी तरह बचाओ, निकालो इस चक्कर से । वह आत्मा वगैरह की बात नहीं कर रहा है।

ग्रात्मा किसी की जरूरत नहीं है, इसलिए आश्चर्य है कि क्यों कभी कोई आदमी आत्मा को बेचने निकल जाता है? पर कुछ लोग सनकी होते ही हैं, वे आत्मा को भी समझाने लगते हैं। यही तो ग्राश्चर्य है कि कोई समझने को जिसे तैयार नहीं है, फिर भी समझाने वाले लोग होते हैं।

अभी मैं एक ईसाई बिशप की जीवनी पढ़ रहा था। कीमती आदमी था। सारे योरोप के ईसाई पादरियों का एक सम्मेलन था, तो उस बिशप ने, उस पादरियों के सम्मेलन में यह कहा। उनसे पूछा कि मैं तुमसे यह पूछना चाहता हूँ कि चर्चों में जब तुम बोलते हो, तो लोग सिर्फ ऊबे हुए मालूम पड़ते हैं। 'बोर्ड' मालूम पड़ते है। अधिक तो सोये मालूम पड़ते हैं। कोई रस लेता नहीं मालूम पड़ता और लोग बार-बार घड़ी देखते हैं। कारण क्या है? उत्तर वे बिशप नहीं दे सके, जो इकट्ठे थे। तब जिसने पूछा था, उस फकीर ने खुद ही कहा, मैं समझता हूँ कि कारण यह है कि तुम उन प्रश्नों के उत्तर दे रहे हो, जो कोई पूछता ही नहीं, जो किसी के प्रश्न ही नहीं हैं।

तो पहला तो आश्चर्य यह है कि कोई आत्मा को समझाने की हिम्मत करे। बड़ा 'करेजियस' है मामला कि कोई आत्मा की दुकान खोल दे, कोई ग्राहक मिलने की उम्मीद नहीं होने पर भी। और दूसरा इस कारण भी आश्चर्य है कि आत्मा ऐसा तत्त्व है, जो समझाया नहीं जा सकता। कोई उपाय जिसे समझाने का नहीं है। इसलिए कृष्ण या कबीर या बुद्ध या मुहम्मद या नानक-- इनकी तकलीफ है। इनकी भी उलझन बड़ी गहरी है। कुछ इन्होंने जाना है, जो ये चाहेंगे कि सबको जना दें। वे यह चाहेंगे कि जो उन्हें मिला है, सबको मिल जाय। जो आनन्द की वर्षा और अमृत का सागर इनमें उतर आया है, वह सब में उतर आये।

लेकिन समझाने में बड़ी मुश्किल है। शब्द बेकार हैं। जिसे विचार से जाना नहीं, उसे विचार से कहेंगे कैसे! और जिसे शब्द छोड़कर जाना, उसे शब्द से प्रगट कैसे करेंगे! तो आश्चर्य इसलिए भी है कि वह कहा नहीं जा सकता, फिर भी कहना ही पड़ेगा। फिर भी कहना ही पड़ा है। इसलिए एक और 'एबसर्ड', बिलकुल असंगत घटना दुनिया में घटी कि बुद्ध कहते हैं, कहा नहीं जा सकता। और जितना बुद्ध बोलते हैं, उतना कोई आदमी नहीं बोलता। और कृष्ण कहते हैं, समझाया नहीं जा सकता, और समझाये चले जा रहे हैं। और महावीर कहते हैं, वाणी के बाहर है, शब्द के बाहर है। लेकिन यह भी तो वाणी से और शब्द से ही कहना पड़ता है।

विटगेन्स्टीन ने अपने 'टेक्टेटस' नामक पुस्तक में एक वाक्य लिखा है, 'दैट व्हिच केन नॉट बी सैड, मस्ट नॉट बी सैड', जो नहीं कहा जा सकता, वह नहीं ही कहना चाहिए। लेकिन विटगेन्स्टीन की बात अगर कृष्ण महावीर और बुद्ध मान लें, तो यह दुनिया बहुत गरीब होगी। यह बहुत दीन और दरिद्र होगी

तो मैं तो कहना चाहूँगा कि 'दैट व्हिच कैन नॉट बी सैड, मस्ट बी सैड', जो नहीं कहा जा सकता, उसे भी कहना ही चाहिए।

नहीं कहा जा सकेगा, यह पक्का है। लेकिन नहीं कह सकने की तकलीफ में भी कुछ संवेदित हो जाएगा, कुछ 'कम्युनिकेट' हो जाएगा। नहीं कहा जा सकता, इस मुसीबत में भी कोई चीज शब्दों के बाहर और शब्दों के पार दो पंक्तियों के बीच में निवेदित हो जायेगी। उसी की चेष्टा चल रही है।

संगीत वही नहीं है, जो स्वरों में होता है, संगीत वह भी है जो दो स्वरों के बीच के मौन में होता है। वही नहीं कहा जाता, जो शब्दों में कहा जाता है, वह भी कहा जाता है जो दो शब्दों के बीच की 'साइलेंस' में, शून्य में होता है। वही नहीं सुना जाता है, जो शब्द से सुना जाता है, वह भी सुना जा सकता है जो शब्द के आसपास, इर्द-गिर्द बाहर छूट जाता है। तो कृष्ण कह रहे हैं, यह 'मिरेकल' है, चमत्कार है।

*

दसवाँ प्रवचन

प्रथम गीता ज्ञान-यज्ञ, अहमदाबाद, रात्रि, दिनांक ३ दिसम्बर. १९७०

● **प्रश्नकर्ताः** भगवान् श्री, जो अव्यक्त है, अद्वैत है, उसके मूल और आदि को मध्य के इन व्यक्त क्षणों में जानने का क्या प्रयोजन है ?

भगवान् श्रीः अव्यक्त है प्रारम्भ में, अव्यक्त है अन्त में। मध्य में व्यक्त का जगत् है। जिब्रान ने कहीं कहा हैः एक अंधेरी अमावस की रात में, एक छोटे से झोपड़े में मैं बैठा था। मिट्टी का एक दिया जला था, टिमटिमाती थोड़ी सी रोशनी थी। द्वार के बाहर सब ओर अन्धकार था। केवल उस छोटे से झोपड़े में उस दिये की थोड़ी सी रोशनी थी। उसी समय एक पक्षी फड़फड़ाता हुआ झोपड़े के द्वार से प्रविष्ट हुआ, तो उसने दो या तीन चक्कर झोपड़ी के भीतर टिमटिमाती रोशनी में लगाये, और पीछे के द्वार से बाहर हो गया। जिब्रान ने उस रात अपनी डायरी में लिखा कि उस पक्षी को अँधेरे से प्रकाश में दो क्षण के लिए आते देखकर, फिर प्रकाश में दो क्षण फड़फड़ाते देखकर और फिर गहन अन्धकार में खो जाते देखकर मुझे लगा कि जीवन भी ऐसा ही है।

अव्यक्त है प्रारम्भ में, अव्यक्त है अंत में; बीच में दो क्षण को व्यक्त की फड़फड़ाहट है। दो क्षण के लिए वह जो 'मैनिफेस्टेड' है, वह जो प्रगट है, उसमें फूल खिलते हैं, पत्ते आते हैं, जीवन हँसता है, फिर रोता है और फिर खो जाता है। **अव्यक्त में अद्वैत है—पहले भी, अंत में भी, दोनों ओर। मध्य में द्वैत है। द्वैत ही नहीं है, अनेकत्व है।** दो ही नहीं, अनेक हैं। सब चीजें पृथक-पृथक मालूम पड़ती हैं। तो पूछ रहे हैं, उस अपृथक को, उस अभिन्न को, उस एक को, उस अद्वैत को, उस मूल और आदि को, मध्य के इन व्यक्त क्षणों में जानने का क्या कोई प्रयोजन है ? निश्चित ही है।

एक वृक्ष के नीचे खड़े हैं। पत्ते हवाओं में हिल रहे हैं। सूरज की रोशनी में पत्ते चमक रहे हैं। एक-एक पत्ता, अलग-अलग मालूम होता है। अगर पत्ते सचेतन हो जायँ, अगर एक-एक पत्ता होश से भर जाय, तो सोच भी न पायेगा कि साथ का यह जो पड़ोसी पत्ता है वह और मैं कहीं एक हैं। कहीं नीचे शाखा पर जुड़े हैं। पड़ोस में हिलते हुए पत्ते को देखकर जागा हुआ, होश में आ गया पत्ता सोचेगा, कोई पराया है।

सोचना ठीक भी है। तर्क-युक्त भी है। क्योंकि पड़ोस में कोई पत्ता बूढ़ा हो रहा है। और यह पत्ता तो अभी जवान है। अगर वे दोनों एक होते, तो दोनों एक साथ बूढ़े हो गये होते। पड़ोस में कोई पत्ता गिरने के करीब है, पीला होकर सूख कर गिर रहा है। गिर गया है कोई, जमीन पर सूखा पड़ा है, हवाओं में उड़ रहा है। अगर वह इस पत्ते से एक होता तो वह वृक्ष पर और जिससे एक है, वह पृथ्वी पर कैसे हो सकता था? वह हरा है, कोई सूख गया। वह जवान है, कोई बूढ़ा हो गया। कोई अभी बच्चा है, किसी के अभी कोंपल फूटते हैं। उस पत्ते का सोचना ठीक ही है कि वह अलग है।

लेकिन काश! यह पत्ता बाहर से न देखे। अभी बाहर से देखता है, देखता है दूसरे पत्ते को। काश! यह पत्ता अपने भीतर देख सके और भीतर उतरे, तो क्या बहुत दूर वह रस-धार है, जहाँ से ये दोनों पत्ते जुड़े है! वह भी जो बूढ़ा, वह भी जो जवान, वह भी जो आ रहा है, वह भी जो जा रहा है, क्या वह रस-धार उनसे बहुत दूर है? यह पत्ता अपने भीतर उतरे, स्वयं में उतरे, तो शाखा को जरूर ही देख पायेगा, जान पायेगा उसे जहाँ से सब पत्ते निकले हैं। लेकिन फिर वह शाखा भी समझ सकती है कि दूसरी शाखा से अन्य है, भिन्न है। वह शाखा भी भीतर उतरे तो उस वृक्ष को खोज लेने में बहुत कठिनाई नहीं है, जहाँ सभी शाखाएँ जुड़ी हैं। लेकिन वह वृक्ष भी सोच सकता है कि पड़ोस में खड़ा हुआ वृक्ष और है, वह अन्य है। लेकिन वह वृक्ष भी नीचे उतरे तो क्या उस पृथ्वी को खोजना बहुत कठिन होगा, जिस पर कि दोनों वृक्ष जुड़े हैं और एक रस-धार से ही जीवन पाते हैं। पृथ्वी भी सोचती होगी कि दूसरे ग्रह-मण्डल, तारे, चाँद, सूरज अलग हैं। पृथ्वी भी अपने भीतर उतर सके कि जैसे पत्ते ने उतर कर जाना, वैसे पृथ्वी भी जानती कि सारा ब्रह्माण्ड भीतर एक से जुड़ा है!

दो ही रास्ते हैं देखने के। एक रास्ता है जो 'तू' से शुरू होता है, और एक रास्ता है जो 'मैं' से शुरू होता है। जो रास्ता 'तू' से शुरू होता है, वह

अनेक के दर्शन में ले जाता है, जो रास्ता 'मैं' से शुरू होता है। वह एक के दर्शन में ले जाता है। जो 'तू' से शुरू होता है, वह अनमेनिफेस्टेड में नहीं ले जायेगा, वह अव्यक्त में नहीं ले जायेगा, वह व्यक्त में ही ले जायेगा। क्योंकि दूसरे के 'तू' को हम बाहर से ही छू सकते हैं। उसकी आंतरिक गहराइयों में उतरने का कोई उपाय नहीं। हम उसके बाहर ही घूम सकते हैं। भीतर तो हम सिर्फ स्वयं के ही उतर सकते हैं। इसलिए प्रत्येक के भीतर वह सीढ़ी है जहाँ से वह उतर सकता है वहाँ, जहाँ अब भी अव्यक्त है। सब व्यक्त नहीं हो गया, सब कभी व्यक्त हो भी नहीं सकता। अनंत है अव्यक्त, क्योंकि जो अद्वैत है वह अनंत भी होगा और जो व्यक्त है वह सीमित ही होगा।

व्यक्त की सीमा है, अव्यक्त की कोई सीमा नहीं है। जो अव्यक्त है वह अनंत है, वह अभी भी है। उस बड़े सागर पर बस, एक लहर प्रगट हुई। उस लहर ने सीमा बना ली। वह सागर असीम है, लेकिन अगर एक लहर दूसरी लहर को देखे, तो सागर तक कभी नहीं पहुँच पायेगी। दूसरी लहर से सागर तक पहुँचने का कोई भी उपाय नहीं है। क्योंकि दूसरी लहर के भीतर ही पहुँचने का कोई उपाय नहीं है। हम सिर्फ अपने ही भीतर सकते उतर सकते हैं। और अपने ही भीतर उतर कर सबके भीतर उतर सकते हैं। स्वयँ में उतरना पहली सीढ़ी है, स्वयं में उतरते ही सर्व में उतरना हो जाता है।

यह बड़े मजे की बात है कि जो दूसरे में उतरता है, उसको लगता है कि मैं ही हूँ। और जो 'मैं' में उतरता है, उसे लगता है, 'मैं' नहीं हूँ, सर्व है। 'मैं' की सीढ़ी पर उतरते ही पता चलता है कि मैं भी खो गया, सर्व ही रह गया। लेकिन हम जीवन में सदा दूसरे से, 'द अदर' से शुरू करते हैं। क्योंकि दूसरे से ही हम सब सोचते हैं। अपने को छोड़कर ही हम चलते हैं, उसको हमेशा बाद किये जाते हैं। जन्मों-जन्मों तक एक चीज को हम छोड़ते चले जाते हैं, 'निगलेक्ट' किये जाते हैं, एक चीज के प्रति हमारी उपेक्षा गहन है—स्वयं को हम सदा ही छोड़कर चलते हैं। सब जोड़ लेते हैं, सब हिसाब में ले लेते हैं। सब, वह एक, जो अपना होता है, उसे हिसाब के बाहर रखते हैं।

वेई वू वेई ने एक किताब लिखी है, 'द टैंथ मैन', दसवां आदमी! और बहुत पुरानी भारतीय कथा से वह किताब शुरू की है। उस कहानी से हम सब परिचित

हैं कि दस आदमियों ने नदी पार की । वर्षा थी, बाढ़ थी । नदी पार उतर कर सहज ही उन्होंने सोचा कि कोई बह न गया हो । फिर उन्होंने गिनती की। निश्चित ही गिनती उन्होंने वैसी ही की जैसी हम करते हैं। लेकिन बड़ी मुश्किल हो गयी । थे तो दस, लेकिन गिनती में नौ ही निकले । एक ने की, दूसरे ने की, तीसरे ने की, फिर 'कन्फर्म' हो गया कि नौ ही बचे हैं, एक खो गया ।

सभी की जिन्दगी का ढंग एक ही था, हम सभी का है । प्रत्येक ने स्वयँ को छोड़कर गिना । गिनती नौ हुई । अब वह जो एक खो गया, उसके लिए बैठकर सभी रोने लगे । यह भी पक्का पता नहीं चलता था कि वह कौन खो गया ? ऐसे शक भी होता है कि कोई नहीं खोया । लेकिन शक ही है, क्योंकि गणित कहता है कि खो गया है । अब गणित इतना प्रमाणित मालूम होता है कि सबको अलग ही हटा देना उचित है । रो लेना भी उचित है, क्योंकि जो खो गया मित्र, उसके लिए अब और तो कुछ कर नहीं सकते, वहां बैठकर एक वृक्ष के नीचे वे रोते हैं ।

वहाँ से एक फकीर गुजरा है । उसने पूछा, क्या हुआ ? क्यों रोते हो ? उन्होंने कहा, एक साथी खो गया है । दस चले थे उस पार से, अब गिनते हैं तो नौ ही हैं इस पार ! वे फिर छाती पीट-पीट कर रोते लगे । उस फकीर ने नजर डाली और देखा कि वे दस ही हैं । वह फकीर संसारी आदमी की बुद्धि और संसारी आदमी के गणित को भलीभाँति जानता था। जानता था कि संसारी की भूल एक है। वही भूल दिखता है, हो गयी है । उसने कहा, जरा फिर से गिनो, लेकिन एक काम करो, मैं एक-एक आदमी के गाल पर चाँटा मारता चलता हूँ । जिसको मैं चांटा मारूँ, वह बोले एक, दूसरे को मारूँ तो दो, तीसरे को मारूँ तो तीन। मैं चाँटा मारता चलता हूँ । चाँटा इसलिए ताकि तुम याद रखो कि तुम छूट नहीं गये हो।

बड़ी हैरानी हुई, गिनती दस तक पहुंच गयी । वे बड़े चकित हुए और उन्होंने कहा, क्या चमत्कार किया ? यह गिनती दस तक कैसे पहुँची ? हमने बहुत गिना, लेकिन नौ पर ही पहुंचती थी ।

उस फकीर ने कहा कि दुनिया में गिनने के दो ढंग हैं। दुनिया में दो तरह के गणित हैं। एक गणित जो 'तू' से शुरू होता है और एक गणित जो 'मैं' से शुरू होता है। जो गणित 'तू' से शुरू होता है, वह गणित कभी भी अव्यक्त

में नहीं ले जायेगा । नहीं ले जायेगा इसलिए कि 'तू' के भीतर प्रवेश का द्वार नहीं है । जो गणित 'मैं' से शुरू होता है, वह अव्यक्त में ले जाता है । इसलिए धर्म की परम अनुभूति परमात्मा है । और धर्म का प्राथमिक चरण आत्मा है। आत्मा से शुरू करना पड़ता है, परमात्मा पर पूर्णता होती है । स्वयँ से चलना पड़ता है, सर्व में निष्पत्ति होती है । तो अपने भीतर से गिनती शुरू करें। अभी आपके भीतर अव्यक्त मौजूद है । झांकते ही नहीं वहाँ, यह दूसरी बात है । आपके भीतर अव्यक्त मौजूद है ।

इसे थोड़ा समझ लेना उचित होगा कि अव्यक्त आपके भीतर कैसे है ? आपके ठीक पैरों के नीचे है । जमीन पर आप खड़े हैं, वहीं थोड़े ही दो कदम नीचे । चले नहीं कि अव्यक्त मौजूद है । कौन चला रहा है आपकी श्वांस को ?आप? तो जरा बन्द करके देखें, तो पता चलेगा, आप नहीं चला रहे हैं । जरा रोकें तो पता चल जायेगा कि आप नहीं चला रहे हैं। श्वांस धक्के देगी और चलेगी, तब आपको पता चलेगा, आपके नीचे भी कोई और गहरे में इसे चला रहा है । खून चल रहा है चौबीस घंटे, आप नहीं चला रहे हैं । आपने कभी चलाया नहीं, चलाना पड़ता तो बहुत मुश्किल में पड़ जाते । वह काम ही इतना होता कि और कोई काम न बचता । मिनट दो मिनट भी चूक जाते, भूल जाते तो समाप्ति हो जाती । वह श्वांस आदमी द्वारा अगर होती चलाने की, तो दुनिया में आदमी बचता नहीं, कभी का समाप्त हो गया होता । एक क्षण चूके कि गये । नहीं, आप सोये रहें, बेहोश पड़े रहें, शराब पिये पड़े रहें, श्वाँस चलती रहेगी, खून दौड़ता रहेगा ।

खाना तो आप खा लेते हैं, पचाता कौन है ? आप ? अभी तक बड़ी से बड़ी वैज्ञानिक प्रयोगशाला रोटी को खून में बदलने में समर्थ नहीं हो पायी है । और वैज्ञानिक कहते हैं कि आदमी का छोटा सा पेट जो करता है, अगर किसी दिन हम समर्थ हुए, तो कम से कम सैकड़ों मील जगह घेरे, इतनी बड़ी फैक्टरी और लाखों लोग काम करें, इतना इन्तजाम, एक आदमी के पेट में जो हो रहा है, उसके लिए करना पड़ेगा । लेकिन उन्हें पक्का नहीं है कि यह हो सकेगा । खून को, श्वाँस को, कौन चला रहा है ?आप ? निश्चित ही एक बात पक्की है कि आप नहीं चला रहे । आपके भीतर अव्यक्त, आपके भीतर छिपी हुई कोई ताकत, आपके 'मैं' की सीमा के पार कोई ताकत उसे चला रही है ।

आप सोते हैं रोज, लेकिन इस भ्रांति में मत पड़ना कि आप सोते हैं, क्योंकि सोना कोई 'ऐक्ट' नहीं है, कोई क्रिया नहीं है । भाषा में है । भाषा से

कोई लेना-देना नहीं है। सोना बिलकुल ही क्रिया नहीं है। क्योंकि जिसको नींद नहीं आती है, उसको भलीभाँति पता है कि कितनी ही करवट बदलता है, कितने ही उपाय करता है, नींद नहीं आती, नहीं आती। सच तो यह है कि जितने उपाय करता है, उतनी ही नहीं आती। और अगर कभी आती है तो उसके उपाय की वजह से नहीं आती, उपाय कर-कर के थक गया होता है तब आती है। नींद ला नहीं सकते आप कि ले आयें। कहाँ से आती है? आपके भीतर अव्यक्त से आती है। मनोवैज्ञानिक से पूछें, यदि उसे थोड़ी सी समझ हो उस अव्यक्त की, तो उसे वह अनकांसस कह रहा है। वह कह रहा है, अचेतन से आती है।

पैर पर चोट लग गयी है। तत्काल मवाद से भर जाता है घाव। आपने कुछ किया? आपने कुछ भी नहीं किया। फिर भी पता नहीं, पूरे शरीर से जीवाणु दौड़कर उस घाव के पास पहुँच जाते हैं। जिसको आप मवाद कहते हैं, वह मवाद नहीं है। वह उन जीवाणुओं की पर्त है, जो तत्काल उसको चारों तरफ से घेर लेते हैं, बाहर के जगत् से सुरक्षा देने के लिए। चमड़ी तो टूट गयी है, दूसरी पर्त चाहिए। वह पर्त उसे घेर लेती है और भीतर अव्यक्त जो घाव बन गया है, उसे तत्काल ठीक करने में लग जाता है।

साधारण चिकित्सक सोचता है, हम ठीक कर देते हैं इस बीमारी को, लेकिन जो असाधारण चिकित्सक हैं जगत् में, जो जरा गहरे उतरें हैं मनुष्य की बीमारी में, वे कहते हैं नहीं, ज्यादा से ज्यादा हम थोड़ा सा सहयोग पहुंचाते हैं, इतना भी कहना अतिशयोक्ति है। शायद इतना ही उचित है कि हम थोड़ी सी बाधाएँ अलग करते हैं। बाकी 'हीलिंग फोर्स' भीतर से आती है।

अब तो जो मनोवैज्ञानिक गहरे उतर रहे हैं, वे कहते हैं, अगर एक आदमी के भीतर से जीने की इच्छा चली जाती है, तो घाव भरना मुश्किल हो जाता है। अगर एक आदमी के भीतर से जीवन की इच्छा चली गयी है, तो बीमारी को चिकित्सा ठीक नहीं कर पाती। क्योंकि अव्यक्त ने जीने की जो शक्ति थी, वह देनी बन्द कर दी, वापस ले ली। बूढ़े आदमी के शरीर में कोई बुनियादी फर्क नहीं हो गये होते हैं। लेकिन अव्यक्त सिकुड़ने लगता है। वह शक्ति वापस लौटने लगती है। उतार शुरू हो गया। अगर हम अपने भीतर थोड़ा झांकें, तो हमें पता चलेगा कि हम, जहाँ जी रहे हैं, वह शायद किसी एक बहुत बड़ी ऊर्जा का ऊपरी शिखर है। बस, उस शिखर से ही हम परिचित हैं, उसके पीछे हम बिलकुल परिचित नहीं हैं। उसके पीछ अव्यक्त अभी भी

मौजूद है। सभी व्यक्त घटनाओं के पीछे अव्यक्त मौजूद है। सभी दृश्य-घटनाओं के पीछे अदृश्य मौजूद है। सभी चेतन घटनाओं के पीछे अचेतन मौजूद है। सभी दिखायी पड़ने वाले जगत् और रूप के पीछे अरूप मौजूद है। **जरा रूप की पर्त में गहरे उतरें। कैसे उतरें, क्या करें?**

दूसरे को भूलें। बहुत कठिन है। आँख बन्द करो तो भी दूसरा ही याद आता है। आँख बन्द करो तो भी दूसरा ही दिखायी पड़ता है। आँख बन्द करो तो भी दूसरे से ही मिलना होता रहता है। दूसरे से 'आब्सेस्ड' हैं, दूसरे से रुग्ण हैं। दूसरा है कि पीछा छोड़ता ही नहीं। बस, चित्त में घूमता ही चला जाता है। **यह जो 'दूसरे की' भीतर भीड़ है, इसे बिदा करें।**

बिदा करने का उपाय है। इस भीड़ के प्रति साक्षी का भाव करें। भीतर आँख बन्द करके, वह जो दूसरों के प्रतिबिम्ब हैं उनके साक्षी भर रह जायँ। देखते रहें, कुछ कहें मत। न पक्ष लें, न विपक्ष लें। न प्रेम करें, न घृणा करें। न किसी चित्र को कहें: आओ, न किसी चित्र को कहें: जाओ। चुप बैठे रह जायँ और देखते रहें। देखते रहें, देखते रहें। धीरे-धीरे चित्र बिदा होने लगते हैं, क्योंकि जिन मेहमानों को आतिथ्य देखता ही रहे, वे मेहमान ज्यादा देर नहीं टिक सकते। मित्रता दिखायें तो ही टिक सकते हैं, शत्रुता दिखायें तो भी आ सकते हैं। कुछ भी न दिखायें तो उनका टिकना मुश्किल है।

बुद्ध ने एक सूत्र दिया है, 'उपेक्षा'। बस, रह जायँ, कुछ भी भाव न दिखायें। न पक्ष, न विपक्ष। तो धीरे-धीरे दूसरे के चित्र बिखर जाते हैं। विचार खो जाते हैं। और जिस क्षण भी दूसरे के चित्र नहीं होते, उसी क्षण स्वयं के होने का बोध पहली दफा उतरता है। जिस क्षण दूसरा आपके भीतर मौजूद नहीं है, उसी क्षण अचानक आपको अपनी 'प्रेंजेंस' का, अपने होने का अनुभव होता है। कहीं से कोई झरना फूट पड़ता है। जैसे पत्थर रखा था 'दूसरे' का झरने के ऊपर, वह हट गया और झरने की धारा फूट पड़ी। आप पहली दफा अपनी 'प्रेंजेंस' को, अपने होने को, अपने अस्तित्व को अनुभव करते हैं और अव्यक्त में यात्रा शुरू हो जाती है। उसके आगे आपको कुछ नहीं करना है।

एक आदमी छत से कूद जाय। कूद जाय तब तो ठीक है। लेकिन कूदने से पहले पूछे कि मैं छत से कूद तो जाऊँगा, लेकिन जमीन तक आने के लिए क्या करूँगा? हम कहेंगे, तुम कुछ करना मत, बाकी काम जमीन कर लेगी। तुम छत से कूद भर जाना, बाकी काम जमीन पर छोड़ देना। उसका 'ग्रेविटेशन' है,

उसकी अपनी कशिश है, उसका गुरुत्वाकर्षण है, वह तुम्हें खींच लेगा। तुम सिर्फ एक कदम छत से उठा लेना। बस, 'दूसरे' से एक कदम उठा लेना आप, बाकी अव्यक्त खींच लेगा। उसकी अपनी ग्रेविटेशन है। उससे बड़ी कोई ग्रेविटेशन नहीं है। उससे बड़ी कशिश दूसरी नहीं है। वह खींच लेगा। लेकिन हम 'दूसरे' को पकड़े हैं। वह दूसरे को पकड़े होने की वजह से ही दूसरे के साथ हम इतने जोर से चिपके हुए हैं कि वह द्वार ही नहीं खुल पाता, जहाँ से अव्यक्त हमें पुकार ले, खींच ले, और बुला ले और अपने में डुबा ले।

एक बार अव्यक्त में डूब कर लौटें, तो फिर 'दूसरे' में भी 'वही' दिखायी पड़ेगा, जो स्वयं में दिखायी पड़ा है। क्योंकि दूसरे को हम वहीं तक जानते हैं, जितना हम स्वयं को जानते हैं। जिस दिन आपको अपने भीतर अव्यक्त दिखायी पड़ जायेगा, वह 'इटरनल एबिस, वह अंतहीन खाई अव्यक्त की अपने भीतर मुंह खोलकर दिखायी पड़ जायेगी, उस दिन प्रत्येक आंख में और प्रत्येक चेहरे में वही अव्यक्त दिखायी पड़ना शुरू हो जायेगा। और फिर पत्ते में, फूल में, और आकाश में, सब तरफ उस अव्यक्त की मौजूदगी का अनुभव होने लगता है।

यात्रा का पहला कदम स्वयं के भीतर है। उपेक्षा या साक्षी, 'अवेयरनेस' या कोई भी नाम दें, कुछ भी नाम दें—'दूसरे' के जो चित्र भीतर हैं, दूसरे के जो प्रतिबिम्ब भीतर हैं, उनके प्रति होश से भर जायं और कुछ मत करें, तो वे गिर जाते हैं। कुछ किया कि वे पकड़ लेते हैं। कुछ मत करें और अचानक आप पायेंगे कि घटना घट गयी और आप अव्यक्त में उतर गये।

कृष्ण उसी अव्यक्त की बात कर रहे हैं। वह पहले भी था, बाद में भी है, अभी भी है। सिर्फ व्यक्त से ढँका है। जरा व्यक्त के पर्त के नीचे जायं और वह प्रगट हो जाता है।

● **प्रश्नकर्ताः** हम अगर जीने की इच्छा छोड़ दें तो क्या अव्यक्त सिकुड़ना शुरू होता है या अव्यक्त का सिकुड़ना शुरू होता है स्थिति और प्रभाव के अनुसार? प्रश्न यह है कि आरंभ कहाँ से होता है?

भगवान् श्रीः जीवन की इच्छा हम छोड़ दें तो अव्यक्त सिकुड़ना शुरू हो जाता है या अव्यक्त सिकुड़ना शुरू हो जाता है, इसलिए हम जीवन की इच्छा छोड़ देते हैं, ये अगर दो घटनाएं होतीं, तो मैं कोई उत्तर दे पाता। ये दो घटनाएँ नहीं हैं। यह 'साइमल्टेनियस', युगपत घटना है। अव्यक्त का सिकुड़ना और

हमारे जीने की इच्छा छोड़ देना, एक ही घटना है। हमारा जीने की इच्छा छोड़ देना और अव्यक्त का सिकुड़ना भी एक ही घटना है, क्योंकि हम अव्यक्त से पृथक नहीं हैं, हम उससे अन्य नहीं हैं। हम उससे दूसरे नहीं हैं, यह एक ही चीज है। हाँ, हमें सबसे पहले जो पता चलता है, उसमें फर्क हो सकता है। अस्तित्व में दोनों एक चीज हैं। पता चलने में फर्क हो सकता है। एक आदमी को पहले पता चल सकता है कि मेरी जीवन की इच्छा मरती जाती है। एक आदमी को पता चल सकता है कि मेरी तो कोई इच्छा मरी नहीं, लेकिन भीतर कुछ सिकुड़ना शुरू हो गया है। यह आदमियों पर निर्भर करेगा कि उनकी कहाँ से शुरूआत होगी।

अगर कोई आदमी निरंतर अहंकार में ही जिया है, तो उसकी प्रतीति और होगी। और कोई आदमी निरंतर निरंहकार में जिया है, तो उसकी प्रतीति और होगी। वह प्रतीति अहंकार के अस्तित्व पर निर्भर करेगी, घटना के अस्तित्व पर नहीं। घटना तो एक ही है। वे घटनाएं दो नहीं हैं। लेकिन हम तो अहंकार में ही जीते हैं। इसलिए साधारणतः जब जीवन सिकुड़ना शुरू होता है, अस्तित्व जब डूबना शुरू होता है, जब जीवन झुकना शुरू होता है, तो हमें ऐसा ही लगता है कि मैं सिकुड़ रहा हूँ। बूढ़े आदमी कहते सुने जाते हैं कि अब जीने की कोई इच्छा न रही। अब जीना नहीं चाहते। अब तो मौत ही आ जाय तो अच्छा है। लेकिन अभी भी वे यह कह रहे हैं कि अब जीने की कोई इच्छा न रही, जैसे कि अपनी इच्छा से अब तक जीते थे। लेकिन सब चीजों को अपने से बाँध कर देखा है, तो इसको भी अपने से ही बाँधकर वे देखेंगे। हमारी स्थिति करीब-करीब ऐसे ही है।

मैंने सुना है कि जगन्नाथ की रथ-यात्रा में रथ-यात्रा चल रही है। हजारों लोग रथ को नमस्कार कर रहे हैं। एक कुत्ता भी रथ के आगे हो लिया। उस कुत्ते की अकड़ देखते ही बनती है। ठीक कारण है। सभी उसको नमस्कार कर रहे हैं। जो भी सामने आता है, एकदम चरणों में गिर जाता है—उस कुत्ते की अकड़ बढ़ती चली जा रही है। फिर पीछे लौटकर देखता है, तो पता चलता है कि केवल सामने ही स्वागत नहीं हो रहा है, पीछे भी रथ चल रहा है। स्वभावतः जिस कुत्ते का इतना स्वागत हो, उसके पीछे रथ चलना ही चाहिए। यह रथ कुत्ते के पीछे चल रहा है। ये लोग कुत्ते को नमस्कार कर रहे हैं।

हमारा ग्रहंकार करीब-करीब जीवन की घटनाओं और पीछे अव्यक्त के चलने वाले रथ के बीच में, कुत्ते की हालत में होता है। सब नमस्कार इस 'मैं' को होते हैं, सब पीछे से घटने वाली घटनाएँ इस 'मैं' को होती हैं। लेकिन कौन इस कुत्ते को समझाये, कैसे समझाये? वह सिर्फ इस पर निर्भर करेगा कि आपने पूरे जीवन को कैसे लिया है। जब आपको भूख लगी है, तब आपने क्या यह सोचा है कि मैं भूख लगा रहा हूँ या समझा कि ग्रव्यक्त से भूख आ रही है? जब आप बच्चे से जवान हो गये हैं, तो क्या आपने समझा कि मैं जवान हो गया हूँ या समझा कि अव्यक्त से जवानी आ रही है?

यह 'इन्टरप्रिटेशन' की बात है, व्याख्या की बात है, घटना तो वही है। जो हो रही है, वही हो रही है। लेकिन कुत्ता अपनी व्याख्या करने को स्वतंत्र है। रथ चल रहा है, नमस्कार रथ को की जा रही है, लेकिन कुत्ते को व्याख्या करने से तो नहीं रोक सकते कि नमस्कार मुझे नहीं हो रही है, रथ मेरे लिए नहीं चल रहा है।

ग्रादमी जो व्याख्या कर रहा है, उसी से सभी कुछ अहंकार केन्द्रित हो जाता है, अन्यथा अहंकार को छोड़ें तो फिर दो बातें नहीं रह जातीं। एक ही बात रह जाती है, क्योंकि हम भी अव्यक्त के ही हिस्से हैं। हम ग्रगर अलग होते तब उपाय भी था, हम भी अव्यक्त के ही हिस्से हैं। हम भी जो कर रहे हैं, वह भी ग्रव्यक्त ही कर रहा है। हम भी जो सोच रहे हैं, वह भी ग्रव्यक्त ही सोच रहा है। हम भी जो हो रहे हैं, वह भी अव्यक्त ही हो रहा है।

जिस दिन हमें ऐसा दिखायी पड़ेगा, उस दिन यह सवाल नहीं बनेगा। लेकिन अभी बनेगा। क्योंकि हमें लगता है कि कुछ हम कर रहे हैं। कुछ हम कर रहे हैं, यह मनुष्य की व्याख्या है। उसी व्याख्या में ग्रर्जुन उलझा है, इसलिए पीड़ित और परेशान है। वह यह कह रहा है, मैं कैसे मारूँ इन सबको? नहीं, ये सब मेरे हैं, मैं इन्हें न मारूँगा, इससे तो बेहतर है कि मैं भाग जाऊँ। लेकिन भागना भी वही करेगा, मारना भी वही करेगा। वह कर्ता को नहीं छोड़ पा रहा है, वह 'मैं' की व्याख्या नहीं छोड़ पा रहा है। कृष्ण अगर कुछ भी कह रहे हैं, तो इतना ही कह रहे हैं कि जो व्याख्या कर रहा है 'मैं' के केन्द्र से, वह केन्द्र ही झूठा है, वह केन्द्र कहीं है ही नहीं। उसी केन्द्र के ऊपर, तू जो सब समर्पित कर रहा है, वहीं तेरी भूल हुई जा रही है।

लेकिन हमें सब चीजें दो में टूटी हुई दिखायी पड़ती हैं। एक श्वाँस मेरे भीतर ग्राती है, फिर दूसरी श्वाँस बाहर जाती है। ये दो श्वांसें नहीं हैं, एक श्वाँस है। कोई पूछ सकता है, मैं श्वाँस को बाहर निकालता हूँ इसलिए मुझे श्वाँस भीतर लेनी पड़ती है या, चूंकि श्वाँस भीतर लेता हूँ, इसलिए मुझे श्वाँस बाहर निकालनी पड़ती है? तो हम कहेंगे, भीतर जाना और बाहर जाना एक ही श्वाँस के डोलने का फर्क है। एक ही श्वाँस है। वही भीतर आती है, वही बाहर जाती है। ग्रसल में बाहर-भीतर भी दो चीजें नहीं हैं ग्रव्यक्त में। बाहर और भीतर भी अव्यक्त में एक ही चीज के दो छोर हैं। लेकिन जहाँ हम जी रहे हैं, 'मेनिफेस्टेड' जगत् में, व्यक्त जगत् में, जहां सब अनेक हो गया है, वहाँ सब भिन्न है, वहाँ सब अलग है। फिर उस ग्रलग से हमारे सब सवाल उठते हैं।

बुद्ध के पास एक व्यक्ति ग्राया है। वह बहुत सवाल पूछता है। तो बुद्ध ने कहा, ऐसा कर, तू सवालों के उत्तर ही चाहता है न? उसने कहा, उत्तर ही चाहता हूँ। बुद्ध ने कहा, और कितने लोगों से तूने पूछा है? उसने कहा, मैं बहुत लोगों से पूछ चुका हूँ, तब आपके पास आया हूँ। बुद्ध ने कहा, इतने लोगों से पूछकर तुझे उत्तर नहीं मिला, तो तुझे यह ख्याल नहीं आया कि पूछने से उत्तर मिलेगा ही नहीं। उसने कहा, यह मुझे ख्याल नहीं आया। मुझे तो इतना ही ख्याल आता है कि अब और किसी से पूछें, ग्रब और किसी से पूछें, अब और किसी से पूछें। बुद्ध ने कहा, तो कब तक तू पूछता रहेगा? मैं भी तुझे उत्तर दे दूं उसी तरह, जैसे दूसरों ने तुझे दिये थे? या किसी से सच ही उत्तर चाहिए। उसने कहा, मुझे सच ही उत्तर चाहिए।

बुद्ध ने कहा—फिर तू रुक जा। फिर तू साल भर पूछ ही मत। उसने कहा—बिना पूछे उत्तर कैसे मिलेगा? बुद्ध ने कहा, तू प्रश्न छोड़। साल भर बाद पूछना। साल भर पूछ ही मत, साल भर सोच ही मत, साल भर बात ही मत कर, साल भर मौन ही हो जा। उसने कहा, इससे क्या होगा? बुद्ध ने कहा कि साल भर बाद ठीक इसी दिन पूछ लेना। जब बुद्ध ने उससे यह कहा कि ठीक इसी दिन पूछ लेना, तो एक भिक्षु जो वृक्ष के नीचे बैठा था, खिल-खिला कर हँसने लगा।

उस आदमी ने उस भिक्षु से पूछा, हँसते हैं आप? क्या बात है, हँसने की क्या बात है इसमें? उस भिक्षु ने कहा, पूछना हो तो अभी पूछ लो। क्योंकि

इस धोखे में हम भी पड़े थे। हम साल भर बिता चुके हैं। जब साल भर बाद खुद ही जान लेते हैं, तो पूछने को कुछ बचता ही नहीं है। पूछना हो तो अभी पूछ लो, नहीं तो फिर पूछ ही न पाओगे। यह बुद्ध बड़े धोखेबाज हैं। मैं भी इसी धोखे में पड़ा और पीछे मुझे पता चला कि और भी लोग इसी धोखे में पड़े हैं।

बुद्ध ने कहा, मैं अपने वचन पर अडिग रहूँगा। अगर साल भर बाद तू पूछेगा, तो मैं उत्तर दूंगा। साल बीत गया। फिर वही दिन आ गया। बुद्ध ने उस आदमी से कहा, मित्र, अब खड़े हो जाओ और प्रश्न पूछ लो। वह हंसने लगा और कहा कि जाने दें, बेकार की बात-चीत में कोई सार नहीं है। पर बुद्ध ने कहा, वायदा था मेरा। मैं तुम्हें याद दिलाये देता हूँ, पीछे मत कहना कि मैंने तुम्हें धोखा दिया। उसने कहा, नहीं, आप उस दिन उत्तर देते तो ही धोखा होता। क्योंकि जब मैं चुप हुआ, तब मैंने देखा कि **सारे प्रश्न विचार से निर्मित थे,** क्योंकि विचार ने अस्तित्व को खण्ड-खण्ड में तोड़ा हुआ था। अस्तित्व था अखण्ड। और जब भीतर मैं निर्विचार हुआ तो मैंने पाया कि सारे प्रश्न झूठे थे, वे तोड़ कर खड़े किये गये थे।

उस अव्यक्त में, उस अखण्ड में सब प्रश्न गिर जाते हैं, लेकिन व्यक्त में ही सब प्रश्न उठते हैं। तो या तो हम प्रश्न ही पूछते रहें, तो जिन्दगी दर्शन-शास्त्र बन जाती है, और या हम भीतर उतरें, तो जिन्दगी धर्म बन जाती है। और अधर्म, धर्म के खिलाफ उतना नहीं है, जितनी 'फिलॉसफी' है, जितना दर्शन है धर्म के खिलाफ। क्योंकि वह विचार, और विचार, और विचार में लेता चला जाता है। और हर विचार चीजों को तोड़ता चला जाता है। आखिर में सब चीजें टूट जाती हैं, प्रश्न ही प्रश्न रह जाते हैं। कोई उत्तर नहीं बचता।

भीतर उतरें, वहां एक ही है, वहां दो नहीं हैं। और जहां दो नहीं हैं, वहां प्रश्न नहीं हो सकता। प्रश्न के लिए कम से कम दो का होना जरूरी है। पूछा जा सके, इसलिए कम से कम दो का होना जरूरी है।

वह जो पहले था अव्यक्त, वह जो बाद में रह जायेगा अव्यक्त, वह अभी भी है। उसमें उतरना, उसमें डूबना ही मार्ग है।

देही नित्यमवध्योऽहं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।।३०।।
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।।३१।।

हे अर्जुन, यह आत्मा सब के शरीर में सदा ही अवध्य है, इसलिए सम्पूर्ण भूतप्राणियों के लिये तू शोक करने को योग्य नहीं है।

और अपने धर्म को देखकर भी तू भय करने को योग्य नहीं है, क्योंकि धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारक कर्तव्य क्षत्रिय के लिये नहीं है।

भगवान् श्रीः कृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि और सब बातें छोड़ भी दो तो भी तुम क्षत्रिय हो, और क्षत्रिय के लिए युद्ध से भागना श्रेयष्कर नहीं है। इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी है। कई करणों से। एक तो विगत पाँच सौ वर्षों में सभी मनुष्य समाज में इसकी बात इतनी प्रचारित की गयी है कि कृष्ण की यह बात बहुत अजीब लगेगी, कि तुम क्षत्रिय हो। समाजवाद के जन्म से पहले; सारी पृथ्वी पर, उन सारे लोगों ने, जिन्होंने सोचा है और जीवन को जाना है, बिलकुल ही दूसरी उनकी धारणा थी। वह धारणा यह थी, कि **कोई भी व्यक्ति समान नहीं है।** एक!

और दूसरी धारणा भी उस असमानता से ही बंधी हुई थी और वह यह थी कि व्यक्तियों के 'टाइप' हैं, व्यक्तियों के विभिन्न प्रकार हैं। बहुत मोटे में, इस देश के मनीषियों ने व्यक्तित्व को चार प्रकार के वर्गों में बाँटा था। वे **चार वर्ण** कहलाते थे। वर्ण की धारणा भी बुरी तरह निन्दित हुई। इसलिए नहीं कि वर्ण की धारणा के पीछे कोई मनोवैज्ञानिक सत्य नहीं है, बल्कि इसलिए कि वर्ण की धारणा मानने वाले लोग अत्यंत नासमझ सिद्ध हुए। वर्ण की धारणा को जो लोग आज प्रतिपादित कर रहे हैं, अत्यंत प्रतिक्रियावादी और अवैज्ञानिक वर्ग के हैं। संग-साथ से सिद्धांत तक मुसीबत में पड़ जाते हैं।

इसीलिए आज बड़ी मुश्किल पड़ती है इस बात से कि कृष्ण कहते हैं कि तू क्षत्रिय है। जिस दिन यह बात कही गयी थी, उस दिन यह मनोवैज्ञानिक सत्य बहुत स्पष्ट था। अभी पश्चिम में जैसे-जैसे मनोविज्ञान की समझ बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे यह सत्य पुनः स्थापित होता जाता है। **कार्ल गुस्ताव जुंग ने फिर आदमी को चार टाइप में बाँटा है।** और आज अगर पश्चिम में किसी आदमी की भी मनुष्य के मनस में गहरी से गहरी पैठ है, तो वह जुंग की है। जुंग ने फिर चार हिस्सों में बाँट दिया है।

आदमी एक ही 'टाइप' के नहीं हैं। पश्चिम में जो मनोविज्ञान का जन्मदाता

है, फ्रायड, उसने तो मनोवैज्ञानिक आधार पर समाजवाद की खिलाफत भी की है। उसने कहा, मैं कोई अर्थशास्त्री नहीं हूँ, लेकिन जितना भी मैं मनुष्य के मन को जानता हूँ, उतना ही मैं कहता हूँ कि मनुष्य असमान है (इन-इक्वालिटी इज द फैक्ट)। असमानता एक तथ्य है और 'इक्वालिटी', समानता, सिर्फ एक झूठी कहानी है, पुराण कथा है। समानता है नहीं। हो नहीं सकती, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति बुनियाद में बहुत भिन्न है।

इन भिन्नताओं की अगर हम बहुत मोटी रूप-रेखा बांधें तो चार हिस्से बनते हैं। तो इस मुल्क ने कृष्ण के समय तक उस मनोवैज्ञानिक सत्य को बहुत विकसित कर लिया था और हमने चार वर्णों में मनुष्य को बाँटा। चार वर्णों में बाँटना रहस्य है। और जहां भी कभी मनुष्यों को बाँटा गया है, चार से कम में नहीं बाँटा गया है, और चार से ज्यादा में भी नहीं बाँटा गया, जिन्होंने भी बाँटा है, इस मुल्क में ही नहीं, इस मुल्क के बाहर भी। कुछ कारण दिखायी पड़ता है। कुछ प्राकृतिक तथ्य मालूम होता है पीछे।

ब्राह्मण से अर्थ है ऐसा व्यक्ति, जिसके प्राणों की सारी संरचना बौद्धिक है, 'इंटेलेक्चुअल' है। जिसके प्राणों की सारी ऊर्जा, बुद्धि में रूपांतरित होती है। **जिसके जीवन की सारी खोज ज्ञान की खोज है।** उसे प्रेम न मिले, चलेगा। उसे धन न मिले, चलेगा। उसे पद न मिले, चलेगा। लेकिन सत्य क्या है, इसके लिए वह सब समर्पित कर सकता है। पद, धन, सुख, सब खो देता है। बस, एक लालसा उसके प्राणों की ऊर्जा है। एक ही लालसा के इर्द-गिर्द जीता है, उसके भीतर एक ही दिया जलता है और वह दिया यह है कि **ज्ञान कैसे मिले।** इसको ही ब्राह्मण कहते हैं। आज पश्चिम में जो वैज्ञानिक हैं, वे ब्राह्मण हैं। आइन्स्टीन को ब्राह्मण कहना चाहिए, लुइस पाश्चर को ब्राह्मण कहना चाहिए। आज पश्चिम में तीन सौ वर्षों में, जिन लोगों ने विज्ञान के सत्य की खोज में अपनी आहुति दी है, उनको ब्राह्मण कहना चाहिए।

दूसरा वर्ग है क्षत्रिय का। उसके लिए ज्ञान नहीं, उसकी आकांक्षा का स्रोत, उसकी शक्ति है, 'पावर' है। व्यक्ति हैं पृथ्वी पर, जिनका सारा जीवन शक्ति की ही खोज है, जैसे नीत्से—उसने किताब लिखी है, 'विल टू पावर'। किताब में लिखा है उसने कि जो असली नमक हैं आदमी के बीच, वे सभी शक्ति को पाने में आतुर हैं, वे सभी शक्ति के उपासक हैं। वे सब शक्ति की खोज कर रहे हैं। इसलिए नीत्से ने कहा, मैंने श्रेष्ठतम संगीत सुने, लेकिन जब सड़क पर चलते हुए सैनिकों के पैरों की आवाज और उनकी चमकती हुई संगीनें रोशनी

में मुझे दिखायी पड़ती हैं, उसके समान सुन्दर संगीत मैंने कोई नहीं सुना।

ब्राह्मण को यह आदमी पागल मालूम पड़ेगा कि संगीन की चमकती हुई धार में कहीं कोई संगीत होता है? कि सिपाहियों के एक साथ पड़ते हुए कदमों की चाप में कोई संगीत होता है? संगीत तो होता है चिन्तना में, आकाश के नीचे वृक्ष के पास बैठकर, तारों के संबंध में सोचने में। संगीत तो होता है संगीत में, काव्य में। संगीत तो होता है सत्य की खोज में। यह पागल है नीत्से।

लेकिन नीत्से किसी एक वर्ग के लिए ठीक-ठीक बात कह रहा है। किसी के लिए तारों में कोई अर्थ नहीं होता। किसी के लिए एक ही अर्थ होता है, एक ही संकल्प होता है कि शक्ति और ऊर्जा के ऊपरी शिखर पर वह कैसे उठ जाय। उसे हमने कहा था क्षत्रिय।

कृष्ण पहचानते हैं अर्जुन को भलीभांति। वह 'टाइप' क्षत्रिय का है। अभी बातें वह ब्राह्मण जैसी कर रहा है, इसलिए 'कंफ्यूज्ड', विभ्रमित हो जायगा। इसलिए वह उपद्रव में पड़ जायेगा। उसके व्यक्तित्व की पूरा की पूरा बनावट (स्ट्रक्चर) उसके मनस की एनाटॉमी, उसके मनस का सारा ढांचा क्षत्रिय का है। तलवार ही उसकी आत्मा है। वही उसकी रौनक है, वही उसका संगीत है। अगर परमात्मा की झलक उसे कहीं से भी मिलनी है,तो वह तलवार की चमक से मिलनी है, उसे और कोई रास्ता नहीं है।

तो कृष्ण उसे कह रहे हैं, तू क्षत्रिय है, अगर और सब बातें भी छोड़, तो मैं तुझसे कहता हूँ कि तू क्षत्रिय है। और तुझसे मैं कहता हूँ कि क्षत्रिय से यहां-वहां होकर, तू सिर्फ दीन-हीन हो जायेगा। यहां-वहां होकर तू सिर्फ ग्लानि को उपलब्ध होगा। यहां-वहां होकर तू सिर्फ अपने प्रति अपराधी हो जायेगा।

ध्यान रहे, **अपने प्रति अपराध जगत् में बड़े से बड़ा अपराध है।** क्योंकि जो अपने प्रति अपराधी हो जाता है, वह फिर सबके प्रति अपराधी हो जाता है। सिर्फ वे ही लोग दूसरे के साथ अपराध नहीं करते, जो अपने साथ अपराध नहीं करते। और कृष्ण की भाषा में समझें, तो अपने साथ सबसे बड़ा अपराध यही है कि जो उस व्यक्ति का मौलिक स्वर है जीवन का, वह उससे च्युत हो जाता है, उससे हट जाता है।

तीसरा एक वर्ग और है, जिसको तलवार में भय के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिखायी पड़ेगा—संगीत तो कभी नहीं, सिर्फ भय दिखायी पड़ेगा।

जिसे ज्ञान की खोज नासमझी मालूम पड़ेगी कि यह सिर्फ सिरफिरों का काम है। तो तीसरा वर्ग है वह, जिसके लिए धन ही महिमा है। जिसके लिए धन ही सब कुछ है। धन के आस-पास ही जिसके जीवन की सारी व्यवस्था निर्मित होती है। अगर वैसे आदमी को मोक्ष की भी बात करनी हो, तो उसके लिए मोक्ष भी धन के रूप में ही दिखायी पड़ सकता है। अगर वह भगवान् का भी चिन्तन करेगा, तो भगवान् को लक्ष्मीनारायण बनाये बिना नहीं रह सकता। इसमें उनका कोई कसूर नहीं है, सिर्फ 'फैक्ट', सिर्फ तथ्य की बात कर रहा है वह। ऐसा है। और ऐसा आदमी अगर छिपाये अपने को, तो व्यर्थ ही कठिनाई में पड़ेगा। अगर वह दबाये अपने को, तो कठिनाई में पड़ेगा। उसके लिए जो जीवन की परम अनुभूति का द्वार है, वह शायद धन की खोज से ही खुलने वाला है। उसके लिए और कहीं से खुलने वाला नहीं है।

अब एक रॉकफेलर या एक मॉर्गन या एक टाटा—ये कोई छोटे लोग नहीं हैं। कोई कारण नहीं है इनके छोटे होने का। ये अपने वर्ग में वैसे ही श्रेष्ठ हैं, जैसे कोई याज्ञवल्क्य, जैसे कोई पतंजलि, जैसे कोई अर्जुन अपने वर्गों में होंगे। इसमें कोई तुलना नहीं है, कोई 'कंपेरिजन' नहीं है।

वर्ण की जो धारणा है, वह तुलनात्मक नहीं है। वह सिर्फ तथ्यात्मक है। जिस दिन वर्ण की धारणा तुलनात्मक हुई कि कौन ऊपर, कौन नीचे, उस दिन वर्ण की वैज्ञानिकता चली गयी और वर्ण एक सामाजिक अनाचार बन गया। जिस दिन वर्ण में तुलना पैदा हुई कि क्षत्रिय ऊपर, कि ब्राह्मण ऊपर, कि वैश्य ऊपर, कि शूद्र ऊपर, कि कौन नीचे, कि कौन पीछे, उस दिन वर्ण का शोषण किया गया। वर्ण के वैज्ञानिक सिद्धान्त को जिस दिन सामाजिक शोषण की आधारशिला में रखा गया, उस दिन से वर्ण की धारणा अनाचार हो गयी।

सभी सिद्धांतों का अनाचार हो सकता है, किसी भी सिद्धान्त का शोषण हो सकता है। **वर्ण की धारणा का भी शोषण हुआ है।** और अब इस मुल्क में जो वर्ण की धारणा के समर्थक हैं, वे उस वर्ण की वैज्ञानिकता के समर्थक नहीं हैं, उस वर्ण के आधार पर जो शोषण खड़ा है, उसके समर्थक हैं। उनकी वजह से वे तो डूबेंगे ही, वर्ण का एक बहुत वैज्ञानिक सिद्धान्त भी डूब सकता है।

एक चौथा वर्ग भी है, जिसका धन से भी प्रयोजन नहीं, शक्ति से भी अर्थ नहीं, ज्ञान से भी कोई बात नहीं, लेकिन जिसका जीवन कहीं बहुत गहरे में सेवा और 'सर्विस' के आस-पास घूमता है, जो अगर अपने को कहीं समर्पित

कर पाये और किसी की सेवा कर पाये तो 'फुलफिलमेंट' को, आप्तता को उपलब्ध हो सकता है।

ये जो चार वर्ग हैं, इनमें कोई ऊपर-नीचे नहीं है। ऐसे चार मोटे विभाजन हैं और कृष्ण की पूरी 'साइकोलॉजी', **कृष्ण का पूरा का पूरा मनोविज्ञान इस बात पर खड़ा है कि प्रत्येक व्यक्ति को परमात्मा तक पहुँचने का जो मार्ग है, वह उसके स्वधर्म से गुजरता है।** स्वधर्म का मतलब हिन्दू नहीं, स्वधर्म का मतलब मुसलमान नहीं, स्वधर्म का मतलब जैन नहीं। स्वधर्म का मतलब उस व्यक्ति का वर्ण है। और वर्ण का जन्म से कोई संबंध नहीं है।

लेकिन संबंध निर्मित हो गया। हो जाने के पीछे बहुत कारण हैं, वह बात मैं बाद में करूँगा। हो जाने के पीछे कारण थे, वैज्ञानिक ही कारण थे। संबंध था नहीं जन्म के साथ वर्ण का, इसलिए 'फ्लुइडिटी' (तरलता) थी और कोई विश्वामित्र यहाँ से वहाँ हो भी जाता था। संभावना थी कि एक वर्ण से दूसरे वर्ण में यात्रा हो जाय। लेकिन जैसे ही यह सिद्धान्त ख्याल में आ गया और इस सिद्धान्त की परम प्रामाणिकता सिद्ध हो गयी कि प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ण से ही, अपने स्वधर्म से ही सत्य को उपलब्ध हो सकता है, तो एक बहुत जरूरी बात पैदा हो गयी और वह यह कि यह पता कैसे चले कि कौन व्यक्ति किस वर्ण का है। अगर जन्म से तय न हो, तो शायद ऐसा भी हो सकता है कि एक आदमी जीवन भर भी कोशिश करे और पता ही न लगा पाये कि वह किस वर्ण का है। उसका क्या है झुकाव, वह क्या होने को पैदा हुआ है, यह पता ही कैसे चले? तो फिर सुगम यह हो सकता है कि जन्म से कुछ निश्चिय किया जा सके। लेकिन जन्म से निश्चिय किया कैसे जा सके? कोई आदमी किसी के घर में पैदा हो गया, क्या इससे तय हो जायेगा?

कोई आदमी किसी के घर में पैदा हो गया, ब्राह्मण के घर में, तो ब्राह्मण हो जायेगा? जरूरी नहीं है। लेकिन बहुत संभावना है। 'प्रॉबेबिलिटी' ज्यादा है और उस 'प्रॉबेबिलिटी' को बढ़ाने के लिए, 'सर्टेन' (निश्चित) करने के लिए बहुत से प्रयोग किये गये। उसमें बड़े से बड़ा प्रयोग यह था कि ब्राह्मण को एक सुनिश्चित जीवन व्यवस्था दी गयी, एक 'डिसिप्लिन' दी गयी। यह 'डिसिप्लिन' इसलिए दी गयी कि इस आदमी की, या इस स्त्री की, जो मृतात्मा अपना नया गर्भ चुनेगी, तो उसे बहुत स्पष्ट हो जाना चाहिए कि वह गर्भ उसके 'टाइप' से मेल खाता है कि नहीं खाता है।

इसलिए मैंने परसों आपसे कहा था कि वर्णसंकर होना डरने की बात नहीं है, क्योंकि वर्णसंकर से तो बहुत विकसित व्यक्तित्व पैदा हो सकते हैं। लेकिन दो जातियों में शादी न हो, उसका कारण बहुत दूसरा था। उसका कुल कारण इतना था कि हम प्रत्येक वर्ण को एक स्पष्ट 'फॉर्म', एक स्पष्ट रूप दे देना चाहते थे और प्रत्येक वर्ण को इतना स्पष्ट ढाँचा दे देना चाहते थे कि आत्माएं, जो चुनाव करती हैं अपने नये जन्म के लिए, उनके लिए एक सुगम व्यवस्था हो जाय। फिर भी भूल-चूक हो ही जाती है। इतने बड़े समाज में, बहुत वैज्ञानिक प्रयोग भी भूल-चूक ले आते हैं।

अब एक पिता और एक माँ जिनके दोनों के जीवन की खोज ज्ञान रही है, निश्चित ही ये जिस गर्भ को निर्मित करेंगे, वह गर्भ किसी ज्ञान की खोजी आत्मा के लिए सुगमतम होगा। इसलिए बहुत संभावना है कि ब्राह्मण के घर में ब्राह्मण का 'टाइप' पैदा हो। संभावना है, निश्चय नहीं। भूल-चूक हो सकती है। इसलिए भूल-चूक के लिए तरलता थी, थोड़ी यात्रा हो सकती थी।

इन चार हिस्सों में विभाजन किया गया समाज का, उसे इन चार हिस्सों में बांट दिया गया था। ये चार हिस्से, नीचे-ऊपर की धारणा से बहुत बाद में भरे। पहले तो एक बहुत वैज्ञानिक, एक बहुत मनोवैज्ञानिक प्रयोग था, जो इनके बीच किया गया। ताकि आदमी को पहचाना जा सके कि उसके जीवन का मौलिक 'पैशन', उसके जीवन की मौलिक वासना क्या है? क्योंकि वह उसी वासना से यात्रा करके निर्वासना तक पहुँच सकता है।

कृष्ण, अर्जुन को कह रहे हैं, तू क्षत्रिय है। और सब बातें छोड़ दे, तो भी मैं तुझसे कहता हूँ कि तेरे लिए यही उचित है कि तू लड़ने से मत भाग। तू लड़, तू लड़ ही सकता है। तेरा सारा व्यक्तित्व ही योद्धा का व्यक्तित्व है। तू हाथ में किताब लेकर नहीं बैठ सकता। हाथ में किताब रहेगी, लेकिन तेरे प्राणों तक किताब नहीं पहुँच सकती। तू सेवा करने की फिक्र में पड़ जाय कि सेवक हो जाऊँ, कि लागों के पैर दबाऊँ, तो तेरे हाथ पैर भले ही दबाते रहेंगे, परन्तु तेरी आत्मा वहाँ नहीं होगी। तू धन कमाने में लग जा तो तू रुपये इकट्ठा करता रहेगा, लेकिन रुपये तेरे लिए निर्मूल्य होंगे। उनका मूल्य नहीं होगा।

मूल्य रुपये में नहीं होता, मूल्य व्यक्ति के वर्ण में होता है। उससे रुपये में आता है। अगर वैश्य के हाथ में रुपया आ जाय, तो मूल्य होता है, क्षत्रिय

के हाथ में रुपये का इतना ही मूल्य हो सकता है कि वह तलवार खरीद ले, इससे ज्यादा मूल्य नहीं होता। 'इंट्रेंसिक वैल्यू' (अन्तरस्थ मूल्य) नहीं होती रुपये की क्षत्रिय के हाथ में, हाँ 'एक्सटर्नल वैल्यू' (बाह्य व्यावहारिक मूल्य) हो सकती है कि एक तलवार खरीद ले। एक ब्राह्मण के हाथ में रुपये का कोई मतलब नहीं होता, कोई मतलब ही नहीं होता, वह धातु का एक टुकड़ा मात्र होता है। इसलिए ब्राह्मण रुपये को ठीकरा कहते रहेंगे। वैश्य की समझ में कभी नहीं आता कि बात क्या है? यह हो नहीं सकता। उसे तो दिखायी पड़ेगा कि इस जगत् में पैसे के बिना कुछ चल नहीं सकता, पैसा ही सब कुछ चला रहा है।

इसीलिए अब तक दुनिया में जो भी व्यवस्थाएँ बनी हैं, वे भी गहरे में वर्ण की व्यवस्थाओं के रूपांतरण हैं। अब तक पृथ्वी पर कोई भी व्यवस्था ब्राह्मण की नहीं बन सकी, संभावना है आगे। आज जो पश्चिम में बहुत बुद्धिमान लोग 'मैरिटोक्रेसी' की बात कर रहे हैं, 'गुणतन्त्र' की, उससे लगता है कि कभी ऐसा समय आ सकता है कि जगत् में ब्राह्मण की व्यवस्था हो। शायद वैज्ञानिक इतने प्रभावशाली हो जायें आने वाले पचास सालों में कि राजनीतिज्ञों को अपने आप जगह खाली कर देनी पड़े। अभी भी बहुत प्रभावशाली हो गये हैं। अभी भी एक वैज्ञानिक के ऊपर निर्भर करता है, बड़े से बड़ा युद्ध, कि कौन जीतेगा। अगर आइन्स्टीन जर्मनी में होता तो जीत का हिसाब और होता। आइन्स्टीन अमेरिका में था, तो हिसाब और हो गया। हिटलर को अगर किसी भूल-चूक का पश्चात्ताप होगा अभी नर्क में, तो एक ही भूल का होगा कि इस यहूदी को भाग जाने दिया, वही गलती हो गयी। यह एक आदमी तो इतना बड़ा निर्णय हो गया।

ज्ञान निर्णायक होता जा रहा है! क्षत्रिय दुनिया पर हुकूमत कर चुके, **वैश्य आज अमेरिका में हुकूमत कर रहे हैं। शूद्र आज रूस और चीन में हुकूमत कर रहे हैं** — शूद्र यानी 'प्रोलिटेरिएट', शूद्र यानी वह जिसने अब तक सेवा की थी, लेकिन बहुत सेवा कर चुका और वह कहता है, हटो! अब हम मालकियत भी करना चाहते हैं।

ब्राह्मण के हाथ में भी कभी आ सकती है व्यवस्था। संभावना बढ़ती जाती है। क्योंकि क्षत्रियों के हाथ में जब तक व्यवस्था रही, सिवाय तलवार चलने के कुछ भी नहीं हुआ। अमेरिका में जब से वैश्यों के हाथ में राज्य की सत्ता आयी है, तब से सारी दुनिया में सिवाय धन के और कोई चीज विचारणीय

नहीं रही। और जब से 'प्रोलिटेरिएट', सेवक, श्रमिक के हाथ में व्यवस्था आयी है, तब से इस दुनिया में 'एरिस्ट्रोक्रेसी' ने जो भी श्रेष्ठ पैदा किया था, उसे वह नष्ट करने में लगा है। **अब चीन में जिसे सांस्कृतिक क्रांति कहा जा रहा है, वह सांस्कृतिक क्रांति नहीं, सांस्कृतिक हत्या है।** जो भी संस्कृति ने पैदा किया है, वह सबको नष्ट करने में लगे हैं। बुद्ध की मूर्तियाँ तोड़ी जा रही हैं, मंदिर गिराये जा रहे हैं। विहार, मस्जिदें, गुरुद्वारे गिराये जा रहे हैं। चीन के चित्र, बहुमूल्य 'पैंटिंग्स,' वे सब बुर्जुआ हो गयी हैं, सबमें आग लगायी जा रही है।

यह जो कृष्ण कह रहे हैं अर्जुन को, वह एक बहुत बड़ी मनोवैज्ञानिक बात कह रहे हैं। वे यह कह रहे हैं कि **तू अन्यथा हो नहीं सकता।** और इसको भी थोड़ा समझ लेना जरूरी है कि क्यों नहीं हो सकता? अगर अर्जुन चाहे तो क्यों ब्राह्मण नहीं हो सकता? बुद्ध क्षत्रिय के घर में पैदा होकर ब्राह्मण हो सकते हैं और बुद्ध जैसा ब्राह्मण नहीं हुआ। महावीर क्षत्रिय घर में पैदा होकर ब्राह्मण हो सकते हैं और महावीर जैसा ब्राह्मण नहीं हुआ। जैनों के चौबीस तीर्थंकर ही क्षत्रिय हैं, लेकिन क्षत्रिय का कोई काम नहीं किया। शुद्धतम ब्राह्मण की यात्रा पर निकले। तो क्यों कृष्ण जोर देते हैं कि अर्जुन, तू क्षत्रिय ही हो सकता है। जब बुद्ध हो सकते हैं ब्राह्मण, महावीर हो सकते हैं, पार्श्व हो सकते हैं, नेमिनाथ हो सकते हैं, (नेमिनाथ तो कृष्ण के चचेरे भाई ही थे) वे जब हो सकते हैं, तो इस अर्जुन का क्या कसूर है कि वह ब्राह्मण नहीं हो सकता। तो थोड़ी सी बातें समझ लेनी जरूरी हैं।

आज मनोविज्ञान कहता है कि तीन साल की उम्र तक जितना आदमी सीखता है, वह पचास प्रतिशत है, पूरे जीवन के ज्ञान का। बाकी शेष जीवन में वह पचास प्रतिशत और सीखेगा। पचास प्रतिशत तीन साल में सीख लेता है। शेष पचास प्रतिशत आने वाले जीवन में सीखेगा। और वह जो पचास प्रतिशत, जो तीन वर्ष तक की उम्र में सीखा है, उसे बदलना करीब-करीब असंभव है। बाद में जो पचास प्रतिशत सीखेगा, उसे बदलना कभी भी संभव है। तीन वर्ष तक मानना चाहिए, समझना चाहिए कि व्यक्ति का मन करीब-करीब प्रौढ़ हो जाता है भीतर।

अगर बुद्ध और महावीर क्षत्रिय घरों में पैदा होकर भी ब्राह्मण की यात्रा पर निकल जाते हैं, तो उनके लक्षण बहुत बचपन से साथ हैं। उन्हें किसी

प्रतियोगिता में खड़ा किया गया है, कि हरिण को निशाना लगायें, तो वे इन्कार कर देंगे। इस अर्जुन ने कभी ऐसा नहीं किया। यह अब तक निशाना ही लगाता रहा है, इसकी सारी यात्रा अब तक क्षत्रिय की ही यात्रा है। आज अचानक, आकस्मिक, एक क्षण में यह कहने लगा कि 'नहीं'। तो इसके पास व्यक्तित्व का जो ढाँचा है, वह पूरा का पूरा ढाँचा ऐसा नहीं है कि बदला जा सके। **उसकी सारी तैयारी, सारा शिक्षण, सारी 'कण्डीशनिंग' बहुत व्यवस्था से क्षत्रिय के लिए हुई है।** आज अचानक वह भाग नहीं सकता। कृष्ण उससे कहते हैं कि तू जो छोड़ने की बात कर रहा है, वह उपाय नहीं है कोई। कठिन है। तू क्षत्रिय है, यह जान। और अब शेष यात्रा तेरी क्षत्रिय की तरह गौरव के ढंग से पूरी हो सकती है, या तू अगौरव को उपलब्ध हो सकता है, और कुछ भी नहीं। तो वे कहते हैं कि या तो तू यश को उपलब्ध हो सकता है क्षत्रिय की यात्रा से या सिर्फ अपयश में गिर सकता है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ ३२॥

हे पार्थ, अपने आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्ग के द्वाररूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान क्षत्रिय लोग ही पाते हैं।

भगवान् श्री : इस दूसरे सूत्र में भी वे क्षत्रिय की धन्यता की स्मृति दिला रहे हैं। क्षत्रिय की क्या धन्यता है, क्षत्रिय के लिये क्या 'ब्लिसफुल' है, क्षत्रिय के लिए क्या 'फुलफिलमेंट' है, वह कैसे 'फुलफिल्ड' हो सकता है, वह कैसे आप्त-काम हो सकता है? वह कैसे भर सकता है पूरा?

युद्ध ही उसके लिए अवसर है। वहीं वह कसौटी पर है। वहीं चुनौती है, वहीं संघर्ष है, वहीं मौका है जाँच का, युद्ध में उसके क्षत्रिय होने की अग्नि-परीक्षा है। तो कृष्ण कह रहे हैं कि तेरी स्थिति वैसी है, जैसे स्वर्ग और नर्क के द्वार पर कोई खड़ा हो और चुनाव हाथ में हो। युद्ध में उतरता है तू, चुनौती स्वीकार करता है, तो स्वर्ग का यश तेरा है। भागता है, पलायन करता है, पीठ दिखाता है, तो नर्क का अपयश तेरा है। यहाँ स्वर्ग और नर्क किसी भौगोलिक स्थान के लिए सूचक नहीं है। क्षत्रिय का स्वर्ग रणक्षेत्र ही है।

मैंने सुना है कि अकबर के दरबार में दो राजपूत गये। युवा थे, जवान थे। अभी मूंछ पर रेखाएं आनी शुरू हुई हैं। दोनों अकबर के सामने गये और उन्होंने कहा, हम दो बहादुर हैं और सेवा में उपस्थित हैं, कोई काम दें। तो अकबर ने कहा, बहादुर हो, इसका प्रमाण क्या है? उन दोनों ने एक दूसरे की तरफ देखा, हँसे। तलवारें बाहर निकल गयीं। अकबर ने कहा, यह क्या करते हो? लेकिन जब तक वे कुछ कहें, तब तक तलवारें चमक गयीं, कौंध गयीं। एक क्षण में तो खून के फौव्वारे बह रहे थे, एक दूसरे की छाती में तलवारें घुस गयीं। खून के फौव्वारों से चेहरे भर गये थे, परन्तु वे दोनों हँस रहे थे और उन्होंने कहा, प्रमाण मिला? क्योंकि क्षत्रिय सिर्फ एक ही प्रमाण दे सकता है कि मौत मुस्कराहट से ली जा सकती है। तो हम 'सर्टिफिकेट' (प्रमाण पत्र) लिखवा कर कहाँ से लायें? 'सर्टिफिकेट' तो कोई और हो भी नहीं सकता बहादुरी का।

अकबर तो घबड़ा गया, उसने अपनी आत्मकथा में लिखवाया है कि इतना मैं कभी नहीं घबड़ाया था। मानसिंह को उसने बुलाया और कहा कि यह मामला क्या है? मैंने तो ऐसे ही पूछा था! तो मानसिंह ने कहा, क्षत्रिय से दोबारा 'ऐसे ही' मत पूछना। क्योंकि जिन्दगी हम हाथ पर लेकर चलते हैं। क्षत्रिय का मतलब यह है कि मौत एक क्षण के लिए भी विचारणीय नहीं है। लेकिन अकबर ने लिखवाया है कि हैरानी तो मुझे यह थी कि मरते वक्त वे बड़े प्रसन्न थे। उनके चेहरों पर मुस्कराहट थी। तो मानसिंह से उसने पूछा कि यह मुस्कराहट मरने के बाद भी? तो मानसिंह ने कहा कि क्षत्रिय जो हो सकता था, हो गया। फूल खिल गया। तृप्ति हो गयी। कोई यह नहीं कह सका कि क्षत्रिय नहीं हो। बात खत्म हो गयी।

वह जो कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि स्वर्ग और नर्क, जिसके सामने दोनों के द्वार खुले हों ऐसे, क्षत्रिय के लिए युद्ध का क्षण है। वहीं है कसौटी उसकी, वहीं है परीक्षा उसकी। जिसकी तू प्रतीक्षा करता था, जिसके लिए तू तैयार हुआ आज तक, जिसकी तूने अभीप्सा और प्रार्थना की, जो तूने चाहा, वह आज पूरा होने को है। और ऐन वक्त पर तू भाग जाने की बात करता है! अपने हाथ से तू नर्क में गिरने की बात करता है! क्षत्रिय के व्यक्तित्व की, उसकी पहचान कहाँ है? उस मौके पर, उस अवसर पर, जहाँ वह जिन्दगी को दाँव पर ऐसे लगाता है, जैसे जिन्दगी कुछ भी नहीं है। इसके लिए ही उसकी सारी तैयारी है। इसकी ही उसकी प्यास भी है। यह मौका चूकता है वह, तो

सदा के लिए तलवार से धार उतर जायेगी। फिर तलवार जंग खायेगी। फिर आँसू ही रह जायेंगे। अवसर है प्रत्येक चीज का। ज्ञानी का भी अवसर है, धन की यात्रा का भी अवसर है, सेवा के खोजी का भी अवसर है।

अवसर जो चूक जाता है, वह पछताता है। और जब व्यक्ति को उभरने का आखिरी अवसर हो (जैसे अर्जुन के सामने है, शायद ऐसा अवसर दोबारा नहीं होगा), तो कृष्ण कहते हैं, उचित ही है कि तू स्वर्ग और नर्क के द्वार पर खड़ा है। चुनाव तेरे हाथ में है, स्मरण कर कि तू कौन है? स्मरण कर कि तूने अब तक क्या चाहा है? स्मरण कर कि यह पूरी जिन्दगी सुबह से साँझ, साँझ से सुबह तूने किस चीज की तैयारी की है। अब तलवार की चमक का मौका आया और तू युद्ध छोड़ देने की इच्छा रखता है?

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अकीर्तिंचापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

और यदि तू इस धर्मयुक्त संग्राम को नहीं करेगा, तो स्वधर्म को और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा।

और सब लोग तेरी बहुत काल तक रहनेवाली अपकीर्ति को भी कथन करेंगे और वह अपकीर्ति माननीय पुरुष के लिये मरण से भी अधिक बुरी होती है।

भगवान् श्रीः अभय (फीयरलेसनेस) क्षत्रिय की आत्मा है। कैसा भी भय हो, न पकड़े उसके मन को, कैसे भी भय के झंझावात उसे कँपायें न। कैसा भी भय हो, मृत्यु का ही सही, तो भी उसके भीतर हलन-चलन न हो। एक छोटी सी कहानी आपसे कहूँ, उससे ख्याल आ सकेगा।

सुना है मैंने कि चीन में एक बहुत बड़ा धनुर्धर हुआ। उसने जाकर सम्राट को कहा कि अब मुझे जीतने वाला कोई नहीं है। तो मैं घोषणा करना चाहता हूँ राज्य में कि कोई प्रतियोगिता करता हो, तो मैं तैयार हूँ। मैं स्पर्धा के लिए आ गया हूं। और मैं यह चाहता हूं कि अगर कोई प्रतियोगी न निकले या

प्रतियोगी हार जाय, तो मुझे पूरे देश का श्रेष्ठतम धनुर्धर स्वीकार किया जाय। सम्राट ने कहा, इसके पहले कि तुम मुझसे कुछ बात करो, मेरा जो पहरेदार है, उससे मिल लो। पहरेदार ने कहा, धनुर्धर तुम बड़े हो, लेकिन एक व्यक्ति को मैं जानता हूँ, कुछ दिन उसके पास रह आओ। कहीं ऐसा न हो कि नाहक अपयश मिले। उस व्यक्ति की खोज करता वह धनुर्धर जंगल पहुँचा। जब उस व्यक्ति के पास उसने देखा और रहा, तो पता चला कि वह तो कुछ भी नहीं जानता था।

तीन वर्ष उसके पास रह कर वह सब सीख गया, तब उसके मन में हुआ कि अब तो मैं सब सीख गया, लेकिन फिर भी अब मैं किस मुंह से राजा के पास जाऊं। क्योंकि मेरा गुरु तो कम से कम मुझसे ज्यादा तो जानता ही है। ज्यादा नहीं, तो मेरे बराबर तो जानता ही है। तो अच्छा यह हो कि मैं गुरु की हत्या करके चला जाऊँ। अक्सर गुरुओं की हत्या शिष्य ही करते हैं। यह बिलकुल स्वाभाविक नियम है। तो गुरु सुबह-सुबह लकड़ियाँ बीनने गया है जंगल में, वह एक वृक्ष की ओट में खड़ा हो गया, धनुर्धर। दूर से उसने तीर मारा, गुरु लकड़ियाँ लिये चला आ रहा है। लेकिन वह बच गया। अचानक सब उल्टा हो गया। वह तीर पहुँचा, गुरु ने देखा, एक लकड़ी सिर पर के बण्डल से निकालकर उस तीर को मारी। वह तीर उल्टा लौटा और जाकर उस युवक की छाती में छिद गया।

गुरु ने आकर तीर निकाला और कहा कि इतना भर मैंने बचा रखा था। (शिष्यों से गुरु को थोड़ा सा बचा रखना पड़ता है।) लेकिन तुम नाहक श्रम उठाते हो। मुझसे कह देते। मैं गाँव आऊंगा नहीं और शिष्य से प्रतियोगिता करने आऊंगा भला? पागल हुए हो? तुम जाओ, घोषणा करो, तुम मुझे मरा हुआ समझो। तुम्हारे निमित्त अब किसी को सिखाऊंगा भी नहीं। और मेरे आने की कोई बात नहीं, तुमसे प्रतियोगिता करूँगा? जाओ, लेकिन जाने के पहले ध्यान रखना कि मेरा गुरु अभी जिन्दा है। और मैं कुछ भी नहीं जानता। उसके पास दस-पांच साल रहकर जो थोड़े बहुत कंकड़-पत्थर बीन लिये थे वही, इसलिए उनके दर्शन एक बार कर लो। बड़ा घबड़ाया वह आदमी।

महत्वाकांक्षी भय से ही घिरा होता है। तीन साल इसके साथ खराब हुए, लेकिन अब बिना उस आदमी को देखे जा भी नहीं सकता। तो गया पहाड़ों में खोजता हुआ। बहुत ऊँचे शिखर पर उसके गुरु ने कहा था कि मेरा बूढ़ा गुरु है, कमर उसकी झुक गयी है, तुम पहचान लोगे। जब वह उसके पास पहुँचा

तो उसने जाकर देखा कि एक अत्यंत वृद्ध आदमी, सौ के ऊपर पार हो गया होगा, कमर झुक गयी है, बिलकुल गोल हो गया है। सोचा कि यह आदमी! उसने कहा कि क्या आप ही वे धनुर्धर हैं, जिसके पास मुझे भेजा गया है? तो उस बूढ़े ने आँखें उठायीं, उसकी पलकों के बाल बहुत बड़े हो गये थे। बामुश्किल आँखे खोलकर उसने देखा और कहा: हां, ठीक है। कैसे आये हो, क्या चाहते हो? उसने कहा मैं भी एक धनुर्धर हूँ।

वह बूढ़ा हँसने लगा। उसने कहा, अभी धनुषबाण साथ लिये हो, कैसे धनुर्धर हो? क्योंकि जब कोई कला में पूर्ण हो जाता है, तो इस प्रकार व्यर्थ का बोझ नहीं ढोता है। जब वीणा बजाने में वीणावादक पूर्ण हो जाता है, तो वीणा तोड़ देता है, क्योंकि फिर वीणा पूर्ण संगीत के मार्ग पर बाधा बन जाती है। और जब धनुर्धर पूरा हो जाता है, तो धनुष-बाण किसलिए? यह तो सिर्फ अभ्यास के लिए थे। बहुत घबड़ाया वह धनुर्धर, उसने कहा, सिर्फ अभ्यास ही मैं जानता हूँ। आगे और कौन सी धनुर्विद्या है? तो उस बूढ़े ने कहा, आओ मेरे साथ। वह बूढ़ा उसे लेकर पहाड़ के कगार पर चला गया, जहाँ नीचे हजारों फीट का गड्ढा है। वह बूढ़ा आगे बढ़ने लगा। वह धनुर्धर पीछे खड़ा रह गया।

वह बूढ़ा आगे बढ़ा, उसके पैरों की अँगुलियाँ पत्थर के बाहर झाँकने लगीं। उसकी झुकी हुई गर्दन खाई में झाँकने लगी। उसने कहा, बेटे, और पास आओ, इतने दूर क्यों रुक गये हो। उसने कहा, लेकिन वहाँ तो मुझे बहुत डर लगता है। आप वहाँ खड़े ही कैसे हैं? मेरी आँखें भरोसा नहीं करतीं, क्योंकि वहाँ तो जरा श्वांस भी चूक जाय तो बचना मुश्किल हो जाय। तो उस बूढ़े ने कहा, जब अभी मन इतना कँपता है तो निशाना तुम्हारा अचूक नहीं हो सकता। और जहाँ भय है, वहां क्षत्रिय कभी पैदा नहीं होता। बूढ़े ने कहा, जहां भय है, वहां क्षत्रिय कभी पैदा नहीं होता है। वहां धनुर्धर के जन्म की संभावना नहीं है। भयभीत किस चीज से हो? और अगर भय है, तो मन में कंपन होंगे ही, कितने ही सूक्ष्म हों, पर मन में कंपन होंगे ही।

कृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं, तू और भयभीत? तो कल, जो तेरा गुणगान गाते थे, कल तक जो तेरी तरफ देखते थे कि तू एक जीवन्त प्रतीक है क्षत्रिय का, वे सब हँसेंगे। अपयश की चर्चा हो जायेगी, कीर्ति को धब्बा लगेगा। तू यह क्या कर रहा है? तेरा निज-धर्म है जो, तेरी तैयारी है जिसके

लिए, जिसके विपरीत होकर तू जी भी न सकेगा, कीर्ति के शिखर के गिरते ही, तू श्वाँस भी न ले सकेगा।

ठीक कहते हैं कृष्ण। अर्जुन जी नहीं सकता अपयश के साथ। क्षत्रिय मर सकता है गौरव से, लेकिन पलायन करके गौरव से जी नहीं सकता। उसे क्षत्रिय होने की संभावना नहीं रहेगी। तो कृष्ण कहते हैं, जो तेरी संभावना है, उसके विपरीत जाकर तू पछतायेगा। उससे विपरीत जाकर तू सब खो देगा।

इस संबंध में दो तीन बातें अंत में आपसे कहूँ, जो ख्याल में लेने जैसी हैं। उनसे बड़ी भ्रांति रहती है, अगर वे ख्याल में न रहें। लग सकता है कि कृष्ण क्या युद्धखोर हैं, जिनमें युद्ध की ऐसी उत्तेजना, युद्ध के लिए ऐसा प्रोत्साहन ? तो भूल हो जायेगी, अगर आपने ऐसा सोचा। कृष्ण सिर्फ एक मनसशास्त्री हैं। अर्जुन की 'पोटेंशियालिटी' को समझते हैं। अर्जुन क्या हो सकता है, यह समझते हैं और क्या होकर तृप्त हो सकता है, यह समझते हैं। अर्जुन क्या होने से चूक जाय तो सदा के लिए विषाद और दुख को उपलब्ध हो जायेगा और अपने ही हाथ नर्क में आत्मघाती हो जायेगा, वे यह भी समझते हैं।

अब आज सारी दुनिया में मनस-शास्त्र के सामने जो गहरे से गहरा सवाल है, वह यही है कि हम प्रत्येक बच्चे को उसकी संभावना, उसकी पोटेंशियालिटी बता सकें कि वह क्या हो सकता है। सब अस्त-व्यस्त है।

रवीन्द्रनाथ के पिता रवीन्द्रनाथ को कवि नहीं बनाना चाहते हैं, कोई भी पिता नहीं बनाना चाहेगा। मैंने तो सुना है कि महाकवि निराला के घर एक रात एक छोटी सी बैठक चलती थी। सुमित्रानंदनपंत थे, महादेवी थीं, मैथिलिशरण गुप्त थे, और कुछ लोग थे। मैथिलिशरण गुप्त बहुत दिन बाद आये थे, तो जैसी उनकी आदत थी, निराला के भोजन बनाने वाले महाराज को भी पूछा, ठीक तो हो ? सब ठीक तो है ? उसने कहा, और तो सब ठीक है महाराज, लेकिन मेरा लड़का, किसी तरह उसे ठीक करें, बर्बाद हुआ जा रहा है। तो मैथिलीशरण ने पूछा, क्या हुआ तुम्हारे लड़के को ? क्या गुण्डा-बदमाश हो गया ? चोर-लफंगा हो गया ? उसने कहा नहीं, मेरा लड़का कवि हो गया है। इन सब कवियों पर क्या गुजरी होगी, पता नहीं।

रवीन्द्रनाथ के पिता भी नहीं चाहते थे कि कवि हो जाय लड़का। सब चेष्टा की, पढ़ाया, लिखाया, पूरा परिवार धुआधार पीछे लगा था, ताकि

रवीन्द्र इंजीनियर बन जाय, प्रोफेसर बन जाय, डॉक्टर बन जाय, कुछ बन जाय, काम का बन जाय।

रवीन्द्रनाथ के घर में एक किताब रखी है, 'जोड़ासांको भवन' में। बड़ा परिवार था, बहुत बच्चे थे, सौ लोग थे घर में। बच्चे के जन्मदिन में उस किताब में उस बच्चे के सबंध में घर के बड़े-बूढ़े भविष्यवाणियां लिखते थे। रवीन्द्रनाथ के बहुत सारे भाई-बहन थे, सबके संबंध में बहुत अच्छी बातें लिखी हैं। रवीन्द्रनाथ के संबंध में किसी ने अच्छी बात नहीं लिखी है। रवीन्द्रनाथ की माँ ने लिखा है कि रवि से हमें कोई आशा नहीं है। सब लड़के बड़े होनहार हैं, कोई प्रथम आता है, तो कोई 'गोल्ड मेडल' लाता है, कोई युनिवर्सिटी में चमकता है। यह लड़का बिलकुल गैरचमक का है। लेकिन आज आप नाम भी नहीं बता सकते कि रवीन्द्रनाथ के उन सब चमकदार भाइयों के नाम क्या हैं। वे सब के सब खो गये।

मनोविज्ञान इस समय बहुत व्यस्त है कि जगत् इतना दुखी क्यों मालूम पड़ रहा है ? इसका बहुत बुनियादी कारण है गलत जीवन का चुनाव। हर आदमी जो हो सकता हैं, वह नहीं हो पा रहा है। वह कहीं और लगा दिया गया है। एक चमार है, वह प्रधान मंत्री हो गया। जिसे प्रधान मंत्री होना चाहिए था, वह कहीं जूते बेच रहा है। सब अस्त-व्यस्त है। किसी को पता भी तो नहीं है कि वह क्या हो सकता है ! धक्के हैं, बिलकुल 'एक्सिडेंटल' है जैसे सब, सांयोगिक है सब। बाप को एक सनक सवार है कि लड़के को इंजीनियर ही होना चाहिए। अब बाप की सनक से लड़के का क्या लेना-देना ! होना था तो बाप को हो जाना चाहिए था इंजीनियर, लेकिन बाप को सनक सवार है कि बेटे को इंजीनियर होना चाहिए। फिर बाप भी क्या कर सकता है, उसे कुछ भी तो पता नहीं।

इसलिए आज सारी दुनिया में मनोवैज्ञानिक इस बात के लिए आतुर हैं कि प्रत्येक बच्चे की 'पोटेंशियालिटी' की खोज ही मनुष्यता के लिए मार्ग बन सकती है।

वहां जो कृष्ण कह रहे हैं, वह युद्ध की बात नहीं कह रहे हैं, भूलकर भी मत समझ लेना यह। इससे बड़ी भ्रांति पैदा होती है। कृष्ण जब यह कह रहे हैं, तो यह बात 'स्पेसिफिकली', विशेष रूप से अर्जुन के 'टाइप' के लिए निवेदित है। यह बात, अर्जुन की जो संभावना है, उस संभावना के लिए उत्प्रेरित

है। यह बात हर किसी के लिए नहीं है। लेकिन इतने बड़े मनोविज्ञान की समझ खो गयी। महावीर ने अहिंसा की बात कही, वह कुछ लोगों के लिए सार्थक है, अगर पूरे मूल्क को पकड़ ले तो खतरा है। कृष्ण ने हिंसा की बात कही, वह अर्जुन के लिए सार्थक है, कुछ लोगों के लिए बिलकुल सार्थक है, पूरे मूल्क को पकड़ ले तो खतरा है।

लेकिन भूल निरंतर हो जाती है। वह निरन्तर भूल यह हो जाती है कि हम प्रत्येक सत्य को 'जनरलाइज' करते हैं। प्रत्येक सत्य को सामान्य नियम बना देते हैं। कोई सत्य व्यक्त जगत् में 'सामान्य नियम' नहीं है। अव्यक्त जगत् की बात छोड़ें, व्यक्त जगत् में, 'मैनिफेस्टेड' जगत् में सभी सत्य सशर्त हैं, उनके पिछे शर्तें हैं।

ध्यान रखेंगे पूरे समय कि अर्जुन से कही जा रही है यह बात--एक 'पोटेंशियल' क्षत्रिय से, जिसके जीवन में कोई और स्वर नहीं रहा है, न हो सकता है। उसकी आत्मा जो हो सकती है, कृष्ण उसके पीछे लाठी लेकर पड़ गये हैं, कि तू वही हो, जो तू हो सकता है। वह भाग रहा है। वह बचाव कर रहा है, वह डर रहा है, वह भयभीत हो रहा है, वह पच्चीस तर्क खोज रहा है।

कृष्ण युद्धखोर नहीं हैं,कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं और आप भूल कर भी यह मत समझ लेना कि अर्जुन से कहा गया सत्य सबके लिए सत्य है। ऐसा भूल-कर भी मत समझ लेना। हाँ, एक ही बात सत्य है उसमें, जो 'जरनलाइज' की जा सकती है और वह यह है कि **प्रत्येक की निज-संभावना ही उसका सत्य है**। इससे अगर कोई भी बात निकालनी हो तो इतनी ही निकलती है कि प्रत्येक की उसकी निज-संभावना ही उसके लिए सत्य है।

गीता की इस किताब को अगर महावीर पढ़ें, तो भी पढ़कर महावीर महावीर ही होंगे, अर्जुन नहीं हो जायेंगे। क्योंकि वे राज समझ जायेंगे कि मेरी 'पोटेंशियलिटी' क्या है, वही मेरी यात्रा है। इस किताब को बुद्ध पढ़ें, तो दिक्कत नहीं आयेगी जरा भी। वे कहेंगे, बिलकुल ठीक, मैं अपनी यात्रा पर जाता हूँ, जो मैं हो सकता हूँ।

प्रत्येक को जाना है अपनी उस यात्रा पर, जो वह हो सकता है। और प्रत्येक को खोज लेना है व्यक्त जगत् में कि मेरे होने की क्या संभावना है। गीता का संदेश इतना ही है। संदेश युद्धखोरी का नहीं है। लेकिन भ्रांति हुई

है गीता को पढ़कर। युद्धखोर को लगता है कि बिलकुल ठीक, होना चाहिए युद्ध। युद्ध-विरोधी को लगता है, बिलकुल गलत है, युद्ध करवाने की बात कर रहे हैं? कृष्ण का युद्ध से लेना-देना ही नहीं है और मैं ऐसा कहूँगा, तो आपको जरा मुश्किल होगी, लेकिन मैं फिर पुनः पुनः कहता हूँ कि कृष्ण को युद्ध से लेना-देना नहीं है। कृष्ण एक मनोवैज्ञानिक सत्य कह रहे हैं। वे कह रहे हैं अर्जुन से, यह तेरा नकशा है, यह तेरा 'बिल्ट-इन-प्रोसेस' है। तू यह हो सकता है। इससे अन्यथा होने की चेष्टा में सिवाय अपयश, असफलता, आत्मघात के और कुछ भी नहीं है।

★

ग्यारहवाँ प्रवचन

प्रथम गीता ज्ञान-यज्ञ, अहमदाबाद, प्रातः, दिनांक ४ दिसम्बर, १९७०

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

और जिनके लिए तू बहुत माननीय होकर भी अब तुच्छता को प्राप्त होगा, वे महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से उपराम हुआ मानेंगे ।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

तेरे बैरी तेरे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए बहुत से न कहने योग्य वचनों को कहेंगे । फिर उससे अधिक दुख क्या होगा ? इसलिए युद्ध करना तेरे लिए सब प्रकार से अच्छा है । क्योंकि या तो मर कर तू स्वर्ग को प्राप्त होगा, अथवा जीतकर पृथ्वी को भोगेगा। इससे हे अर्जुन, युद्ध के लिए निश्चय वाला होकर खड़ा हो ।

भगवान् श्री : कृष्ण की बात यदि यूनान के मनस्वी प्लेटो ने पढ़ी होती, तो सौ प्रतिशत स्वीकृति देता। प्लेटो से किसी ने पूछा, स्वर्ग क्या है? सुख क्या है? तो प्लेटो ने जो सुख की परिभाषा की वह समझने जैसी है। प्लेटो ने कहा, **अन्तस की निजता का बाहर के आचरण से जहाँ संगीतपूर्ण ताल-मेल** है, अविरोध है, वहीं सुख है, वहीं आनन्द है। और प्लेटो ने कहा, व्यक्ति जो हो सकता है, जो उसके बीज में छिपा है, जिस दिन वही हो जाता है, उसी दिन स्वर्ग है।

कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं, क्षत्रिय होकर ही तेरा स्वर्ग है। उससे विचलित होकर तेरा कोई सुख नहीं है। तेरी जो निजता है, तेरी जो 'इण्डिवीजुअॅलिटी' है, जो तेरे भीतर का गुण-धर्म है, जो तू भीतर से बीज लिये बैठा है, जो तू हो सकता है—वही होकर ही तू स्वर्ग को उपलब्ध होगा, तू सुख को उपलब्ध होगा, तू आनन्द को अनुभव कर सकेगा।

जीवन का आशीर्वाद, जीवन की प्रफुल्लता स्वयं के भीतर जो भी छिपा है, उसके पूरी तरह प्रगट हो जाने में है। जीवन का बड़े से बड़ा दुःख, जीवन का बड़े से बड़ा नर्क एक ही है कि व्यक्ति वह न हो पाये, जो होने के लिए पैदा हुआ है। व्यक्ति वह न हो पाये, जो हो सकता था और अन्य मार्गों पर भटक जाय। **स्व-धर्म से भटक जाने के अतिरिक्त और कोई नर्क नहीं है। और स्व-धर्म को उपलब्ध** हो जाने के अतिरिक्त और कोई स्वर्ग नहीं है।

कृष्ण, अर्जुन से कह रहे हैं कि इस दिखायी पड़ने वाले लोक में, जिसे लोग सुख कहते हैं, वह तो तुझे मिलेगा ही। लेकिन न दिखायी पड़ने वाले लोक में....! इसे भी थोड़ा समझ लेना जरूरी है कि 'परलोक' से हमने जो अर्थ ले रखा है, वह सदा मृत्यु के बाद जो लोक है, उसका ले रखा है। हमने जो व्याख्या कर रखी है अपने मन में—इस लोक की, और उस लोक की, वह 'टेम्पोरल' है, 'टाइम' में है। हमने सोच रखा है कि यह लोक खत्म होता है वहाँ, जहाँ हमारा जीवन समाप्त होता है, और वहीं से परलोक शुरू होता है। ऐसा नहीं है।

यह लोक और परलोक साथ ही मौजूद हैं, 'टेम्पोरल' नहीं है, समय में उनका विभाजन नहीं है। बाहर जो हमें मिलता है वह इह-लोक है, भीतर जो हमें मिलता है वह परलोक है। परलोक का केवल मतलब इतना ही है कि इस लोक के जो पार है, इस लोक के जो 'बियॉंड' है—वह अभी भी है, इस वक्त भी है। जिसको जीसस ने किंगडम आफ गॉड' कहा है, प्रभु का राज्य कहा है, उसे ही इस देश ने परलोक कहा है। परलोक का संबंध आपके जीवन के समाप्त होने से नहीं है। परलोक का संबंध आपके दृश्य से अदृश्य में प्रवेश से है। वह

आप अभी भी कर सकते हैं, और वह आप मृत्यु के बाद भी चाहें तो नहीं कर सकते हैं। चाहें तो मृत्यु के बाद भी इह-लोक में ही घूमते रहें—इसी लोक में, और चाहें तो भीतर के परलोक में प्रवेश कर जायें।

वह आंतरिक लोक—जहाँ समय और क्षेत्र मिट जाते हैं, 'टाइम' और 'स्पेस' खो जाते हैं, जहाँ दृश्य खो जाते हैं और अदृश्य शुरू होता है—वह जो आंतरिकता का, वह जो भीतर का लोक है, उसे ही कृष्ण कहते हैं स्वर्ग। लेकिन स्वर्ग से आप परियों के देश की बात मत समझ लेना। **स्वर्ग सिर्फ 'इनर हार्मनी' का नाम है—जहाँ जीवन के सब स्वर संगीतपूर्ण हैं और नर्क सिर्फ 'इनर', आंतरिक विसंगीत का नाम है—जहाँ सब स्वर एक दूसरे के विरोध में खड़े हैं।**

सार्त्र ने नर्क की परिभाषा में एक वचन कहा है। उसने कहा है कि मनुष्य के मन में नर्क उसी क्षण उत्पन्न हो जाता है, जिस क्षण उसके चित्त में दो बातें खड़ी हो जाती हैं। "टु बी, ह्वाट वन इज नॉट एण्ड नॉट टु बी ह्वाट वन इज"—वह होने की इच्छा, जो कि मैं नहीं हूँ, और वह नहीं होने की इच्छा, जो कि मैं हूँ, इन दोनों के बीच में ही नर्क उपस्थित हो जाता है। सार्त्र भी कृष्ण से राजी होगा।

अर्जुन ऐसे ही नर्क में खड़ा हो गया है। जो है, वह नहीं होने की इच्छा पैदा हुई है उसकी; जो नहीं है, वह होने की इच्छा पैदा हुई है। वह एक ऐसे असंभव तनाव में खड़ा हो गया है, जिसमें प्रवेश तो बहुत आसान, लेकिन लौटना बहुत मुश्किल है।

जिन्दगी में किसी भी चीज से लौटना बहुत मुश्किल है। जाना बहुत आसान है, लौटना सदा मुश्किल है। **स्वयं के धर्म से दूर जाना बहुत आसान है, क्योंकि स्वधर्म से विपरीत जाना सदा उतार है।** वहाँ हमें कुछ भी नहीं करना पड़ता, सिर्फ हम अपने को छोड़ दें, तो हम उतर जाते हैं। उतर जाना बहुत आसान है। **स्वधर्म को पाना चढ़ाव है** और चढ़ना बहुत कठिन हो जाता है।

पश्चिम का इस समय का एक बहुत कीमती मनोवैज्ञानिक अभी-अभी गुजरा है। उसका नाम था अब्राहम मैसलो। अब्राहम मैसलो के पूरे जीवन की खोज एक छोटे से शब्द में समा जाती है और वह शब्द है 'पीक एक्सपीरिएंस,' वह शब्द है 'शिखर का अनुभव'। अब्राहम मैसलो का कहना है कि व्यक्ति के जीवन में स्वर्ग का क्षण वही है, जो उसके व्यक्तित्व के शिखर का क्षण है। जिस क्षण कोई भी व्यक्ति जो हो सकता है, उसके होने के शिखर तक पहुँच

जाता है (जिसके आगे कोई उपाय नहीं बचता, जिसके आगे कोई मार्ग नहीं बचता, जिसके आगे कोई ऊँचाई नहीं बचती), जब भी कोई व्यक्ति अपने भीतर के 'पीक' को छू लेता है, तभी आनंद (एक्सटेसि) का अनुभव करता है। निश्चित ही जो 'पीक एक्सपीरिएंस' अर्जुन के लिए होगा, वही 'पीक एक्सपीरिएंस' बुद्ध के लिए नहीं हो सकता। जो पीक एक्सपीरिएंस, शिखर की अनुभूति, बुद्ध की है, वही अनुभूति जीसस के लिए नहीं हो सकती।

लेकिन एक बात ध्यान में रख लें कि जब मैं कहता हूँ कि वही अनुभूति नहीं हो सकती, तो मेरा प्रयोजन व्यक्ति से है। अर्जुन दूसरे मार्ग से उस अनुभूति पर पहुँचेगा। वह क्षत्रिय है, क्षत्रिय के मार्ग से पहुँचेगा। हो सकता है, जब दो तलवारें खिंच जायेंगी, और जीवन और मृत्यु साथ-साथ खड़े हो जायेंगे, श्वास ठहर जायेगी और पल भर के लिये रुक जायेगा सारा जगत्, और पल भर के लिए निर्णय न रह जायेगा कि जीवन में अब एक पल और है—उस तलवार की धार पर, उस चुनौती के क्षण में अर्जुन अपनी 'पीक' पर होगा, वह अपने क्षत्रिय होने के आखिरी शिखर पर होगा—जहाँ जीवन और मृत्यु विकल्प होंगे, जहाँ क्षण में सब तय होता होगा—उस 'डिसीसिव मोमेन्ट' में, वह अपने पूरे शिखर पर पहुँच जायेगा।

यह जो शिखर की अनुभूति है, वह बुद्ध को किसी और मार्ग से मिलेगी, महावीर को किसी और मार्ग से मिलेगी, मुहम्मद को किसी और मार्ग से मिलेगी। मार्ग भिन्न होंगे, लेकिन प्रत्येक व्यक्ति जब अपने शिखर पर पहुँचता है, तो शिखर की जो भीतरी अनुभूति है, वह एक होगी। इसलिए कृष्ण, अर्जुन को कह रहे हैं कि एक अवसर मिला है और अवसर बार-बार नहीं मिलते। खोये अवसरों के लिए कभी-कभी जन्मों तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

किसी ने एक दिन अमेरिका के एक बड़े अरबपति मॉर्गन से पूछा कि आपको जिन्दगी में इतनी सफलता कैसे मिली ? तो मॉर्गन ने कहा, मैंने कभी कोई अवसर नहीं खोया। जब भी अवसर आया, मैंने छलाँग लगायी और उसे पकड़ा। अपने को खोने को मैं राजी रहा, लेकिन अवसर को खोने को राजी नहीं रहा। उस आदमी ने पूछा कि हम कैसे पहचानेंगे कि अवसर आ गया ! और जब तक हम पहचानेंगे तब तक कहीं ऐसा न हो कि अवसर निकल जाय ! कहीं ऐसा न हो कि हम पहचानें और छलाँग लगायें; तब तक अवसर जा चुका हो। क्योंकि क्षण तो, क्षण भर भी नहीं रुकता। आया नहीं, कि गया

नहीं। क्षण तो पहचानते-पहचानते ही चला जाता है। तो आप कैसे पहचानते थे और छलांग लगाते थे ?

मॉर्गन ने जो उत्तर दिया वह बहुत हैरानी का है। मॉर्गन ने कहा, मैं कभी रुका नहीं, मैं छलाँग लगाता ही रहा। अवसर आ गया तो छलाँग काम कर गयी, अवसर नहीं आया तो भी मैं छलाँग तो लगाता ही रहा। क्योंकि इतना मौका नहीं था कि मैं प्रतीक्षा करूँ, अवसर को पहचानूँ, फिर छलाँग लगाऊँ। मैं छलाँग लगाता ही रहा। अवसर का घोड़ा नीचे आ गया तो हम सवार थे, लेकिन हमारी छलाँग जारी थी—जब घोड़ा नहीं था, तब भी।

कृष्ण के लिए जो बड़ी से बड़ी चिन्ता अर्जुन की तरफ से दिखायी पड़ती है, वह यही दिखायी पड़ती है कि अर्जुन को महाभारत जैसा विराट् अवसर न मिले, तो अर्जुन का फूल खिल नहीं सकता। कोई छोटी-मोटी लड़ाई में नहीं खिल सकता उसका फूल। जहाँ जीत सुनिश्चित हो, वहाँ अर्जुन का फूल नहीं खिल सकता। जहाँ जीत एक चिन्ता हो, जहाँ जीत अनिर्णीत हो, जहाँ हार की उतनी ही संभावना हो, जितनी जीत की है, तो ही उस चुनौती के दबाव में, उस चुनौती की पीड़ा में, उस चुनौती के प्रसव में अर्जुन का फूल खिल सकता है। और अर्जुन अपने शिखर को छू सकता है। इसलिए कृष्ण इतना आग्रह कर रहे हैं कि युद्ध न कर तू सब खो देगा ! स्वर्ग का जो क्षण तुझे उपलब्ध हुआ है, उसे तू खो देगा—इस जगत् में भी, उस जगत् में भी। उस जगत् का मतलब, मृत्यु के बाद नहीं, बाहर के जगत् में भी, भीतर के भी जगत् में।

ध्यान रहे, बाहर के जगत् में तभी स्वर्ग मिलता है, जब भीतर के जगत में स्वर्ग मिलता है। यह असंभव है कि भीतर के जगत् में नर्क हो, और बाहर के जगत् में स्वर्ग मिल जाय। हाँ, यह संभव है कि बाहर के जगत् में नर्क हो, तो भी भीतर के जगत् में स्वर्ग मिल जाए। और यह बड़े मजे की बात है कि अगर भीतर के जगत् में स्वर्ग मिल जाय, तो बाहर का नर्क भी नर्क नहीं मालूम पड़ता है। और बाहर के जगत् में स्वर्ग मिल जाय और भीतर के जगत् में नर्क हो, तो बाहर का स्वर्ग भी स्वर्ग नहीं मालूम पड़ता है।

हम जीते हैं भीतर से, हमारे जीने के सारे गहरे आधार भीतर हैं, इसलिए जो भीतर है, वही बाहर फैल जाता है। भीतर सदा ही बाहर को जीत लेता है, ओव्हर पावर' कर लेता है। इसलिए जब आपको बाहर नर्क दिखायी पड़े, तो बहुत खोज करना, तो पाओगे कि भीतर नर्क है। बाहर सिर्फ

'रिफ्लेक्शन' है, बाहर सिर्फ प्रतिफलन है। और जब बाहर स्वर्ग दिखायी पड़े, तब भी भीतर देखना तो पाओगे कि भीतर स्वर्ग है। बाहर सिर्फ प्रतिफलन है। इसलिए जो बुद्धिमान हैं, वे बाहर के नर्क को स्वर्ग बनाने में जीवन नष्ट नहीं कर देते। वे भीतर के नर्क को स्वर्ग बनाने का श्रम करते हैं। और एक बार भीतर का नर्क स्वर्ग बन जाय, तो बाहर कोई नर्क होता ही नहीं है।

मैंने सुना है कि बक, इंग्लैण्ड का एक बहुत बड़ा विचारक था। वह ऐसे तो नास्तिक था, लेकिन चर्च जाता था। मित्रों ने कई बार उससे कहा भी कि तुम चर्च किसलिए जाते हो? क्योंकि तुम नास्तिक हो। ठीक ऐसी ही बात कभी डेविड ह्यूम से भी किसी ने पूछी थी। डेविड ह्यूम एक नास्तिक था बड़े से बड़ा, इस जगत् में जो हुआ। कीमती से कीमती। वह भी, लेकिन, रविवार को चर्च जरूर जाता था। तो ह्यूम ने जो उत्तर दिया, बक ने भी वही उत्तर दिया। बक ने कहा, जो चर्च में कहा जाता है, उसमें मेरा कोई विश्वास नहीं। लेकिन वह जो आदमी कहता है, उसकी आँखों में मैं झाँकता हूँ तो मुझे लगता है कि वह आदमी भी किसी भीतरी विश्वास से कह रहा है। और सप्ताह में एक दिन ऐसे आदमी की आँखों में झाँक लेना उचित है, जिसे भीतरी कोई स्वर्ग का अनुभव हो रहा है। वह जो कहता है, उसमें मुझे कोई भरोसा नहीं है (कि वह आदमी जो कह रहा है, वह ठीक हो सकता है)। उसके सिद्धान्तों को मैं तर्कयुक्त नहीं मानता, लेकिन फिर भी सप्ताह में मैं एक ऐसे आदमी की आँख में झाँक लेना चाहता हूँ, जो भीतर आश्वस्त है।

बक ने एक दिन चर्च में जो फकीर बोलता था, उससे पूछा कि मैं तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ। उस दिन उसने बाइबिल के एक वचन की व्याख्या करते हुए कहा कि भले लोग जो परमात्मा में विश्वास करते हैं, वे स्वर्ग को उपलब्ध होते हैं। बक ने उससे पूछा कि आप कहते हैं कि भले लोग जो परमात्मा में विश्वास करते हैं, स्वर्ग को उपलब्ध होते हैं। तो मैं पूछना चाहता हूँ कि बुरे लोग जो परमात्मा में विश्वास करते हैं, वे स्वर्ग को उपलब्ध होते हैं या नहीं। और यह भी पूछना चाहता हूँ कि भले लोग, जो परमात्मा में विश्वास नहीं करते हैं वे स्वर्ग को उपलब्ध होते हैं या नहीं?

वह फकीर साधारण फकीर नहीं था, ईमानदार आदमी था। उसने कहा, उत्तर देना मुश्किल है, जब तक कि मैं परमात्मा से न पूछ लूँ। क्योंकि इसका मुझे कुछ भी पता नहीं। रुको, सात दिन मैं प्रार्थना करूँ, फिर उत्तर दे सकता हूँ। क्योंकि तुमने मुझे मुश्किल में डाल दिया है। अगर मैं यह कहूँ कि भले लोग

जो परमात्मा में विश्वास नहीं करते, नर्क जाते हैं, तो भलाई बेमानी हो जाती है, 'मीनिंगलेस' हो जाती है। और अगर मैं यह कहूँ कि भले लोग, जो परमात्मा में विश्वास नहीं करते हैं, वे भी स्वर्ग को उपलब्ध हो जाते हैं, तो परमात्मा बेमानी हो जाता है। उसमें विश्वास का कोई अर्थ नहीं रहता। तुम रुको, लेकिन वह फकीर सात दिन सो नहीं सका। सब तरह की प्रार्थनाएँ कीं, लेकिन कोई उत्तर नहीं मिला।

सातवाँ दिन आ गया, सुबह ही आठ बजे बक मौजूद हो जायेगा और पूछेगा कि बोलो। तो वह पाँच बजे ही चर्च में चला गया, हाथ जोड़कर, बैठ कर प्रार्थना करता रहा। प्रार्थना करते-करते उसे नींद लग गयी। उसने एक स्वप्न देखा, वही जो सात दिन से उसके प्राणों में चल रहा था, वही स्वप्न बन गया। उसने स्वप्न देखा कि वह ट्रेन में बैठा हुआ है, तेजी से ट्रेन जा रही है। उसने लोगों से पूछा, यह ट्रेन कहाँ जा रही है? लोगों ने कहा, यह स्वर्ग जा रही है। उसने कहा, अच्छा हुआ, मैं देख ही लूँ। सुकरात कहाँ है, आदमी अच्छा था। लेकिन ईश्वर में भरोसा नहीं था। बुद्ध कहाँ हैं?—आदमी अच्छे से अच्छा था, लेकिन ईश्वर की कभी बात नहीं की। महावीर कहाँ हैं?—आदमी अच्छे से अच्छा था, लेकिन परमात्मा की जब भी किसी ने बात की, तो कह दिया कि नहीं है। ये सब लोग कहाँ हैं?

स्वर्ग पहुँच गयी ट्रेन। बड़ी निराशा हुई उसे स्वर्ग को देखकर। ऐसी आशा न थी। सब उजड़ा-उजड़ा मालूम पड़ता था। सब रूखा-रूखा मालूम पड़ता था। रौनक न थी। पूछा, यही स्वर्ग है? लोगों ने कहा, यही स्वर्ग है। पूछा कि महावीर कहाँ हैं, बुद्ध कहाँ हैं, सुकरात कहाँ हैं? बहुत खोज-बीन की, पता चला कि नहीं हैं। बहुत घबड़ाया। स्टेशन भागा हुआ आया और कहा कि नर्क की गाड़ी? नर्क की गाड़ी में बैठा और नर्क पहुँचा, लेकिन बड़ी मुश्किल में पड़ा। देखा कि बड़ी रौनक है। जैसी स्वर्ग में होने की आशा थी, ऐसी रौनक है। जैसी नर्क में उदासी होनी चाहिए थी, वैसी स्वर्ग में थी। बड़ी चिन्ता हुई उसे कि कुछ भूल-चूक तो नहीं हो रही है? स्टेशन पर उतरा तो बड़ी रौनक है, रास्तों पर निकला तो बड़ा काम चल रहा है, बड़ा आनन्द है, कहीं गीत है, कहीं कुछ है, कहीं कुछ है।

उसने पूछा कि सुकरात, महावीर, बुद्ध यहाँ हैं? उन्होंने कहा, यहाँ हैं। उस फकीर ने पूछा, लेकिन यह नर्क है! सुकरात नर्क में? तो जिस आदमी से उसने पूछा था, उसने कहा, चलो मैं तुम्हें सुकरात से मिला देता हूँ। एक खेत में सुक-

रात गड्ढा खोद रहा था। उसने सुकरात से पूछा कि तुम सुकरात और यहाँ नर्क में? अच्छे आदमी और नर्क में? तो सुकरात हँसने लगा। उसने कहा, तुम अभी भी गलत व्याख्याएँ किये जा रहे हो। तुम कहते हो कि अच्छा आदमी स्वर्ग में जाता है। हम कहते हैं अच्छा आदमी जहाँ जाता है, वहाँ स्वर्ग हो जाता है। तो गलत ही बात है, व्याख्या भी तुम अपनी बाइबिल से गलत किये जा रहे हो। हम कहते हैं, अच्छा आदमी जहाँ जाता है, वहाँ स्वर्ग हो जाता है, बुरा आदमी जहाँ जाता है वहीं नर्क हो जाता है। अच्छे आदमी स्वर्ग में नहीं जाते।

स्वर्ग कोई 'रेडिमेड' जगह नहीं है कि वहाँ कोई चला गया। स्वर्ग अच्छे आदमी का निर्माण है। उसके भीतर जब अच्छा निर्मित हो जाता है, तो बाहर अच्छा फैल जाता है।

स्वर्ग अच्छे आदमी की छाया है। वह अच्छे आदमी की सुगन्ध है। वह अच्छे आदमी के प्राणों की वीणा से उठा संगीत है। नर्क कोई स्थान नहीं है। वह बुरे आदमी के जीवन से उठे विसंगीत का फैल जाना है। वह बुरे आदमी के भीतर से उठी दुर्गन्धों का छा जाना है, वह बुरे आदमी के भीतर जो भी विक्षिप्तता है, उसका बाहर तक उतर आना है।

तो कृष्ण जब अर्जुन से कहते हैं कि 'स्वर्ग का क्षण है, उसे तू खो रहा है।' तो एक ही बात ध्यान में रखनी है कि कृष्ण कह रहे हैं कि अर्जुन यह तेरे आंतरिक व्यक्तित्व के लिए जो शिखर अनुभव हो सकता है, उसका क्षण है और तू उसे खो रहा है।

● **प्रश्नकर्ता** : भगवान् श्री, साधन के मार्ग भिन्न-भिन्न होने पर बुद्ध, महावीर, रमण की भीतरी अनुभूति में बड़ा फर्क पड़ जाता है। ऐसा क्यों होता है?

भगवान् श्री : अनुभूति में तो कभी भेद नहीं होता, लेकिन अभिव्यक्ति में बहुत भेद होता है। और जो लोग अभिव्यक्ति को देखकर ही सोचते हैं, उन्हें विरोध भी दिखायी पड़ सकता है। साधारण नहीं, असाधारण दुश्मनी और शत्रुता दिखायी पड़ सकती है। क्योंकि अभिव्यक्ति, अनुभूति से नहीं आती, अभिव्यक्ति, आती है व्यक्तित्व से। इस फर्क को समझ लेना जरूरी है।

मैं एक बगीचे में जाऊँ। वहाँ फूल खिले हैं, पक्षी गीत गा रहे हैं। एक रुपया पड़ा है। अगर मैं रुपये का मोही हूँ, तो मुझे फूल दिखायी नहीं पड़ेंगे। मुझे पक्षी के गीत सुनायी पड़ते हुए भी सुनायी नहीं पड़ेंगे। सब खो जायेगा, रुपया ही दिखायी पड़ेगा—'इम्फेटिकली' मुझे रुपया ही दिखायी पड़ेगा। रुपया मेरी जेब में आ जाय, तो शायद पक्षी का गीत भी सुनायी पड़ेगा। लेकिन एक

कवि प्रवेश कर गया है, उसे रुपया दिखायी ही नहीं पड़ेगा। जहाँ पक्षी गीत गा रहे हैं, वहाँ जिसे रुपया दिखायी पड़ जाय, तो वह आदमी कवि नहीं है। उसका सारा व्यक्तित्व पक्षी के गीतों की तरफ बह जायेगा। चित्रकार है, उसका सारा व्यक्तित्व रंगों के लिए बह जायेगा। फिर वे तीनों एक ही बगीचे से होकर लौटें और गाँव में आने पर, हम उनसे पूछें कि क्या देखा?

बगीचा एक था, जहाँ वे गये थे। लेकिन अभिव्यक्ति भिन्न होगी। अभिव्यक्ति में चुनाव होगा। जो जिसने देखा होगा या जो जिसने पकड़ा होगा या जो जिसको प्रगट कर सकता होगा, वह वैसे ही प्रगट करेगा।

मीरा भी गयी है उस जगत् में अनुभूति के, लेकिन लौटकर नाचने लगी। महावीर की लौटकर नाचने की कल्पना भी नहीं कर सकते हम। सोच भी नहीं सकते कि महावीर और नाचें। उनके व्यक्तित्व में नाचने की कोई जगह ही नहीं है। महावीर भी उस जगत् से लौटे हैं, तो वे नाचते नहीं। उस जगत् की जो खबर वे लाये हैं, वह खबर वे अपने ही ढंग से प्रगट करेंगे। उनकी खबर उनकी अहिंसा से प्रगट होनी शुरू होती है। उनके शील से, उनके चरित्र से, उनके उठने-बैठने से—छोटी-छोटी चीज से प्रगट होती है कि वे अद्वैत को जानकर लौटे हैं।

रात को महावीर एक ही करवट सोते हैं, करवट नहीं बदलते। कोई पूछता है महावीर से कि आप रात भर एक ही करवट क्यों सोते हैं? तो वे कहते हैं कि कहीं करवट बदलूँ और कोई कीड़ा-मकोड़ा दबकर दुःख पाये, इसलिए एक ही करवट, कम से कम, 'द लीस्ट' जो संभव है, वही उचित है। पर एक करवट तो सोनी ही पड़ेगी। एक करवट ही सोये रहते हैं, रात भर पैर नहीं हिलाते कि रात के अँधेरे में कोई दब जाये, कोई दुःख पाये। अब इस व्यक्ति के अद्वैत की जो अनुभूति है, वह अहिंसा से प्रगट हो रही है। महावीर यही कह रहे हैं कि एक ही है, क्योंकि जब तक कीड़ा-मकोड़ा मैं ही नहीं हूँ, तब तक उसके लिए इतनी चिन्ता पैदा नहीं होती। लेकिन यह महावीर का अपना ढंग है, यह उनके व्यक्तित्व से आ रहा है।

मीरा नाच रही है। उसने जो जाना है, वह उसके भीतर, नाच की तरह अभिव्यक्त हो रहा है। वह नाच ही सकती है। वह जो खुशी, वह जो आनंद उसके भीतर भर गया है, अब कोई शब्द उसे प्रगट नहीं कर सकते। वह तो उसके घुंघरुओं से प्रगट होगा। वह उसी अद्वैत को, 'पग घुंघरू बाँध' खबर लायेगी।

अब अगर महावीर और मीरा को आमने-सामने करें, तो हम कहेंगे कि इनकी अनुभूतियाँ अलग होनी चाहिए। कहाँ बजता हुआ घूंघर, कहाँ रात करवट न लेता हुआ आदमी! कहाँ नाचती हुई मीरा के न मालूम कितने पैर पृथ्वी पर पड़े, और कहाँ महावीर—कि एक-एक पैर को सम्हालकर रखते हैं, फूंककर रखते हैं। वर्षा आ जाती है तो चलते नहीं, जमीन गीली हो तो पैर नहीं उठाते, ताकि कहीं कोई कीड़ा न दब जाय। और कहाँ नाचते हुए पैर मीरा के! बड़ा विपरीत है! महावीर कहेंगे बहुत हिंसा हुई जा रही है। मीरा कहेगी, यदि नाच ही नहीं रहे हो, तो कहाँ जाना उसको! क्योंकि उसे जानकर जो नहीं नाचा, तो जाना ही कहाँ?

फिर शंकर जैसा व्यक्ति है, वह भी जानकर आता है वहाँ से। तो वह कहता है कि एक ब्रह्म ही सत्य है, बाकी सब माया है। बुद्ध जैसा व्यक्ति है, जो कहता है, कोई ब्रह्म नहीं है। शून्य है सब। तो कुछ उल्टी बातें कहते हैं तो विवाद दिखायी पड़ता है, बड़ा विरोध दिखायी पड़ता है।

शंकर और बुद्ध से ज्यादा विरोधी आदमी खोजना मुश्किल है, क्योंकि एक कहता है, 'पॉजिटिव' है सब, विधायक है सब, और एक कहता है 'निगेटिव' है सब, नकारात्मक है सब। लेकिन वह भी व्यक्तित्व की 'एम्फेसिस' है, वह भी व्यक्तित्व का ही प्रभाव है। जो जानकर वे लौटे हैं, वह करीब-करीब ऐसा है—जैसे कि कोई गिलास आधा भरा हो और दो आदमी उसे देखकर आये हों, और एक आदमी आकर कहे कि गिलास आधा खाली है और एक आदमी कहे कि झूठ, गिलास आधा भरा है। एक खाली पर जोर दे और एक भरे पर जोर दे, तो विवाद निश्चित हो जाने वाला है, क्योंकि भरा और खाली बड़े विपरीत शब्द हैं। बिलकुल ही हो जाने वाला है विवाद!

बर्नार्ड शॉ के संबंध में मैंने सुना है कि वे अमेरिका गये बहुत-बहुत निमंत्रणों के बाद। क्योंकि सदा वे कहते रहे कि अमेरिका बड़ा नासमझ, 'ईडियोटिक' मुल्क है। ऐसे मूढ़ों के बीच में जाकर क्या करूँगा। इधर वे गाली देते रहे, उधर अमेरिका में आकर्षण बढ़ता गया। जिसको गाली दिया जाता है, उसके प्रति भी आकर्षण तो बढ़ ही जाता है। बहुत निमंत्रण थे, तो बर्नार्ड शॉ गये। जिस जगह उन्हें उतारा गया, वहाँ इतना भीड़-भड़क्का हो गया और इतना खतरा था कि कोई झगड़ा न हो जाय, तो उन्हें चोरी से पहले ही दूसरी जगह उतार कर ले जाया गया।

पहली ही सभा में बर्नार्ड बोले कि उपद्रव शुरू हो गया। वे पहली ही सभा

में बोले तो उन्होंने कहा, जहाँ तक मैं देख पा रहा हूँ, यहाँ मौजूद कम से कम पचास प्रतिशत आदमी बिलकुल महामूर्ख हैं। जो अध्यक्ष था, वह घबड़ा गया और लोग चिल्लाने लगे कि शर्म! शर्म! वापस लो अपने शब्द! अध्यक्ष ने कहा, आपने शुरू से ही उपद्रव की बात कही है, किसी तरह लोगों को समझाइए।

तब बर्नार्ड शॉ ने कहा, नहीं! नहीं! मैं क्या कहना चाह रहा था, और मुझसे बड़ी गलती हो गयी। मैं कह रहा था कि जहाँ तक दिखायी पड़ता है, यहाँ उपस्थित पचास प्रतिशत लोग बहुत बुद्धिमान मालूम पड़ते हैं। तो लोगों ने तालियाँ बजायीं कि यह बात ठीक कही गयी है। और बर्नाड शॉ ने झुककर अध्यक्ष को कहा कि 'कन्फर्म्‌ड' हो गया कि पचास प्रतिशत यहाँ बिल्कुल गधे हैं। लेकिन इन दो वक्तव्यों में बड़ा फर्क मालूम पड़ता है। बात तो वही है।

शंकर और बुद्ध के बीच भी ऐसा ही मामला है। **बुद्ध को नकारात्मक शब्द प्रिय हैं।** उसके कारण हैं, उनके व्यक्तित्व में 'साइकोलॉजिकल' कारण हैं। बुद्ध आ रहे हैं समृद्ध घर से। जहाँ सब 'पॉजिटिव' है। महल था, राज्य था, धन था, स्त्रियाँ थीं, सब था। इतना ज्यादा था सब कि बुद्ध के लिए 'पॉजिटिव' शब्द में कोई रस नहीं रह गया था। इतना सब भरा था कि अब बुद्ध के लिए खाली होने में रस है।

शंकर एक गरीब ब्राह्मण के लड़के हैं, जहाँ कुछ भी नहीं है। भिखारी घर से वे आ रहे हैं, जहाँ कुछ भी नहीं था। जहाँ झोपड़ा था, जिसमें कुछ भी नहीं था। शंकर का रस 'नहीं' में नहीं हो सकता। 'नहीं' तो बहुत देखी, शंकर का रस 'है' में है, 'पॉजिटिव' में है। तो शंकर के लिए ब्रह्म जब प्रकट होगा, तो वह होगा—'सब' है। और बुद्ध के लिए जब ब्रह्म प्रगट होगा तो ऐसा होगा कि—सब खाली है। यह 'साइकोलॉजिकल टाइप' का फर्क है। इसमें अनुभूति का जरा भी फर्क नहीं है।

शंकर और बुद्ध तो बहुत दूर हैं। बुद्ध के वक्त ही महावीर एक ही साथ, एक ही इलाके में थे। और कभी-कभी तो ऐसा हुआ कि एक ही गाँव में दोनों थे। वे दोनों समकालीन (कन्टेम्परेरी) हैं। टाइप में भी कोई बहुत फर्क नहीं होना चाहिए, क्योंकि महावीर भी शाही घर से आते हैं। बुद्ध भी शाही घर से आते हैं। दोनों साथ-साथ हैं। एक बार तो ऐसा हुआ कि एक गाँव में आधी धर्मशाला में महावीर ठहरे थे, आधी धर्मशाला में बुद्ध ठहरे थे। फिर भी बातचीत नहीं हो सकी। फिर भी मिलना नहीं हुआ।

श्रौर बातें भी उनकी बड़ी विपरीत हैं। क्योंकि **महावीर कहते हैं कि आत्मा को जान लेना ही ज्ञान है श्रौर** बुद्ध कहते हैं, **जो आत्मा को मानता है, उससे बड़ा अज्ञानी कोई नहीं है।** अब श्रौर क्या विरोध हो सकता है! तलवारें सीधी खिची हैं। महावीर कहते हैं, आत्मा को जान लेना ही ज्ञान है श्रौर बुद्ध कहते हैं, आत्मा? आत्मा को मानने वाले से बड़ा कोई अज्ञानी नहीं है। श्रौर फिर भी मैं आपसे कहता हूँ कि **दोनों एक ही बात कह रहे हैं।** फिर भी मैं आपसे कहता हूँ कि **वक्तव्य विरोधी हैं, अनुभूति विरोधी जरा भी नहीं है।** फिर ये क्यों ऐसे वक्तव्य हैं?

शब्दों के अर्थ उस परम अनुभूति में बहुत निजी श्रौर प्राइवेट हो जाते हैं। एक तो हमारी 'कॉमन मार्केट' की, बाजार की भाषा है, जहाँ सब शब्द 'कॉमन' (साधारण) हैं। अगर हम कहते हैं मकान, तो मेरा वही मतलब होता है, जो आपका है। वैसे गहरे में फर्क होता है। लेकिन ऊपर से काम चलने लायक बराबर होता है। जब मैं कहता हूँ मकान, तो मुझे मेरा मकान ख्याल में होता है श्रौर आपको अपना मकान ख्याल में होता है। अगर हम दोनों मकान की तस्वीर खींचें तो फर्क पड़ जायेगा। जब मैं कहता हूँ कुत्ता, तो मेरा अपना अनुभव है कुत्तों का, वही होता है उस शब्द में। आपका अपना अनुभव है, वही होता है उस शब्द में। हो सकता है कुत्तों से मैंने जो जाना हो, वह प्रीतिपूर्ण हो श्रौर आपने सिवाय कुत्तों से, बचपन से ही डर के अलावा कुछ भी न जाना हो, जब भी गली से निकले हों तब कुत्ता भौंका हो। जब 'कुत्ता' शब्द बोलते हैं, तो शब्द बिल्कुल सामान्य होता है। लेकिन भीतर अगर हम खोजने जायें, तो आपका कुत्ता श्रौर होगा, मेरा कुत्ता श्रौर होगा। लेकिन कामचलाऊ दुनिया है शब्दों की, वहाँ चल जाता है।

जैसे-जैसे गहरी अनुभूति में उतरते हैं—जो कि बाजार में नहीं है, जो कि एकान्त में है, वहाँ मुश्किल बढ़नी शुरू हो जाती है। जब **महावीर कहते हैं**—आत्मा, तो उनका अपना निजी अर्थ है। यह बिलकुल 'प्राइवेट लेंग्वेज' है। महावीर का मतलब होता है—आत्मा से, जहाँ अहंकार नहीं है। **अहंकार को छोड़कर जो भीतर शेष रह जाता है, वही आत्मा है।** श्रौर तब वे कहते हैं, आत्मा को जान लेना ज्ञान है। श्रौर **आत्मा को जान लेने का मार्ग अहंकार का विसर्जन है।** अगर हम अहंकार को शून्य कर दें स्वयं से, तो जो बचता है, महावीर के लिए वही आत्मा है। बुद्ध आत्मा से अहंकार का ही मतलब लेते हैं। वे कहते हैं, जहाँ तक 'मैं' का स्वर है, श्रौर आत्मा का मतलब है 'मैं',

वहाँ तक अहंकार है। तो बुद्ध जहाँ-जहाँ आत्मा कहते हैं, वहाँ-वहाँ उनका मतलब होता है अहंकार।

बुद्ध ने जिस शब्द का उपयोग किया है आत्मा के लिए, वह है 'अत्ता'। **'अत्ता'** बहुत बढ़िया शब्द है। आत्मा में भी वह बात नहीं है, जो अत्ता में है, पाली भाषा के। अत्ता का मतलब ही होता है 'द एनफोर्स्ड इगो'। अत्ता शब्द के स्वर में श्रौर दबाव में भी है—मैं। बुद्ध कहते हैं: जहाँ-जहाँ अत्ता है, जहाँ-जहाँ 'मैं' है, वहाँ-वहाँ अज्ञान है। श्रौर जो आदमी अत्ता को मानता है, आत्मा को मानता है, वह अज्ञानी है। लेकिन बुद्ध भी कहते हैं कि जो अत्ता को छोड़ देता है, तब जो शेष रह जाता है, वही ज्ञान है।

इसीलिए बुद्ध को लोग कहते हैं—अनात्मवादी श्रौर महावीर को कहते हैं—आत्मवादी। श्रौर वे दोनों एक ही बात कह रहे हैं, **वहाँ वाद का कोई उपाय नहीं है, वाद शब्दों तक है।** वाद अभिव्यक्ति तक है। वाद **'एक्सप्रेशन' में है, 'एक्सपीरिएंस' में नहीं।** लेकिन बड़ी कठिनाई है, बड़ी कठिनाई है।

हमारे पास तो शब्द आते हैं। श्रौर शब्द भी पण्डितों के द्वारा आते हैं। शब्द भी शास्त्रीयता के मार्ग से गुजर कर आते हैं। शब्द ही रह जाते हैं। श्रौर अक्सर ऐसा नहीं हो पाता कि हम अनुभूति से खोजने जायें कि महावीर कहते हैं कि अहंकार छोड़ दो, तो जो बचता है, वह आत्मा है। हम अहंकार छोड़कर देखें। बुद्ध कहते हैं कि आत्मा के भाव को ही छोड़ दो, तब जो शेष रह जाता है, वही समाधि है। वह भी करके देखें, तब आपको पता चलेगा कि बड़ा पागलपन का विवाद था। ये तो दोनों एक ही जगह पहुँचा देते हैं, लेकिन इतनी किसी को फुरसत नहीं है।

हम शब्दकोष से सुनते हैं, दर्शनशास्त्र में पढ़ते हैं। बौद्ध पंडित हैं, जैन पंडित हैं, हिन्दू पंडित हैं, उनके पास शब्दों के सिवाय कुछ भी नहीं हैं। वे उन शब्दों की व्याख्याएं करते चले जाते हैं। फिर प्रत्येक निजी शब्द के पास.... निजी कह रहा हूँ, क्योंकि इतना एकान्त अनुभव है—महावीर श्रौर बुद्ध श्रौर शंकर का, मामला प्राइवेट ही है। वह बहुत 'पब्लिक' नहीं है। उस निजी शब्द के आस-पास व्याख्याओं का जाल बुनता चला जाता है। फिर जाल इतना बड़ा हो जाता है कि महावीर के आस-पास जो जाल खड़ा हुआ वह, बुद्ध के आस-पास जो जाल खड़ा हुआ वह, शंकर के आस-पास जो जाल खड़ा हुआ है वह, वे सब इतने दुश्मन हो जाते हैं—हजार दो हजार साल की यात्रा

में—कि वह जो बीच में मूल शब्द था और शब्द के भी मूल में जो अनुभूति थी, वह कहीं की कहीं खो जाती है, उसका कहीं भी पता नहीं रहता।

इसीलिए अड़चन है, अन्यथा अनुभूति कभी भी भिन्न नहीं है, अभिव्यक्ति भिन्न हो सकती है, होती है। उसके एक होने की संभावना ही नहीं है। जिस दिन मनुष्य यह जान पायेगा, उस दिन धर्मों के बीच विवाद नहीं होगा और जितने जल्दी जान ले, उतना शुभ है। क्योंकि धर्मों के बीच सारा विवाद, भाषा का विवाद है, परन्तु सत्य का विवाद नहीं है। और जो लोग भाषा के लिए विवाद कर रहे हैं, कम से कम वे धार्मिक तो नहीं ही हैं। शब्द शास्त्रीय होंगे, 'लिंग्विस्टिक' होंगे, मगर जब शब्द-शास्त्री अपने को धार्मिक समझ लेते हैं, तब बड़ी कठिनाई हो जाती है।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ ३८॥

यदि तुझे स्वर्ग तथा राज्य की इच्छा न हो, तो भी सुख-दुख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान समझकर, उसके उपरान्त युद्ध के लिए तैयार हो। इस प्रकार युद्ध को करने से तू पाप को नहीं प्राप्त होगा।

भगवान् श्री : 'सुख और दुःख को समान समझ कर, लाभ और हानि को समान समझ कर, जय और पराजय को समान समझ कर युद्ध में प्रवृत्त होने पर पाप नहीं लगेगा'—कृष्ण का यह वक्तव्य बहुत 'केटेगॉरिकल', बहुत निर्णायक है। पाप और पुण्य को थोड़ा समझना पड़ेगा।

साधारणतः हम समझते हैं कि पाप एक कृत्य है और पुण्य भी एक कृत्य है, लेकिन यहाँ कृष्ण कह रहे हैं कि पाप और पुण्य कृत्य नहीं हैं; भाव हैं। अगर पाप और पुण्य कृत्य हैं, 'एक्ट' हैं, तो इससे क्या फर्क पड़ता है कि मैं लाभ-हानि को बराबर समझूँ या न समझूँ? अगर मैं आपकी हत्या कर दूँ, और लाभ-हानि बराबर समझूँ, तो आपकी हत्या के कृत्य में कौन सा फर्क पड़ जायेगा? अगर मैं एक घर में चोरी करूँ, लाभ-हानि को बराबर समझ कर, तो यह पाप नहीं होगा और लाभ-हानि को बराबर न समझूँ तो यह पाप होगा। तब इसका मतलब यह हुआ कि पाप और पुण्य का कृत्य से, 'एक्ट' से कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि व्यक्ति के भाव से संबंध है। यह तो बहुत विचारने की बात है।

हम सब तो पाप और पुण्य को कृत्य से बांधकर चलते हैं। हम कहते हैं, बहुत बुरा काम किया। हम कहते हैं, बहुत अच्छा काम किया। कृष्ण तो इस

पूरी की पूरी व्यवस्था को तोड़े डालते हैं। वे कहते हैं : काम अच्छे और बुरे होते ही नहीं, करने वाला अच्छा और बुरा होता है।' नॉट द एक्ट, बट द एक्टर'—कृत्य नहीं कर्ता! जो होता है वह नहीं, जिससे होता है वह! लेकिन मनुष्य की सारी नीति कृत्य पर निर्भर है। वह कहती है, यह काम बुरा है और यह काम अच्छा है। अच्छे काम करो और बुरे काम मत करो। कौन सा काम बुरा है? कौन सा काम अच्छा है? क्योंकि कोई भी काम 'एटॉमिक' नहीं है, आणविक नहीं है। काम एक शृंखला है। समझें, उदाहरण से।

आप रास्ते से गुजर रहे हैं, एक आदमी आत्महत्या कर रहा है, आप उसे बचायें या न बचायें, पर स्वभावतः आप कहेंगे कि आत्महत्या करने वाले को बचाना चाहिए, कृत्य अच्छा है। लेकिन आप उसे बचा लेते हैं और कल वह पन्द्रह आदमियों की हत्या कर देता है। आप नहीं बचाते तो पन्द्रह आदमी बचते थे। आपने बचाया तो पन्द्रह आदमी मरे। कृत्य आपका अच्छा था या बुरा था? कृत्य एक 'सीरीज' है, शृंखला है—अंतहीन। आप समाप्त हो जायेंगे, आपका कृत्य समाप्त नहीं होगा, वह चलता रहेगा। आप मर जायेंगे और आपने जो किया था, वह चलता रहेगा।

आपने एक बेटा पैदा किया। यह बेटा पैदा करना अच्छा है या बुरा? यह बेटा कल हिटलर बन सकता है। यह एक करोड़ आदमियों को मार डाल सकता है। लेकिन यह बेटा कल हिटलर बनकर एक करोड़ आदमियों को मार डाले, तो भी कृत्य अच्छा है या बुरा? क्योंकि वह एक करोड़ आदमी क्या करते अगर बचते, इस पर सब निर्भर होगा। लेकिन यह शृंखला तो अनंत होगी।

कृत्य 'इंडिवीजुअल' नहीं है। कृत्य के पास कोई आणविक इन्तजाम नहीं है। वह बड़ी शृंखला की एक कड़ी है। बस एक कड़ी है और आगे शृंखला अंतहीन है। आप चले जायेंगे और कृत्य जारी रहेगा। जैसे कि हमने पत्थर फेंका एक झील में, पत्थर डूब गया। लेकिन पत्थर का, झील से जो संघात हुआ था, वह जो लहर उठ गयी थी, वह उठ गयी। अब वह चल पड़ी। अब वह लहर, और लहरों को, और लहरों को, उठाती रहेगी। पत्थर तो कभी का शांत होकर बैठ गया और लहर अनंत चलती रहेगी, अनंत तटों को छूती रहेगी। करीब-करीब कृत्य ऐसा ही है।

आप करते हैं, आप तो बाहर हो जाते हैं करके, कृत्य चल पड़ता है। इस लिए कौन सा कृत्य ठीक है? जब तक हम पूरे विश्व का अन्त न पा लें, तब तक तय नहीं हो सकता। जब तक कि सारी सृष्टि समाहित न हो जाय, तब

तक तय करना मुश्किल है कि महात्मा ने जो किया था, वह अच्छा था, कि असाधु ने जो किया था, वह अच्छा था ?

मैं अभी पश्चिम के एक विचारक का, एक हैरानी से भरा हुआ वक्तव्य पढ़ रहा था। उसने यह पूछा है कि अगर एक आदमी दूसरे महायुद्ध के पहले हिटलर को गोली मार दे, तो यह कृत्य अच्छा है या बुरा ? बात तो ठीक पूछता है। अगर एक आदमी दूसरे महायुद्ध के पहले हिटलर को गोली मार दे, तो यह कृत्य शुभ है या अशुभ ? क्योंकि यह आदमी करोड़ों आदमियों को मरने से बचा रहा है। बड़ी बर्बादी को रोक रहा है। लेकिन एक आदमी को सजा होगी और सारी दुनियाँ में इसके कृत्य का विरोध होता है कि इसने गलत काम किया है। तो हम सभी लोग कृत्य से सोचते हैं और दुनिया के समस्त नीतिशास्त्र कृत्य पर जोर देते हैं कि यह ठीक है और यह गलत है।

कृष्ण इससे उल्टी बात कह रहे हैं। वे कह रहे हैं कि यह सवाल नहीं है कि तुमने जो किया है, वह ठीक है या गलत, गहरे में सवाल दूसरा है। और वह सवाल यह है कि तुम कौन हो ? तुम क्या हो, तुम्हारी मनोदशा क्या है ? इस पर सब निर्भर है।

मेरी दृष्टि में भी, कृत्य पर आधारित जो नीति है, वह बहुत बचकानी है, 'चाइल्डिश' है। लेकिन हम सभी ऐसा ही सोचते हैं।

कृष्ण कह रहे हैं, व्यक्ति की भावदशा क्या है ? और वे एक सूत्र दे रहे हैं कि अगर लाभ और हानि बराबर है, अगर सुख और दुःख समान हैं, अगर जय और पराजय में कोई अन्तर नहीं है, तो तू जो भी करेगा, उसमें कोई पाप नहीं है। अर्जुन क्या करे, इसकी वे कोई शर्त ही नहीं रखते। कहते हैं, फिर तू जो भी करेगा, उसमें कोई पाप नहीं है।

विचारणीय है, और गहरी बात है। क्योंकि कृष्ण यह कह रहे हैं कि दूसरे को चोट पहुँचाने की बात तभी तक होती है, जब तक लाभ और हानि में अन्तर होता है। 'जिसे लाभ और हानि में अन्तर ही नहीं है'....शर्त बड़ी मुश्किल है। क्योंकि लाभ और हानि में अन्तर न हो, यह बड़ी गहरी से गहरी उपलब्धि है। ऐसा व्यक्ति, जिसे लाभ और हानि में अन्तर नहीं है, क्या ऐसा कोई भी कृत्य कर सकता है, जिसे हम पाप कहते हैं ! जिसे जय और पराजय समान हो गयी हो, जिसे असफलता और सफलता खेल हो गये हों, जो दोनों को एक सा स्वागत, स्वीकृति देता हो, जिसकी दोनों के प्रति समान उपेक्षा या समान स्वीकृति हो, क्या ऐसा व्यक्ति गलत कर सकता है ?

कृष्ण का जोर व्यक्ति पर है, कृत्य पर नहीं। और व्यक्ति के पीछे जो शर्त है, वह बहुत बड़ी है। वह शर्त यह है कि उसे द्वन्द्व समान दिखायी पड़ने लगे, जिसे प्रकाश और अँधेरा समान दिखायी पड़ने लगे। यह तो गहरी समाधि की अवस्था में ही सम्भव है। इसलिए ऊपर से तो वक्तव्य ऐसा दिखता है कि कृष्ण अर्जुन को बड़ी स्वच्छंद छूट दे रहे हैं; क्योंकि अब वह कुछ भी कर सकता है। ऊपर से ऐसा लगता है कि इससे तो स्वच्छंदता फलित होगी, अब तुम कुछ भी कर सकते हो, लेकिन कृष्ण अर्जुन को गहरे से गहरे रूपांतरण और 'ट्रांसफॉर्मेशन' में ले जा रहे हैं—स्वच्छंदता में नहीं।

असल में जिस व्यक्ति को जय और पराजय समान है, वह कभी भी स्वच्छंद नहीं हो सकता। उपाय नहीं है, जरूरत नहीं है, प्रयोजन नहीं है।

लाभ के लिए ही आदमी पाप में प्रवृत्त होता है, हानि से बचने के लिए ही आदमी पाप में प्रवृत्त होता है। एक आदमी असत्य बोलता है। दुनिया में कोई भी आदमी असत्य के लिए असत्य नहीं बोलता है, लाभ के लिए असत्य बोलता है। अगर दुनिया में सत्य बोलने से लाभ होने लगे, तो असत्य बोलने वाला मिलेगा ही नहीं। तब बड़ी मुश्किल से खोजना पड़ेगा। कोई त्यागी, महात्यागी असत्य बोले, बात अलग। कोई बड़ा संकल्पवान तय ही कर ले कि असत्य बोलूँगा तो बात अलग है। लेकिन अगर सत्य के साथ लाभ होता हो, तो असत्य बोलने वाला कोई नहीं मिलेगा। तब तो इसका मतलब हुआ कि असत्य कोई नहीं बोलता। लाभ ही असत्य का मार्ग लेता है। हानि से बचना ही असत्य का मार्ग लेना है। आदमी चोरी के लिए चोरी नहीं करता, लाभ के लिए चोरी करता है। कोई दुनिया में चोरी के लिए चोरी नहीं करता। आज तक दुनिया में किसी ने भी कोई पाप लाभ के अतिरिक्त और किसी कारण से नहीं किया या हानि से बचने के लिए किया, दोनों एक ही बात है। और मजे की बात है कि पुण्य भी आदमी लाभ के लिए करता है या हानि से बचने के लिए करता है।

प्लेटो ने एक छोटी सी कहानी लिखी है। और कहानी है एक नैतिक प्रश्न उठाने के लिए। कहानी है कि एक आदमी को यदि कोई ऐसी तरकीब मिल जाय कि वह 'इनविजिबल' हो सके, अदृश्य हो सके—जब चाहे तब अदृश्य हो सके, तो प्लेटो पूछता है कि क्या ऐसा आदमी नैतिक हो सकेगा ? वह आपकी दूकान पर आये और हीरे-जवाहरात उठा ले, पुलिस उसे पकड़ न पाये, समाज उसे अनैतिक कह न पाये। वह किसी के घर में रात घुस जाये, दिखायी न पड़े,

अदृश्य हो सके....तो प्लेटो ने पूछा है कि क्या ऐसा नैतिक आदमी खोजना संभव है, जिसके हाथ में अदृश्य होने की ताबीज हो, और जो नैतिक रह जाय। बड़ा कठिन मालूम पड़ता है ऐसा आदमी खोजना।

आप भी अगर सोचें कि आपको ताबीज मिल गया, सिर्फ पाँच मिनट के लिए सोचें कि हाथ में ताबीज है; तब क्या करियेगा। आपका मन फौरन रास्ते बतायेगा कि यह-यह करो : पड़ोसी की पत्नी को ले भागो, फलाँ आदमी की कार ले भागो, फलाँ की दुकान में घुस जाओ। फौरन आपका मन आपको रास्ते बता देगा। अभी मिली नहीं ताबीज आपको, लेकिन ताबीज मिल जाय, इसका ख्याल भी आपको फौरन बता देगा कि आप क्या-क्या कर सकते हो—जो कि आप अभी नहीं कर पा रहे हो, क्योंकि अनैतिक होने में हानि मालूम पड़ रही है। और कोई कारण नहीं है। इस जगत में जो हमें नैतिक और अनैतिक लोग दिखायी पड़ते हैं, उनके नैतिक और अनैतिक होने का निर्णायक सूत्र लाभ और हानि है।

कृष्ण नीति को बड़े दूसरे तल पर ले जा रहे हैं, बिलकुल अलग 'डायमेंशन' में। वे यह कह रहे हैं कि नीति का तो सवाल ही नहीं है। इसीलिए तो जो शक्तिशाली होता है, वह नीति-अनीति की फिक्र नहीं करता। इसलिए अगर चाणक्य से पूछें या मैक्यावेलो से पूछें, तो कहेंगे कि नीति का कोई मतलब नहीं होता, नीति सिर्फ कमजोरों का बचाव है। शक्तिशाली तो किसी नीति की फिक्र नहीं करता, क्योंकि उसे अनीति से कोई हानि नहीं हो सकती। सिर्फ कमजोर ही नीति की फिक्र करता है, क्योंकि अनीति से हानि हो सकती है। मैक्यावेलो तो सुझाव देता है कि अगर तुम्हारे पास शक्ति है, तो शक्ति का मतलब ही यह है कि तुम अनैतिक होने के लिए स्वतंत्र हो। अगर कमजोर हो तो उसका मतलब ही है कि अभी नैतिक होने की मजबूरी है।

नीति और अनीति के गहरे में लाभ-हानि ही आधार हैं।

दुनिया रोज अनैतिक होती जा रही है, ऐसा हमें लगता है। कुल कारण इतना है कि दुनिया में इतने लोग शक्तिशाली कभी नहीं थे, जितने आज हैं। कुल कारण इतना ही है। दुनिया अनैतिक होती हुई दिखायी पड़ती है, क्योंकि दुनिया में इतना धन इतने अधिक लोगों के पास कभी भी नहीं था। जिनके पास था, वे सदा अनैतिक थे। दुनिया अनैतिक होती मालूम पड़ती है, क्योंकि अतीत की दुनिया में राजाओं-महाराजाओं के हाथ में ताकत थी। नयी दुनिया लोकतंत्र है, वहाँ एक-एक व्यक्ति के पास शक्ति वितरित कर दी गयी है। अब

प्रत्येक व्यक्ति शक्ति के मामले में ज्यादा समर्थ है, जितना कभी भी नहीं था। दुनिया अनैतिक होती मालूम पड़ती है, क्योंकि इतने लोग शिक्षित कभी नहीं थे और शिक्षा एक शक्ति है। जो लोग शिक्षित थे, उनके नैतिक होने का कभी भरोसा नहीं था।

जितनी शिक्षा बढ़ेगी, उतनी अनीति बढ़ जायेगी; जितनी समृद्धि बढ़ेगी, उतनी अनीति बढ़ जायेगी; जितनी शक्ति बढ़ेगी, उतनी अनीति बढ़ जायेगी। मजा यह है कि नीति और अनीति के बहुत गहरे में, लाभ-हानि ही बैठी है। इसलिए कृष्ण का यह वचन बड़े गहरे 'इम्प्लिकेशंस' रखता है। वे अर्जुन से कहते हैं, जब तक तुझे लाभ और हानि में भेद है, तब तक तू जो भी करेगा, वह पाप है? और जब तुझे लाभ-हानि में कोई भेद नहीं रहे, उस दिन तू निश्चित हो। फिर तू जो भी करेगा, वह पाप नहीं है।

इसलिए सवाल नहीं है यह कि हम चुनें कि क्या करणीय है और क्या कर-णीय नहीं है। असली सवाल और गहरे में है और वह यह है कि क्या मेरे चित्त में लाभ और हानि का प्रभाव पड़ता है? अगर पड़ता है, तो मैं मंदिर भी बनाऊँ तो पाप होगा, उसके बहुत गहरे में लाभ-हानि ही होगी। अगर मैं पुण्य भी करूँ तो सिर्फ दिखायी पड़ेगा कि पुण्य हो रहा है। पीछे पाप ही होगा। और सब पुण्य करने के लिए, पहले पाप करना जरूरी होता है। मंदिर बनाना हो तो भी—मंदिर बनाने के लायक तो धन इकट्ठा करना ही होता है। सब पुण्यों के लिए पाप करना जरूरी होता है; क्योंकि कोई पुण्य बिना लाभ के नहीं हो सकते। दान के पहले भी चोरी करनी पड़ती है। असल में जितना बड़ा चोर हो, उतना ही बड़ा दानी हो सकता है। असल में बड़ा दानी सिर्फ अतीत का चोर है। आज का चोर कल का दानी हो सकता है, क्योंकि चोरी करके भी करियेगा क्या? एक सीमा आ जाती है 'सेच्युरेशन' की, जहाँ चोरी से फिर लाभ नहीं मिलता, उसके बाद दान करने से लाभ मिलना शुरू होता है।

कृष्ण का वक्तव्य बहुत अद्भुत है। वे कहते हैं कि तू लाभ और हानि का जब तक भेद कर पा रहा है, तब तक तू कितनी ही पुण्य की बातें कर, लेकिन तू जो भी करेगा वह पाप है। और अगर तू यह समझ ले कि लाभ-हानि में कोई फर्क नहीं, जय-पराजय में कोई फर्क नहीं, जीवन-मृत्यु में कोई भी फर्क नहीं, तो फिर तू जो भी करे, वही पुण्य है।

यह पुण्य और पाप का बहुत ही नया आयाम है। यह कृत्य से नहीं, व्यक्ति के अंतःस्थल में हुई क्रांति से संबंधित है।

● प्रश्नकर्ता : कुछ मनोवैज्ञानिक कहते हैं, जैसे भूख, निद्रा, काम आदि स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं, वैसे ही क्रोध करना भी मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यदि ऐसा है तो जगत् में युद्ध भी स्वाभाविक ही है। जब तक जगत् है, तब तक युद्ध कभी भी हो सकता है। जगत् में शांति स्थायी रूप से कैसे आ सकती है ?

भगवान् श्री : स्वाभाविक किसी बात को कह देना, उसके होने की अनिवार्यता को सिद्ध कर देना नहीं है। जो भी हमें स्वाभाविक मालूम पड़ता है, वह सभी एक तल पर स्वाभाविक है, लेकिन तल के परिवर्तन के साथ ही स्थिति बदल जाती है। जैसा मनुष्य है, वैसे मनुष्य के लिए क्रोध बिलकुल स्वाभाविक है। लेकिन मनुष्य बुद्ध जैसा मनुष्य भी हो जाता है और तब क्रोध बिलकुल अस्वाभाविक हो जाता है। स्वाभाविक और अस्वाभाविक व्यक्ति की चेतना के प्रत्येक तल पर बदलते जाते हैं। एक आदमी शराब पीकर रास्ते पर चल रहा है, तो नाली में गिर जाना बिलकुल स्वाभाविक है। लेकिन एक आदमी बिना शराब पिये सड़क पर चल रहा है, उसका नाली में गिर जाना बिलकुल अस्वाभाविक है। लेकिन शराब पिये आदमी में और गैर शराब पिये आदमी में आदमियत का कोई भी फर्क नहीं है। फर्क है चेतना का। आदमियत का कोई भी फर्क नहीं है। शराब पिया आदमी भी वैसा ही आदमी है, जैसा नहीं शराब पिया हुआ आदमी, आदमी है।

अन्तर कहाँ है ? अन्तर चेतना का है। शराब पिये हुए आदमी के पास उतनी चेतना नहीं है, जो नाली में गिरने से बचा सके। गैर शराब पिये आदमी के पास उतनी चेतना है, जो नाली में गिरने से बचाती है। अगर हम क्रोध में गिर जाते हैं, तो वह भी हमारी मूर्छा के कारण है, और बुद्ध अगर क्रोध में नहीं गिरते, तो वह भी उनकी अमूर्छा के कारण है। वह भी फर्क चेतना का ही है। उस फर्क में भी वही फर्क काम कर रहा है, जो शराबी के साथ कर रहा है। हाँ, फर्क भीतरी है, इसलिए एकदम से दिखायी नहीं पड़ता।

जब आप क्रोध में होते हैं तब आपकी 'एड्रिनल ग्लैंड' आपके भीतर एक शराब छोड़ देती है। जब आप क्रोध में होते हैं, तो आपके शरीर में बहुत से मादक रस इकट्ठे होते हैं। अगर वह 'ग्लैंड' काट दी जाय, फिर आप क्रोध करके बतायें तो समझा जाय ! पावलव ने बहुत प्रयोग किये हैं रूस में। कुत्तों की यह 'ग्लैंड' काटकर ! जिनकी वजह से कुत्ते भौंकते हैं और भौंकते ही रहते हैं, लड़ते ही रहते हैं ! बड़ा जानदार कुत्ता है, तीर है बिलकुल, जरा सी बात

और जूझ जायेगा। उसकी भी 'ग्लैंड' काट देने के बाद, उसको कितना ही उकसाओ, वह कुछ भी नहीं करता। फिर वह बैठा रह जायेगा। खतरा भी है इस प्रयोग में, क्योंकि आज नहीं कल कोई हुकूमत आदमियों के 'ग्लैंड' भी काटेगी। जिस हुकूमत को भी विद्रोह और क्रांति से बचना है, आज नहीं कल बायोलॉजिस्ट की सहायता वह लेगी। कोई कठिनाई नहीं है।

रूस जैसे मुल्क में, जहाँ हर बच्चे को नर्सरी में पैदा होना है, वहाँ पैदा होने के साथ ही कुछ ग्लैंड्स समाप्त की जा सकती हैं। या उन ग्लैंड्स के 'एंटी-डोट्स' का 'इंजेक्शन' दिया जा सकता है। तब आपको पता चलेगा कि स्वाभाविक बिलकुल नहीं है। स्वाभाविक इसलिए है कि शरीर के साथ अनंत यात्रा में जरूरी रहा है। और शरीर के साथ बहुत सी चीजें जो कल जरूरी थीं, अब जरूरी नहीं रह गयी हैं, लेकिन खिंची चली आ रही हैं।

जिस स्थिति में मनुष्य है, अगर हम उसको परम स्थिति मान लें, तब तो हिंसा बिलकुल स्वाभाविक है। लेकिन वह परम स्थिति नहीं है। उसमें बदलाहट हो सकती है। उसमें बदलाहट दो तरह से हो सकती है।

शरीर के द्वारा भी बदलाहट हो सकती है, लेकिन शरीर के द्वारा जो बदलाहट होगी, वह मनुष्य की आत्मा का विकास नहीं, पतन बनेगी। क्योंकि वह आदमी क्रोध कर ही नहीं सकेगा, इसीलिए नहीं करता है। वह आदमी 'इम्पोटेंट' (नपुंसक) हो गया है। उस आदमी का कोई गौरव नहीं होगा। उसके व्यक्तित्व में कोई चमक नहीं आयेगी। उसकी आँखों में शान नहीं आयेगी। उसमें अक्रोध की शांति भी नहीं आयेगी। क्योंकि वह क्रोध कर ही नहीं सकता। जो आदमी बुरा हो ही नहीं सकता, उसके भले होने का कोई भी अर्थ नहीं होता। वह सिर्फ असमर्थ होता है, दीन होता है।

लेकिन जो आदमी क्रोध कर सकता है और नहीं करता है, उसकी चेतना रूपांतरित हो जाती है। क्रोध कर सकता है और नहीं करता है, तो वह जो क्रोध की शक्ति है, वह अक्रोध की शक्ति बननी शुरू हो जाती है। तब उसके व्यक्तित्व में रूपांतरण, ट्रांसफार्मेशन के द्वार खुलते हैं। तब वह सामान्य मनुष्य ऊपर उठना शुरू होता है। 'सुपरमैन' उसके भीतर पैदा होना शुरू होता है, वह अतिमानव होना शुरू हो जाता है।

मनुष्य के लिए क्या स्वाभाविक है, यह इस पर निर्भर करता है कि मनुष्य की चेतना का तल क्या है। प्रत्येक तल पर स्वभाव भिन्न-भिन्न होगा। एक बच्चे

के लिए जो स्वाभाविक है, जवान के लिए वही स्वाभाविक नहीं रह जाता। और एक जवान के लिए जो स्वाभाविक है, वह बूढ़े के लिए स्वाभाविक नहीं रह जाता। बीमार आदमी के लिए जो स्वाभाविक है, वह स्वस्थ के लिए स्वाभाविक नहीं रह जाता। तो स्वभाव कोई 'फिक्स्ड एन्टाइटी' (निर्णीत बात) नहीं है। स्वभाव कोई ऐसी बात नहीं है कि कोई थिर चीज हो। यही खूबी है मनुष्य की। पत्थर का स्वभाव थिर है, पत्थर का स्वभाव बिलकुल थिर है। पानी का स्वभाव बिलकुल थिर है, इसलिए हम विज्ञान की किताब में लिख देते हैं कि पानी का यह स्वभाव है, अग्नि का यह स्वभाव है।

मनुष्य की खूबी ही यही है कि उसका स्वभाव उस पर ही निर्भर है। और वह अपने स्वभाव को हजार आयाम दे सकता है और विकास कर सकता है। हाँ, एक स्वभाव जन्म के साथ सबको मिलता है। कुछ लोग उसी पर रुक जाते हैं, उसी को स्वभाव का अन्त मान लेते हैं, तब दूसरी बात है।

कभी आपने शायद ख्याल न किया हो, अगर एक हीरे को रख दें और पास में एक कोयले के टुकड़े को रख दें, तो आपको कभी ख्याल न आयेगा कि हीरा कोयला ही है। हीरे और कोयले में बुनियादी तत्व के आधार पर कोई भी भेद नहीं है। असल में कोयला ही हजारों-लाखों वर्ष जमीन में दबा रहकर हीरा बन जाता है। लेकिन हीरे और कोयले का स्वभाव क्या एक है? जरा भी एक नहीं है। कहाँ कोयला, कहाँ हीरा? लेकिन बनता है हीरा कोयले से ही। वह कोयले की ही आखिरी यात्रा है। तो जहाँ मनुष्य अपने को पाता है, कोयले जैसा है, वहाँ महावीर जैसे, बुद्ध जैसे, कृष्ण जैसे व्यक्ति अपने को पहुँचाते हैं, हीरे जैसी स्थिति तक। फर्क स्वभाव का नहीं है, फर्क विकास का है।

प्राथमिक स्वभाव हम सबको एक जैसा मिला है—क्रोध है, काम है, लोभ है। लेकिन यह अंत नहीं है, प्रारम्भ है। और अगर इस प्रारम्भ को ही हम अन्त समझ लें, तो यात्रा बन्द हो जाती है और हुई है बन्द।

जैसा कि आपने पूछा है, मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि युद्ध करना तो मनुष्य का स्वभाव है। लेकिन यह कहकर, वे कुछ इस तरह की बात दुनिया में पैदा करवाते हैं कि जैसे यह अन्त है। इसलिए पश्चिम में मनोविज्ञान के कुछ परिणाम हुए। हिन्दुस्तान में मनोविज्ञान ने एक लाभ लिया और मनुष्य को विकास दिया, परन्तु पश्चिम के पिछले डेढ़ सौ वर्ष के मनोविज्ञान ने मनुष्य को पतन दिया, विकास नहीं दिया। क्योंकि मनोवैज्ञानकों ने कहा कि यह तो स्वभाव है। आदमी क्रोध तो करेगा ही, क्रोध तो स्वभाव है। आदमी कामुक

तो होगा ही, कामुकता तो स्वभाव है। इसका परिणाम क्या हुआ? इसका परिणाम यह हुआ कि जो प्रारम्भ बिन्दु था, वह अंतिम मंजिल बन गया। और तब प्रत्येक आदमी ने कहा, क्रोध तो मैं करूँगा ही, यह मेरा स्वभाव है। आदमी क्रोध करेगा ही। निश्चित ही इसके फल हुए हैं। वह फल पश्चिम में दिखायी पड़ रहे हैं।

फल यह हुआ है कि आज कोई भी व्यक्ति, अपने को किसी कृत्य के लिए जिम्मेवार, 'रिस्पाँसिबल' नहीं मानता। क्योंकि वह कहता है, यह स्वभाव है। एक आदमी गालियाँ बक रहा है सड़क पर, तो आप उससे यह नहीं कह सकते कि तुम यह क्या कर रहे हो? वह कहता है, यह स्वभाव है। एक आदमी चोरी कर रहा है, आप उससे यह नहीं कह सकते कि तुम गलत कर रहे हो। वह कहता है, मैं क्या कर सकता हूँ,—यह स्वभाव है। पश्चिम के मनोविज्ञान ने अगर बड़े से बड़ा खतरा कोई बुलाया है, तो वह यह कि उसने आदमी को रिस्पाँसिबिलिटी से मुक्त कर दिया। दायित्व कुछ होता नहीं। जो भी वह कर रहा हो, वह कहता है, यह स्वभाव है।

पश्चिम में मार्क्स और फ्रायड, इन दो के ताल-मेल से एक अद्भुत स्थिति पैदा हो गयी है। मार्क्स ने कह दिया कि जो भी हो रहा है, उसके लिए जिम्मेवार समाज है। और फ्रायड ने कह दिया कि जो भी हो रहा है, उसके लिए जिम्मेवार प्रकृति है। आदमी बाहर हो गया। अगर एक आदमी चोरी कर रहा है तो जिम्मेवार समाज है। अगर एक आदमी हत्या कर रहा तो जिम्मेवार समाज है। मार्क्स ने कह दिया कि व्यक्ति के ऊपर कोई जिम्मेवारी नहीं है। सोसाइटी रिस्पाँसिबिल है। इसलिए अगर व्यक्ति को बदलना है, तो समाज को बदलो। और जब तक समाज नहीं बदलता, तब तक व्यक्ति जैसा है वैसा ही रहेगा। इसकी हम उसे 'लाइसेंस' (खुली छूट) देते हैं। इससे व्यक्ति बड़ा प्रफुल्लित हुआ। हजारों साल की जो चिन्ता थी उसके दिमाग में, वह गिर गयी।

कृष्ण ने, महावीर ने, बुद्ध ने आदमी को बड़ी भारी चिन्ता, बड़ी भारी 'एंग्जाइट' दे दी थी कि तुम जिम्मेवार हो। अब चिन्ता गिर गयी है। व्यक्ति बड़ा निश्चित हो गया है। लेकिन उस निश्चिन्तता में व्यक्ति सिर्फ वही रह गया, जैसे कोयला कोयला ही रह जाय। बाहर की यात्रा बन्द हो गयी। निश्चित ही कोयले को हीरा बनना हो, तो चिन्ता से गुजरना पड़ेगा। लाखों साल की लम्बी यात्रा है।

फिर फ्रायड ने लोगों को कह दिया कि समाज भी बदल डालो, तो भी कुछ होने वाला नहीं है। क्या रूस में क्रोध कम हो गया? क्या रूस में ग्रहंकार कम हो गया? क्या रूस का नागरिक किसी भी तरह से, ग्रादमियत के तल पर बदल गया है? कुछ भी नहीं बदला। तो फ्रायड ने कहा कि समाज वगैरह के बदलने का सवाल नहीं है। जिम्मेवार स्वभाव है, नेचर है। जब तक नेचर (प्रकृति) को न बदल डालो तब तक कुछ नहीं हो सकता। नेचर को कैसे बदलोगे? स्वभाव को कैसे बदलोगे? इसलिए ग्रादमी जैसा है वैसा रहेगा। निश्चित मन से उसे जैसा है, वैसा रहना चाहिए।

यह बदलाहट, यह क्रांति, यह भीतरी रूपांतरण, यह धर्म, यह योग, यह समाधि, ये सब बकवास हैं। फ्रायड ने कहा, ग्रादमी जैसा है, वैसा ही रहेगा। नाहक की चिन्ता में डालकर ग्रादमी को परेशान किया हुग्रा है। वह जैसा है, है। फ्रायड के इस कहने का परिणाम पश्चिम में 'एक्प्लोसिव' हुग्रा। ग्राज 'हिप्पी' हैं, 'बीटनिक' हैं ग्रौर दूसरे तरह के सारे लोग हैं, वे यही कह रहे हैं कि यह तो स्वभाव है। ग्रौर फ्रायड ने गारन्टी दे दी है कि यह स्वभाव है ग्रौर ग्रादमी वही रहेगा, जो है।

ग्रादमी एक पशु है, थोड़ी सी बुद्धि है उसके पास, इसलिए बुद्धि से ग्रपने को परेशानी में डाल लेता है। बुद्धि को भी छोड़ दें, तो कोई परेशानी नहीं है। ग्रगर फ्रायड को समझें, तो वह कहता है कि तुम्हारी बुद्धि ही तुम्हारी परेशानी है। इसकी वजह से तुम झंझट में पड़ जाते हो। जो है, वह है; यह बुद्धि उस पर सोच-विचार कर कहने लगती है कि ऐसा नहीं होना चाहिए, वैसा नहीं होना चाहिए। इससे तुम चिन्ता पैदा करते हो, पागल हुए जाते हो। छोड़ो यह चिन्ता, जो हो, उसके लिए राजी हो जाग्रो। ठीक है, निश्चिन्तता ग्रा जायेगी, लेकिन कोयले जैसी निश्चितन्ता होगी। पशु निश्चिन्त हैं।

ग्रगर फ्रायड को मानकर पूरा का पूरा चला जाय, तो ग्रादमी पशु की तरफ गिरता जायेगा—गिरा है। फ्रायड जो कहता है, वह सच है, लेकिन ग्रधूरा सच है। ग्रौर ग्रधूरे सच, झूठ से भी खतरनाक होते हैं।

यह सच है, ग्रादमी में क्रोध है, ग्रौर यह स्वभाव है। ग्रौर यह भी सच है कि ग्रादमी में क्रोध से विकसित होने की संभावना है, वह भी उसका स्वभाव है। यह सच है कि क्रोध है। ग्रौर यह भी सच है कि क्रोध से मुक्त होने की जो ग्राकांक्षा है, वह भी स्वभाव है। ऐसा ग्रादमी खोजना मुश्किल है, जिसमें क्रोध

है, ग्रौर क्रोध से मुक्त होने की ग्राकांक्षा नहीं है। तो यदि क्रोध स्वभाव है, तो क्रोध से मुक्त होने की ग्राकांक्षा क्या स्वभाव नहीं है?

ऐसा ग्रादमी खोजना मुश्किल है, जो ग्रपना ग्रतिक्रमण नहीं करना चाहता, जो ग्रपने से ऊपर नहीं जाना चाहता। जो है, वह उसका स्वभाव है, लेकिन जो होना चाहता है, वह भी स्वभाव है।

निश्चित ही जो होना चाहता है, उसके लिए जो है, उसको रूपांतरित करना पड़ता है। उसकी विधियाँ हैं, उस विधि का नाम ही धर्म है। ग्रगर मनुष्य जैसा है, वैसा ही है, तब धर्म की कोई ग्रर्थवत्ता नहीं है, वह 'मीनिंगलेस' है। इसलिए पश्चिम में ग्रगर धर्म का सारा मूल्य खो गया, तो उसके खोने का बहुत गहरा कारण यही है कि पश्चिम के मनोविज्ञान ने ग्रादमी को कहा कि यह पशुता तो स्वभाव है। ऐसा होगा ही।

एक मित्र मेरे पास ग्राये यहीं, ग्रभी परसों। उन्होंने मुझे कहा कि मैं बहुत परेशान था, नींद मुझे नहीं ग्राती थी। नींद खो गयी थी, चिन्तित था। मनोवैज्ञानिक के पास गया तो मनोवैज्ञानिक ने कहा कि यह तो बिलकुल ठीक है। मनोवैज्ञानिक ने पूछा कि सेक्स के बाबत तुम्हारी क्या स्थिति है? तुम हस्त-मैथुन शुरू करो। उन्होंने कहा, यह कैसी बात कहते हैं? मनोवैज्ञानिक ने कहा, यह स्वभाव है। यह तो ग्रादमी को करना ही पड़ता है। जब मनोवैज्ञानिक ही कहता हो, तो वे राजी हो गये। फिर दो साल में उस हालत में पहुँच गये कि उसी मनोवैज्ञानिक ने कहा, कि ग्रब तुम्हें 'इलेक्ट्रिक शॉक' की जरूरत है। तुम बिजली के शॉक लो। ग्रौर जब मनोवैज्ञानिक कह रहा हो, तो करना ही पड़ता है।

हम 'ग्रथॉरिटी' के पीछे बड़े दीवाने हैं, बड़े पागल हैं। कोई जब 'ग्रथॉरिटी' बन जाय, जैसे कभी मंदिर का पुरोहित 'ग्रथॉरिटी' था, तो वह जो कह दे, वही सत्य था। ग्रब वह पौरोहित्य जो है मंदिर का, वह मनोवैज्ञानिक के हाथ में ग्राता जा रहा है। ग्रब वह जो कह दे, वही सत्य है। तो उस मित्र ने बिजली का शॉक ले लिया। ग्रौर सब तरह से उनका व्यक्तित्व ग्रस्त-व्यस्त हो गया।

स्वभाव की ग्राड़ में, ग्रादमी की पशुता को बचाने की चेष्टा खतरनाक है। शायद मनुष्य के ऊपर इससे बड़े खतरे के बादल कभी भी नहीं ग्राये थे, जितने बड़े खतरे के बादल इस बात से ग्रा रहे हैं कि जो भी है, वह है। यह तो होगा ही, यह तो बिलकुल स्वाभाविक है।

मैं भी आपसे कहता हूँ कि यह बिलकुल स्वाभाविक है। मनोवैज्ञानिक से मेरी गहरी सहमतियाँ हैं, लेकिन असहमतियाँ भी हैं। मैं मानता हूँ, मनोविज्ञान जहाँ तक जाता है, बहुत ठीक है। लेकिन जहाँ से इन्कार करता है, वहां बिलकुल गलत है। फ्रायड जहाँ तक जाते हैं बिलकुल वहाँ तक बुद्ध और कृष्ण भी इन्कार नहीं करते। लेकिन कृष्ण और बुद्ध कहते हैं, यह अन्त नहीं है, बिलकुल प्रारम्भ है। और इस प्रारंभ का ऐसा उपयोग करना है कि अन्त भी फलित हो सके।

जड़, स्वभाव है, लेकिन फूल तक भी पहुँचना है। अन्यथा जड़ें बड़ी कुरूप होती हैं। गन्दी होती हैं। अन्धेरे में दबी होती हैं। नीचे अँधेरे रास्तों में, जमीन में फैली होती हैं। जड़ें स्वाभाविक हैं, बिलकुल जरूरी हैं, लेकिन जड़ें फूल नहीं हैं। अगर जड़ों पर कोई वृक्ष रुक जाय। और फ्रायड वृक्ष को समझा दे कि पागल, यही तेरा स्वभाव है। और वृक्ष रुक जाय और कहे कि क्या करेंगे अब आकाश में उठकर, जड़ें ही अपना स्वभाव हैं—तो फिर फूल नहीं आयेंगे। और मजा यह है कि जड़ें इसीलिए हैं कि फूल आयें। और फूल और जड़ में कितना विरोध है। कहाँ फूल—आकाश में खिले हुए, सूर्य की रोशनी में नाचते हुए और कहाँ जड़ें अँधेरे में दबी हुई। विरोध है बड़ा, सामंजस्य भी है बड़ा, क्योंकि फूल बिना जड़ों के नहीं हो सकते।

यह भी आखिरी बात मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि फूल बिना जड़ों के नहीं हो सकते। हालांकि जड़ें, बिना फूल के हो सकती हैं।

यह जीवन का एक बहुत बड़ा दुर्भाग्य है कि यहाँ जो निम्न है, वह श्रेष्ठ के बिना हो सकता है, लेकिन यहाँ जो श्रेष्ठ है, वह निम्न के बिना नहीं हो सकता। एक मंदिर पर स्वर्ण के शिखर रखने हों, तो नींव भरनी ही पड़ती है। नींव के बिना स्वर्ण शिखर नहीं होते। लेकिन स्वर्ण शिखर के बिना नींव हो सकती है—नींव भरें और छोड़ दें।

जो निम्न है, वह श्रेष्ठ के बिना भी हो सकता है, लेकिन जो श्रेष्ठ है वह निम्न के बिना नहीं हो सकता। इसलिए अगर निम्न को हमने स्वभाव समझा, नियति समझी, 'डेस्टिनी' समझी, तो जड़ें ही रह जाती हैं हाथ में। नहीं, जड़ें हैं ही, इसलिए कि फूल तक पहुँचें।

मनुष्य का जो स्वभाव आज दिखायी पड़ता है, वह है ही इसलिए कि वह परमात्मा तक पहुँचे। क्रोध है, इसलिए कि क्रोध की जड़ किसी दिन अक्रोध का

फूल बने। 'काम' है, 'सेक्स' है, इसलिए कि 'सेक्स' की ऊर्जा, किसी दिन ब्रह्मचर्य का फूल बने। और जब तक नहीं बन जाती, तब तक मनुष्य को बेचैन होना ही चाहिए। जब तक नहीं बन जातीं, तब तक मनुष्य को चिन्तित होना ही चाहिए। जब तक नहीं बन जाती, तब तक मनुष्य को संताप में, पीड़ा में, संघर्ष में होना ही चाहिए। जल्दी पा ली गयी शान्ति खतरनाक है। क्योंकि वह प्रारम्भ को ही अन्त बना सकती है। शांति जरूर मिलती है, लेकिन अंत आ जाय, मंजिल आ जाय, तब तक यात्रा जारी रखनी जरूरी है।

दो तरह की शांतियाँ हैं। एक तो जहाँ हम हैं, वहीं ही बैठ जायें, तो यात्रा का कष्ट बन्द हो जाता है। एक और शांति भी है—जो उस दिन है, जब यात्रा पूरी होती है और मंजिल आती है।

हम बैठ जायें और इसी को मंजिल मान लें, तो भी शांति मिलती है। और मंजिल आ जाय और हम बैठें, तब भी शांति मिलती है। लेकिन दोनों शांतियों में बड़ा फर्क है। एक पशु की शांति है, एक परमात्मा की शांति है।

बारहवाँ प्रवचन

प्रथम गीता ज्ञान-यज्ञ, अहमदाबाद, रात्रि, दिनांक ४ दिसम्बर, १९७०

एषातेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु ।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

हे पार्थ, यह सब तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कहा गया और इसी को अब निष्काम-कर्म-योग के विषय में सुन कि जिस बुद्धि से युक्त हुआ तू, कर्मों के बन्धन को अच्छी तरह से नाश करेगा।

भगवान् श्री : अनन्त हैं सत्य तक पहुँचने के मार्ग, अनन्त हैं प्रभु के मंदिर के द्वार। होंगे ही अनंत, क्योंकि अनन्त तक पहुँचने के लिए अनन्त ही मार्ग हो सकते हैं। जो भी एकांत को पकड़ लेते हैं – जो भी सोचते हैं कि एक ही द्वार है, एक ही मार्ग है–वे भी पहुँच जाते हैं, लेकिन जो भी पहुँच जाते हैं, वे कभी नहीं कह पाते कि एक ही मार्ग है, एक ही द्वार है। एक का आग्रह सिर्फ उनका ही है, जो नहीं पहुँचे हैं। जो पहुँच गये हैं, वे अनाग्रही हैं।

कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि अब तक जो मैंने तुझसे कहा, वह सांख्य की दृष्टि थी। सांख्य की दृष्टि गहरी से गहरी ज्ञान की दृष्टि है। सांख्य का जो मार्ग है, वह परम ज्ञान का मार्ग है। इसे थोड़ा समझ लें तो फिर आगे दूसरे मार्ग को समझना आसान हो जायेगा।

पर कृष्ण ने क्यों सांख्य की ही पहले बात कर ली ! सांख्य की इसलिए पहले बात कर ली कि अगर सांख्य काम में आ जाय, तो फिर और कोई

ग्रावश्यकता नहीं है। सांख्य काम में न ग्रा सके, तो ही फिर कोई ग्रौर ग्राव-श्यकता है।

जापान में झेन साधना की एक पद्धति है। ग्राज पश्चिम में झेन का बहुत प्रभाव है। ग्राज का जो भी विचारशील वर्ग है जगत् का–पूरे जगत की "इन्टेलिजेंसिया", वह झेन में उत्सुक है। ग्रौर **झेन सांख्य का ही एक रूप है।** सांख्य का कहना भी यही है कि जानना ही काफी है, करना कुछ भी नहीं है–'नॉलेज इज इनफ', जानना पर्याप्त है। इस जगत् की जो पीड़ा है ग्रौर बन्धन है, वह 'न जानने' से ज्यादा नहीं है।

ग्रज्ञान के अतिरिक्त ग्रौर कोई वास्तविक बन्धन नहीं है। कोई जंजीर नहीं है, जिसे तोड़नी है। न ही कोई कारागृह है, जिसे मिटाना है। न ही कोई जगह है, जिससे मुक्त होना है। सिर्फ जानना है। जानना है, कि मैं कौन हूँ। जानना है कि जो चारों तरफ फैला है वह क्या है?–सिर्फ 'ग्रण्डरस्टैंडिंग', सिर्फ जानना।

जो लोग कृष्णमूर्ति से परिचित हैं, उन्हें यह स्मरण में ले लेना उपयोगी होगा कि कृष्णमूर्ति का सारा विचार सांख्य है। लेकिन सांख्य को समझना कठिन है। जैसे एक आदमी दुःख में पड़ा है, हम उससे कहें कि केवल जान ले कि दुख क्या है ग्रौर तू उसके बाहर हो जायेगा। वह ग्रादमी कहेगा कि जानता तो मैं भलीभाँति हूँ कि दुःख है। जानने से कुछ नहीं होता। मुझे इलाज चाहिए, ग्रौषधि चाहिए। कुछ करो कि मेरा दुःख चला जाय।

एक आदमी जो वस्तुतः चिन्तित ग्रौर परेशान है, विक्षिप्त है, पागल है, उससे हम कहें कि सिर्फ जानना काफी है ग्रौर तू पागलपन के बाहर ग्रा जायेगा। वह ग्रादमी कहेगा, जानता तो मैं काफी हूँ, जानने को ग्रब ग्रौर क्या बचा है? लेकिन जानने से पागलपन नहीं मिटता। कुछ ग्रौर करूँ, जानने के ग्रलावा भी कुछ ग्रौर जरूरी है।

कृष्ण ने ग्रर्जुन को सबसे पहले सांख्य की दृष्टि इसलिए कही, क्योंकि यदि सांख्य काम में ग्रा जाय तो किसी ग्रौर बात के कहने की कोई जरूरत नहीं। न काम में ग्राये तो फिर किसी ग्रौर बात के कहने की जरूरत पड़ सकती है।

सुकरात का बहुत ही कीमती वचन है, जिसमें उसने कहा है, 'नालेज इज वर्च्यु', ज्ञान ही सद्‌गुण है। वह कहता था, जान लेना ही ठीक हो जाना है। उससे लोग पूछते थे कि हम भलीभाँति जानते हैं कि चोरी बुरी है, लेकिन चोरी छूटती नहीं। तो सुकरात कहता है कि तुम जानते ही नहीं कि चोरी क्या है। ग्रगर

तुम जान लो कि चोरी क्या है, तो छोड़ने के लिए कुछ भी न करना होगा।

हम जानते हैं, क्रोध बुरा है; हम जानते हैं भय बुरा है, हम जानते हैं काम बुरा है, वासना बुरी है, लोभ बुरा है। मद, मत्सर--सब बुरा है, सब जानते हैं। सांख्य या सुकरात, या कृष्णमूर्ति–वे सब कहेंगे, नहीं, जानते नहीं हो। सुना है कि क्रोध बुरा है, जाना नहीं है। किसी ग्रौर ने कहा है कि क्रोध बुरा है, स्वयं जाना नहीं है। ग्रौर जानना कभी भी उधार ग्रौर 'बारोड' नहीं होता। जानना सदा स्वयं का होता है। फर्क है दोनों बातों में।

एक बच्चे ने सुना है कि ग्राग में हाथ डालने से हाथ जल जाता है, ग्रौर एक बच्चे ने ग्राग में हाथ डालकर देखा है कि हाथ जल जाता है। इन दोनों बातों में जमीन ग्रासमान का फर्क है। दोनों के वाक्य एक से हैं। जिसने सिर्फ सुना है, वह भी कहता है कि मैं जानता हूं कि आग में हाथ डालने से हाथ जल जाता है। ग्रौर जिसने ग्राग में हाथ डालकर जाना है, वह भी कहता है, मैं जानता हूँ कि ग्राग में हाथ डालने से हाथ जल जाता है। इन दोनों के वचन एक से हैं, लेकिन इन दोनों की मनःस्थिति एक सी नहीं है। ग्रौर जिसने सिर्फ सुना है, वह कभी हाथ डाल सकता है। ग्रौर जिसने जाना है, वह कभी हाथ नहीं डाल सकता है। ग्रौर जिसने सिर्फ सुना है, वह कभी हाथ डालकर कहेगा कि जानता तो मैं था कि हाथ डालने से हाथ जल जाता है। फिर उसने हाथ क्यों डाला है? वह जानने में भूल कर रहा था। दूसरे से मिला हुग्रा जानना, जानना नहीं हो सकता।

जिस जानने की सांख्य बात करता है, जिस 'नोइंग' की सांख्य बात करता है, वह वही जानना है, जो उधार नहीं है। इस जानने से क्या हो जायेगा? एक छोटी सी कहानी से बात समझाने की कोशिश करूँ।

दूसरे महायुद्ध में ऐसा हुआ कि एक ग्रादमी युद्ध स्थल पर आहत हो गया जब होश में ग्राया बेहोशी से, तब पता चला उसे कि वह सब स्मृतियां खो चुका है। वह ग्रपना सब ग्रतीत भूल चुका है। उसे यह भी पता नहीं कि उसका नाम क्या है? कठिनाई न ग्राती, क्योंकि सेना में नाम की कोई जरूरत नहीं होती। लेकिन उसका नम्बर भी खो गया, युद्धस्थल पर।

सेना में ग्रादमी को नम्बर से जाना जाता है, सेना में नाम से नहीं जाना जाता। सुविधा है नम्बर से जानने में ग्रौर जब पता चलता है कि ग्यारह नंबर आज मर गया, तो किसी को कोई तकलीफ नहीं होती; क्योंकि नम्बर के न बाप होते हैं, न माँ होती है, न बेटा होता है। नम्बर का कोई संबंधी नहीं होता।

नम्बर मर जाता है, तब पीछे सूचना मिल जाती है कि इतने नम्बर गिर गये। किसी को कहीं पीड़ा नहीं होती, नम्बर 'रिप्लेस', प्रतिस्थापित हो जाते हैं। दूसरा नम्बर बारह उसकी जगह ग्रा जाता है। किसी ग्रादमी को 'रिप्लेस' करना मुश्किल है, लेकिन नम्बर को 'रिप्लेस' करने में कोई कठिनाई नहीं है। यह 'मिलिटरी' तो नम्बर से चलती है।

तो उस सैनिक का नम्बर भी खो गया। उसे नाम याद नहीं रहा। अब वह कौन है? अब क्या करें, कहाँ भेजें, उसका घर कहाँ है, उसके माँ बाप कहाँ हैं? बहुत कोशिश की, खोज-बीन की, कुछ पता नहीं चल सका। फिर आखिर किसी ने सुझाव दिया कि एक ही रास्ता है कि उसे इंग्लैण्ड के गाँव-गाँव में घुमाया जाय। शायद कहीं उसे देखकर याद आ जाय कि यह मेरा घर है, यह मेरा गाँव है। शायद वह जान ले।

फिर उसे ले गये। स्टेशनों पर उसे उतार कर खड़ा कर देते, यह देखता ही रहता, कुछ याद न आता। फिर तो जो ले गये थे घुमाने, वे भी थक गये। एक छोटे स्टेशन पर, जिस पर उतर कर देखने का इरादा भी नहीं है ग्रौर गाड़ी खड़ी है, चलने को है। उस ग्रादमी ने खिड़की से झाँककर देखा ग्रौर उसने कहा, मेरा गाँव। उतरा, बताना भी भूल गया जो साथ थे उनको। भागा, सड़क पर ग्रा गया। चिल्लाया मेरा घर। दौड़ा, गली में पहुँचा। दरवाजे के सामने खड़ा होकर कहा, मेरी माँ। लौटकर पीछे देखा, साथी पीछे भागकर ग्राये हैं। उनसे बोला, यह रहा मेरा नाम। याद ग्रा गया।

सांख्य कहता है, ग्रात्मज्ञान सिर्फ 'रिमेम्बरेन्स' है, सिर्फ स्मरण है **कुछ खोया नहीं**, कुछ मिटा नहीं, कुछ गया नहीं, कुछ नया बना नहीं, **सिर्फ स्मृति खो गयी है।** ग्रौर जिसे हम जानने जा रहे हैं, अगर वह नया जानना है,तब तो फिर कुछ ग्रौर करना पड़ेगा। लेकिन ग्रगर वह भूला हुग्रा ही है, जिसे पुनः जानना है,तब कुछ करने की जरूरत नहीं है, जान लेना ही काफी है।

कृष्ण ने कहा कि जो मैंने तुझसे कहा ग्रर्जुन, वह सांख्य की दृष्टि थी। इस पूरे वक्त कृष्ण ने सिर्फ स्मरण दिलाने की कोशिश की, कि आत्मा ग्रमर है। न उसका जन्म है, न उसकी मृत्यु है। स्मरण दिलाया कि अव्यक्त था, ग्रव्यक्त होगा, बीच में व्यक्त का थोड़ा सा खेल है। स्मरण दिलाया कि जो तुझे दिखाई पड़ते हैं, वे पहले भी थे, ग्रागे भी होंगे। स्मरण दिलाया कि जिन्हें तू मारने के भय से भयभीत हो रहा है, उन्हें मारा नहीं जा सकता है। इस पूरे समय कृष्ण क्या कर रहे हैं? कृष्ण अर्जुन को, जैसे उस सिपाही को घुमाया जा रहा

है इंग्लैण्ड में, वैसे उसे किसी विचार के लोक में घुमा रहे हैं कि शायद कोई विचार-कण, कोई स्मृति चोट कर जाय और अर्जुन कहे कि ठीक, यही है। ऐसा ही है। लेकिन ऐसा वह नहीं कह पाता है।

ग्रर्जुन शिथिल गात, अपने गांडीव को रखे, उदास मन, वैसा ही हताश, विषाद से घिरा बैठा है। वह कृष्ण की बातें सुनता है, कृष्ण ने उसे पूरा इंग्लैण्ड घुमा दिया—हर स्टेशन, हर जगह। कहीं भी उसे स्मरण नहीं ग्राता कि वह दौड़ कर कहे, कि यह रहा मैं, ठीक है, बात ग्रब बन्द करो, पहचान ग्रा गयी। 'रिकग्नीशन' हुआ, प्रत्यभिज्ञा हुई, स्मरण आ गया है। ऐसा वह कहता नहीं। वह बैठा है। वह रीढ़ भी सीधा नहीं करता। वह सीधा नहीं बैठता, उसे कुछ भी स्मरण नहीं ग्रा रहा है। इसलिए कृष्ण उससे कहते हैं कि ग्रब मैं तुझसे कर्म-योग की बात करता हूँ। सांख्य-योग, श्रेष्ठतम योग है। ग्रब मैं तुझसे कर्म-योग की बात कहता हूँ।

● **प्रश्नकर्ता** :भगवान् श्री, ग्राप झेन ग्रौर सांख्य-योग के बीच साम्य बताते हैं, परन्तु झेन तो ब्रह्म की कोई बात ही नहीं करता? ग्रौर पश्चिम के दार्शनिक निरीश्वर वादी होने के कारण ही क्या सांख्य की चर्चा करते हैं?

भगवान् श्री : झेन ग्रौर सांख्य के बीच जो साम्य मैंने कहा उस साम्य का कारण है। ब्रह्म की चर्चा नहीं, उस साम्य का कारण है ज्ञान की प्रधानता। झेन कहता है, करने को कुछ भी नहीं है ग्रौर जो करेगा, वह व्यर्थ ही भटकेगा। झेन तो यहां तक कहता है कि तुमने खोजा कि तुम भटके, **खोजो ही मत। खड़े हो जाओ और जान लो। क्योंकि तुम वही हो, जो तुम खोज रहे हो।** झेन कहता है कि जिसने प्रयास किया, वह मुश्किल में पड़ेगा, क्योंकि जिसे हमें पाना है, वह प्रयास से पाने की बात नहीं है। केवल ग्रप्रयास में, 'एफर्टलेसनेस' में जानने की बात है।

झेन कहता है, पा सकते हैं, श्रम से उसे, जो हमारा नहीं है। पा सकते हैं श्रम से उसे, जो हमें मिला हुग्रा नहीं है। धन पाना हो तो बिना श्रम के नहीं मिलेगा, धन पाने के लिए श्रम करना होगा। धन हमारा कोई स्वभाव नहीं है। एक ग्रादमी को दूसरे के घर जाना हो, तो रास्ता चलना पड़ेगा, क्योंकि दूसरे का घर ग्रपना घर नहीं है। लेकिन एक ग्रादमी ग्रपने घर बैठा हो ग्रौर पूछता हो कि मुझे मेरे घर जाना है, मैं किस रास्ते से जाऊँ, तो झेन कहता है, जाना ही मत ग्रन्यथा घर से दूर निकल जाग्रोगे।

एक छोटी सी कहानी मुझे याद आती है, जो झेन फकीर कहते हैं । वे कहते हैं कि एक आदमी ने शराब पी ली । शराब पीकर आधी रात अपने घर पहुँचा । हाथ-पैर डोलते हैं, आँखों को ठीक दिखायी नहीं पड़ता । ऐसे भी अंधेरा, भीतर नशा है, बाहर अंधेरा है । टटोल-टटोलकर किसी तरह अपने दरवाजे तक पहुँच गया, और फिर थक गया । बहुत देर से भटक रहा है। फिर जोर-जोर से चिल्लाने लगा कि कोई मुझे मेरे घर पहुँचा दो। मेरी माँ राह देखती होगी ।

पास-पड़ोस के लोग आये। उन्होंने कहा, पागल तो नहीं हो गये हो । तुम अपने ही घर के सामने खड़े हो—अपने ही घर की सीढ़ियों पर । यही तुम्हारा घर है । लेकिन वह आदमी बड़ी परेशानी में चिल्ला रहा है कि मुझे मेरे घर पहुँचा दो, मुझे मेरे घर जाना है, मेरी बूढ़ी माँ राह देख रही होगी । लेकिन सुने कौन, सुनने के लिए भी तो चुप होना जरूरी है । वह आदमी चिल्ला रहा है, पास-पड़ोस के लोग कह रहे हैं, यही तुम्हारा घर है ।

यही उसका घर है, पर वह भीतर कैसे प्रवेश करे ? वह आदमी तो चिल्ला रहा है कि मेरा घर कहाँ है ! शोर-गुल सुन कर उसकी बूढ़ी माँ भी उठ आयी जिसकी तलाश में वह है। दरवाजा खोला, उसके सिर पर हाथ रखा और कहा, बेटा तुझे क्या हो गया है ? उसने उसके ही पैर पकड़ लिए और उससे ही कहा, मेरी बूढ़ी माँ राह देखती होगी,। मुझे रास्ता बताओ कि मेरा घर कहाँ है ? अब तो पास पड़ोस में मजाक करने वाले लोग एक बैलगाड़ी लेकर आ गये और उन्होंने कहा, बैठो, हम तुम्हें तुम्हारे घर पहुँचा देते हैं ।

वह आदमी बड़ा प्रसन्न हुआ । उसने कहा, यह भला आदमी होगा । अन्य सारे लोग मुझे घर पहुँचाने का कोई उपाय ही नहीं करते । कोई उपाय नहीं करता, न कोई बैलगाड़ी लाता, न कोई घोड़ा लाता, न मेरा कोई हाथ पकड़ता। तुम एक भले आदमी हो । उसने उसके पैर पड़े । वह आदमी हँसता रहा । उसे बैलगाड़ी में बिठाया, दस–बारह चक्कर लगाये, फिर द्वार के सामने उतारा । वह शराबी कहने लगा, धन्यवाद। बड़ी कृपा की, मुझे मेरे घर घर पहुँचा दिया।

अब कृष्ण अर्जुन पर कोशिश कर चुके पहली वाली कि यही तेरा घर है । अर्जुन नहीं मानता, तो कृष्ण बैलगाड़ी जोतते हैं । अब वे कहते हैं –कर्मयोग में चल । अब तू चक्कर लगा । अब तू दस-पांच चक्कर लगा ले, फिर तुझे ख्याल में आ सकता है कि पहुँचा । बिना चले,तू स्वयं तक भी नहीं पहुँच सकता है!

झेन कहता है, जिसे हम खोज रहे हैं, वह वहीं है जहाँ हम हैं, इंच भर का फासला नहीं है । इसलिए जाओगे कहाँ, खोजोगे कैसे ? श्रम क्या करोगे?

असल में श्रम करके हम पराये को पा सकते हैं, स्वयं को नहीं । स्वयं तो सब श्रम के पहले उपलब्ध है ।

तो झेन और सांख्य का साम्य मैंने कहा, वह इसलिए कहा कि सांख्य भी कर्म को व्यर्थ मानता है । उसके लिए कोई अर्थ नहीं है कर्म का । झेन भी कर्म को व्यर्थ मानता है, कोई अर्थ नहीं है कर्म का । क्योंकि जिसे जानना है, वह सब कर्मों के पहले ही मिला हुआ है । 'आॅलरेडी अचीव्हड' ।

जो अड़चन है, जो कठिनाई है, जो समझ में हमें नहीं आती, वह इस तरह की है कि कोई चीज जो हमें मिली हुई नहीं है, उसे पाना है, यह एक बात है। और कोई चीज जो हमें मिली हुई है, उसे सिर्फ जानना है, यह बिलकुल दूसरी बात है । यदि आत्मा भीतर है ही, तो कहाँ खोजना है ? और अगर मैं ब्रह्म हूँ ही, तो क्या करना है? करने से क्या संबंध है ? करने से क्या होगा ? नहीं न-करने में उतरना होगा,'नाॅन–ऐक्शन' में उतरना होगा, अकर्म में उतरना होगा। छोड़ देना होगा सब करना और थोड़ी देर रुक कर उसे देखना होगा, जो कर्म के पीछे खड़ा है, जो सब करने का आधार है, फिर भी करने के बाहर है ।

एक और झेन कहानी मुझे याद आती है कि झेन में, कोई पाँच सौ वर्ष पहले, एक बहुत अद्‌भुत फकीर हुआ बांकेई । जापान का सम्राट उसके दर्शन को गया । बड़ी चर्चा, बड़ी प्रशंसा सुनी, तो गया । सुना है उसने दूर-दूर पहाड़ पर फैली हुई 'माॅनेस्टरी' है, आश्रम है । कोई पाँच सौ भिक्षु साधना में वहाँ रत हैं । तो गया । बांकेई से उसने कहा, एक-एक जगह दिखाओ तुम्हारे आश्रम की, मैं काफी समय लेकर आया हूँ । मुझे बताओ कि तुम कहाँ-कहाँ, क्या-क्या करते हो ? मैं सब जानना चाहता हूँ । आश्रम के दूर-दूर फैले हुए मकान हैं । कहीं भिक्षु रहते हैं, कहीं भोजन करते हैं, कहीं सोते हैं, कहीं स्नान करते हैं, कहीं अध्ययन करते हैं—कहीं कुछ, कहीं कुछ ।

बीच में, आश्रम के सारे विस्तार के बीच एक बड़ा भवन है, स्वर्ण शिखर से मण्डित एक मंदिर है । बांकेई ने कहा, भिक्षु जहाँ-जहाँ जो-जो करते हैं, वह मैं दिखाता हूँ । वह ले गया । सम्राट को ले गया भोजनालय में और कहा, यहाँ भिक्षु भोजन करते हैं । ले गया स्नानगृहों में, जहाँ भिक्षु स्नान करते हैं । ले गया जगह-जगह । सम्राट थकने लगा । उसने कहा कि छोड़ो भी, यह सब छोटी-छोटी जगह तो ठीक हैं, वह जो बीच में स्वर्ण-शिखरों से मण्डित मंदिर है, वहाँ क्या करते हो ? वहाँ ले चलो । मैं वह देखने को बड़ा आतुर हूँ ।

लेकिन न मालूम क्या बात थी कि जैसे ही सम्राट उस बीच में उठे शिखर

वाले मंदिर की बात करे, बांकेई एकदम बहरा हो जाय, वह सुने ही न। एक दफा सम्राट ने सोचा, शायद चूक गया, ख्याल में नहीं आया। फिर दुबारा जोर से कहा, कि और बातें तो तुम ठीक से सुन लेते हो—यह स्नान गृह देखने में नहीं आया, यह भोजनालय देखने में नहीं आया, उस मंदिर में क्या करते हो? लेकिन बांकेई एकदम चुप हो गया, वह सुनता ही नहीं।

फिर घुमाने लगा, यहाँ यह होता है, यहाँ यह होता है। आखिर वापस द्वार पर लौट आये, उस बीच वाले मंदिर में बांकेई नहीं ले गया। सम्राट घोड़े पर बैठने लगा तो उसने कहा, या तो मैं पागल हूँ या तुम पागल हो। जिस जगह को मैं देखने आया, उसे तो तुमने दिखाया ही नहीं। तुम आदमी कैसे हो? और मैं बार बार कहता रहा हूँ कि उस मंदिर में ले चलो, वहाँ क्या करते हैं! तुम एकदम बहरे हो जाते हो। सब बातें सुनते हो, इसी एक बात में बहरे हो जाते हो?

बांकेई ने कहा, आप नहीं मानते तो मुझे उत्तर देना पड़ेगा। आपने कहा वहाँ—वहाँ ले चलो, जहाँ—जहाँ भिक्षु कुछ करते हों, मैं वहाँ—वहाँ ले गया। वह जो बीच में मंदिर है, वहाँ भिक्षु कुछ भी नहीं करते। वहाँ सिर्फ भिक्षु, भिक्षु होते हैं। वह हमारा ध्यान मंदिर है, 'मेड़िटेशन हॉल' है। **वहाँ हम कुछ करते नहीं, सिर्फ होते हैं।** वहाँ 'डूइंग' नहीं है, वहाँ 'बीइंग' है। वहाँ करने का मामला नहीं है। जब हम करने से थक जाते हैं और सिर्फ होने का आनंद लेना चाहते हैं, तो हम वहाँ भीतर जाते हैं। अब मेरी मजबूरी थी, आपने कहा था, क्या करते हैं, वहाँ ले चलो।

अगर मैं वहाँ उस भवन में ले जाता, तो आप पूछते कि भिक्षु यहाँ क्या करते हैं, तो मैं क्या कहता? और 'न-करने' की बात आप समझ सकेंगे, इसकी मुझे आशा नहीं थी। अगर मैं कहता, ध्यान करते हैं, तो भी गलती होती क्योंकि ध्यान कोई करता नहीं है, ध्यान कोई 'ऐक्शन' नहीं है। अगर मैं कहता कि प्रार्थना करते हैं, तो भी गलती होती; क्योंकि प्रार्थना कभी कोई कर नहीं सकता, वह भी 'एक्ट' नहीं है, भाव है। तो मैं मुश्किल में पड़ गया, इसलिए मुझे मजबूरी में बाहर होना पड़ा। फिर मैंने सोचा कि बजाय गलत बोलने के यही उचित है कि आप मुझे पागल या बहरा समझकर चले जायँ।

झेन कहता है, ध्यान अर्थात् न-करना। इस न-करने में ही वह जाना जाता है, जो है। झेन इसी वजह से बात नहीं करता ब्रह्म की। क्योंकि झेन का कहना यह है कि जब तक ध्यान नहीं, तब तक ज्ञान नहीं, तब तक ब्रह्म की बात व्यर्थ है। और जब ज्ञान हुआ, ध्यान हुआ, तब भी ब्रह्म की बात व्यर्थ है।

क्योंकि जिसे हमने नहीं जाना, उसकी बात क्या करें, और जिसे हमने जान लिया, उसकी बात की क्या जरूरत है। इसलिए झेन चुप है, वह मौन है। वह ब्रह्म की बात नहीं करता।

लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि झेन ब्रह्म को जानता नहीं। यह निर्भर करेगा व्यक्तियों पर। सांख्य बात करता है, इस आशा में कि उसकी चर्चा से तो उसे जाना नहीं जा सकता, लेकिन उसकी चर्चा—शायद किसी के मन में छिपी हुई प्यास पर चोट बन जाय। शायद उसकी चर्चा किसी के मन में चल रही आकांक्षा को मार्ग दे दे। शायद उसकी चर्चा ऊँट के लिए आखिरी तिनका सिद्ध हो जाय। पर एक तिनके से कहीं ऊँट बैठा है! लेकिन शायद किसी बैठते ऊँट को तिनका आधार सिद्ध हो जाय, वह बैठ जाय।

सांख्य बात करता है कि कैसे मिलेगा वह—कुछ करने से? नहीं, जानने से। जानना और करना, 'डूइंग' और 'नोइंग' का जो फर्क है, उस मामले में झेन और सांख्य बिलकुल समान हैं। और जगत् में जितने भी परम ज्ञानी हुए हैं, उन सब परम ज्ञानियों की बातों में सांख्य तो होगा ही। सांख्य से बचा नहीं जा सकता। सांख्य तो होगा ही। यह हो सकता है कि किसी की चर्चा में शुद्ध सांख्य हो, तब ऐसा आदमी बहुत कम लोगों के काम का रह जायेगा।

जैसे बुद्ध। **बुद्ध कि चर्चा शुद्ध सांख्य है।** इसलिए हिन्दुस्तान से **बुद्ध के पैर उखड़ गये।** क्योंकि सिर्फ जानना, सिर्फ जानना, सिर्फ जानना! करना कुछ भी नहीं!! वह जो इतना बड़ा जगत् है, जहाँ सब करने वाले इकट्ठे हैं, वे कहते हैं, कुछ तो करने को बताओ, कुछ पाने को बताओ! बुद्ध कहते हैं, न कुछ पाने को है, न कुछ करने को। झेन जो है, वह बुद्धिज्म की शाखा है। वह शुद्धतम बुद्ध का विचार है। लेकिन हिन्दुस्तान के बाहर बुद्ध के पैर जम पाये—चीन में, बर्मा में, थाईलैंड में, तिब्बत में! क्योंकि बुद्धिज्म भारत में अशुद्धि करने को राजी नहीं हुआ। जब भारत में बुद्धिज्म के पैर उखड़ गये, तब वही समझौता उसे वहाँ करना पड़ा।

तिब्बत में बुद्धिज्म 'करना' बन गया, 'रिचुअल' बन गया। चीन में जाकर उसने स्वीकृति दे दी कि ऐसा—ऐसा करो। थाईलैण्ड में वह 'करना' बन गया, लंका में 'करना' बन गया। वह कर्म-योग बन गया। जब तक बुद्धिज्म शुद्ध सांख्य बना रहा, तब तक उसकी जड़ें फैलनी मुश्किल हो गयीं।

बहुत थोड़े से लोगों की पकड़ में ही आ सकती है, शुद्ध सांख्य की बात। इसलिये श्रेष्ठतम विचार सांख्य ने दिया, लेकिन सांख्य को मानने वाला आदमी

आज हिन्दुस्तान में खोजे से नहीं मिलेगा । सब तरह के, हजार तरह के मानने वाले आदमी मिल जायेंगे, सांख्य को माननेवाला आदमी नहीं मिलेगा । सांख्य के लिये समर्पित एक मंदिर भी नहीं है । सांख्य के जन्मदाता के लिए समर्पित मूर्ति भी नहीं है ।

असल में जो 'एब्सलूट ट्रुथ' की बात करेंगे, उनको राजी होना चाहिए कि आम जनता तक उसकी खबर मुश्किल से पहुँचेगी । जो पूर्ण सत्य की बात करेंगे, उनको राजी रहना चाहिए कि उनकी बात बहुत आकाश में घूमती रहेगी। उसे जमीन तक उतारना बहुत मुश्किल है, क्योंकि यहाँ जमीन पर, सिर्फ अशुद्ध सत्य उतरते हैं। यहाँ जमीन पर जिस सत्य को भी पैर जमाने हों, उसे जमीन के साथ समझौता करना पड़ता है ।

कृष्ण ने पहले नॉनकम्प्रोमाइजिंग (असमझौतेवाले) सांख्य की बात की। कहा कि मैं तुझे सांख्य की बुद्धि बताता हूँ। लेकिन देखा कि अर्जुन के भीतर उसकी जड़ें नहीं पहुँच सकतीं। इसलिए दूसरे क्षण ही वे कहते हैं, अब मैं तुझे कर्मयोग की बात कहूँगा । और एक बात और पूछी है कि पश्चिम में क्या सांख्य की चर्चा, जिन दार्शनिकों ने की है, उनका कारण यही तो नहीं है कि सांख्य निरीश्वरवादी है? असल में जो भी ब्रह्मवादी है, वह ईश्वरवादी हो नहीं सकता । अगर वह ईश्वर को जगह भी देगा, तो वह माया के भीतर ही होगी जगह, बाहर नहीं हो सकती वह जगह । वह 'इल्यूजन' के भीतर ही होगी। या तो वह कह देगा कोई ईश्वर नहीं है, ब्रह्म पर्याप्त है, अव्यक्त पर्याप्त है । या अगर समझौता किया उसने आपसे, तो वह कहेगा ईश्वर है । वह भी अव्यक्त का एक रूप है । लेकिन माया के घर के भीतर, वह सिर्फ आपसे समझौता कर रहा है।

सांख्य के जो मौलिक सूत्र हैं, वे शुद्धतम हैं । उनमें ईश्वर की कोई जगह नहीं । ईश्वर और ब्रह्म का मतलब तथा फर्क समझ लेना ।

ईश्वर का मतलब है–'द क्रिएटर', सृजन करने वाला । ब्रह्म का अर्थ है–शुद्धतम जीवन की ऊर्जा । ईश्वर के पहले भी ब्रह्म है । ईश्वर भी बनते और मिटते हैं, ईश्वर भी आते और जाते हैं । ईश्वर हमारी धारणाएँ हैं । इसे ऐसा समझें कि मैं एक अंधेरी रात में चल रहा हूँ। दूर, दो-चार मील दूर कुछ दिखायी पड़ रहा है । लगता है कि कोई पुलिस वाला खड़ा है और मील भर चलकर आता हूँ पास, तो दिखाई पड़ता है, पुलिस वाला नहीं है, कोई झाड़ का ठूंठ है। और मील भर चलकर जाता हूँ, तो पाता हूँ, झाड़ का ठूंठ ही नहीं, स्वतंत्रता का एक स्मारक है। जो है, वह वही है । और पता नहीं मील भर बाद चलकर

क्या रहे ! जो है, वह तो वही है । मैं आगे आता जा रहा हूँ ।

जो लोग ब्रह्म की यात्रा पर निकलते हैं, यात्रा के अन्त पर जिसे पाते हैं, वह ब्रह्म है । और यात्रा पास आती जाती है, पास आती जाती है, उस पास आते-आते में जिसे पाते हैं, वह ईश्वर है । ईश्वर ब्रह्म को दूर से देखा गया 'कंसेप्शन' है, धारणा है ।

हम सोच ही नहीं सकते ब्रह्म को। जब हम सोचते हैं, तब हम ईश्वर बना लेते हैं । निर्गुण को हम सोच नहीं सकते, जब सोचते हैं तो सगुण बना लेते हैं । निराकार को हम सोच नहीं सकते, जब सोचते हैं तो उसे भी आकार दे देते हैं । 'ब्रह्म' मनुष्य के मन से जब देखा जाता है, तब ईश्वर निर्मित होता है । यह ईश्वर मनुष्य का निर्माण है । जैसे-जैसे आगे जायेगा, विचार छोड़ेगा और निर्विचार होगा, उस दिन पायेगा कि ईश्वर भी खो गया । अब जो शेष रह जाता है––निराकार और निर्गुण, वही ब्रह्म है ।

तो शुद्धतम रूप में तो सांख्य कर्म से राजी नहीं है । क्योंकि सांख्य कहता है, बीच के मुकाम बनाने नहीं हैं । लेकिन सांख्य की भी, बाद में दूसरी धारा फूटी है । सांख्य निरीश्वर तो था ही, लेकिन वह भी हवा में खोने लगा, तो सेश्वर-सांख्य भी निर्मित हुआ । कुछ लोगों ने समझौते किये और सांख्य में भी ईश्वर को जोड़ा । और कहा कि काम नहीं चलेगा, क्योंकि आदमी ब्रह्म को पकड़ नहीं पाता इसलिए बीच की मंजिलें बनानी पड़ेंगी । और यदि नहीं पकड़ पाये ब्रह्म को, तो अच्छा है कि चार कदम चलें और ईश्वर को पकड़ें । फिर ईश्वर को छुड़ा लेंगे । चलने को ही राजी न हो, उसे चार कदम चलाओ । चार कदम चलने के बाद कहें कि यह जो तुम्हें दिखायी पड़ता था, इसे छोड़ो। और चार कदम चलो । हो सकता है बीच में कई ईश्वर के मंदिर खड़े करने पड़ें । इससे पहले कि ब्रह्म का अव्यक्त, ब्रह्म का निराकार मंदिर प्रगट हो ।

पश्चिम में जो सांख्य का प्रभाव है, वह निरीश्वरवादी होने की वजह से नहीं, पश्चिम में भी जो बुद्धिमान विचारशील आदमी पैदा हुआ है, वह भी जानता है कि बात तो सिर्फ ज्ञान की है, सिर्फ जान लेने की है, अगर हमें समझ में न आये, तो वह हमारी मजबूरी है । लेकिन बात केवल जान लेने की है । अगर इकहार्ट से पूछें, या प्लेटिनस से पूछें, या बोहमे से पूछें, तो पश्चिम में भी जो आदमी जानता है, वह कहेगा, बात तो यही है । जान लेना है, और कुछ भी नहीं करना है । जरा हिले, करने के लिए कि चूक हुई । करना, बिना हिले न होगा । करेंगे तो हिलना ही पड़ेगा । और वह जो 'अकंप' है, वह हम जरा भी हिले कि खोया ।

उसी की तरह अकंप हो जाना पड़ेगा। जैसे दिये की लौ–किसी बंद घर में, जहाँ हवा के झोके न आते हों–अकंप जलती है। ऐसे ही अकर्म में व्यक्ति की चेतना,अकंप हो जाती है। अकर्म में, 'नॉन-एक्शन' में अकंप हो जाती है। और **जैसे ही व्यक्ति की चेतना अकंप होती है,विराट् की चेतना से एक हो जाती है।**

पश्चिम में भी प्रभाव सांख्य का है। और मैं मानता हूँ कि जैसे-जैसे मनुष्य की बुद्धि और विकसित होगी, सांख्य और भी प्रभावी होता चला जायेगा। भारत में उतना प्रभाव सांख्य का नहीं है। भारत में प्रभाव योग का है, जो कि बिलकुल ही उससे उल्टी बात है। योग कहता है, कुछ करना पड़ेगा। योग मनुष्य की निम्नतम बुद्धि से चलता है। सांख्य मनुष्य की श्रेष्ठतम बुद्धि से चलता है।

स्वभावतः जो श्रेष्ठतम से शुरू करेगा वह आखीर तक नहीं आ पायेगा और अक्सर ऐसा होता है कि जो आखीर से शुरू करेगा, वह चाहे तो श्रेष्ठतम तक पहुँच जायगा।

सांख्य शुद्धतम ज्ञान है, योग शुद्धतम क्रिया है। और अगर हम सारी दुनिया के चिन्तन को दो हिस्सों में बाँटें, तो सांख्य और योग दो शब्द काफी हैं। जिनका भी 'करने' पर भरोसा है,उनको योग में और जिनको 'न-करने' पर भरोसा है, सिर्फ जानने पर भरोसा है, उनको सांख्य में समझें। असल में जगत् में योग और सांख्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। बाकी सब मार्ग इन दो केटेगरी (विभाग) में कहीं न कहीं खड़े होंगे। चाहे दुनिया के किसी कोने में कोई चिन्तन पैदा हुआ हो जीवन के प्रति, बस,दो ही विभाजन में बाँटा जा सकता है।

असल में पूरब और पश्चिम की फिलॉसॉफी बांटनी बन्द करनी चाहिए; जैन, हिन्दू, मुसलमान की फिलॉसॉफी बाँटनी बन्द करनी चाहिए। सिर्फ दो विभाजन किये जाने चाहिए–योग और सांख्य। योग पर वे आस्थाएं होंगी, जो कहती हैं कि कुछ करने से होगा। सांख्य पर वे आस्थाएं होंगी, जो कहती हैं कि कुछ 'न-करने' से होगा।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।। ४० ।।

इस निष्काम कर्मयोग में आरम्भ का अर्थात् बीज का नाश नहीं है,और उलटा फलरूप दोष भी नहीं होता

है, इसलिए इस निष्काम कर्मयोगरूप धर्म का थोड़ा भी साधन, जन्म-मृत्युरूप महान भय से, उद्धार कर देता है।

भगवान् श्री : कृष्ण कह रहे हैं कि निष्काम कर्म का कोई भी कदम व्यर्थ नहीं जाता है। इसे समझना जरूरी है। निष्काम कर्म का छोटा सा प्रयास भी व्यर्थ नहीं जाता है। लेकिन इससे उल्टी बात भी समझ लेनी चाहिए। सकाम कर्म का बड़े से बड़ा प्रयास भी व्यर्थ ही जाता है।

एक घर में मैं अभी ठहरा था। चिन्तित थे वे जिनके घर रुक जाता था। रात नींद नहीं आती थी,तो मैंने पूछा,बात क्या है? उन्होंने कहा,क्या बतायें,बड़ी मुसीबत टूट पड़ी है,पाँच लाख का नुकसान हो गया है। स्वभावतः,पाँच लाख का नुकसान लगा हो, तो बड़ी मुसीबत टूट ही गयी है। मैंने उनकी पत्नी को पूछा, क्या हो गया, कैसे नुकसान लग गया पाँच लाख का? उनकी पत्नी ने कहा, आप उनकी बातों में मत पड़ जाना। पाँच लाभ का नुकसान नहीं लगा है, पाँच लाख का लाभ हुआ है।

मैं तो बहुत मुश्किल में पड़ गया। मैंने कहा कि क्या कहती हो? उसने कहा, बिलकुल ठीक कहती हूँ। उनको दस लाख के लाभ की आशा थी। पाँच लाख का ही लाभ हुआ, इसलिए उनको लगता है कि पाँच लाख का नुकसान हो गया। नींद हराम, दवायें चल रही हैं। 'ब्लड-प्रेशर' बढ़ा हुआ है। कोई उपाय नहीं है उनको समझाने का, कि पाँच लाख का लाभ हुआ है।

मैंने उनसे पूछा। उन्होंने कहा, पाँच लाख क्या, वह दस लाख होने ही वाले थे, पंद्रह भी हो सकते थे। पाँच का कोई सवाल ही नहीं। पाँच का तो सुनिश्चत नुकसान हुआ है। अब यह सकाम बुद्धि है, यह सदा असफल होती है–लाभ हो तो भी हानि ही होती है सकाम बुद्धि में। क्योंकि **अपेक्षा का कोई अंत नहीं है।** जो भी मिलता है, सदा छोटा पड़ता है। जो भी सफलता मिलती है, वह किसी बड़ी असफलता के सामने फीकी लगती है। कुछ भी मिल जाय, तो भी तृप्ति नहीं है। कुछ भी मिल जाय तो भी संतोष की कहीं झलक नहीं आती।

सकाम कर्म, असफल होने को बाध्य है। असफलता में नहीं है उसका राज, उसका राज सकाम होने में है। कृष्ण कहते हैं, निष्काम कर्म का छोटा-सा कृत्य सफल ही होता है। होगा ही, क्योंकि असफलता का कोई उपाय नहीं है। जब निष्काम है, तो अपेक्षा रहित है। इसलिए जो भी मिल

जाय,वह भी बहुत है, क्योंकि कोई अपेक्षा नहीं थी, जिससे उसको छोटा बताया जा सके ।

कहानी सुनी है हम सबने कि अकबर ने एक लकीर खींच दी थी दरबार में अपने, और कहा था अपने दरबारियों से कि बिना मिटाये, बिना छुये इसे छोटा कर दो । वे सब हार गये थे और फिर बीरबल ने एक लकीर उसके पास खींच दी । उसने छुआ नहीं, काटा नहीं, पोंछा नही, सिर्फ एक बड़ी लकीर पास खींच दी और वह लकीर एकदम छोटी हो गयी ।

अपेक्षा की बड़ी लकीर जिनके मन में खिंची है, सफलता की सभी लकीरें छोटी पड़ती हैं । अपेक्षा 'एण्डलेस' (अन्तहीन)है और जितनी बड़ी खींची थी बीरबल ने, वह कुछ बड़ी नहीं थी । अपेक्षा की जो लकीर है, उसका कोई अंत ही नही है । वह दोनों छोरों पर अनंत है । जो लोग ब्रह्म को जानते हैं, वे ब्रह्म को अनंत कहते हैं। लेकिन जिन्होंने ब्रह्म को नहीं जाना, वे भी एक अनंत चीज को जानते हैं, वह अपेक्षा है,' एक्सपेक्टेशन ' है। उस अनंत अपेक्षा के पास खींची गयी कोई भी सफलता, सदा छोटी पड़ती है ।

लेकिन कृष्ण कह रहे हैं कि अपेक्षा की लकीर मिटा दो ।निष्काम कर्म का अर्थ यही है–अपेक्षा रहित, फल की आकांक्षारहित, कामनारहित कर्म करना। स्वभावतः बड़ी होशियारी की बात उन्होंने कही है । वे कह रहे हैं कि अगर अपेक्षा की लकीर मिटा दो, फिर छोटा सा भी कर्म तृप्ति ही लाता है । क्योंकि कितना ही छोटा हो, तो भी बड़ा ही होता है, क्योंकि तौलने के लिए नीचे लकीर नहीं होती है। इसलिए **निष्कामकर्मी कभी भी विषाद को उपलब्ध नहीं होता है** । सिर्फ सकामकर्मी विषाद को उपलब्ध होता है ।

'फ्रस्टेशन' (विषाद)जो है, वह सकाम कर्म की छाया है । निष्काम कर्म की कोई छाया नहीं बनती। कोई हिसाब नहीं बनता,इसलिए एक बहुत मजे की बात ध्यान में ले लेनी है कि गरीब आदमी ज्यादा विषाद को उपलब्ध नहीं होता है । होना नहीं चाहिए ऐसा । बिलकुल नियम को तोड़कर चलती हुई मालूम पड़ती है बात । गरीब समाज ज्यादा परेशान नहीं होते, अमीर समाज बहुत परेशान हो जाते हैं । क्या कारण होगा?

असल में गरीब आदमी अनंत-अपेक्षा की हिम्मत नहीं जुटा पाता । वह जानता है अपनी सीमा, वह जानता है: क्या हो सकता है, क्या नहीं हो सकता है। अपने वश के बाहर है बात, वह अनंत-अपेक्षा की

रेखा नहीं बनाता । इसलिए 'फ्रस्ट्रेशन ' को, विषाद को उपलब्ध नहीं होता । अमीर आदमी, जिसके पास सुविधा है, सम्पन्नता है, अपेक्षा की रेखा को अनंत गुना बड़ा करने की हिम्मत जुटा लेता है । बस उसी के साथ विषाद उत्पन्न हो जाता है ।

पाल गुडमेन ने अमेरिका के संबंध में एक किताब लिखी है–" ग्रोइंग अप एब्सर्ड " । उसमें उसने एक बहुत मजे की बात कही है । उसने कहा है कि मनुष्य जाति ने जिन-जिन सुविधाओं की आकांक्षा की थी, वे सब पूरी हो गयीं हैं अमेरिका में। मनुष्य जाति ने जो-जो सपने देखे थे, उनसे भी आगे अमेरिका में सफलता मिल गयी । लेकिन अमेरिका में जो दुःखी आदमी है आज, उससे दुःखी आदमी बस्तर के जंगल में भी नहीं है । क्या हो क्या गया ? यह 'एब्स-र्डिटी' कहां से आयी ?

यह अजीब बात है कि जो-जो आदमी करोड़ों साल से अपेक्षा कर रहा था, वह सब फलित हो गयीं। सब सपने पूरे हो गये । यह क्या हो गया लेकिन? हुआ क्या ? हुआ यह कि सब शक्ति हाथ में होने पर अपेक्षाएँ एकदम अनंत हो गयीं । इसलिए जो भी पास में है, एकदम छोटा पड़ गया । बस्तर के आदिवासी की बहुत बड़ी अपेक्षा की सामर्थ्य नहीं है, जो भी हाथ में है,काफी बड़ा है ।

इसीलिए दुनिया में गरीब आदमी कभी बगावत नहीं करते । गरीब आदमी अपेक्षा ही नहीं कर सकते कि बगावत करें । दुनिया में बगावत शुरू होती है, जब गरीब आदमी के पास अपेक्षाएँ दिखायी पड़ने लगती हैं निकट! तब उपद्रव शुरू होता है । दुनिया में अशिक्षित आदमी बगावत नहीं करते, क्योंकि अपेक्षा बाँध नहीं पाते । शिक्षित आदमी उपद्रव शुरू करते हैं, क्योंकि जैसे ही शिक्षा शुरू हुई, अपेक्षाएँ एकदम विस्तार लेने लगती हैं । शिक्षित आदमी को शांत करना मुश्किल है ।.मैं नहीं कहता, शिक्षित नहीं करना चाहिए, यह मैं नहीं कह रहा हूँ । शिक्षित आदमी को शांत करना मुश्किल है । अभी तक तो कोई उपाय नहीं खोजा जा सका ।

इस पर एक बहुत बड़े विचारक ने एक किताब लिखी है, "कम्पल्सरी मिस-एजुकेशन" । जिसको हम अनिवार्य शिक्षा कहते हैं, उसको वह अनिवार्य कुशिक्षा कहता है। क्योंकि अंततः आदमी अगर दुःखी और अशांत ही होता हो तो–अ,ब स,द सीख लेने से भी क्या हो जाने वाला है ! अगर समृद्धि सिर्फ विषाद ही

लाती हो, तो ऐसी समृद्धि से दरिद्रता बेहतर मालूम पड़ सकती है। लेकिन राज़ क्या है ?

'सीक्रेट' सिर्फ इतना-सा है कि समृद्धि से कोई लेना-देना नहीं है। अगर अपेक्षा की धारा बहुत ज्यादा न हो, तो समृद्धि आदमी भी शांत हो सकता है। और अगर अपेक्षा की धारा बहुत बड़ी हो, तो राजा भी अशांत हो जायेगा। अगर अपेक्षा शून्य हो, तो शिक्षित भी शांत हो सकता है। अगर अपेक्षा विराट् हो, तो अशिक्षित भी अशांत हो जाता है। प्रश्न शिक्षित, अशिक्षित, धन और दरिद्रता का नहीं है, प्रश्न सदा ही गहरे में अपेक्षा का है, 'एक्सपेक्टेशन' का है।

कृष्ण कह रहे हैं कि निष्काम कर्म की तुझसे मैं बात इसलिए कहता हूँ, ताकि निष्काम कर्म को करने वाला व्यक्ति कभी भी असफलता को उपलब्ध नहीं होता है, एक।

और दूसरी बात वे यह कह रहे हैं कि निष्काम कर्म में छोटा सा भी विघ्न, छोटी सी बाधा नहीं आती। क्यों नहीं आती? निष्काम कर्म में ऐसी क्या कीमिया है, क्या 'केमिस्ट्री' है, कि बाधा नहीं आती, कोई प्रत्यवाय पैदा नहीं होता! बाधा भी तो अपेक्षा के कारण ही दिखायी पड़ती है। जिसकी अपेक्षा नहीं है, उसे बाधा भी कैसे दिखायी पड़ेगी? गंगा बहती है सागर की तरफ, अगर वह पहले से एक नक्शा बना ले और पक्का कर ले कि इस इस रास्ते जाना है, तो हजार बाधाएँ आयेंगी रास्ते में। क्योंकि किसी ने मकान बना लिया होगा गंगा से बिना पूछे, कहीं कोई पहाड़ खड़ा हो गया होगा गंगा से बिना पूछे, कहीं चढ़ाई होगी गंगा से बिना पूछे। नक्शा वह पहले से बना ले तो फिर बाधाएं हजार आयेंगी। और यह भी हो सकता है, कि बाधाओं से गंगा लड़-लड़ कर इतनी मुश्किल में पड़ जाय कि सागर तक पहुँच ही न पाये, लेकिन गंगा बिना नक्शा के, बिना 'प्लानिंग' के चल पड़ती है।

रास्ता, पहले से, अपेक्षा में न होने से, जो भी मार्ग मिल जाता है, वही रास्ता है। बाधा का कोई प्रश्न नहीं। अगर पहाड़ रास्ते में पड़ता है, तो किनारे से गंगा बह जाती है। पहाड़ से रास्ता बनाना किसको था, जिससे पहाड़ बाधा बनता! जो लोग भी भविष्य की अपेक्षा को सुनिश्चित करके चलते हैं, अपने हाथ से बाधाएँ खड़ी करते हैं, क्योंकि भविष्य आपका अकेला नहीं है। किस पहाड़ ने बीच में खड़े होने की पहले से योजना कर रखी होगी, आपको कुछ पता नहीं।

जो भविष्य को निश्चित करके नहीं चलता, जो अभी कर्म करता है, और कल कर्म का क्या फल होगा, इसकी कोई 'फिक्स्ड', इसकी कोई सुनिश्चित धारणा नहीं बनाता, उसके मार्ग में बाधा आयेगी कैसी? असल में उसके लिए तो जो भी मार्ग होगा, वही मार्ग है। और जो भी मार्ग मिलेगा, उसी के लिए परमात्मा को धन्यवाद है।

इसीलिए कृष्ण कहते हैं, अर्जुन निष्काम कर्म की यात्रा पर जरा-सा भी प्रत्यवाय नहीं, जरा-सी भी बाधा नहीं, जरा-सी भी 'हिंडरेंस' है ही नहीं। पर बड़ी होशियारी की, बड़ी कलात्मक बात है, बहुत 'आर्टिस्टिक' बात है। एकदम से ख्याल में नहीं आयेगी। एकदम से ख्याल में नहीं आयेगी कि बाधा क्यों नहीं है? निष्काम कर्म करने वाले आदमी को बाधा नहीं बची, बाधाएँ सब अपनी जगह हैं। लेकिन निष्काम कर्म करने वाले आदमी ने बाधाओं को स्वीकार करना बन्द कर दिया। स्वीकृति होती थी अपेक्षाओं से, उनके प्रतिकूल होने से। अब कुछ भी प्रतिकूल नहीं है।

तो निष्काम कर्म की धारणा में बहने वाले आदमी को सभी कुछ अनुकूल है। इसका यह मतलब नहीं कि सभी कुछ अनुकूल है। असल में जो भी है, वह अनुकूल ही है, क्योंकि प्रतिकूल को तय करने को उसके पास कोई तराजू नहीं है। न बाधा है न विफलता है। सब बाधाएँ, सब विफलताएँ सकाम मन की निर्मितियाँ हैं।

● **प्रश्नकर्ता :** "स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महती भयात्" निष्काम कर्म का अल्प आचरण भी बड़े-बड़े भयों से बचाता है, इसे भी स्पष्ट करें।

भगवान् श्री : निष्काम कर्म को अल्प आचरण भी बड़े-बड़े भयों से बचाता है। बड़े-बड़े भय क्या हैं? बड़े-बड़े भय यही हैं—कि असफलता तो नहीं मिलेगी, विषाद तो हाथ नहीं आयेगा, दुःख तो पल्ले नहीं पड़ेगा, कोई बाधा तो न आ जायेगी, निराशा तो नहीं मिलेगी? बड़े-बड़े भय यही हैं। तो कृष्ण कह रहे हैं, सूत्र के अंतिम हिस्से में, कि निष्काम कर्म का थोड़ा-सा भी आचरण, अंश मात्र आचरण भी, रत्ती-भर आचरण भी, पहाड़ जैसे भयों से मनुष्य को मुक्ति दिला देता है।

असल में जब तक विपरीत दशा को न समझ लें, यह ख्याल में नहीं आयेगा। जरा-सी कामना, जरा-सी अपेक्षा पहाड़ों जैसे भय को निर्मित कर देती है। जरा-सी इच्छा पर जोर, जरा-सा पहाड़ों जैसे दुखों का निर्माण कर देती है। जरा-सी इच्छा पर जोर, जरा-सा आग्रह कि ऐसा ही हो, सारे जीवन को अस्त-व्यस्त कर जाता है। जिसने भी

कहा—ऐसा ही हो, वह दुःख पायेगा ही, 'ऐसा' होता ही नहीं। जिसने कहा, ऐसा ही होगा, तो ही मैं सुखी हो सकता हूँ, उसने अपने नर्क का इन्तजाम स्वयं ही कर लिया है, वह 'आर्चिटेक्ट' है, अपने नर्क का खुद ही। उसने सब व्यवस्था कर ली है। हम जितने दुःख झेल रहे हैं, कभी आप ने सोचा कि वे बहुत छोटी अपेक्षाओं पर खड़े हैं। कितनी छोटी अपेक्षाओं पर, नहीं देखा कभी!

एक आदमी रास्ते से निकल रहा है। आपने उसको सदा नमस्कार किया था, आज आप नमस्कार नहीं करते हैं, ये दो हाथ ऊपर नहीं उठे आज। उसकी नींद हराम, वह परेशान, उसे बुखार चढ़ आयेगा। अब वह सोचने लगा, क्या हो गया, कोई बदनामी हो गयी, इज्जत हाथ से चली गयी, प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल गयी। जिस आदमी ने सदा नमस्कार की, उसने आज नमस्कार नहीं किया! क्या होगा? क्या नहीं होगा? अब उसको कैसे बदला चुकाना और क्या नहीं करना, वह हजार-हजार चक्करों में पड़ गया है। इस आदमी का यह दो हाथों का न उठना, हो सकता है उसकी जिन्दगी के सारे भवन को उदासी से भर जाये।

पति घर आया है और उसने कहा, पानी लाओ। और पत्नी नहीं लायी दो क्षण, सब दुःख हो गया। पति घर से बाहर निकला, राह चलती किसी स्त्री को उसने आँख उठाकर देख लिया, पत्नी के प्राण अंत हो गये। पत्नी मरने की हालत में हो गयी, जीने का कोई अर्थ न रहा। यह अब बेकार है। हम अपने दुःखों के पहाड़ को देखें, तो बड़ी क्षुद्र अपेक्षाएँ उनके पीछे खड़ी मिलती हैं।

यहीं से समझना उचित होगा, क्योंकि निष्काम कर्म का तो अंश भी हमें पता नहीं, लेकिन सकाम कर्म के काफी अंश हमें पता हैं। वहीं से समझना उचित होगा। उसके विपरीत निष्काम कर्म की स्थिति है। कितनी **क्षुद्र अपेक्षाएँ कितने विराट दुःख को पैदा करती चली जाती हैं**! यह जो इतना बड़ा महाभारत युद्ध हुआ, जानते हैं कितनी क्षुद्र-सी घटना से शुरू हुआ? बहुत क्षुद्र घटना से, मजाक से, एक 'जोक' से। दुनिया के सभी युद्ध मजाक से शुरू होते हैं।

दुर्योधन देखने आया है, जो पांडवों ने एक मकान बनवाया था। उससे और अंधे के बेटों से वे मजाक कर रहे हैं। उसमें उन्होंने आइने लगाये हुए हैं, और इस तरह से लगाए हुए हैं कि दुर्योधन को जहाँ दरवाजा नहीं है, वहाँ दरवाजा दिखाई पड़ जाता है। जहाँ पानी है, वहाँ पानी दिखाई नहीं पड़ता। दुर्योधन

का दीवाल से सिर टकरा जाता है। पानी में गिर पड़ता है। **द्रौपदी हँसती है। वह हँसी सारे महाभारत के युद्ध का मूल है।** उस हँसी का बदला, फिर द्रौपदी को नंगा करके चुकाया जाता है। फिर यही बदला चलता है। एक बड़ी ही क्षुद्र-सी घटना थी—'जस्ट ए जोक', एक मजाक, लेकिन बहुत ही महँगा पड़ा है। मजाक बढ़ता ही चला गया, फिर उसके कोई आर-पार न रहे और उसने इस पूरे मुल्क को मथ डाला।

एक स्त्री का हँसना, एक घर में चचेरे भाइयों का आपसी मजाक! कभी सोचा भी न होगा कि हँसी इतनी महँगी पड़ सकती है। लेकिन उन्हें पता नहीं कि दुर्योधन की भी अपेक्षाएँ हैं। चोट अपेक्षाओं को लग गयी। दुर्योधन ने सोचा भी नहीं था कि उस पर हँसा जायेगा निमंत्रण देकर। उसने सोचा भी नहीं था कि इस तरह मखौल-मजाक उड़ाया जायेगा। वह आया होगा सम्मान लेने, मिला मजाक। बस, उपद्रव शुरू हो गया। फिर उस उपद्रव के भंयकर परिणाम हुए।

उन परिणामों से मैं नहीं सोचता हूँ कि आज तक भी भारत पूरी तरह मुक्त हो पाया हो। वह जो महाभारत में घटित हुआ था, उसके परिणामों की प्रतिध्वनि आज भी भारत के प्राणों में चलती है। जगत् में बड़े छोटे-से कारण, सब कुछ करते हैं।

सकाम का हमें पता है, निष्काम का हमें कुछ पता नहीं है। निष्काम कृत्य को भी ठीक ऐसे ही समझें, इसकी उल्टी दिशा में। जरा-सा निष्काम भाव, और बड़े-बड़े भय जीवन के दूर हो जाते हैं।

● **प्रश्नकर्ता** : क्या निष्काम भावना से हमारी प्रगति नहीं रुक जाती है?

भगवान् श्री : प्रगति का क्या मतलब होता है? अगर प्रगति से मतलब हो कि बहुत धन हो, बड़ा मकान हो, जायदाद हो, जमीन हो, तो शायद थोड़ी रुकावट पड़ सकती है। लेकिन अगर प्रगति से अर्थ शांति हो, आनंद हो, प्रेम हो, जीवन में प्रकाश हो, ज्ञान हो, तो रुकावट नहीं पड़ती, वरन् बड़ी गति मिलती है। इसलिए आपकी प्रगति का क्या मतलब है, इस पर निर्भर करेगा।

प्रगति से आपका क्या मतलब है? अगर प्रगति से यही मतलब है कि बाहर इकठ्ठा होता है, तब तो शायद थोड़ी बाधा पड़ सकती है। लेकिन, बाहर सब कुछ भी मिल जाय—सारा जगत्, सम्पदा और भीतर एक भी किरण शांति को न फूटे, तो मैं तुमसे कहता हूँ कि अगर कोई तुम्हें एक किरण शांति को देने को राजी हो जाय और कहे कि छोड़ दो यह सब राज्य और यह सब

धन और यह सब दौलत, तो छोड़ पाओगे ? छोड़ सकोगे ? एक छोटी सी शांति की लहर भी इस जगत् के पूरे साम्राज्य से अधिक है ।

लेकिन हम प्रगति से एक ही मतलब लेते हैं । इसका यह भी मतलब नहीं है कि मैं ऐसा कह रहा हूँ कि जो निष्काम कर्म में गति करेगा, अनिवार्य रूप से दीन और दरिद्र हो जायेगा । यह मैं नहीं कहता हूँ । क्योंकि **मन शांत हो तो दरिद्र होने की कोई अनिवार्यता नहीं** । क्योंकि शांत मन, जिस दिशा में भी कोई काम करेगा, ज्यादा कुशल होगा । हाँ, एक फर्क पड़ेगा कि धन कमाने का अर्थ चोरी नहीं हो सकेगा । शांत मन के लिए धन कमाने का अर्थ, धन कमाना ही होगा, चोरी नहीं ।

शांत मन हो, तो आदमी जो भी करेगा, वह कुशलतापूर्ण हो जाता है । उसके मित्र पैदा होंगे, उसकी कुशलता ज्यादा होगी, उसके पास शक्ति ज्यादा होगी, समझ ज्यादा होगी । भीतर तो समृद्धि होगी ही । लेकिन भीतरी समृद्धि, बाहरी समृद्धि को लाने का भी आधार बनती है । लेकिन वह गौण होगी । भीतरी समृद्धि के रहते हुए मिलती होगी—'नॉट एट द कॉस्ट', कीमत न चुकानी होगी भीतरी समृद्धि की, तो बाहरी समृद्धि भी आयेगी । हाँ, सिर्फ उसी तरह बाधा पड़ेगी, जहाँ बाहरी समृद्धि कहेगी कि भीतरी शांति और आनंद खोओ, तो मैं मिल सकती हूँ । तो निष्काम-कर्मी कहेगा कि मत मिलो । यही तुम्हारी कृपा है । जाओ ।

प्रगति का क्या अर्थ है इस पर सब निर्भर करता है । अगर सिर्फ दौड़ना ही प्रगति है कभी — दौड़ना, बिना कहीं पहुँचे—तब बात अलग होगी । लेकिन कहीं अगर पहुँचना प्रगति है, तो फिर बात बिलकुल अलग होगी । अगर एक आदमी पागल है और हम उससे कहें कि तुम्हारे दिमाग का इलाज किये देते हैं, और वह कहे, दिमाग का इलाज तो आप कर देंगे, लेकिन इससे मेरी प्रगति में बाधा तो नहीं पड़ेगी ? क्योंकि अभी मैं जितनी तेजी से दौड़ता हूँ, कोई दूसरा नहीं दौड़ पाता है । हम कहेंगे, बाधा पड़ेगी । अभी तुम्हारी जैसी तेजी से कोई भी नहीं दौड़ पाता है, लेकिन तुम इतनी तेजी से दौड़कर भी कहीं नहीं पहुँचते और धीमे चलने वाले लोग पहुँच जाते हैं । बस इतना ही ख्याल हो, तो बात समझ में आ सकती है ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

हे अर्जुन, इस कल्याणमार्ग में निश्चयात्मक-बुद्धि एक ही है और अज्ञानी [सकामी] पुरुषों की बुद्धियाँ बहुत भेदों वाली अनन्त होती हैं ।

भगवान् श्री : मनुष्य का मन एक हो सकता है, अनेक हो सकता है । मनुष्य का चित्त अखण्ड हो सकता है, खण्ड-खण्ड हो सकता है । मनुष्य की बुद्धि स्वविरोधी खण्डों में बँटी हुई हो सकती है । विभाजित हो सकती है, अविभाजित भी हो सकती है । साधारणत: इच्छाओं से भरे चित्त की अवस्था एक मन की नहीं होती है, अनेक मन की होती है । 'पोलिसाइकिक', बहुचित्त होते हैं । और ऐसा ही नहीं कि बहुचित्त होते हैं, एक चित्त के विपरीत दूसरा चित्त भी होता है ।

मैं कुछ दिन पहले दिल्ली में था । एक मित्र जो बड़े शिक्षाशास्त्री, किसी विश्वविद्यालय के पहले कुलपति थे, फिर अब और भी बड़े पद पर हैं, वे मुझसे पूछने आये कि हम शिक्षित तो कर रहे हैं लोगों को, लेकिन बेईमानी, झूठ, दगा, फरेब सब बढ़ता चला जाता है ! हम अपने बच्चों को बेईमानी, झूठ, दगा, फरेब से कैसे रोकेंगे ? तो मैंने उनसे पूछा कि दूसरों के बच्चों की बात पहले छोड़ दें । दूसरों के बच्चों को दगा, फरेब से रोकने को कोई भी तैयार हो जाता है । मैं आपके बच्चों की बात करना चाहता हूँ । दूसरे के बच्चे को दगा, फरेब से रोकने में कोई भी कठिनाई नहीं है । दूसरे का बेटा संन्यासी हो जाय, तो सब मुहल्ले के लोग उसे धन्यवाद देने आते हैं । उनका बेटा हो तब पता चलता है !

मैंने उनसे पूछा कि दूसरों के बच्चो की बात छोड़ दें । क्या आपके भी लड़के हैं ? उन्होंने कहा, हैं । लेकिन वे कुछ डरे हुए मालूम पड़े, जैसे मैंने कहा, आपके बच्चे की सीधी बात की जाय । मैंने उनसे पूछा कि आपसे यह पूछता हूँ, आप अपने बच्चे को दगा, फरेब, झूठ, खुशामद, बेईमानी—ये जो हजार बीमारियाँ इस समय मुल्क में हैं, इन सब से छुटकारा दिलाना चाहते हैं ? उन्होंने बड़े डरते मन से कहा कि हाँ, दिलाना चाहता हूँ । लेकिन मैंने कहा, आप इतने कमजोर मन से कह रहे हैं हाँ, कि मैं फिर से पूछता हूँ, थोड़ी हिम्मत जुटाकर कहिए । उन्होंने कहा, नहीं, मैं तो दिलाना ही चाहता हूँ ।

मैंने कहा, लेकिन आप हिम्मत क्यों नहीं जुटाते ? आप जितनी ताकत से पहले मुझसे बोले कि—सब बर्बाद हुआ जा रहा है, तो हम मुल्क भर के बच्चों को कैसे ईमानदारी सिखायें—उतने जोर से आप अब नहीं कहते । उन्होंने कहा,

ग्रापने मेरा कमजोर हिस्सा छू दिया है। आपने मेरी नस पकड़ ली है। मैंने कहा, नस पकड़ कर ही बात हो सकती है, ग्रागे की कोई बात होती नहीं। इस मुल्क में हर आदमी बिना नस पकड़े ही बात करता रहता है, तो कोई मतलब हल नहीं होता है। तो मैं नस ही पकड़ना चाहता हूँ।

उन्होंने कहा, मैं इतनी हिम्मत से तो नहीं कह सकता। मैंने कहा, क्यों नहीं कह सकते? तो उन्होंने कहा, मैं जानता हूँ। इतना तो मैं चाहता हूँ कि जितने ऊँचे पद तक मैं उठा, कम-से-कम मेरा लड़का भी उतना तो उठे ही। ग्रौर यह भी मैं जानता हूँ कि ग्रगर वह पूरा ईमानदार ग्रौर नैतिक हो तो नहीं उठ सकता। तो फिर मैंने कहा, दो मन हैं ग्रापके। दो में से एक साफ तय करिए–या कहिए कि लड़का सड़क पर भीख माँगे, तो भी इसके लिए मैं राजी हूँ, लेकिन बेईमानी नहीं। और या फिर कहिये कि लड़का बेईमान हो, मुझे कोई मतलब नहीं। लड़का शिक्षा मंत्रालय में होना चाहिए। उसके 'एजुकेशन मिनिस्ट्री' में पहुँचे बिना मुझे कोई चैन नहीं। बेईमानी से हमें कोई मतलब नहीं। साफ बात कहिए। नहीं तो ग्राप ग्रपने लड़के में भी 'डबल माइण्ड' पैदा कर देंगे। वह लड़का भी समझ जायेगा कि बाप चाहता है कि शिक्षा-मंत्री होने तक पहुँचो और देखता है कि शिक्षामंत्री होने तक यात्रा, सीढ़ी-दर-सीढ़ी बेईमानी की और चोरी की यात्रा है।

दूसरी तरफ बाप कहता है कि ईमानदार बनो ग्रौर ईमानदार की इस जगत् में हालत ठीक वैसी है, जैसा कि नाइबर ने एक किताब लिखी है, "मारल मैन इन इम्मारल सोसाइटी", नैतिक ग्रादमी: ग्रनैतिक समाज। तो सड़क पर भीख मांगने की तैयारी होनी ही चाहिए। **यद्यपि नैतिक होकर सड़क पर भीख मांगने में जितना ग्रानन्द है, उतना आनन्द अनैतिक होकर, सम्राट हो जाने भी नहीं है।** लेकिन वह दूसरी बात है।

ये दोनों बातें लड़के के दिमाग में होंगी, तो लड़के के दो मन हो जायेंगे। तब फिर वह यही कर सकता है ज्यादा से ज्यादा, कि उसको उसका इन्तजाम भीतरी करना पड़ेगा। इन सब विरोधी उपद्रवी तत्त्वों के बीच कोई तो समझौता करके, कोई संविद सरकार निर्मित करनी पड़ेगी। तो फिर यही होगा कि जब बाहर दिखाना हो तो ईमानदारी दिखाग्रो ग्रौर जब भीतर करना हो तो बेईमानी करो। क्योंकि मंत्री के पद तक पहुँचना ही है ग्रौर ईमानदारी बड़ी ग्रच्छी चीज है, उसको भी दिखाना ही है।

चित्त हमारा बँट जाता है अनेक खण्डों में, और विपरीत ग्राकांक्षाएँ एक

साथ पकड़ लेती हैं। ग्रौर ग्रनंत इच्छाएँ जब एक साथ मन को पकड़ती हैं, तो मन के ग्रनंत खण्ड हो जाते हैं ग्रौर एक ही साथ हम सब इच्छाग्रों को करते चले जाते हैं। एक ग्रादमी कहता है, मुझे शांति चाहिए ग्रौर साथ ही कहता है, मुझे प्रतिष्ठा चाहिए। उसे कभी ख्याल में नहीं ग्राता कि वह क्या कह रहा है! एक मित्र मेरे पास ग्राये। ग्राते ही वे बोले, मैं ग्ररविन्द ग्राश्रम हो ग्राया, रमण ग्राश्रम हो ग्राया, शिवानन्द ग्राश्रम हो आया। सब ग्राश्रम छान डाले, कहीं शांति नहीं मिलती है। ग्रभी मैं पाण्डीचेरी से सीधा चला आ रहा हूँ। किसी ने ग्रापका नाम ले लिया, तो मैंने सोचा कि ग्रापके पास भी जाकर शांति के बाबत पूछूं–तो मुझे शांति दें।

तो मैंने कहा, इससे पहले कि तुम मुझसे भी निराश होग्रो, एकदम उल्टे लौटो ग्रौर वापस हो जाग्रो। मैं तुम्हें शांति नहीं दूंगा। और तुम कुछ इस तरह कह रहे हो, जैसे ग्ररविन्द ग्राश्रम ने तुम्हें शांति देने का कोई ठेका ले रखा है, कि सब जगह हो ग्राये, कहीं नहीं मिली! जैसे कि शांति मिलना कोई तुम्हारा ग्रधिकार था। तुम बाहर हो जाग्रो दरवाजे से।

वह कहने लगा, ग्राप कैसे ग्रादमी हैं! मैं शांति खोजने ग्राया हूँ। मैंने कहा, ग्रशांति खोजने किस ग्राश्रम में गये? यह मुझे पहले बता दो। उसने कहा, मैं कहीं नहीं गया। तो मैंने कहा, जब तुम ग्रशांति तक पैदा करने में कुशल हो तो शांति भी पैदा कर सकते हो, मेरी क्या जरूरत है? जिस रास्ते अशांत हुए उसी रास्ते से लौट जाग्रो, शांत हो जाग्रोगे। मैं कहाँ ग्राता हूँ बीच में? ग्रशांति के वक्त मुझसे कोई सलाह न ली थी, शांति के वक्त तुम मुझसे सलाह लेने चले ग्राये हो? मैंने कहा, शांति की बात बन्द। ग्रगर मेरे पास रुकना है तो ग्रशांति की चर्चा करो की ग्रशांत कैसे हुए? क्या है अशांति, उसकी मुझसे बात करो। अशांति स्पष्ट हो जाय तो शांति पाना जरा भी कठिन नहीं है।

वे दो दिन मेरे पास थे। उनकी ग्रशांति जो थी, उन्होंने धीरे धीरे खोलनी शुरू की। वही थी, जो हम सबकी है। एक ही लड़का है उनका, बहुत पैसा कमाया। ठेकेदारी थी। तो उस लड़के ने एक लड़की से शादी कर ली, जिससे वे नहीं चाहते थे कि करे। तलवार लेकर खड़े हो गये दरवाजे पर। कहा, लाश बिछा दूँगा, बाहर निकल जाग्रो। लड़का बाहर निकल गया। ग्रब मुसीबत है, अब मौत करीब ग्रा रही है। ग्रब किस मुँह से लड़के को वापस बुलायें। तलवार दिखाने को निकाली थी। ग्रौर मौत पास आ रही है। ग्रौर जिंदगी भर, जिस पैसे को हजार चोरी ग्रौर बेइमानी से कमाया, उसका कोई मालिक भी नहीं रह जाता ग्रौर हाथ से सब छूटा जा रहा है।

तो मैंने उनसे पूछा—वह लड़की खराब थी ? जिसने तुम्हारे लड़के से शादी की है? उन्होंने कहा, नहीं लड़की तो बिलकुल अच्छी है, लेकिन मेरी इच्छा के खिलाफ की।

तुम्हारी इच्छा से तुम शादी करो, तुम्हारा लड़का क्यों करने लगा ? अशांत होने के रास्ते खड़े कर रहे हो। फिर जब उसने शादी अपनी इच्छा से की और तुमने उसे घर से बाहर निकाल दिया, तो अब परेशान क्यों हो रहे हो ? बात समाप्त हो गयी। उसने तो नहीं कहा कि घर में वापस लो।

उन्होंने कहा, यही तो अशांति है। वह एक दफा आकर माफी मांग ले, अन्दर आ जाय। तो फिर ठीक है अन्यथा मेरे धन का क्या होगा ?

धन का सबके मर जाने के बाद क्या होता है ? और तुम्हें क्या फिक्र है ? तुम मर जाओगे, धन का जो होगा, वह होगा।

उन्होंने कहा, नहीं, मेरे ही लड़के के पास मेरा धन होना चाहिए। तो मैंने कहा, फिर मेरे ही लड़के के पास, मेरी ही पसन्द की औरत होनी चाहिए यह ख्याल छोड़ो। तुम्हारा लड़का धन छोड़ने को राजी है, अपने प्रेम के लिए। वह बिलकुल छोड़ने को राजी है।

वे मित्र दो दिन मेरे पास थे। देखा कि सब हजार तरह की उल्टी-सीधी इच्छाएं मन को पकड़े हुए हैं। तो चित्त अशांत हो गया। हम सब का मन ऐसा ही अशांत है।

कृष्ण कह रहे हैं...विषय-आसक्त-चित्त...चूंकि विषय बहुत विपरीत हैं। एक ही साथ विपरीत विषयों की आकांक्षा करके मन विक्षिप्त होता रहता हैं। और खण्ड-खण्ड में टूट जाता है। जो व्यक्ति निष्काम कर्म की तरफ यात्रा करता है, वह अनिवार्य रूपेण शांत होता जाता है। क्योंकि कामना गिरती है, और कामना से बने हुए खण्ड गिरते हैं।

जो व्यक्ति अपेक्षा-रहित जीवन में प्रवेश करता है, तो अपेक्षा गिरती है, इसलिए अपेक्षाओं से निर्मित खण्ड गिरते हैं। उसके भीतर एक चित्तता (यूनिसाइकिकनेस), उसके भीतर एक मन पैदा होना शुरू होता है और जहाँ एक मन है, वहाँ जीवन का सब कुछ है। शांति भी, सुख भी, आनन्द भी। जहाँ एक मन है, वहाँ सब कुछ है—शक्ति भी, संगीत भी, सौंदर्य भी। जहाँ एक मन है, उस एक मन के पीछे जीवन में जो भी श्रेष्ठ है, वह सब चला आता है। और जहाँ अनेक मन हैं, तो पास में भी जो है, वह भी सब बिखर जाता है, लेकिन

हम सब पारे की तरह हैं, खण्ड-खण्ड टूटे हुए, बिखरे हुए। खुद भी इतने खण्डों में टूटे हुए हैं, कि कैसे शांति हो सकती है।

जोसुआ लिएबमेन ने अपने संस्मरण लिखे हैं। किताब को जो नाम दिया है—'पीस ऑफ माइन्ड', वह बहुत अच्छा है। और किताब के पहले हिस्से में जो उसने उल्लेख किया है, वह कीमती है। कहा कि मैं जवान था, विश्वविद्यालय से पढ़कर लौटा था, तो मेरे मन में हुआ कि अब जीवन का एक नक्शा बना लूं कि जीवन में क्या-क्या पाना है। स्वभावतः जीवन का एक नक्शा होगा, तो जीवन को सुव्यवस्थित चलाया जा सकता है। तो उसने एक फेहरिश्त बनायी।

फेहरिस्त में लिखा कि धन चाहिए, सुन्दर पत्नी चाहिए, यश चाहिए, सम्मान चाहिए, सदाचार चाहिए। कोई बीस-बाईस बातों की फेहरिस्त तैयार की, उसमें सब आ गया, जो-जो आदमी चाह सकता है। जो भी चाहा जा सकता है, वह सब आ गया, जो भी विषय की माँग हो सकती है, वह सब आ गया। जो भी कामना निर्मित कर सकती है, वे सब सपने आ गये। पर न मालूम पूरी फेहरिस्त को वह बार-बार पढ़ता है, क्योंकि इसमें और कुछ तो नहीं जोड़ा जाना है, क्योंकि वह जीवन भर का नक्शा बनाना चाहता है।

सब खोज लेता है, कुछ जोड़ने को बचा नहीं। सब आ गया, फिर भी लगा कि—'समथिंग इज मिसिंग'। कुछ ऐसा लगता है कि कुछ कड़ी खो गयी है। क्यों लगता है ऐसा, क्योंकि रात सोते वक्त उसने सोचा कि मैं देखूं कि समझ लो कि सब मुझे मिल गया—जो-जो मैंने फेहरिस्त पर लिखा है, वह सब मिल गया, तो क्या, हो जायेगा सब ठीक ? तो भी मन खाली-खाली लगता है। मन में ऐसा उत्तर नहीं आता आश्वासन से भरा, निश्चय से भरा; कि हाँ यह सब मिल जाय, (जो फेहरिस्त पर लिखा है) तो बस, सब मिल जायेगा। नहीं, ऐसा निश्चय नहीं आता। ऐसी निश्चयात्मक लहर नहीं आती भीतर।

तो गाँव में एक बूढ़े फकीर के पास वह गया। उसने कहा, इस गाँव में सबसे ज्यादा बूढ़े तुम हो, सबसे ज्यादा जिन्दगी तुमने देखी है। और तुमने जिन्दगी गृहस्थ की ही नहीं देखी, संन्यासी की भी देखी है। तुमसे बड़ा अनुभवी कोई भी नहीं है। तो मैं यह फेहरिस्त लाया हूँ, जरा इसमें कुछ जोड़ना हो तो बताओ। उस बूढ़े ने पूरी फेहरिस्त पढ़ी, फिर वह हँसा और उसने कलम उठाकर वह पूरी फेहरिस्त काट दी। और पूरी फेहरिस्त के ऊपर बड़े-बड़े अक्षरों में तीन शब्द लिख दिये 'पीस ऑफ माइण्ड', मन की शांति।

बाकी तुम सब की फिक्र छोड़ दो, तुम यह एक चीज पा लो, तो बाकी सब मिल सकता है। और यदि तुमने बाकी सब भी पा लिया तो ये तीन शब्द मैंने जो लिखे, ये कभी मिलने वाले नहीं हैं। आखीर में निर्णय यही होगा कि यह 'पीस ऑफ माइण्ड, यह मन की शांति मिली या नहीं।

लिएमेन ने अपनी आत्मकथा लिखी, उसको नाम दिया 'पीस ऑफ माइण्ड' मन की शांति। और लिखा है कि उस दिन लगा कि बूढ़े ने सब फेहरिस्त खराब कर दी। कितनी मेहनत से बनाकर लाया था और इस आदमी ने सब काट-पीट कर रख दिया। जँची नहीं बात कुछ उसकी, लेकिन जिन्दगी के अन्त में लिएबमेन कहता है कि आज मैं जानता हूँ कि उस बूढ़े ने फेहरिस्त काटी थी तो ठीक ही किया था। उसने फाड़कर क्यों न फेंक दी; बेकार थी। आज जीवन के अंत में वे ही तीन शब्द जीवन के पास घूम रहे हैं। काश, उस दिन मैं समझ जाता कि मन की शांति ही सब कुछ है, तो शायद आज तक पाया भी जा सकता था। लेकिन जिन्दगी उसी फेहरिस्त को पूरा करने में बीत जाती है सबकी।

कृष्ण कह रहे हैं, यह जो विषयों की दौड़ है चित्त की—यह सिर्फ अशांति को जन्म देती है। **अशांति का अर्थ ही सिर्फ एक है—बहुत-बहुत दिशाओं में दौड़ता हुआ मन। न दौड़ता हुआ मन, अर्थात् शांति।** तो कृष्ण कहते हैं कि निष्काम कर्म की जो भाव-दशा है, वह एक मन और शांति को पैदा करती है, और जहाँ एक मन है वहीं निश्चयात्मक बुद्धि, है 'द डेफिनीटिव इंटलेक्ट,' 'डेफिनीटिव इंटेलिजेंस।

इसको आखिरी बार समझ लें। जहां एक मन है, वहाँ अनिश्चय नहीं है। अनिश्चय होगा कैसे? अनिश्चय के लिए कम से कम दो मन चाहिए। **जहाँ एक मन है, वहाँ निश्चय है।**

लेकिन आमतौर से आदमी क्या करता है? वह कहता है कि निश्चयात्मक बुद्धि चाहिए, तो वह कहता है कि जोड़-तोड़ करके निश्चय कर लो। दबा दो मन को और छाती पर बैठ जाओ, निश्चय कर लो कि बस, निश्चय कर लिया। लेकिन वह जब निश्चय कर रहा है जोर से, तभी उसको पता है कि भीतर विपरीत स्वर उससे कह रहे हैं कि यह तुम क्या कर रहे हो? यह ठीक नहीं है। वह आदमी कसम ले रहा है कि ब्रह्मचर्य साधूंगा, निश्चय करता हूँ। लेकिन निश्चय किसके खिलाफ कर रहे हो? जिसके खिलाफ निश्चय कर रहे हो, वह भीतर बैठा है।

मैं एक बूढ़े आदमी से मिला। उस बूढ़े आदमी ने कहा कि मैंने अपनी

जिन्दगी में तीन बार ब्रह्मचर्य का व्रत लिया है। तो मैंने पूछा कि चौथी बार क्यों नहीं ले लिया? बूढ़ा आदमी ईमानदार था। बूढ़े आदमी कम ईमानदार होते हैं, क्योंकि जिन्दगी इतनी बेईमानी सिखा देती है, जिसका कोई हिसाब नहीं। बच्चे साधारणतः ईमानदार होते हैं। बेईमान बच्चा खोजना मुश्किल है।

बूढ़े साधारणतया बेईमान होते हैं। ईमानदार बूढ़ा खोजना मुश्किल है। पर वह बूढ़ा ईमानदार आदमी था। उसने कहा आप ठीक कहते हैं। मैंने चौथी बार इसलिए निर्णय नहीं लिया कि तीन बार की असफलता ने हिम्मत ही तुड़वा दी। हिम्मत ही नहीं रही कि चौथी बार ले सकूं। पर मैंने कहा आपने व्रत किसके खिलाफ किया है? अपने ही खिलाफ कहीं व्रत पूरे होते हैं? जब तुमने व्रत लिया था, तब तुम्हारा पूरा मन राजी था? उसने कहा, पूरा ही मन राजी होता तो फिर क्या था! 'मेजॉरिटी माइण्ड' से लिया, बहुमत से लिया था।

मन कोई 'पार्लियामेंट' नहीं है कि जिसमें आप बहुमत से पक्ष लें। मन कोई 'पार्लियामेंट' नहीं है, कोई संसद नहीं है, और अगर संसद भी है, तो वैसी ही संसद है, जैसी दिल्ली में है। उसमें कुछ पक्का नहीं है। जो अभी आपके पक्ष में गवाही दे रहा है, वह दो दिन बाद विपक्ष में गवाही देगा। पक्का नहीं है। आप रात भर सो कर सुबह उठोगे और पाओगे 'माइनॉरिटी' हो। 'मेजारिटी' हाथ से खिसक गयी है।

कृष्ण कुछ और बात कह रहे हैं। वे यह नहीं कह रहे हैं कि तुम निश्चय करो। वे यह कह रहे हैं कि **जो निष्काम-कर्म की यात्रा पर निकलता है, उसे निश्चयात्मक बुद्धि उपलब्ध हो जाती है।** क्योंकि उसके पास एक ही मन रह जाता है—विषयों में जो भटकता नहीं मन, जो अपेक्षा नहीं करता, जो कामना कि व्यर्थता को समझ लेता है, जो भविष्य के लिये आतुरता से फल की मांग नहीं करता, जो क्षण में और वर्तमान में जीता है—वैसे व्यक्ति को एक मन उपलब्ध होता है। एक मन निश्चयात्मक हो जाता है। तब उसे निश्चय करना नहीं पड़ता है।

तेरहवाँ प्रवचन

प्रथम गीता ज्ञान-यज्ञ, अहमदाबाद, प्रातः, दिनांक ५ दिसम्बर, १९७०

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चित : ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वा दिन : ।। ४२ ।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।। ४३ ।।

हे अर्जुन जो सकामी पुरुष केवल फलश्रुति में प्रीति रखनेवाले, स्वर्ग को ही परम श्रेष्ठ माननेवाले. इससे बढ़कर कुछ नहीं है, ऐसे कहनेवाले हैं, वे अविवेकीजन जन्मरूप कर्मफल को देनेवाली और भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए बहुत सी क्रियाओं के विस्तार वाली इस प्रकार की जिस दिखाऊ शोभायुक्त वाणी को कहते हैं।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।। ४४ ।।

उस वाणी द्वारा हरे हुए चित्तवाले, तथा भोग और ऐश्वर्य में आसक्तिवाले, उन पुरुषों के अंतःकरण में निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती है।

भगवान् श्री : कर्म-योग की बात करते हुए कृष्ण ने अर्जुन को कहा है कि वे सारे लोग, जो सुख, कमाना, विषय और वासना से उत्प्रेरित हैं, जो स्वर्ग से ऊपर जगत् में कुछ भी देख नहीं पाते, जिनका धार्मिक-चिन्तन, मनन और अध्ययन भी विषय प्रेरित ही होता है, जो संसार में तो सुख की माँग करते ही हैं, जो परलोक में भी सुख की ही माँग किये चले जाते हैं, जिनके परलोक की दृष्टि भी वासना का ही विस्तार है, ऐसे व्यक्ति निष्काम-कर्म की गहराई को समझने में असमर्थ हैं ।

कर्मयोग को अगर एक संक्षिप्त से गणित के सूत्र में कहें, तो कहना होगा "कर्म—कामना = कर्मयोग" । जहाँ कर्म से कामना हट जाती है, तब जो शेष रह जाता है, वही कर्मयोग है । लेकिन कामना को शेष करने का अर्थ केवल सांसारिक कामना को शेष कर देना नहीं है, कामना मात्र को शेष कर देना है । इस बात को थोड़ा गहरे में समझ लेना जरूरी है ।

संसार की कामना को शेष कर देना बहुत कठिन नहीं है, कामना मात्र को शेष करना असली तपश्चर्या है । संसार की कामना तो शेष की जा सकती है । अगर परलोक की कामना का प्रलोभन दिया जाय, तो संसार की कामना छोड़ने में कोई भी कठिनाई नहीं । अगर किसी से कहा जाय कि इस पृथ्वी पर धन छोड़ो, क्योंकि यहाँ जो थोड़ा छोड़ता है, परलोक में उसका कई गुना ज्यादा पाता है । तो थोड़े को छोड़ना बहुत कठिन नहीं है । वह 'बार्गेन' है, वह सौदा है । हम सभी छोड़ते हैं—पाने के लिए हम सभी छोड़ते हैं । पाने के लिए कुछ भी छोड़ा जा सकता है ।

लेकिन पाने के लिए जो छोड़ना है, वह निष्काम नहीं है, वह पाना चाहे परलोक में हो, वह पाना चाहे भविष्य में हो, वह पाना चाहे धर्म के सिक्कों में हो, इससे बहुत फर्क नहीं पड़ता । पाने की आकांक्षा को आधार बनाकर जो छोड़ना है, वही कामना है, वही कामग्रस्त चित्त है । वैसा चित्त कर्मयोग को उपलब्ध नहीं होता । यदि कहा जाय कि पृथ्वी पर स्त्रियों को छोड़ दो, क्योंकि स्वर्ग में अप्सराएँ उपलब्ध हैं, यदि कहा जाय कि पृथ्वी पर शराब छोड़ दो, क्योंकि बहिस्त में शराब के चश्मे बह रहे हैं, तो इस छोड़ने में कोई भी छोड़ना नहीं है । यह केवल कामना को नये रूप में, नये लोक में, नये आयाम में पुनः पकड़ लेना है । यह प्रलोभन ही है ।

इसीलिए जो भी व्यक्ति, कहीं भी, किसी भी रूप में पाने की आकांक्षा से कुछ करता है, वह कर्मयोग को उपलब्ध नहीं हो सकता है । तो कर्म-योग का

मौलिक आधार, कामना रहित, फल की कामना से रहित कर्म है । कठिन है बहुत, क्योंकि साधारणतः हम सोचेंगे कि फिर कर्म होगा ही कैसे ? हम तो कर्म करते ही इसलिए हैं कि कुछ पाने को है, कोई लक्ष्य, कोई फल, हम तो चलते ही इसलिए हैं कि कहीं पहुँचना है । हम तो श्वांस भी इसलिए लेते हैं कि पीछे कुछ होने को है । अगर पता चले कि नहीं, आगे कोई संभावना ही नहीं है, तो फिर हम हिलेंगे भी नहीं, करेंगे भी नहीं । कर्म होगा कैसे ?

गीता के संबंध में, कृष्ण के संदेश के सबंध में, जिन लोगों ने भी चिन्तन किया है, उनके लिए जो बड़े से बड़ा मनोवैज्ञानिक सवाल है, उलझाव है, वह यही है कि कृष्ण कहते हैं कि कर्म वासना रहित, कामना रहित करना है । तो कर्म होगा कैसे? क्योंकि कर्म का 'मोटिवेशन', कर्म की प्रेरणा कहाँ से उत्पन्न होगी ? कर्म की प्रेरणा तो कामना से ही उत्पन्न होती है । कुछ हम चाहते हैं, इसलिए कुछ हम करते हैं । चाह पहले, करना पीछे । विषय पहले, कर्म पीछे । आकांक्षा पहले, फिर छाया की तरह हमारा कर्म आता है । तो अगर हम छोड़ दें चाहना, 'डिजायर', इच्छा, विषय, तो कर्म आयेगा कैसे ? 'मोटिवेशन' नहीं होगा ।

अगर हम पश्चिम के मनोविज्ञान से भी पूछें, जो कि 'मोटिवेशन' (प्रेरणा) पर बहुत काम कर रहा है, तो पश्चिम के पूरे मनोवैज्ञानिक एक स्वर से कहते हैं कि बिना कामना के कर्म नहीं होता ।

कृष्ण का मनोविज्ञान, आधुनिक मनोविज्ञान से बिलकुल उल्टी बात कर रहा है । वे यह कह रहे हैं कि कर्म जब तक कामना से बँधा है, तब तक वह सिवाय दुःख और अंधकार के कहीं भी नहीं ले जाता है । जिस दिन कर्म, कामना से मुक्त होता है—परलोक की कामना से भी, स्वर्ग की कामना से भी—जिस दिन कर्म शुद्ध होता है, 'प्योर एक्ट' हो जाता है, जिसमें कोई चाह की जरा भी अशुद्धि नहीं होती—उस दिन ही कर्म निष्काम है, और वह योग बन जाता है । और वैसा कर्म स्वयं में मुक्ति है । वैसे कर्म के लिए किसी मोक्ष की आगे कोई जरूरत नहीं है । वैसे कर्म का कोई मोक्ष भविष्य में नहीं है, वैसा कर्म अभी और यहीं (हियर एंड नाऊ) मुक्ति है, वैसा कर्म मुक्ति है । वैसे कर्म का फल मुक्ति नहीं है, वैसे कर्म की निजता ही मुक्ति है । इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी है, क्योंकि आगे बार-बार, उसके इर्द-गिर्द बात घूमेगी ।

कृष्ण के संदेश की बुनियाद में वह बात छिपी है । क्या बिना वासना के कर्म हो सकता है? क्या बिना कामना के, बिना चाह के, हम कुछ कर सकते

हैं? तो फिर प्रेरणा कहाँ से उपलब्ध होगी ? वह स्रोत कहाँ से आयेगा, वह शक्ति कहाँ से आयेगी, जो हमे खींचे और कर्म में संयुक्त करे ? जिस जगत् में हम जीते हैं , और जिन कर्मों के जाल से हम अब तक परिचित रहे हैं, उसमें शायद ही एकाध ऐसा कर्म हो जो'अनमोटिवेटेड' हो । अगर कभी कोई ऐसा कर्म भी दिखायी पड़ता हो, जो 'अनमोटिवेटेड' मालूम होता, है जिसमें आगे कोई 'मोटिव', जिसमें आगे कोई पाने की आकांक्षा नहीं होती है, उसमें थोड़ा भीतर हम खोजेंगे तो आकांक्षा मिल जायेगी ।

रास्ते पर आप चल रहे हैं। आपके आगे कोई है, उसका छाता गिर गया है । आप उठाकर दे देते हैं । यह कृत्य ' अनमोटिवेटेड ' है । उठाते वक्त आप यह भी नहीं सोचते कि क्या फल होगा, क्या उपलब्धि होगी, क्या मिलेगा? नहीं, यह सोचना नहीं होता । छाता गिरा है, आपने उठाया है और दे दिया है । दिखायी पड़ता है कि यह सब 'अनमोटिवेटेड' है, क्योंकि न घर से सोचकर चले थे कि किसी का छाता गिरेगा तो उठायेंगे । न तो छाता गिरा उसके एक क्षण पहले तक, छाता उठाने की कोई भी योजना मन में थी । छाते के गिरने और छाता उठाने के बीच भी, कोई चाह दिखायी नहीं पड़ती है ।

लेकिन फिर भी मनोविज्ञान कहेगा कि इसके पीछे 'अनकांसस मोटिवेशन' है । अगर छाता देने के बाद वह आदमी धन्यवाद न दे,तो दुःख होगा । छाता दबा ले और चल पड़े, तो आप चौकन्ने-से खड़े रह जायेंगे कि कैसा आदमी है? धन्यवाद भी नहीं ! अगर पीछे इतना भी स्मरण आता है कि कैसा आदमी है, धन्यवाद भी नहीं दिया ! तो 'मोटिवेशन' हो गया । सचेतन नहीं था, आपने सोचा नहीं था, लेकिन मन के किसी गहरे तल पर छिपा था । अब पीछे से हम कह सकते हैं कि धन्यवाद पाने के लिए छाता नहीं उठाया गया था। आप कहेंगे कि धन्यवाद का तो कोई विचार ही नहीं था । वह तो पीछे पता चला । लेकिन जो नहीं था, वह पीछे भी पता नहीं चलता है ।

जो बीज में न छिपा हो, वह प्रगट भी नहीं हो सकता है । जो अव्यक्त न रहा हो, वह व्यक्त भी नहीं हो सकता है । कहीं छिपा था, किसी 'अनकांसस', किसी अचेतन के तल पर दबा था, राह देखता था । सचेतन कोई कामना नहीं थी, लेकिन अचेतन कामना थी । जीवन में ऐसे कुछ क्षण हमें मालूम पड़ते हैं, जहाँ लगता है, 'अनमोटिवेटेड', निष्काम कोई कृत्य घटित हो गया है । लेकिन उसे भी पीछे लौटकर देखें, तो लगता है कि कामना कहीं छिपी थी । इसलिए पश्चिम का मनोविज्ञान कहेगा कि चाहे दिखायी पड़े और चाहे न दिखायी पड़े, जहाँ भी कर्म है, वहाँ वासना है, इतना ही फर्क हो सकता है कि वह चेतन हो

या अचेतन ।

लेकिन कृष्ण कहते हैं कि ऐसा कर्म हो सकता है, जहाँ कामना नहीं हो। यह वक्तव्य बहुत महत्वपूर्ण है । इसे समझने के लिए दो-चार और जरूरी यात्रा करनी पड़ती हैं । एक छोटी सी कहानी से आपको कहना चाहूँगा । क्योंकि जो हमारी जिन्दगी में परिचित नहीं है, उसे, हमें किसी और की जिन्दगी में झाँकना पड़ेगा । और हमारी जिन्दगी भी इति नहीं है । हमें किसी और जिन्दगी में देखना पड़े, झाँकना पड़े कि क्या यह सम्भव है–" इज इट पॉसिबल " । पहले तो यही देखना पड़े कि क्या यह संभव है? अगर संभावना दिखायी पड़े, तो कल शायद सत्य भी हो सकती है ।

अकबर ने एक दिन तानसेन को कहा है: तुम्हारे संगीत को सुनता हूँ, तो मन में ऐसा ख्याल उठता है कि तुम जैसा बजाने वाला शायद ही पृथ्वी पर हो । आगे भी कभी होगा, यह भी भरोसा नहीं आता, क्योंकि इससे ऊँचाई और क्या हो सकेगी, इसकी धारणा भी नहीं बनती है । तुम शिखर हो । लेकिन कल रात जब तुम्हें बिदा कर सोने गया था, तो मुझे ख्याल आया कि हो सकता है, तुमने भी किसी से सीखा हो, कोई तुम्हारा भी गुरु हो । तो मैं आज तुमसे पूछता हूँ कि क्या तुम्हारा कोई गुरु है? तुमने किसी से सीखा है?

तो तानसेन ने कहा, मैं कुछ भी नहीं हूँ, गुरु के सामने।जिससे सीखा है, उसके चरणों की धूलि भी नहीं हूँ । इसलिए वह ख्याल मन से छोड़ दें, मेरे शिखर होने का । भूमि पर भी नहीं हूँ । लेकिन आपने भी मुझे ही जाना है, इसलिए आपको शिखर मालूम पड़ता हूँ । ऊँट जब पहाड़ के करीब आता है, तब उसे पता चलता है, अन्यथा वह पहाड़ ही होता है । पर तानसेन ने कहा, मैं गुरू के चरणों में बैठा हूँ, मैं कुछ भी नहीं हूँ । कभी उनके चरणों में बैठने की योग्यता भी हो जाय तो समझूँगा, बहुत कुछ पा लिया । तो अकबर ने कहा, तुम्हारे गुरू जीवित हों तो तत्क्षण अभी और आज उन्हें ले आओ, मैं सुनना चाहूँगा । पर तानसेन ने कहा, यही कठिनाई है । जीवित वे हैं, लेकिन उन्हें लाया नहीं जा सकता ।

अकबर ने कहा, जो भी भेंट करनी हो, वह तैयार है । जो भी इच्छा हो, देंगे । तुम जो कहो, वही देंगे । तानसेन ने कहा, वही कठिनाई है, क्योंकि उन्हें कुछ लेने को राजी नहीं किया जा सकता । क्योंकि कुछ लेने का प्रश्न ही नहीं है, तो क्या उपाय किया जाय ! तानसेन ने कहा, कोई उपाय नहीं, आपको ही चलना पड़ेगा । तो उन्होंने कहा, मैं अभी चलने को तैयार हूँ । तानसेन ने कहा,

अभी चलने से तो कोई लाभ नहीं । क्योंकि कहने से वे बजायँगे, ऐसा नहीं । जब वे बजाते हैं, तब कोई सुन ले, बात और है । तो मैं पता लगाता हूँ कि वे कब बजाते हैं । तब हम चलेंगे ।

फकीर हरिदास तानसेन के गुरु थे । यमुना के किनारे रहते थे । पता चला रात तीन बजे उठकर वे बजाते हैं, नाचते हैं । शायद ही दुनिया के किसी अकबर की हैसियत के सम्राट ने तीन बजे रात चोरी से किसी संगीतज्ञ को सुना हो । अकबर और तानसेन चोरी से झोपड़ी के बाहर ठण्डी रात में छिप कर बैठे रहे । पूरे समय अकबर की आँखों से आँसू बहते रहे । एक शब्द बोला नहीं । संगीत बंद हुआ । वे वापस लौटने लगे । सुबह फूटने लगी ।

राह में भी तानसेन से अकबर बोला नहीं, महल के द्वार पर तानसेन से इतना ही कहा कि अब तक सोचता था कि तुम जैसा कोई भी नहीं बजा सकता । अब सोचता हूँ कि तुम हो कहाँ? लेकिन क्या बात है, तुम अपने गुरु जैसा क्यों नहीं बजा सकते हो ? तानसेन ने कहा, बात तो बहुत साफ है, **मैं कुछ पाने के लिए बजाता हूँ, और मेरे गुरु ने कुछ पा लिया है इसलिए बजाते हैं** । मेरे बजाने के आगे कुछ लक्ष्य है, जो मुझे मिले, उसमें मेरे प्राण हैं, इसलिए बजाने में मेरे प्राण पूरे कभी नहीं हो सकते । बजाने में मैं सदा अधूरा हूँ, आंशिक हूँ । अगर बिना बजाये भी वह मुझे मिल जाय, जो बजाने से मिलता है, तो बजाने को फेंक कर उसे पा लूंगा । **बजाना मेरे लिए साधन है, साध्य नहीं है** ।

साध्य कहीं और है—भविष्य में, धन में, यश में, प्रतिष्ठा में । साध्य कहीं और है, संगीत सिर्फ साधन है । साधन कभी आत्मा नहीं बन पाती । साध्य में ही आत्मा अटकी होती है । अगर साध्य बिना साधन के मिल जाय, तो साधन को छोड़ दूँ अभी । लेकिन नहीं मिलता साधन के बिना, इसलिए साधन को खींचता हूँ । लेकिन दृष्टि और प्राण और आकांक्षा और सब घूमता है साध्य के निकट । लेकिन जिनको आप सुनकर आ रहे हैं, संगीत उनके लिए कुछ पाने का साधन नहीं है । आगे कुछ भी नहीं है, जिसे पाने को वे बजा रहे हैं । बल्कि पीछे कुछ है, जिस पर उनका संगीत फूट रहा है, और बज रहा है । कुछ पा लिया है, कुछ भर गया है । वह बह रहा है । कोई अनुभूति, कोई सत्य, कोई परमात्मा प्राणों में भर गया है । अब वह बह रहा है—'ओव्हर फ्लो' हो रहा है ।

अकबर बार-बार पूछने लगा, किसलिए, किसलिए ? स्वभावतः हम भी

पूछते हैं, किसलिए, किसलिए ? पर तानसेन ने कहा, नदियाँ किसलिए बह रही हैं? फूल किसलिए खिल रहे हैं? सूर्य किसलिए निकल रहा है? 'किसलिए' —मनुष्य की बुद्धि ने पैदा किया है । सारा जगत् एक 'ओव्हर फ्लोइंग' है—आदमी को छोड़कर । सारा जगत् आगे के लिए नहीं जी रहा है, सारा जगत् भीतर से जी रहा है । फूल खिल रहा है, खिलने में ही आनन्द है । सूर्य निकल रहा है, निकलने में ही आनन्द है । हवाएँ बह रही हैं, बहने में ही आनन्द है । आकाश है, होने में ही आनन्द है । आनंद कहीं से आता नहीं, वह अभी है,यहीं है ।

और जो हो रहा है, वह भीतर की ऊर्जा का अकारण बहाव है । वह 'अन-मोटिवेटेड ऐक्ट ' है—जिस पर कि कृष्ण का सारा कर्मयोग खड़ा होगा । वह जीवन को भविष्य की तरफ से पकड़ना नहीं, वह जीवन को आकांक्षा की तरफ से खींचना नहीं, वरन् व्यक्ति के भीतर जो छिपा अव्यक्त है, उसकी 'ओव्हर फ्लोइंग', उसका ऊपर से बह जाना है । कृत्य, जिस दिन आपके जीवन-ऊर्जा की 'ओव्हर फ्लोइंग' है, ऊपर से बह जाना है, उस दिन निष्काम है, और जब तक भविष्य के लिए किसी कारण से बहना है, तब तक सकाम है । **सकाम कर्म योग नहीं है, निष्काम कर्म योग है** ।

इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है कि वह कामना किसकी है—भविष्य की, स्वर्ग की, मोक्ष की या परमात्मा की,कोई फर्क नहीं पड़ता । अगर एक व्यक्ति मंदिर में भजन गा रहा है, और इस भजन में ही इतनी कामना है कि ईश्वर को पा लूँ,तो यह भजन व्यर्थ हो गया, यह भजन योग न रह गया। **ईश्वर को पाने की कामना भी कामना ही है, और कामना से कभी ईश्वर पाया नहीं जाता । ईश्वर तो निष्कामता में उपलब्ध है** । अगर भजन में इतनी भी कामना है कि ईश्वर को पा लूँ, तो भजन व्यर्थ हुआ । अगर प्रार्थना में इतनी भी माँग है कि तेरे दर्शन हो जायँ, तो प्रार्थना व्यर्थ हो गयी । लेकिन प्रार्थना 'अनमोटिवेटेड ' है । किसी को पाने के लिए नहीं वरन्, भीतर के भाव से जन्मी और अपने में पूरी है, आगे कुछ द्वार नहीं खोज रही है—तो प्रार्थना है ।

उसी क्षण में प्रार्थना सफल है, जिस क्षण प्रार्थना निष्कामी है । **प्रत्येक कर्म प्रार्थना बन जाता है, अगर निष्काम बन जाय । और प्रत्येक प्रार्थना बन्धन बन जाती है, अगर सकाम बन जाय** । लेकिन हम जैसे दुकान चलाते हैं, वैसे ही पूजा भी करते हैं । दुकान भी ' मोटिवेटेड ' होती है और पूजा भी । दुकान में भी कुछ पाने को होता है, पूजा में भी । पाप भी करते हैं, तो भी कुछ पाने को करते हैं । पुण्य भी करते हैं, तो कुछ पाने को करते हैं । और कृष्ण कह रहे

हैं कि पाने के लिए करना ही अधर्म है । **पाने की आकांक्षा के बिना ही** जो कृत्य का फूल खिलता है–'द फ्लावरिंग ऑफ द प्योर एक्ट', शुद्ध कर्म जब खिलता है, बिना किसी कारण के, तभी वह धर्म-कृत्य हुआ । इस संबंध में एमेन्युअल कांट का नाम लेना जरूरी है ।

जर्मनी में कांट ने करीब-करीब कृष्ण से मिलती-जुलती बात कही है । उसने कहा कि अगर **कर्तव्य में जरा सी भी आकांक्षा है, तो कर्तव्य पाप हो गया** । कर्तव्य तभी कर्तव्य है, जब बिलकुल शुद्ध है, जब उसमें कोई आकांक्षा नहीं है । यह हमें कठिन पड़ेगा, क्योंकि हमारी जिन्दगी में ऐसा कोई भी कर्म नहीं है, जिससे हमारी पहचान हो, जिससे हम समझ पायें ।

मैंने कहा, रास्ते पर एक आदमी है, उसका छाता गिर गया । आप छाता उठायें, दे दें, और छाता उठाकर देते समय भीतर देखते रहें कि कोई माँग तो नहीं उठती है । सिर्फ देखते रहें, छाता उठाकर दें और अपने रास्ते पर चल पड़ें और भीतर देखते रहें कि कोई माँग तो नहीं उठती–धन्यवाद की भी । उठेगी, लेकिन दो–चार कृत्यों में देखते रहें और अचानक पायेंगे कि क्या पागलपन है !

दिन में जो आदमी एक कृत्य भी 'अनमोटिवेटेड' कर ले, वही कृष्ण की गीता को समझ पा सकता है । एक कृत्य भी, चौबीस घण्टे में 'अनमोटिवेटेड' कर ले, जिसमें कि कुछ माँग न हो, चेतन अचेतन कोई माँग न हो— किया और हट गये और चले गये—तो कृष्ण की गीता को, **कृष्ण के कर्मयोग को समझने का मार्ग** खुल जायेगा । रोज गीता न पढ़ें तो चलेगा । लेकिन एक कृत्य चौबीस घंटे में ऐसा खिल जाय, जिसमें हमारी कोई कामना नहीं है । बस, जिसमें करना ही पर्याप्त है और हम बाहर हो गये और और हम उसे करके चल पड़े । कठिन नहीं है, अगर थोड़ी खोज-बीन करें तो कठिन नहीं है । छोटी-छोटी घटनाओं में उसकी झलक मिल सकती है ।

यह, कृष्ण जो अर्जुन से कह रहे हैं, वह पूरी की पूरी प्रयोगात्मक बात है । होगी ही । यह कोई गुरुकुल में बैठकर किसी वृक्ष के तले, किसी आश्रम में हुई चर्चा नहीं है । यह युद्ध के स्थल पर, जहाँ सघन कर्म प्रतीक्षा कर रहा है, वहाँ हुई चर्चा है । यह चर्चा किसी साँझ, बट-वृक्ष के नीचे बैठकर की गयी कोरी तत्त्व-चर्चा नहीं है । यह कोरी तत्त्व-चर्चा नहीं है, यह गहन तत्त्व की चर्चा है। ठीक युद्ध के क्षण में, युद्ध से ज्यादा सघन कृत्य क्या होगा ! वहाँ हुई यह चर्चा है । और अर्जुन से कृष्ण कह रहे हैं, अगर स्वर्ग तक की भी कामना मन

में है, किसी भी विषय की, तो सब व्यर्थ हो जाता है ।

कर्मयोग का सार है, कामना शून्य कर्म । काम से कामना गयी ।

हमने तो 'काम' ही शब्द रखा हुआ है, कर्म के लिए । क्योंकि काम कामना से ही बनता है । हम तो कहते हैं काम वही है, जो कामना से निकलता है । लेकिन कृष्ण कहते हैं, काम से अगर कामना घट जाय तो वह कर्म-योग हो जाता है, तो फिर वह साधारण कर्म नहीं रह जाता है वह योग बन जाता है । और कर्म योग बन जाय, तो न पाप है, न पुण्य है, न बंधन है, न मुक्ति है–तब द्वन्द के बाहर है व्यक्ति ।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्दो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।। ४५ ।।

हे अर्जुन, सब वेद तीनों गुणों के कार्य रूप संसार को विषय करनेवाले, अर्थात् प्रकाश करने वाले हैं, इसलिए तू असंसारी, अर्थात् निष्कामी और सुखदुःखादि द्वन्दों से रहित, नित्य वस्तु में स्थित तथा योग-क्षेम को न चाहनेवाला और आत्मपरायण हो ।

भगवान् श्री 'द्वन्द' से रहित और शून्य, राग और द्वेष से मुक्त ... । दोनों में से एक पर होना सदा आसान है । राग में होना आसान है, विराग में होना भी आसान है । धन को पकड़ना आसान है, धन को त्यागना आसान है । पकड़ना राग है, त्यागना द्वेष है । राग और द्वेष दोनों से मुक्त हो जाओ, शून्य हो जाओ, रिक्त हो जाओ । तो जिसे महावीर ने वीतरागता कहा है, उसे उपलब्ध होता है व्यक्ति ।

द्वन्द्व में चुनाव आसान है, चुनावरहित होना कठिन है । **'च्वाइस' आसान है, 'च्वाइसलेसनेस' कठिन है** । कहें मन को कि इसे चुनते हैं, तो मन कहता है, ठीक । कहें मन को, इसके विपरीत चुनते हैं, तो भी मन कहता है, ठीक । चुनाव चुनो जरूर क्योंकि जहाँ तक चुनाव है, वहाँ तक मन जी सकता है । चुनाव कोई भी हो, इससे फर्क नहीं पड़ता। घर चुनो, जंगल चुनो; मित्रता चुनो, शत्रुता चुनो; धन चुनो, धन-विरोध चुनो; प्रेम चुनो, घृणा चुनो; क्रोध चुनो, क्षमा चुनो; कुछ भी चुनो । 'च्वाइस' हो तो मन जीता है । लेकिन **कुछ भी न चुनो, तो मन**

तत्काल गिर जाता है । अचुनाव में मन के आधार गिर जाते हैं ।

'च्वाइस' मन का आधार है, **चुनाव मन का प्राण है** । इसलिए जब तक चुनाव चलता है जीवन में, तब तक आप कितना ही चुनाव बदलते रहें, इससे बहुत फर्क नहीं पड़ता है । संसार छोड़ें--मोक्ष चुनें, पदार्थ छोड़ें-- परमात्मा चुनें, पाप छोड़ें-पुण्य चुनें । कुछ भी चुनें । यह सवाल नहीं है कि आप क्या चुनते हैं । सवाल गहरे में यह है कि क्या **'आप' चुनते हैं ? अगर चुनते हैं,** अगर 'च्वाइस' है, **तो द्वन्द्व रहेगा;** क्योंकि किसी को छोड़ते हैं और किसी को चुनते हैं ।

यह भी समझ लेना जरूरी है कि जिसे छोड़ते हैं, उसे पूरा कभी नहीं छोड़ पा सकते हैं । क्योंकि जिसे छोड़ना पड़ता है उसकी मन में गहरी पकड़ होती है । उसे छोड़ना क्यों पड़ेगा ? अगर एक आदमी के मन में धन की कोई पकड़ न हो, तो वह धन का त्याग कैसे करेगा ? **त्याग के लिए पकड़ अनिवार्य है** । अगर एक आदमी की कामवासना में, सेक्स में रुचि न हो, लगाव न हो, आकर्षण न हो, तो वह ब्रह्मचर्य कैसे चुनेगा ? और यदि सेक्स में आकर्षण है, लगाव है और उसके खिलाफ हम ब्रह्मचर्य को चुन रहे हैं, तो ज्यादा से ज्यादा हम दमन कर सकते हैं, 'सप्रेशन' कर सकते हैं । और कुछ होने वाला नहीं है । दब जायेगा । जिसे हमने इन्कार किया, वह हमारे अचेतन में उतर जायेगा और जिसे हमने स्वीकार किया, वह हमारा चेतन बन जायेगा ।

हमारा मन, जिसे अस्वीकार करता है, उसे अँधेरे में धकेल देता है । हमारे सबके मन की "गोडाउनें" हैं । घर में जो चीज बेकार हो जाती है, उसे हम कबाड़खाने में डाल देते हैं । ऐसे ही चेतन-मन जिसे इन्कार कर देता है, उसे अचेतन में ले आता है ।

चेतनमन हमारा बैठकखाना है। लेकिन किसी भी आदमी का घर बैठकखाने में नहीं होता । बैठकखानों में सिर्फ मेहमानों का स्वागत किया जाता है, उसमें कोई रहता नहीं । असली घर बैठकखाने के बाद शुरू होता है । बैठकखाना घर का हिस्सा नहीं है, तो भी चलेगा । कह सकते हैं कि बैठकखाना घर का हिस्सा नहीं है, क्योंकि घर वाले बैठकखाने में नहीं रहते, बैठकखाने में सिर्फ अतिथियों का स्वागत होता है । बैठकखाना सिर्फ 'फेस' है, बैठकखाना सिर्फ एक चेहरा है, दिखावा है घर का, असली घर नहीं है। बैठकखाना एक 'डिसेप्शन' है, एक धोखा है, जिसमें बाहर से आये लोगों को धोखा दिया जाता है, कि यह है घर, हालांकि उसमें कोई रहता नहीं, न उसमें कोई सोता, न उसमें कोई

खाता, न उसमें कोई पीता । उसमें कोई नहीं रहता है । बैठकखाना घर है ही नहीं । वह सिर्फ घर का धोखा है । बैठकखाने के बाद घर शुरू होता है ।

चेतन-मन हमारा, जगत् के दिखावे के लिए बैठकखाना है । उससे हम दूसरों से मिलते जुलते हैं । लेकिन उसके गहरे में हमारा असली जीवन शुरू होता है । तो जब भी हम चुनाव करते हैं, तो चुनाव से कोई चीज मिटती नहीं । चुनाव से सिर्फ बैठकखाने की चीजें घर के भीतर चली जाती हैं । चुनाव से, जिसे हम चुनते हैं, उसे बैठकखाने में लगा देते हैं । वह हमारी सजावट (डेकोरेशन) है । इसलिए दिन भर जो आदमी धन को इन्कार करता है, कहता है कि नहीं, मैं त्याग को चुन चुका हूँ, वही रात सपने में धन को इकट्ठा करता है । जो दिन भर कामवासना से लड़ता है, वह रात सपने में कामवासना से घिर जाता है । जो दिन भर उपवास करता है, वह रात राजमहलों में निमंत्रित हो जाता है भोजन के लिए ।

सपने में 'एफर्ट' करता है वह, जो भीतर छिपा है । वह कहता है, बहुत हो गया है चुनाव, अब हम प्रतीक्षा कर रहे हैं भीतर दिन भर से । अब हमसे भी मिलो । वह जाता नहीं है, वह सिर्फ दबा रहता है ।

और एक मजे की बात है कि जो भीतर दबा है, वह शक्ति - सम्पन्न होता जाता है । और जो बैठकखाने में है,वह धीरे-धीरे निर्बल होता जाता है। और जल्दी ही वक्त आ जाता है कि जिसे हमने दबाया है, वह अपनी उद्घोषणा करता है । विस्फोट से वह निकल पड़ता है बाहर ।

अच्छे से अच्छे आदमी को, जिसकी जिंदगी बहुत बढ़िया, सुन्दर, 'स्मूथ', समतल भूमि पर चलती है, उसे भी शराब पिला दें, तो पता चलेगा कि उसके भीतर क्या-क्या छिपा है ! सब निकलने लगेगा । शराब किसी आदमी में कुछ पैदा नहीं करती । शराब सिर्फ बैठकखाने और घर का फासला तोड़ देती है, दरवाजा खोल देती है ।

अभी पश्चिम में एक फकीर था गुरजिएफ, उसके पास जो भी साधक आता, तो पन्द्रह दिन तो उसको शराब में डुबाता था । कैसा पागल आदमी होगा? नहीं, समझदार था । क्योंकि वह यह कहता है कि जब तक मैं उसे न देखूं, जिसे तुमने दबाया है, तब तक मैं तुम्हारे साथ कुछ भी काम नहीं कर सकता । क्योंकि तुम जो कह रहे हो, वह भरोसे का नहीं है । तुम्हारे भीतर क्या पड़ा है, वही जान लेना जरूरी है ।

तो गुरजिएफ एकदम पिलाता शराब, पन्द्रह दिन, बिलकुल डुबा देता

शराब में, फिर उस ग्रादमी का ग्रसली चेहरा खोजता, कि भीतर क्या-क्या छिपा है, किस-किस को दबाया है। तुम्हारे चुनाव (च्वाइस) ने क्या-क्या किया है, यह जानना जरूरी है, तभी रूपांतरण हो सकता है। कई लोग तो भाग जाते कि हम यह बरदाश्त नहीं कर सकते, लेकिन गुरजिएफ कहता है कि पन्द्रह दिन जब तक मैं तुम्हें शराब में न डुबा लूं, जब तक मैं तुम्हारे भीतरी हृदय में न झांक लूं, कि तुमने क्या-क्या दबा रखा है, तब तक मैं तुमसे बात भी नहीं करूँगा। क्योंकि तुम जो कहते हो, उसको सुनकर ग्रगर मैं तुम्हारे साथ मेहनत करूं, तो मेहनत व्यर्थ चली जायेगी। क्योंकि तुम जो कहते हो, पक्का नहीं है कि तुम वही हो। भीतर तुम कुछ ग्रौर हो सकते हो ग्रौर ग्रन्ततः तुम्हारे जो भीतर पड़ा है, वही निर्णायक है।

इसीलिए कृष्ण कहते हैं कि चुनना मत, क्योंकि एक का चुनाव किया कि दूसरा हिस्सा भीतर गया; जिसे तुमने छोड़ा, दबाया, वह ग्रन्दर गया। ग्रौर जिसे तुमने उभारा ग्रौर स्वीकारा, वह ऊपर आया। बस, इससे ज्यादा फर्क नहीं पड़ेगा। द्वन्द्व बना ही रहेगा। ग्रौर द्वन्द्व क्या है? 'कांफ्लिक्ट' क्या है?

द्वन्द्व एक ही है, **चेतन और अचेतन का द्वन्द्व है।** आपने कसम ली है कि क्रोध नहीं करेंगे। कसम ग्रापकी चेतन में, 'कांसस माइंड' में रहेगी ग्रौर क्रोध की ताकतें, ग्रचेतन मन में रहेंगी। कल कोई गाली देगा, तो अचेतन मन कहेगा, करो क्रोध, ग्रौर चेतन मन कहेगा कि कसम खाई है, क्रोध नहीं करना है। तो द्वन्द्व खड़ा होगा, लड़ोगे भीतर।

ग्रौर ध्यान रहे, जब भी लड़ाई होगी, तो अचेतन जीतेगा। 'इमर्जेन्सी' में हमेशा ग्रचेतन जीतेगा। बेकाम समय में चेतन जीतता हुग्रा दिखायी पड़ेगा, काम के समय में ग्रचेतन जीतेगा। क्यों?

मनोविज्ञान की ग्रधिकतम खोजें इस नतीजे पर पहुँची हैं कि 'चेतन मन' हमारे मन का एक हिस्सा है। ग्रगर हम मन के दस हिस्से करें, तो मन का एक हिस्सा चेतन, ग्रौर नौ हिस्सा ग्रचेतन है। नौगुनी ज्यादा ताकत है ग्रचेतन की। तो वह जो नौगुनी ताकत वाला मन है, वह प्रतीक्षा करता है कि कोई हर्जा नहीं। सुबह जब गीता का पाठ करते हो तो कोई फिक्र नहीं, कसम खाग्रो कि क्रोध नहीं करेंगे। मंदिर जब जाते हो, तो कोई फिक्र नहीं, मंदिर कोई जिन्दगी है? वहाँ कहो कि क्रोध नहीं करेंगे। देख लेंगे दुकान पर, देख लेंगे घर में! जब मौका ग्रायेगा ग्रसली। एक दिन चेतन हट जाता है ग्रौर ग्रचेतन हमला बोल देता है।

क्रोध करने के बाद ग्रादमी कहता है कि पता नहीं कैसे मैंने क्रोध कर लिया। 'इन्स्पाइट ग्रॉफ मी', मेरे बावजूद क्रोध हो गया। लेकिन ग्रापके बावजूद क्रोध कैसे हो सकता है? निश्चित ही ग्रापने, ग्रपने ही किसी गहरे हिस्से को इतना दबाया है ग्रौर उसे ग्राप दूसरा समझने लगे हैं। वह हमला बोल देता है। जब वक्त ग्राता है, वह हमला बोल देता है।

यह जो द्वन्द्व है, यह जो 'कांफ्लिक्ट' है, **यही मनुष्य का नर्क है। द्वन्द्व नर्क है।** 'कांफ्लिक्ट' के ग्रतिरिक्त ग्रौर कोई नर्क नहीं है। ग्रौर हम इसको बढ़ाये चले जाते हैं। जितना हम चुनते जाते हैं, उतना ही नर्क को बढ़ाये चले जाते हैं।

तो कृष्ण इस सूत्र में कहते हैं कि जो राग ग्रौर द्वेष से, द्वन्द्व से, 'कांफ्लिक्ट' से बाहर हो जाता है, जो **चुनाव के बाहर हो जाता है, वही जीवन के परम सत्य को जान पाता है।** ग्रौर जो द्वन्द्व के भीतर घिरा रहता है, वह सिर्फ जीवन के नर्क को ही जान पाता है।

इस द्वन्द्व-अतीत वीतरागता में ही, निष्काम-कर्म का फूल खिल सकता है। या निष्काम कर्म की भूमिका हो तो यह द्वन्द्वरहित, रागद्वेषरहित, यह शून्य चेतना फलित हो सकती है।

चेतना जब शून्य होती है, तभी शुद्ध होती है या जब चेतना शुद्ध होती है, तब शून्य ही होती है।

ऐसा समझें कि एक दर्पण है। दर्पण कब शुद्धतम होता है?—जब दर्पण में कुछ भी नहीं प्रतिफलित होता, जब दर्पण में कोई तस्वीर नहीं बनती। जब तक दर्पण में कुछ तस्वीर बनती है, तब तक कुछ विजातीय, कुछ 'फॉरेन', दर्पण पर छाया रहता है।

जब तक दर्पण पर कोई तस्वीर बनती है, तब तक सिर्फ दर्पण नहीं होता, कुछ ग्रौर भी होता है। एक तस्वीर निकलती है, दूसरी बन जाती है। दूसरी निकलती है, तीसरी बन जाती है। दर्पण पर कुछ बहता रहता है। लेकिन जब कोई तस्वीर नहीं बनती, जब दर्पण सिर्फ दर्पण ही होता है, तब शून्य होता है।

चेतना सिर्फ दर्पण है। उस पर तस्वीरें बनती रहती हैं—कभी राग की कभी विराग की, मित्रता की, कभी शत्रुता की, कभी बायें, कभी दायें की—कोई न कोई तस्वीर बनती ही रहती हैं, तो चेतना ग्रशुद्ध होती है। लेकिन ग्रगर कोई तस्वीर नहीं बनती ग्रौर चेतना द्वन्द्व के बाहर, चुनाव के बाहर होती है,

तो शून्य हो जाती है। शून्य चेतना में क्या बनता है ? जब दर्पण शून्य रहता है, तब दर्पण ही रह जाता है। **जब चेतना शून्य होती है, तब सिर्फ चैतन्य ही रह जाता है।**

वह जो चैतन्य की शून्य प्रतीति है, वही ब्रह्म है— वह जो शुद्ध चैतन्य की अनुभूति है, वही मुक्ति का अनुभव है।

शून्य और ब्रह्म, एक ही अनुभव के दो छोर हैं। इधर शून्य हुए, उधर ब्रह्म हुए। इधर चित्त के दर्पण पर तस्वीरें बननी बन्द हुई कि उधर भीतर से ब्रह्म का उदय हुआ।

ब्रह्म के दर्पण पर तस्वीरों का जमाव ही संसार है।

कैमरे की फिल्म प्रतिबिम्ब को ऐसा पकड़ लेती है कि छोड़ती ही नहीं। फिल्म मिट जाती है, तस्वीर ही हो जाती है।

अगर हम कोई ऐसा कैमरा बना सकें (बना सकते हैं), जिसमें कि एक तस्वीर के ऊपर दूसरी और दूसरी के ऊपर तीसरी तस्वीर ली जाती जा सके ....एक फिल्म पर अगर हजार तस्वीरें, लाख तस्वीरें ली जा सकें, तो जो स्थिति उस फिल्म की होगी, वैसी स्थिति हमारे चित्त की है। तस्वीरों पर तस्वीरें, तस्वीरों पर तस्वीरें इकट्ठी हो जाती हैं। 'कन्फ्यूजन' के सिवाय कुछ शेष नहीं रहता। कोई शकल पहचानने में नहीं आती है कि किस की तस्वीर है। कुछ पता भी नहीं चलता कि क्या है। एक दुःख-स्वप्न (नाइट मेयर) जैसा चित्त हो जाता है।

दर्पण तो फिर भी बेहतर है। एक तस्वीर बनती है, वह मिट जाती है, तब दूसरी बनती है। परन्तु **हमारा चित्त ऐसा दर्पण है, जो तस्वीरों को पकड़ता ही चला जाता है।** इकट्ठा करता चला जाता है। तस्वीरें ही तस्वीरें रह जाती हैं।

उर्दू के किसी कवि की एक पंक्ति है, जिसमें उसने कहा है कि "मरने के बाद घर से बस कुछ तस्वीरें ही निकलीं।" मरने के बाद हमारे घर से भी तस्वीरों के सिवाय निकलने को कुछ और नहीं है। जिन्दगी भर तस्वीरों के संग्रह के अतिरिक्त हमारा कोई और कृत्य नहीं है।

कृष्ण कहते हैं: शून्य, निर्द्वन्द्व। चित्त ... **छोड़ो तस्वीरों को, जानो दर्पण को।** मत करो चुनाव, क्योंकि चुनाव किया कि पकड़ा। **पकड़ो ही मत, रह जाओ वही, जो हो।** उस शून्य क्षण में जो जाना जाता है, वही जीवन का परम सत्य है। वही परम ज्ञान है।

● **प्रश्नकर्ता:** भगवान् श्री, इस श्लोक में कहा गया है कि "त्रैगुण्य विषया वेदा"। इसमें गीता क्या वेद पर आक्षेप नहीं करती है कि वे त्रैगुण्य विषय से युक्त हैं!

भगवान् श्री : कृष्ण कहते हैं, समस्त वेद सगुण से, तीन गुणों से भरे हैं, वे निर्गुण नहीं हैं। शब्द निर्गुण नहीं हो सकता। वेद ही नहीं, कृष्ण का शब्द भी निर्गुण नहीं हो सकता। और जब वे कहते हैं : समस्त वेद, तो उनका मतलब है समस्त शास्त्र, उनका मतलब है समस्त वचन, उनका मतलब है समस्त ज्ञान। जो भी कहा गया, वह कभी भी तीन गुणों के बाहर नहीं हो सकता।

इसे ऐसा समझें कि जो भी अभिव्यक्त है, वह निर्गुण के बराबर नहीं हो सकता। **सिर्फ अव्यक्त,** अनभिव्यक्त, 'अनमैनिफेस्टेड' **ही निर्गुण हो सकता है। व्यक्त तो सदा ही सगुण होगा।** असल में व्यक्त होने के लिए गुण का सहारा लेना पड़ता है। व्यक्त होने के लिए गुण की रूपरेखा लेनी पड़ती है। व्यक्त होने के लिए गुण का माध्यम चुनना पड़ता है। जैसे ही कुछ व्यक्त होगा कि गुण की सीमा में प्रवेश कर जायेगा।

वेद का अर्थ है, व्यक्त ज्ञान; वेद का अर्थ है, शब्द में अभिव्यक्त सत्य। जब सत्य को शब्द में रखेंगे, तब सत्य की असीमता शेष न रह जायेगी, वह सीमित हो जायेगा। कितना ही बड़ा शब्द हो, तो भी सत्य को पूरा न घेर पायेगा, क्योंकि सत्य को पूरा घेरा नहीं जा सकता। कितनी ही बड़ी प्रतिमा हो, तो भी परमात्मा को पूरा न घेर पायेगी। क्योंकि परमात्मा को पूरा घेरा नहीं जा सकता।

सब शब्द, सब अभिव्यक्तियां सीमा बनाती हैं। सब शब्द गुणों की सीमा बनाते हैं। गुण के माध्यम से ही सत्य व्यक्त होगा। एक बीज में वृक्ष निर्गुण हो सकता है, निराकार हो सकता है। अभी कोई आकार नहीं है। लेकिन जब बीज फूटेगा और प्रगट होगा, तो वृक्ष आकार ले लेगा।

कृष्ण जो कह रहे हैं वेद के संबंध में, वह समस्त वक्तव्यों के संबंध में कही गयी बात है। उसमें गीता भी समाहित हो गयी। ऐसा नहीं है कि गीता वेद की कोई उपेक्षा कर रही है। वेद में भी ऐसे वचन हैं जो कहेंगे, शब्द से उसे नहीं कहा जा सकता।

समस्त शास्त्रों की गहरी से गहरी कठिनाई यही है कि शास्त्र उसी को कहने की चेष्टा में संलग्न हैं, जो नहीं कहा जा सकता है। शास्त्र उसी को बताने में संलग्न हैं, जिसे बताने का कोई उपाय नहीं है। शास्त्र उसी दिशा में

इंगित कर रहे हैं,जो अदिशा है, जो दिशा नहीं है, जो 'नो-डायमेंशन' है।

अगर मुझे कोई वृक्ष बताना हो, तो मैं इशारा कर दूं कि वह रहा। अगर मुझे तारा बताना हो, तो बता दूं कि वह रहा। लेकिन मुझे परमात्मा बताना हो, तो अँगुली से नहीं बताया जा सकता, मुट्ठी बाँध कर बताना पड़ेगा और कहना पड़ेगा, यह रहा। क्योंकि अँगुली तो 'समव्हेयर,' 'यहाँ कहीं' बतायेगी और जो 'एव्हरीव्हेयर' है, उसे अँगुली से नहीं बताया जा सकता। अँगुली से बताने में भूल हो जाने वाली है, क्योंकि अँगुली तो 'कहीं' इशारा करती है। लेकिन बाकी जगह भी तो वही है।

नानक गये मक्का। सो गये रात। मौलवी बहुत नाराज हुए। नानक को पकड़ा और कहा कि बड़े मूढ़ मालूम पड़ते हो। पवित्र मस्जिद की तरफ, परमात्मा की तरफ पैर करके सोते हो? तो नानक ने कहा, मैं बड़ी मुसीबत में था, मैंने भी बहुत सोचा था, पर कोई उपाय नहीं मिला। तुम्हीं को मैं स्वतंत्रता देता हूँ, तुम मेरे पैर उस तरफ कर दो, जहाँ परमात्मा न हो। वे मौलवी मुश्किल में पड़े होंगे।

पुरोहित हमेशा नानक जैसे आदमी से मिल जायें, तो मुश्किल में पड़ते हैं। क्योंकि पुरोहित को धर्म का कोई पता नहीं होता। उसे मन्दिर का पता होता है। मन्दिर की सीमा है।

मुश्किल में डाल दिया, नानक के इस सवाल ने।

नानक कहते हैं, मेरे पैर उस तरफ कर दो, जहाँ परमात्मा न हो, मैं राजी हूँ। कहाँ करें पैर? कहीं भी करेंगे, तो परमात्मा होगा। मन्दिर नहीं होगा, काबा नहीं होगा, परमात्मा तो होगा। तो फिर काबा में जो परमात्मा है, वह उसी परमात्मा से समतुल नहीं हो सकता, जो सब जगह है।

तो काबा का परमात्मा, सगुण हो जायेगा। मन्दिर का परमात्मा, सगुण हो जायेगा। शब्द का परमात्मा, सगुण हो जायेगा। शास्त्र का परमात्मा, सगुण हो जायेगा। बोला, कहा, प्रकट हुआ कि सगुण हुआ। कृष्ण जो बोल रहे हैं,वह भी सगुण हो जाता है। बोलते ही सगुण हो जाता है।

वेद की निन्दा नहीं है वह, वेद की सीमा का निर्देश है। शब्द की निन्दा नहीं है वह, शब्द की सीमा का निर्देश है। वचन की निन्दा नहीं है वह, वचन की सीमा का निर्देश है। और वह निर्देश करना जरूरी है। लेकिन कितना ही निर्देश करो, आदमी बहरा है। अगर कृष्ण की बात सुन ले कि वेद में जो है,वह सब त्रिगुण के भीतर है, तो वह कहेगा छोड़ो वेद को, गीता को पकड़ो।

वेद में निर्गुण निराकार नहीं है, तो उसे छोड़ो। (छोटा हो गया वेद!) गीता को पकड़ो। लेकिन समझ ही न पाया वह। अगर कृष्ण कहीं देखते होंगे, तो हँसते होंगे कि तुमने फिर दूसरा वेद बना लिया। यह सवाल वेद का नहीं है, यह सवाल व्यक्ति की सीमा का है।

● **प्रश्नवार्ता:** श्री कृष्ण कहते हैं कि 'तू योग-क्षेम को न चाहने वाला आत्म-परायण हो।' यदि योग-क्षेम आत्मवान् होने का सहज फल है, तो उसे न चाहने को क्यों कहा गया है?

भगवान् श्री : योग-क्षेम सीधे नहीं चाहा जा सकता। आत्मवान् व्यक्ति के आसपास योग-क्षेम घटित होते हैं। जैसे एक दिया जले, तो दिया तो अपने में ही जलता है। अगर आस-पास कोई चीज न हो दिखायी पड़ने को, तो भी जलता है। दिये का जलना, दिये का प्रकाश से भरना, किन्हीं प्रकाशित चीजों पर निर्भर नहीं होता। लेकिन दिया जलता है, तो चीजें प्रकाशित होती हैं। जो भी आस-पास होगा, वह प्रकाशित होगा।

बड़े मजे की बात है कि आपने प्रकाश कभी नहीं देखा है आज तक, सिर्फ प्रकाशित चीजें देखी हैं। प्रकाश नहीं देखा है किसी ने भी आज तक। प्रकाशित चीजों की वजह से आप अनुमान करते हैं कि प्रकाश है। आप सोचेंगे, मैं क्या बात कर रहा हूँ! हम सबने प्रकाश देखा है। फिर से सोचना, प्रकाश कभी किसी ने देखा ही नहीं। यह वृक्ष दिखता है, सूरज की रोशनी में चमकता हुआ इसलिए आप कहते हैं, सूरज की रोशनी है। फिर अंधेरा आ जाता है, और वृक्ष नहीं दिखता है, आप कहते हैं, रोशनी गयी। लेकिन आपने रोशनी नहीं देखी है। बैठें आकाश की तरफ, चीजें दिखायी पड़ेंगी, रोशनी कहीं नहीं दिखायी पड़ेगी। जो भी दिखायी पड़ रहा है, वह प्रकाशित है, प्रकाश नहीं।

कृष्ण के कहने का कारण है। वे कहते हैं कि जब कोई शून्य आत्मस्थिति को उपलब्ध होता है, तो योग-क्षेम फलित होते हैं। आपको योग-क्षेम ही दिखायी पड़ेंगे। आपको आत्मस्थिति दिखायी नहीं पड़ेगी। उस आत्मस्थिति के पास जो घटना घटती है योग-क्षेम की, वह दिखायी पड़ेगी। जब कोई व्यक्ति आनंद को उपलब्ध होता है, तो आपको उसके भीतर की स्थिति दिखायी नहीं पड़ती है। उसके चारों तरफ सब आनंद से भर जायेगा, वही दिखायी पड़ेगा। जब कोई भीतर ज्ञान को उपलब्ध होता है, तो आपको उसके ज्ञान की स्थिति दिखायी नही पड़ेगी, लेकिन उसके चारों तरफ ज्ञान की घटनाएँ घटने लगेंगी। भीतर तो शुद्ध अस्तित्व ही रह जायेगा आत्मा वही आपको दिखायी पड़ेगा।

का, लेकिन योग-क्षेम उसके 'कांसिक्वेंसेस' (परिणाम) होंगे।

जैसे दिया जलेगा, चीजें चमकने लगेंगी। चीजें न हों तो भी दिया जल सकता है, लेकिन तब आप को दिखायी नहीं पड़ सकता है। अर्जुन आत्मवान् होगा, यह उसकी भीतरी घटना है। अर्जुन का आत्मवान् होना चारों तरफ योग-क्षेम के फूल खिला देगा, यह उसकी बाहरी घटना है। इसलिए वे दोनों का स्मरण करते हैं। और हम कैसे पहचानेंगे जो बाहर खड़े हैं, वे आत्मवान् को नहीं पहचानेंगे, योगक्षेम को ही पहचानेंगे।

मुहम्मद के बाबत कहा जाता है कि मुहम्मद जहाँ भी चलते, उनके ऊपर आकाश में एक बदली चलती थी, साथ छाया करती हुई। कठिन मालूम पड़ती है बात। मुहम्मद जहाँ भी जायँ, उनके ऊपर एक बदली चले और छाया करे! लेकिन आदमी के पास शब्द कमजोर हैं, इसलिए जो चीज़ गद्य में नहीं कही जा सकती, उसे हम पद्य में कहते हैं। पद्य हमारे गद्य की असमर्थता है। जब गद्य में नहीं कह पाते, तब 'पोएट्री' (कविता) निर्मित करते हैं। और जीवन में जो-जो गहरा है, वह गद्य में नहीं कहा जा सकता, इसलिए जीवन के सब गहरे अनुभव 'पोएट्री' में, पद्य में कहे जाते हैं।

यह "पोयेटिक एक्सप्रेशन" है किसी अनुभूति का, कि मुहम्मद जहाँ भी जाते, वहाँ छाया पहुँच जाती। मुहम्मद जहाँ भी जाते, वहाँ आस-पास के लोगों को ऐसा लगता (जैसे रेगिस्तान, मरुस्थल के आदमी को लगेगा) जैसे ऊपर कोई बादल आ गया हो और सब पर छाया हो गयी हो। मुहम्मद जहाँ होते, वहाँ योग-क्षेम फलित होता।

महावीर के बाबत भी कहा गया है कि महावीर अगर रास्ते से चलते, तो काँटे अगर सीधे पड़े होते, तो उल्टे हो जाते। कोई काँटा फिक्र नहीं करेगा, संभावना कम दिखायी पड़ती है। लेकिन जिन्होंने यह लिखा है, उन्होंने कुछ अनुभव किया है। महावीर के आस-पास सीधे काँटे भी उल्टे हो जायँ। काँटे नहीं, पर काँटा-पन। जिन्दगी में बहुत तरह के काँटे हैं। रास्तों पर बहुत काँटे हैं। और महावीर के पास जो लोग आये हों, उन्हें अचानक लगा हो कि अब तक जो काँटें सीधे चुभ रहे थे, वे एकदम उल्टे हो गये, नहीं चुभ रहे हैं।

योग-क्षेम फलित हुआ हो, तो क़विता में आदमी कहता है कि ऐसा हो जाता है। लेकिन भूल होती है हमें। हमें तो बाहरी बात ही दिखायी पड़ती है। हम महावीर को पहचानेंगे भी कैसे कि वे महावीर हैं? हम कैसे पहचानेंगे

कि बुद्ध, बुद्ध हैं?

बुद्ध के लिए भी हमने कहानियाँ गढ़ी हैं कि बुद्ध जिस गाँव से निकलते हैं, वहाँ केशर की बरसा हो जाती है। हो नहीं सकती, उस केशर की जो बाजार में बिकती है। लेकिन जिन लोगों के गाँव से बुद्ध गुजरे हैं, उनको जरूर केशर की सुगन्ध जैसा, केशर जैसा लगा होगा। उनके पास जो कीमती से कीमती शब्द रहा होगा, उसकी प्रतीति हुई, उसका एहसास हुआ है। कुछ बरसा है उस गाँव में जाकर, और आदमी की भाषा में कोई और शब्द नहीं होगा, तो कहा है कि केशर बरसती है।

जब भीतर जीवन प्रकाशित होता है, तो बाहर भी प्रकाश की किरणें लोगों को छूती हैं। वे जब लोगों को छूती हैं, तो योग-क्षेम फलित होता है।

इसलिए कृष्ण कहते हैं और ठीक कहते हैं। कहना चाहिए, कहना जरूरी है। क्योंकि एक व्यक्ति के भी जीवन में जब आत्मा की घटना घटती है, तो उसके प्रकाश का वर्तुल दूर-दूर, लोक-लोकान्तर तक फैल जाता है। और एक व्यक्ति के भीतर भी जो स्वर बजता है आत्मा का, उसकी स्वरलहरी दूसरे के प्राणों को भी झंकार के स्वर से भर जाती है। और एक व्यक्ति के जीवन में जब आनन्द फलित होता है, तो दूसरों के जीवन में भी आनन्द के फूल थोड़ा सा जरूर बरस जाते हैं।

इसलिए अर्जुन को तो कहते हैं, तू आत्मवान् हो जायेगा, शक्ति-संपन्न हो जायेगा। लेकिन जब शक्ति-सम्पन्न होगा कोई, भीतर आत्मवान् होगा कोई, तो इसे एक और दूसरी तरफ से देखने की कोशिश करें। जब कोई व्यक्ति अपनी आत्मा को खो देता है, तो कभी आपने ख्याल किया है, कि उसके आस-पास दुःख और पीड़ा का जन्म होना शुरू हो जाता है। जब कोई एक व्यक्ति अपनी आत्मा को खोता है, तो अपने आस-पास दुःख का एक वर्तुल पैदा कर लेता है? निर्भर करेगा कि कितनी उसने आत्मा खोयी है।

अगर एक हिटलर जैसा आदमी पृथ्वी पर पैदा हो, तो विराट् दुःख का वर्तुल चारों ओर फलित होता है। योग-क्षेम का पता ही नहीं चलता, सब खो जाता है। उससे उल्टा घटित होने लगता है, अकल्याण और अमंगल चारों ओर फैल जाता है। चंगेज़ खां जैसा आदमी पैदा होता है, तो जहाँ से गुजर जाता है, वहाँ केशर नहीं बरसती, सिर्फ खून ही बहता है।

बुरे आदमियों को हम भलीभाँति पहचानते हैं। उनके आस-पास जो घटनाएँ घटती हैं, उन्हें भी पहचानते हैं। स्वभावतः बुरे आदमी के आस-पास जो

घटनाएँ घटती हैं वे बहुत 'मैटीरियल' होती हैं, बहुत भौतिक होती हैं, दिखायी पड़ती हैं। चंगेज़ खां निकले आपके गाँव से, तो मुश्किल है कि आप उसे न देख पायें। क्योंकि घटनाएँ बहुत मौतिक, 'मैटीरियल' हैं। घटेंगी। चंगेज़ खां जिस गाँव से निकलता है, उस गाँव के सारे बच्चों को कटवा डालता है। भालों पर बच्चों के सिर लगवा देता। और जब चंगेज़ खां से किसी ने पूछा कि तुम क्या कर रहे हो ? दस-दस हजार बच्चे भालों पर लटके हैं ! तो चंगेज़ खां ने हँस कर कहा कि लोगों को पता होना चाहिए कि चंगेज़ खां निकल रहा है।

बुद्ध भी निकलते हैं किसी गाँव से, कृष्ण भी निकलते हैं किसी गाँव से जीसस भी निकलते हैं किसी गाँव से। घटनाएँ 'इम्मैटीरियल' घटती हैं। घटनाएँ 'मैटीरियल' नहीं होतीं। इसलिए जिनके पास थोड़ी संवेदनशील चेतना है, वे ही पकड़ पाते हैं। जिनके पास थोड़ा संवेदन से भरा हुआ मन है, जो 'रिस्पोंसिव' हैं, वे ही पकड़ पाते हैं।

जो पकड़ में आता है,उसको कृष्ण कह रहे हैं योग-क्षेम। वे जो पकड़ पाते हैं, उनको पता लगता है कि सब बदल गया। हवा और हो गयी, आकाश और हो गया। सब और हो गया। यह जो सब और हो जाने का अनुभव है, इस अनुभव को कृष्ण कह रहे हैं योग-क्षेम। उसे स्मरण दिलाना उचित है। एक बात और ख्याल में ले लेनी जरूरी है कि वे कह रहे हैं कि तू शक्ति-सम्पन्न हो जायेगा।

असल में मनुष्य तब तक शक्ति-सम्पन्न होता ही नहीं, जब तक वह स्वयं (अहंकार)होता है। तब तक वह शक्ति-विपन्न ही होता है। असल में स्वंय होना, अहंकार केन्द्रित होना,दीन होने की राम-बाण व्यवस्था है। जितना मैं अहंकार से भरा हूँ,जितना 'मैं हूँ' उतना ही मैं दीन हूँ। जितना मेरा अहंकार छूटता और मैं आत्मवान् होता हूँ,जितना ही मैं मिटता, उतना ही मैं सर्व से एक होता हूँ। तब शक्ति मेरी नहीं, ब्रह्म की हो जाती है। तब मेरे हाथ मुझसे नहीं चलते, ब्रह्म से चलते हैं। तब मेरी वाणी मुझसे नहीं बोलती, ब्रह्म से बोलती है। तब मेरा उठना-बैठना मेरा नहीं,उसका ही हो जाता है। स्वभावतः उससे बड़ी और शक्ति-सम्पन्नता क्या होगी? जिस दिन व्यक्ति अपने को समर्पित कर देता—सर्व के लिए, उस दिन सर्व की सारी शक्ति उसकी अपनी हो जाती है। उस दिन होता है वह शक्तिसम्पन्न।

शक्ति यहाँ, 'पावर' का प्रतीक नहीं है। शक्ति उस अर्थों में नहीं, जैसे किसी पद पर पहुँचकर कोई आदमी शक्तिशाली हो

जाता है, कि कोई आदमी कल तक सड़क पर था, तो 'मिनिस्टर' हो गया, तो शक्तिशाली हो गया। यह शक्ति इस व्यक्ति में नहीं होती, पद में होती। इसको कुर्सी से नीचे उतारो,यह फिर विपन्न हो जाता है। यह शक्ति अपनी होती ही नहीं, यह सिर्फ कुर्सी पर बैठने से होती है।

कभी सर्कस में, कार्निवल में आपने इलेक्ट्रिक चेयर देखी हो। कुर्सी जो 'इलेक्ट्रिफाइड' होती है, उस पर लड़की या लड़के को बिठा रखते हैं। वह लड़का भी 'एलेक्ट्रिफाइड' हो जाता है। फिर उस लड़के को छुयें तो शॉक लगता है। लड़के का 'शॉक' नहीं,कुर्सी का 'शॉक' है। लड़के को कुर्सी से बाहर उतारें. तो वह गया। मगर वह जो कुर्सी पर बैठा हुआ लड़का या लड़की है,जब आपको 'शॉक' लगता है, तो उसकी शान देखें। वह समझता है शायद मैं शॉक मार रहा हूँ। 'आइडेंटिफाइड' हो जाता है आदमी।

'पावर' से नहीं मतलब है कृष्ण की शक्ति का। कृष्ण की शक्ति का मतलब है 'एनर्जी', ऊर्जा से;जो पद से नहीं आती,असल में जो पद-मात्र छोड़ने से आती है।

अहंकार पद को खोजता है। जब अहंकार कोई छोड़ देता है, तो उसके सब पद खो जाते हैं, उसके पास कोई पद नहीं रह जाता। वह शून्य हो जाता है। उस शून्य में विराट् गूँजने लगता है। उस शून्य में विराट् उतर आता है। उस शून्य में विराट् के लिए द्वार मिल जाता है। तब वह 'एनर्जी' है, 'पावर' नहीं। तब वह ऊर्जा है,शक्ति है। तब वह व्यक्ति मिटा,अव्यक्ति हो गया। तब व्यक्ति नहीं है, परमात्मा है। और ऐसी स्थिति से वापस लौटना नहीं होता'।

ध्यान रखें 'पावर' से वापस लौटना होता है। पद से वापस लौटना होता है, धन से वापस लौटना होता है। जो शक्ति भी किसी कारण से मिलती है और अहंकार कि खोज से मिलती है,उससे लौटाना होता है। लेकिन जो अहंकार को खोकर मिलती है, वह 'प्वाइंट ऑफ नो रिटर्न' है,उससे वापस लौटना नहीं होता है। इसलिए एक बार जो व्यक्ति परमात्मा की शक्ति को जान लेता है, वह एक हो जाता है सदा के लिए, शक्तिसम्पन्न हो जाता है। शायद यह कहना ठीक नहीं है, कि शक्ति-सम्पन्न हो जाता है, उचित यही होगा कहना की वह शक्ति-सम्पन्नता ही हो जाता है। शक्ति-सम्पन्न कहने में तो ऐसा ख्याल बनता है कि वह भी बचता है। नहीं,यह कहना ठीक नहीं है कि वह शक्तिसम्पन्न हो जाता है,यही कहना ठीक है कि वह 'शक्ति' हो जाता है। और ऐसी शक्ति अगर पद की है, धन की है तो योग–क्षेम फलित नहीं होगे। ऐसी शक्ति अगर परमा-

त्मा की है, तो योग–क्षेम फलित होंगे ।

इसीलिए योग-क्षेम की बात कर लेनी उचित है । क्योंकि ऐसी शक्तियाँ भी हैं, जिनसे योग-क्षेम से उल्टा फलित होता है । 'पावरपॉलिटिक्स' है सारी दुनिया में । जब भी कोई आदमी 'पॉलिटिकली **पावरफुल**' होने की यात्रा करता है,तो योग-क्षेम फलित नहीं होते । उससे उल्टा ही फलित होता है। अमंगल ही **फलित** होता है। दुख: ही **फलित** होता है । तो शक्ति का यह स्मरण रहे, भेद ख्याल में रहे कि शक्ति **अर्थात्** 'पावर' नहीं, 'एनर्जी' । **शक्ति का अर्थ अहंकार की खोज नहीं, अहंकार का विसर्जन है,** तो निश्चित ही योग-क्षेम फलित होता है ।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।।

तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।। ४६ ।।

क्योंकि मनुष्य का, सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त होने पर, छोटे जलाशय में जितना प्रयोजन रहता है, अच्छी प्रकार ब्रह्म को जानने वाले ब्राह्मण का भी सब वेदों में उतना ही प्रयोजन रहता है ।

भगवान् श्री : कृष्ण कह रहे हैं कि जैसे छोटे-छोटे नदी तालाब हैं, कुएँ-पोखर हैं,झरने हैं,इन **झरनों** में नहाने से जो आनन्द होता है,जो शुचिता मिलती है, ऐसी शुचिता तो सागर में नहाने से मिल ही जाती है, अनेकगुना होकर । शब्दों के पोखर में, शास्त्रों के पोखर में जो मिलता है, उससे अनेक गुना ज्ञान के सागर में मिल ही जाता है । जो मिलेगा वेद में,संहिता में,शास्त्र में,शब्दों में–वह ज्ञानी को ज्ञान में तो अनंतगुना होकर मिल ही जाता है । इसमें दो बातें ध्यान में रखने जैसी हैं ।

एक तो यह कि जो सीमा में मिलता है, वह असीम में मिल ही जाता है। असीम के लिए सीमीत को छोड़ने में भय की कोई आवश्यता नहीं है । अगर ज्ञान के लिए वेद को छोड़ना हो, तो कोई चिन्ता की बात नहीं । सत्य के लिए शब्द को छोड़ना हो,तो कोई चिन्ता की बात नहीं । अनुभव के लिए शास्त्र को छोड़ना हो, तो कोई चिन्ता की बात नहीं । क्योंकि जो मिलता है यहाँ, वह अनंतगुना वहाँ मिल ही जाता है ।

दूसरी बात:-सागर में जो मिलता है, ज्ञान में जो मिलता है, असीम में जो मिलता है, उस उपलब्धि को सीमित के लिए छोड़ना बहुत खतरनाक है ।

अपने घर के कुएँ के लिए सागर को छोड़ना बहुत खतरनाक है । माना कि घर का कुआँ है, अपना है, बचपन से जाना परिचित है,फिर भी कुआँ है । घरों में कुओं से ज्यादा सागर हो भी नहीं सकते । सागरों तक जाना हो तो घर के कुओं को छोड़ना पड़ता है। घरों में कुएँ ही हो सकते हैं। **हम सबके अपने-अपने कुएं हैं, अपने-अपने शास्त्र हैं,**अपने-अपने धर्म हैं, अपने अपने सम्प्रदाय हैं, अपने-अपने मोहग्रस्त शब्द हैं । कोई मुसलमान है, कोई हिन्दू है, कोई ईसाई है, हम सबके अपने वेद और ग्रंथ हैं। कोई इस मूर्ति का पूजक, कोई उस मूर्ति कापूजक; कोई इस मंत्र का भक्त, कोई उस मंत्र का भक्त है। सबके अपने-अपने कुएँ हैं ।

कृष्ण यहाँ कह रहे हैं कि इन कुओं के लिए सागर को छोड़ना खतरनाक है । हाँ, इससे उल्टा (वाइस व्हरसा) हो सकता है । सागर के लिए इनको छोड़ने में कोई भी हर्ज नहीं है । क्योंकि जो इनमें मिलेगा, अनंतगुना सागर में होकर मिल ही जाता है ।

वह व्यक्ति अभागा है, जो अपने घर के कुएँ में ही अटका रहता है । सब शास्त्र कुएँ ही हैं—(गीता भी!) गीता का कृष्ण ने उल्लेख नहीं किया, कैसे करते! क्योंकि जो वे कह रहे थे,वही तो बाद में शास्त्र बनने वाला था। गीता तब तक थी नहीं । मैं उल्लेख करता हूँ कि गीता भी कुआं ही है । जो शास्त्रों में लिखा है, वह अनंत गुना होकर ज्ञान में मिल ही जाता है । इसलिए जो इनके कारण ज्ञान के लिए रुकावट बनाये, शास्त्रों के पक्ष में ज्ञान को छोड़े, वह अभागा है । लेकिन जो ज्ञान के लिये इन सबको छोड़ दे, वह भाग्यशाली है । क्योंकि जो इनमें मिलेगा, वह ज्ञान में मिल ही जाने वाला है ।

लेकिन क्या भेद है, ज्ञान का और वेद का? ज्ञान का और शास्त्र का फासला क्या है? भेद क्या है? गहरा फासला है । जो जानते है, उन्हे बहुत स्पष्ट दिखायी पड़ता है । जो नहीं जानते हैं, उन्हें दिखायी पड़ना बहुत मुश्किल हो जाता है । क्योंकि किन्हीं भी दो चीजों का फासला जानने के लिए दोनों चीजों को जानना जरूरी है । जो एक ही चीज को जानता है, दूसरे को जानता ही नहीं, वह फासला कैसे निर्मित करे, कैसे तय करे ?

हम शास्त्र को ही जानते हैं, इसलिए हम जो फासले निर्मित करते हैं, वह ज्यादा से ज्यादा दो शास्त्रों के बीच करते हैं । हम कहते हैं कुरान या बाइबल, वेद या गीता, महावीर या बुद्ध,जीसस या जरथुस्त्र । **हम जो फासले तय करते हैं, वे फासले ज्ञान और शास्त्र के बीच नहीं होते, शास्त्र और शास्त्र के बीच होते हैं** । क्योंकि हम शास्त्रों को जानते हैं । असली फासला शास्त्र और शास्त्र

के बीच नहीं है, असली फासला शास्त्रों और ज्ञान के बीच है। उस दिशा में थोड़ी सी सूचक बातें ख्याल में ले लेनी चाहिए।

ज्ञान वह है, जो कभी भी अनुभव के बिना नहीं होता है। ज्ञान अर्थात् अनुभव, और अनुभव तो सदा अपना ही होता है, दूसरे का नहीं होता। अनुभव अर्थात् अपना। **शास्त्र भी अनुभव है, लेकिन दूसरे का। शास्त्र भी ज्ञान है, लेकिन दूसरे का।** ज्ञान भी ज्ञान है, लेकिन अपना।

मैं अपनी आँख से देख रहा हूँ कि यह ज्ञान है। आप सुनते हैं और मुझे कहते हैं, यह शास्त्र है। ऐसा नहीं कि आप गलत ही कहते हैं। लेकिन आप सुनते हैं, मैं देखता हूँ। आप जो कान से सुन रहे हैं, वह मैं आंख से देख रहा हूँ। फर्क पड़ने वाला है। कान आँख का काम नहीं कर सकता।

शास्त्रों के जो पुराने नाम हैं, वे बहुत बढ़िया हैं। श्रुति अर्थात् सुना हुआ–देखा हुआ नहीं। स्मृति अर्थात् सुना हुआ, स्मरण किया हुआ, याद किया हुआ–'मेमोराइज्ड'; जाना हुआ नहीं। सब शास्त्र श्रुति और स्मृति हैं। किसी ने जाना और कहा। हमने जाना नहीं और सुना। जो उनकी आँख से हुआ, वह हमारे कान से आया है। **शास्त्र कान से आते हैं, सत्य आंख से आता है। सत्य दर्शन है, शास्त्र श्रुति है।**

दूसरे का अनुभव, कुछ भी उपाय करूँ, वह मेरा अनुभव नहीं है। हाँ, दूसरे का अनुभव उपयोगी हो सकता है। इस अर्थ में नहीं कि मैं उसपर भरोसा कर लूँ, विश्वास कर लूँ, अंध-श्रद्धालु हो जाऊँ। इस अर्थ में तो दुरुपयोग ही हो जायेगा। 'हिन्डरेन्स' बनेगा, बाधा बनेगा। इस अर्थ में उपयोगी हो सकता है, कि दूसरे ने जो जाना है, उसे जानने की संभावना का द्वार मेरे लिए भी खुलता है। जो दूसरे का हो सका है, यह मेरे लिए भी हो सकता है, इसका आश्वासन मिलता है। जो दूसरे के लिए हो सका, वह क्यों मेरे लिए नहीं हो सकेगा? इसकी प्रेरणा मिलती है। जो दूसरे के लिए हो सका, वह मेरे भीतर छिपी हुई प्यास को जगाने का कारण हो सकता है। लेकिन बस इतना ही। जानना तो मुझे ही पड़ेगा। जीना मुझे ही पड़ेगा, उस सागर तट तक मुझे ही पहुँचना पड़ेगा।

एक और मजे की बात है कि घर में जो कुएँ हैं, वे बनाये हुये होते हैं, सागर बनाया हुआ नहीं होता। आपके पिता ने बनाया होगा घर का कुआँ, उनके पिता ने बनाया होगा, किसी ने बनाया होगा। जिसने बनाया होगा, उसे इस 'सिक्रेट' का पता है, उसे इस राज का पता है कि कहीं से भी जमीन को तोड़ो, सागर मिल जाता है। कुआँ है क्या? 'जस्ट ए होल'। सिर्फ एक छेद है। आप यह

मत समझना कि पानी कुआँ है। पानी तो सागर ही है, कुआँ तो सिर्फ उस सागर में झाँकने का आपको आँगन में उपाय है। सागर तो है ही नीचे फैला हुआ। वही है। जहाँ भी जल है, वहीं सागर है। हाँ, आपके आंगन में एक छेद खोद लेते हैं। कुएँ से पानी नहीं खोदते, कुएँ से सिर्फ मिट्टी अलग करते हैं, पर्त तोड़ देते हैं, छेद हो जाता है। अपने ही घर में सागर को झांकने का उपाय हो जाता है।

लेकिन कुआँ बनाया हुआ है। और अगर कुआँ इसकी खबर (रिमेंबरिंग) लाये कि सागर भी है और सागर की यात्रा करवा दे, तब तो कुआँ सहयोगी हो जाता है। और अगर कुआँ ही सागर बन जाय और हम सोचें कि यही रहा सागर, तो फिर सागर की, असीम की यात्रा नहीं हो पायेगी। फिर हम कुएँ के किनारे ही बैठे समाप्त होते हैं।

शास्त्र कुएँ हैं। जो जानते हैं, वे खोदते हैं। और शब्द की सीमा में छेद बनाते हैं, जो कहा जा सकता है, उसकी सीमा में छेद बनाते हैं। वे छेद अनकहे की थोड़ी-सी झलक, थोड़ा सा दर्शन करवाते हैं। इस आशा में कि इसको देखकर अनंत की यात्रा पर कोई निकलेगा। इसलिए नहीं कि इसे देखकर कोई बैठ जायेगा और तृप्त हो जायेगा।

कुआँ सागर है, सीमा में बँधा। सागर कुआँ है, असीम में मुक्त। शास्त्र ज्ञान है, सीमा में बँधा। ज्ञान शास्त्र है, असीम में मुक्त।

तो कृष्ण जब वेद की, शब्द की बात कर रहे हैं, तो निन्दा नहीं है। सिर्फ निर्देश है। और निर्देश स्मरण में रखने योग्य है।

चौदहवाँ प्रवचन

प्रथम गीता ज्ञान-यज्ञ, अहमदाबाद, रात्रि, दिनाँक ५ दिसम्बर, १९७०

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

इससे तेरा कर्म करने मात्र में ही अधिकार होवे, फल में कभी नहीं, और तू कर्मों के फल की वासना वाला भी मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी प्रीति न होवे।

भगवान् श्रीः कर्मयोग का आधार सूत्र है कि अधिकार है कर्म में, फल में नहीं। करने की स्वतंत्रता है, पाने की नहीं; क्योंकि **करना एक व्यक्ति से निकलता है, और फल समष्टि से निकलता है।** मैं जो करता हूँ; वह मुझसे बहता है, लेकिन जो होता है, उसमें समस्त का हाथ है। करने की धारा तो व्यक्ति की है, लेकिन फल का सार समिष्ट का है। इसलिए कृष्ण कहते हैं कि करने का अधिकार है तुम्हारा, फल की आकांक्षा अनधिकृत है।

लेकिन हम उल्टे चलते हैं। फल की आकांक्षा पहले और कर्म की पीछे। हम बैलगाड़ी को आगे और बैलों को पीछे बाँधते हैं। कृष्ण कह रहे हैं: कर्म पहले, फल पीछे आता है—लाया नहीं जाता। लाने की कोई सामर्थ्य मनुष्य की नहीं है। करने की सामर्थ्य मनुष्य की है। क्यों? ऐसा क्यों है? क्योंकि मैं अकेला नहीं हूँ, विराट् भी है।

मैं सोचता हूँ, कल सुबह उठूंगा, आपसे मिलूंगा, लेकिन कल सुबह सूरज भी ऊगेगा ? कल सुबह भी होगी? जरूरी नहीं है कि कल सुबह हो ही । मेरे हाथ में नहीं है कि कल सूरज ऊगे ही । एक दिन तो ऐसा जरूर आयेगा कि सूरज डूबेगा और ऊगेगा नहीं । वह दिन कल भी हो सकता है ।

वैज्ञानिक कहते हैं कि अब यह सूरज चार हजार साल से ज्यादा नहीं चलेगा । इसकी उम्र चुकती जा रही है । यह भी बूढ़ा हो गया है । इसकी किरणें भी बिखर चुकी हैं । रोज बिखरती जा रही हैं । न मालूम कितने अरबों वर्षों से यह चल रहा है ! अब उसके भीतर की भट्ठी चुक रही है, अब ईंधन चुक रहा है । चार हजार साल हमारे लिए बहुत बड़ा है, सूरज के लिए ना कुछ है । चार हजार साल में सूरज ठण्डा पड़ जायेगा, किसी भी दिन । जिस दिन ठण्डा पड़ जायेगा, उस दिन ऊगेगा नहीं । उस दिन सुबह नहीं होगी । उसकी पहली रात भी लोगों ने वचन दिये होंगे कि कल सुबह आवेंगे, निश्चित । लेकिन छोड़ें, सूरज चार हजार साल बाद डूबेगा और नहीं ऊगेगा । हमारा क्या पक्का भरोसा है कि कल सुबह हम भी ऊगेंगे । कल सुबह होगी, पर हम होंगे? जरूरी नहीं । और कल सुबह भी होगी, सूरज भी ऊगेगा, हम भी होंगे, लेकिन वचन को पूरी करने की आकांक्षा हो, यह जरूरी नहीं है । एक छोटी सी कहानी कहूँ ।

सुना है मैंने कि चीन में एक सम्राट ने अपने मुख्य वजीर को, बड़े वजीर को फाँसी की सजा दे दी । कुछ नाराजगी थी । लेकिन नियम था उस राज्य का कि फाँसी के एक दिन पहले स्वयं सम्राट फाँसी पर लटकने वाले कैदी से मिले, और उसकी कोई आखिरी आकांक्षा हो तो पूरी करे । निश्चित ही आखिरी आकांक्षा जीवन को बचाने की नहीं हो सकती थी । वह बंदिश थी । उतनी भर आकांक्षा नहीं हो सकती थी ।

सम्राट पहुँचा, कल सुबह फाँसी होगी । आज संध्या, अपने वजीर से पूछा कि तुम्हारी इच्छा क्या है, मैं पूरी करूँ; क्योंकि कल तुम्हारा अंतिम दिन है । वजीर एकदम दरवाजे के बाहर की तरफ देखकर रोने लगा । सम्राट ने कहा: तुम, और रोते हो? कभी मैं कल्पना भी न कर सका कि तुम्हारी आँखें और आँसुओं से भरी होंगी !

बहुत बहादुर आदमी था । सम्राट नाराज कितना ही हो, उसकी बहादुरी पर शक कभी न था । उसने कहा, तुम और रोते हो, क्या मौत से डरते हो? उस वजीर ने कहा, मौत की डर से नहीं रोता, रोता और किसी बात से हूँ ।

सम्राट ने कहा, बोलो, मैं पूरा कर दूं । वजीर ने कहा, नहीं, वह पूरा नहीं हो सकेगा, इसलिए जाने दें । सम्राट जिद् पर अड़ गया कि क्यों नहीं हो सकेगा ? आखिरी इच्छा तो मुझे पूरी ही करनी है ।

उस वजीर ने कहा, नहीं मानते हैं, तो सुन लें । आप जिस घोड़े पर बैठकर आये हैं, उसे देखकर रोता हूँ । सम्राट ने कहा, पागल हो गये हो? उस घोड़े को देखकर रोने जैसा क्या है ? वजीर ने कहा, मैंने एक कला सीखी थी, तीस वर्ष लगाये थे उस कला को सीखने में । वह कला थी कि घोड़ों को आकाश में उड़ना सिखाया जा सकता है, लेकिन एक विशेष जाति के घोड़े को ही । उसे खोजता रहा, और वह नहीं मिला । और कल सुबह मैं मर रहा हूँ । जो घोड़ा सामने खड़ा है, वह उसी जाति का है, जिस पर आप सवार होकर आये हैं । सम्राट के मन को लोभ ने पकड़ा । आकाश में घोड़ा उड़ सके, तो सम्राट की कीर्ति का कोई अंत न रहे इस पृथ्वी पर । उसने कहा, छोड़ो फिक्र मौत की । कितने दिन लगेंगे कि घोड़ा आकाश में उड़ना सीख सके, कितना समय लगेगा ? तो उस वजीर ने कहा, एक वर्ष ।

सम्राट ने कहा, बहुत ज्यादा समय नहीं है । अगर घोड़ा उड़ सका तो ठीक, अन्यथा मौत एक साल बाद । फाँसी एक साल बाद भी लग सकती है, अगर घोड़ा नहीं उड़ा । अगर उड़ा तो फाँसी से भी बच जाओगे, आधा राज्य भी तुम्हें भेंट कर दूंगा ।

वजीर घोड़े पर बैठकर घर आ गया । पत्नी बच्चे रो रहे थे, बिलख रहे थे । आखिरी रात थी । घर आये वजीर को देखकर सब चकित हुए । कहा, कैसे आ गये ? वजीर ने कहानी बतायी, पत्नी और जोर से रोने लगी । उसने कहा, तुम पागल तो नहीं हो ? यह मैं भली भाँति जानती हूँ, तुम कोई कला नहीं जानते, जिससे घोड़ा उड़ना सीख सके । व्यर्थ ही झूठ बोले । अब तो यह साल हमें मौत से भी बदतर हो जायेगा । और अगर माँगा ही था समय, तो इतनी कंजूसी क्या थी? बीस, पच्चीस, तीस वर्ष माँगा होता । एक वर्ष ऐसे तो चुक जायेगा कि अभी आया और चला गया । रोते-रोते चुक जायेगा ।

उस वजीर ने कहा, फिक्र मत करो, एक वर्ष बहुत लम्बी बात है । (शायद बुद्धिमानी के बुनियादी सूत्र का उसे पता था । और ऐसा ही हुआ । वर्ष बहुत लम्बा शुरू हुआ ।) पत्नी ने कहा, कैसा लम्बा, अभी चुक जायेगा । वजीर ने कहा, क्या भरोसा है कि मैं बचूं वर्ष में, क्या भरोसा है कि घोड़ा बचे, क्या भरोसा कि राजा बचे । बहुत सी 'कण्डीशंस' पूरी हों, तब वर्ष पूरा होगा ।

और ऐसा हुआ कि न वजीर बचा, न घोड़ा बचा, न राजा बचा । वर्ष से पहले ही तीनों मर गये ।

कल की कोई भी अपेक्षा नहीं की जा सकती । फल सदा कल है, **फल सदा भविष्य में है । कर्म सदा अभी है, यहीं है ।** कर्म किया जा सकता है । कर्म वर्तमान है, फल भविष्य है । इसलिए भविष्य के लिए आशा बाँधनी, निराशा बाँधनी है । कर्म अभी किया जा सकता है, अधिकार है । वर्तमान में हम हैं । भविष्य में हम होंगे, यह भी तय नहीं । भविष्य में क्या होगा, कुछ भी तय नहीं । हम अपनी ओर से कर्म कर लें, इतना काफी है । हम माँगें न, हम अपेक्षा न रखें, हम फल की प्रतीक्षा न करें, **हम कर्म करें और फल प्रभु पर छोड़ दें**—यही बुद्धिमानी का गहरे से गहरा सूत्र है । इस संबंध में यह बहुत मजेदार बात है कि जो लोग जितना ज्यादा फल की आकांक्षा करते हैं, वे उतना ही कम कर्म करते हैं ।

असल में फल की आकांक्षा में इतनी शक्ति लग जाती है कि कर्म करने योग्य बचती ही नहीं है । असल में फल की आकांक्षा में मन इतना उलझ जाता है, भविष्य की यात्रा पर इतना निकल जाता है कि वर्तमान में होता ही नहीं । असल में फल की आकांक्षा में चित्त ऐसा रस से भर जाता है कि कर्म विरस हो जाता है, रसहीन हो जाता है ।

इसलिए यह बहुत मजे का दूसरा सूत्र आपसे कहता हूँ कि **जितनी फलाकांक्षा से भरा चित्त, उतना ही कर्महीन होता है । और जितनी फलाकांक्षा से मुक्त चित्त हो, उतना ही कर्मपूर्ण होता है ।** क्योंकि उसके पास कर्म ही बचता है, फल तो होता नहीं, जिसमें बँटवारा कर सके । सारी चेतना, सारा मन, सारी शक्ति, सब कुछ इसी क्षण, अभी कर्म पर लग जाता है । स्वभावतः जिसका सब कुछ कर्म पर लग जाता है, उसके फल के आने की संभावना बढ़ जाती है । स्वभावतः जिसका सब कुछ कर्म पर नहीं लगता, उसके फल के आने की संभावना कम हो जाती है ।

यह तीसरा सूत्र भी आपसे कहता हूँ कि जो जितनी फलाकांक्षा से भरा है, उतनी ही फल के आने की उम्मीद कम है । और जिसने जितनी फल की आकांक्षा छोड़ दी है, उतनी ही फल के आने की उम्मीद ज्यादा है । यह जगत् बहुत उल्टा है । परमात्मा का गणित, साधारण गणित नहीं है, बहुत असाधारण गणित है ।

जीसस का एक वचन है कि जो बचायेगा, उससे छीन लिया जायेगा ।

जो दे देगा, उसे सब कुछ दे दिया जायेगा । जीसस ने कहा है, जो अपने को बचाता है, वह व्यर्थ ही अपने को खोता है । क्योंकि उसे परमात्मा के गणित का पता नहीं है । **जो अपने को खोता है, वह पूरे परमात्मा को ही पा लेता है ।**

जब कर्म का अधिकार है और फल की आकांक्षा व्यर्थ है, तो यह मत समझ लेना कि फल मिलता ही नहीं । ऐसा भी मत समझ लेना कि फल का कोई मार्ग नहीं है । कर्म ही फल का मार्ग है । आकांक्षा, फल की आकांक्षा फल का मार्ग नहीं है । इसलिए कृष्ण जो कहते हैं, उससे फल की अधिकतम, 'आप्टिमम', संभावना है मिलने की । और हम जो करते हैं, उससे फल के खोने की 'मैक्सिमम्', अधिकतम संभावना है। और लघुतम्, 'मिनिमम' खोने की संभावना है—यदि कोई फल की सारी चिन्ता ही छोड़ देता है ।

अगर धर्म की भाषा में कहें, तो कहना होगा कि परमात्मा उसके फल की चिन्ता कर लेता है । असल में छोड़ने का भरोसा इतना बड़ा है, छोड़ने का संकल्प इतना बड़ा है, छोड़ने की श्रद्धा इतनी बड़ी है कि अगर इतनी बड़ी श्रद्धा के लिए भी परमात्मा से कोई प्रत्युत्तर नहीं है, तो फिर परमात्मा नहीं हो सकता है । अगर कोई कर्म करता है और फल की बात ही नहीं करता, कर्म करता है और सो जाता है और फल का स्वप्न भी नहीं देखता, तो इतनी बड़ी श्रद्धा से भरे चित्त को भी अगर फल न मिलता हो, तो परमात्मा के होने का कोई कारण नहीं है । इतनी श्रद्धा से भरे चित्त के चारों ओर से समस्त शक्तियाँ दौड़ पड़ती हैं । और जब आप फलाकांक्षा करते हैं, तब आपको पता है, आप अश्रद्धा कर रहे हैं !

शायद इसको कभी सोचा न हो कि **फलाकांक्षा—अश्रद्धा, गहरी से गहरी अनास्था, और गहरी से गहरी नास्तिकता है** । जब आप कहते हैं कि फल भी मिले, तो आप यह कहते हैं कि अकेले कर्म से निश्चय नहीं है फल का । मुझे फल की आकांक्षा भी करनी पड़ेगी । आप कहते हैं, दो और दो जोड़ता हूँ तो जुड़कर चार ही हों । इसका मतलब है कि दो और दो जुड़कर चार होते हैं, ऐसे नियम पर आपकी कोई भी श्रद्धा नहीं है । जोड़ चार हो भी, न भी हो !

जितना अश्रद्धालु चित्त है, उतना फलातुर होता है । जितना श्रद्धा से परिपूर्ण चित्त है, उतना फल की आकांक्षा को फेंक देता है । कहता है: जाने समष्टि, जाने जगत्, जाने विश्व की चेतना । मेरा काम पूरा हुआ, अब शेष काम उसका है ।

फल की आकांक्षा वही छोड़ सकता है, जो इतना स्वयं पर, स्वयं के कर्म

पर श्रद्धा से भरा है। और स्वभावतः जो इतनी श्रद्धा से भरा है, उसका कर्म पूर्ण हो जाता है, 'टोटल एक्ट' हो जाता है। और जब कर्म पूर्ण होता है, तो फल सुनिश्चित है। लेकिन जब चित्त बँटा होता है फल के लिए, और कर्म के लिए तब जिस मात्रा में फल की आकांक्षा ज्यादा है, कर्म का फल उतना ही अनिश्चित है।

एक सुबह एक मित्र आये। उन्होंने एक बहुत बढ़िया सवाल उठाया। मैं तो चला गया, शायद परसों मैंने कहीं कहा कि एक छोटे से मजाक से महाभारत पैदा हुआ। एक छोटे से व्यंग से द्रौपदी के, महाभारत पैदा हुआ। छोटा सा व्यंग द्रौपदी का ही, दुर्योधन के मन में तीर की तरह चुभ गया और द्रौपदी नग्न की गयी, ऐसा मैंने कहा। मैं तो चला गया। उस मित्र के मन में बहुत तूफान आ गया होगा। हमारे मन भी तो बहुत छोटे-छोटे प्यालियों जैसे हैं, जिनमें बहुत छोटे से हवा के झोंके से तूफान आ जाता है--चाय की प्याली से ज्यादा नहीं! तूफान आ गया होगा।

मैं तो चला गया, तो वे मंच पर चढ़ आये होंगे। उन्होंने कहा, 'आ खोटी वात छे।' यह बिलकुल झूठी बात है। द्रौपदी कभी नग्न नहीं की गयी।

द्रौपदी पूरी तरह नग्न की गयी, हुई नहीं, यह बिलकुल दूसरी बात है। करने वालों ने कोई कोर-कसर न छोड़ी। करने वालों ने सारी ताकत लगा दी, लेकिन फल आया नहीं। किये हुए के अनुकूल नहीं आया फल, यह दूसरी बात है। असल में जो द्रौपदी को नग्न करना चाहते थे, उन्होंने क्या रख छोड़ा था। उनकी तरफ से कोई कोर-कसर न थी। लेकिन हम सभी कर्म करने वालों को, अज्ञात भी बीच में उतर आता है, इसका कभी कोई पता नहीं है। वह जो कृष्ण की कथा है, वह अज्ञात के उतरने की कथा है। अज्ञात के भी हाथ हैं, जो हमें दिखायी नहीं पड़ते।

हम ही नहीं हैं इस पृथ्वी पर। मैं अकेला नहीं हूँ। मेरी अकेली आकांक्षा नहीं है, अनंत आकांक्षाएँ हैं। और अनंत की भी आकांक्षाएँ हैं। और उन सबके गणित पर अंततः तय होगा कि क्या हुआ। अकेला दुर्योधन ही नहीं है नग्न करने में, द्रौपदी भी तो है, जो नग्न की जा रही है। द्रौपदी की भी तो चेतना है, द्रौपदी का भी तो अस्तित्व है। अन्याय होगा यह कि द्रौपदी भरी सभा में जबरदस्ती नग्न की जाय। उसके पास भी चेतना है और व्यक्ति है। उसके पास भी संकल्प है। साधारण स्त्री नहीं है द्रौपदी। सच तो यह है कि द्रौपदी के मुकाबले की स्त्री पूरे विश्व के इतिहास में दूसरी नहीं है।

कठिन लगेगी बात, क्योंकि याद आती है सीता की। याद आती है सावित्री की। और भी बहुत यादें है। फिर भी मैं कहता हूँ, द्रौपदी का कोई मुकाबला नहीं। द्रौपदी बहुत ही अद्वितीय है। उसमें सीता की मिठास तो है ही, उसमें क्लियोपेट्रा का नमक भी है। उसमें क्लियोपेट्रा का सौन्दर्य तो है ही, उसमें गार्गी का तर्क भी है। असल में पूरे महाभारत की धुरी द्रौपदी है। सारा युद्ध उसके आस-पास हुआ है।

लेकिन चूंकि कथाएँ पुरुष लिखते है, इसलिए कथाओं में पुरुष-पात्र बहुत उभर कर दिखायी पड़ते हैं। असल में दुनिया की कोई महाकथा स्त्री की धुरी के बिना नहीं चलती। सब महाकथाएँ स्त्री की धुरी पर घटित होती हैं। वह बड़ी रामायण सीता की धुरी पर घटित हुई है। उसके केन्द्र में सीता है। राम और रावण 'ट्राएंगल' के दो छोर हैं। धुरी पर सीता है।

कौरव और पाण्डव, यह पूरा महाभारत और यह सारा युद्ध द्रौपदी की धुरी पर घटा है। उस युग की और सारे युगों की सुन्दरतम स्त्री है वह। नहीं, आश्चर्य नहीं है कि दुर्योधन ने भी उसे चाहा हो। असल में उस युग में कौन पुरुष होगा, जिसने उसे न चाहो हो। उसका अस्तित्व उसके प्रति चाह पैदा करने वाला था। दुर्योधन ने भी उसे चाहा है और फिर वह चली गयी अर्जुन के हाथ।

यह भी बड़े मजे की बात है कि द्रौपदी को पाँच भाइयों में बाँटना पड़ा। कहानी बड़ी सरल है, उतनी सरल घटना नहीं हो सकती। कहानी तो इतनी ही सरल है कि अर्जुन ने आकर बाहर से कहा कि माँ, देखो हम क्या ले लाये हैं? और माँ ने कहा, जो ले आये हो, वह पाँचों भाई बाँट लो। लेकिन इतनी सरल घटना हो नहीं सकती। क्योंकि जब बाद में माँ को भी पता चला होगा कि यह मामला वस्तु का नहीं, स्त्री का है। वह कैसें बाँटी जा सकती है? तो कौन सी कठिनाई थी कि कुन्ती कह देती कि भूल हुई। मुझे क्या पता कि तुम पत्नी ले आये हो।

नहीं, लेकिन मैं जानता हूँ कि जो संघर्ष दुर्योधन और अर्जुन के बीच होता, वह संघर्ष पाँच भाइयों के बीच भी हो सकता था। द्रौपदी ऐसी थी, वह पाँच भाई भी कट-मर सकते थे उसके लिए। उसे बाँट देना ही सुगमतम राजनीति थी। वह घर भी कट सकता था। वह महायुद्ध, जो पीछे कौरवों-पाण्डवों में हुआ, वह पाण्डवों-पाण्डवों में भी हो सकता था। इसलिए कहानी मेरे लिए उतनी सरल नहीं है। कहानी बहुत प्रतीकात्मक है और गहरी है। वह यह खबर

देती है कि स्त्री वह ऐसी थी कि पांच भाई भी लड़ जाते। इतनी गुणी थी, साधारण नहीं थी, असाधारण थी। उसको नग्न करना आसान बात न थी। आग से खेलना था। तो अकेला दुर्योधन नहीं है कि नग्न कर लेगा। द्रौपदी भी है। और ध्यान रहे, बहुत बातें हैं इसमें, जो ख्याल में ले लेने जैसी हैं।

जब तक कोई स्त्री स्वयं नग्न न होना चाहे, तब तक इस जगत् में कोई पुरुष किसी स्त्री को नग्न नहीं कर सकता। कर पाता है, वस्त्र उतार भी ले तो भी नग्न नहीं कर सकता है। नग्न होना बड़ी घटना है--वस्त्र उतरने, निर्वस्त्र होने से नग्न होना बहुत भिन्न घटना है। निर्वस्त्र करना बहुत कठिन बात नहीं है, कोई भी कर सकता है, लेकिन नग्न करना बहुत दूसरी बात है। नग्न तो कोई स्त्री तभी होती है, जब वह किसी के प्रति खुलती है स्वयं, अन्यथा नहीं होती। वह ढँकी ही रह जाती है। उसके वस्त्र छीने जा सकते हैं, लेकिन वस्त्र छीनना स्त्री को नग्न करना नहीं है।

द्रौपदी जैसी स्त्री को नहीं पा सका दुर्योधन। उसके व्यंग तीखे पड़ गये उसके मन पर। बड़ा हारा हुआ है। हारा हुआ व्यक्ति--जैसे कि क्रोध में आयी हुई बिल्लियाँ खम्भे नोचने लगती हैं-वैसा करने लगता है। और स्त्री के सामने जब भी पुरुष हारता है, इससे बड़ी हार पुरुष की कभी नहीं होती। पुरुष, पुरुष से लड़ ले, तो साधारण हार-जीत होती है। लेकिन पुरुष जब स्त्री से हारता है किसी क्षण में, तो इससे बड़ी कोई हार नहीं होती। दुर्योधन उन दिनों से नग्न करने का जितना आयोजन करके बैठा है; वह सारा आयोजन भी, हारे हुए पुरुष-मन का है।

उस तरफ जो स्त्री खड़ी है हंसने वाली, वह कोई साधारण स्त्री नहीं है। उसका भी अपना संकल्प है, अपना 'विल' है। उसकी भी अपनी सामर्थ्य है, उसकी भी अपनी श्रद्धा है। उसका भी अपना होना है। उसकी उस श्रद्धा में, वह जो कथा है, वह कथा तो काव्य है कि कृष्ण उसकी साड़ी को बढ़ाये चले जाते हैं। लेकिन मतलब सिर्फ इतना है कि जिसके पास अपना संकल्प है, उसे परमात्मा का सारा संकल्प तत्काल उपलब्ध हो जाता है। तो अगर परमात्मा के हाथ उसको मिल जाते हैं, तो कोई आश्चर्य नहीं।

मैंने कहा, और मैं फिर से कहता हूँ कि द्रौपदी नग्न की गयी, लेकिन हुई नहीं। नग्न करना बहुत आसान है, उसका हो जाना और बहुत बात है। बीच में अज्ञात विधि आ गयी, बीच में अज्ञात कारण आ गये। दुर्योधन ने जो चाहा, वह हुआ नहीं। कर्म का अधिकार था, फल का अधिकार नहीं था। यह

द्रौपदी बहुत अनूठी है।

पूरा युद्ध हो गया है। भीष्म पड़े हैं शैय्या पर--बाणों की शैय्या पर। और कृष्ण कहते हैं पाण्डवों को कि पूछ लो धर्म का राज़। और द्रौपदी हँसती है। उसकी हँसी पूरे महाभारत पर छायी है। वह हँसती है कि इनसे पूछते हैं, धर्म का रहस्य! जब मैं नग्न की जा रही थी, तब ये सिर झुकाये बैठे थे। उसका व्यंग बहुत गहरा है। वह इसलिए बहुत असाधारण है। काश! हिन्दुस्तान की स्त्रियों ने सीता को आदर्श न बनाकर द्रौपदी को आदर्श बनाया होता, तो हिन्दुस्तान की स्त्री की शान ही और होती।

लेकिन नहीं, द्रौपदी खो गयी। उसका कोई पता नहीं। खो गयी। एक तो पाँच पतियों की पत्नी है, इसलिए मन को पीड़ा होती है। लेकिन एक पति की पत्नी होना कितना मुश्किल है, इसका पता नहीं है। जो पाँच पतियों को निभा सकी है, वह साधारण स्त्री नहीं है। असाधारण है, 'सुपर ह्यूमन' है। सीता भी अतिमानवीय है, लेकिन सामान्य अर्थों में। द्रौपदी भी अति मानवीय हैं, लेकिन 'सुपर ह्यूमन' के अर्थों में। पूरे भारत के इतिहास में द्रौपदी को सिर्फ एक आदमी ने प्रशंसा दी है, और एक ऐसे आदमी ने जो बिलकुल अनपेक्षित है। पूरे भारत के इतिहास में डॉक्टर राम मनोहर लोहिया को छोड़कर किसी आदमी ने द्रौपदी को सम्मान नहीं दिया है। यह हैरानी की बात है। मेरा तो लोहिया से प्रेम इस बात से हो गया कि पाँच हजार साल के इतिहास में एक आदमी तो हुआ, जो द्रौपदी को सीता के ऊपर रखने को तैयार है।

मैंने कहा कि आदमी करता है कर्म, फल की अति आकांक्षा से, तो कर्म भी नहीं हो पाता और फल की अति आकांक्षा से दुराशा और निराशा ही हाथ लगती है। कृष्ण ने यह बहुत बहुमूल्य सूत्र कहा है। इसे हृदय के बहुत कोने में सम्हाल कर रख लेने जैसा है।

करें कर्म, वह हाथ में है, अभी है, यहीं है। फल को छोड़ें। फल को छोड़ने का साहस दिखलायें। कर्म को करने का संकल्प, फल को छोड़ने का साहस। फिर कर्म निश्चित ही फल ले आता है, लेकिन आप उस फल को मत लायें। वह तो कर्म के पीछे छाया की तरह चला आता है। और जिसने फल छोड़ा भरोसे से, उसके छोड़ने में ही, उसके भरोसे में ही जगत् की सारी ऊर्जा सहयोगी हो जाती है। जैसे ही माँग करते हैं कि ऐसा हो, वैसे ही हम जगत्-ऊर्जा के विपरीत खड़े हो जाते हैं, वह शत्रु हो जाता है। जैसे ही हम कहते हैं, जो तेरी मर्जी; जो हमें करना था, वह हमने कर लिया, अब तेरी मर्जी पूरी हो;

तो हम जगत्-ऊर्जा के प्रति मैत्री से भर जाते हैं। जगत् और हमारे बीच, जीवन-ऊर्जा और हमारे बीच, परमात्मा और हमारे बीच एक 'हार्मनी', एक संगीत फलित हो जाता है। जैसे ही हमने कहा कि नहीं, किया मैंने, तो जो फल चाहता हूँ, वह भी हो--वैसे ही हम जगत् के विपरीत खड़े हो गये हैं। और जगत् के विपरीत खड़े होकर सिवाय निराशा के, असफलता के कभी कुछ हाथ नहीं लगता है। इसलिए कर्म-योगी के लिए कर्म ही अधिकार है। फल ? फल परमात्मा का प्रसाद है।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।४८।।

हे धनंजय, आसक्ति को त्याग कर, सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धिवाला होकर, योग में स्थित हुआ कर्मों को कर। यह समत्वभाव ही योग नाम से कहा जाता है।

भगवान् श्री : समता ही योग है--'इक्विलिब्रियम', संतुलन, संगीत--दो के बीच चुनाव नहीं, दो के बीच सम-भाव। विरोधों के बीच चुनाव नहीं, अविरोध। दो अतियों के बीच, दो 'पोलेरिटीज' के बीच, दो ध्रुवों के बीच, पसन्द-नापसन्द नहीं, राग-द्वेष नहीं, साक्षी भाव। समता का अर्थ ठीक से समझ लेना जरूरी है क्योंकि कृष्ण कहते हैं, वही योग है।

समत्व, कठिन है बहुत। चुनाव सदा आसान है। मन कहता है, एक को चुन लो और जिसे चुनते हो, उससे विपरीत को छोड़ दो। कृष्ण कहते हैं, चुनो ही मत। दोनों समान हैं, ऐसा जानो। अगर दोनों समान हैं तो चुनेंगे कैसे? चुनाव तभी तक हो सकता है, जब कुछ असमान हो। एक हो श्रेष्ठ, एक हो अश्रेष्ठ; एक में दिखती हो सिद्धि, एक में दिखती हो असिद्धि; एक में दिखता हो शुभ, एक में दिखता हो अशुभ। कहीं न कहीं कोई तुलना का उपाय हो, 'कम्पेरिजन' हो, तभी चुनाव है। अगर दोनों ही समान हैं, तो चुनाव कहाँ है!

चौराहे पर खड़े हैं, अगर सभी रास्ते समान हैं, तो जाना कहाँ? जायेंगे कैसे? चुनेंगे कैसे? खड़े हो जायेंगे। लेकिन अगर एक रास्ता ठीक है और एक रास्ता गलत, तो जायेंगे। गति होगी। जहाँ भी असमान दिखा कि चित्त तत्काल यात्रा पर निकल जाता है--'एट द व्हेरी मोमेंट'। यहां पता चला कि वह

ठीक और चित्त गया। पता चला कि वह गलत और चित्त लौटा। पता लगा प्रीतिकर, पता लगा अप्रीतिकर; पता लगा श्रेयस, पता लगा अश्रेयस--जहां पता लगा मन को, कि मन गया। पता लगना ही मन के लिए तत्काल रुपांतरण हो जाता है। समता उसे उपलब्ध होती है, जो बीच में खड़ा हो जाता है।

कभी रस्सी पर चलते हुए नट को देखा है? नट चुन सकता है, किसी भी ओर गिर सकता है। गिर जाय झंझट के बाहर हो जाय। लेकिन दोनों गिराव के बीच में सम्हलता है। अगर वह झुकता भी दिखायी पड़ता है आपको, तो सिर्फ अपने को सम्हालने के लिए--झुकने के लिए नहीं। आप अगर सम्हले भी दिखते हैं, तो सिर्फ झुकने के लिए। आप अगर एक क्षण चौरस्ते पर खड़े भी होते हैं, तो चुनने के लिए, कि कौन से रास्ते जाऊँ! अगर एक क्षण विचार भी करते हैं, तो चुनाव के लिए, कि क्या ठीक है। क्या करूँ, क्या न करूँ ? क्या अच्छा है, क्या बुरा है ? किससे सफलता मिलेगी, किससे असफलता मिलेगी ? क्या होगा लाभ, क्या होगी हानि ? अगर चिन्तन भी करते हैं कभी, तो चुनाव के लिए।

नट को देखा है रस्सी पर। झुकता भी दिखता है, लेकिन झुकने के लिए नहीं। जब वह बायें झुकता है, तब आपने कभी ख्याल किया है कि बायें वह तभी झुकता है, जब दायें गिरने का डर पैदा होता है। दायें तब झुकता है, जब बायें गिरने का डर पैदा होता है। वह दायें गिरने के डर को, बायें झुककर "बैलेंस" करता है। बायें और दायें के बीच, "राइट" और "लेफ्ट" के बीच, वह पूरे वक्त अपने को सम कर रहा है।

निश्चित ही यह समता जड़ नहीं है, जैसा कि पत्थर पड़ा हो। जीवन में भी समता जड़ नहीं है, जैसा पत्थर पड़ा हो। **जीवन की समता भी नट जैसी समता ही है। प्रतिपल जीवित है, सचेतन है, गतिमान है।**

दो तरह की समता हो सकती है। एक आदमी सोया पड़ा है, गहरी सुषुप्ति में। वह भी समता को उपलब्ध है। क्योंकि वहां भी कोई चुनाव नहीं है। लेकिन सुषुप्ति योग नहीं है। एक आदमी शराब पीकर रास्ते पर पड़ा है, उसे भी सिद्धि और असिद्धि में कोई फर्क नहीं है। लेकिन शराब पी लेना समता नहीं है, न योग है; यद्यपि कई लोग शराब पीकर भी योग में होने की भूल में पड़ते है। और गाँजा पीने वाले योगी भी हैं। चरस पीने वाले योगी भी हैं। और आज ही हैं ऐसा नहीं है, अति प्राचीन हैं। और अभी तो उनका

प्रभाव पश्चिम में बहुत बढ़ता जाता है। कई तो बस्तियाँ बसी हैं अमेरिका में जहाँ लोग चरस पी रहे हैं—मैस्कलीन, लीसर्जिक एसिड, मारिजुआना, सब चल रहा है। वे भी इस ख्याल में हैं कि जब नशे में धुत् होते हैं, तो समता आ जाती है, क्योंकि चुनाव नहीं रहता।

कृष्ण, अर्जुन को ऐसी समता को नहीं कह रहे हैं कि तू बेहोश हो जा! बेहोशी में भी चुनाव नहीं रहता, क्योंकि चुनाव करने वाला ही नहीं रहता। लेकिन जब चुनाव करने वाला ही न रहा, तो चुनाव के न रहने का क्या प्रयोजन है, क्या अर्थ है? नहीं, असली जीवन्त समता तो तब है, जब चुनाव करनेवाला है। चाहे तो चुनाव कर सकता है। और चाहे तो नहीं करता है। और जब चाहते हुए चुनाव नहीं करता कोई, जानते हुए, जब दो विरोधों से अपने को बचा लेता है, बीच में खड़ा हो जाता है, तो योग को उपलब्ध होता है, समाधि को उपलब्ध होता है।

सुषुप्ति और समाधि में बड़ी समानता है। चाहें तो हम ऐसी परिभाषा कर सकते हैं कि **सुषुप्ति मूर्छित समाधि है**। और ऐसी भी कि **समाधि, जाग्रत-सुषुप्ति है**। सुषुप्ति में आदमी प्रकृति की समता को उपलब्ध हो जाता है, समाधि में व्यक्ति परमात्मा की समता को उपलब्ध होता है। इसलिए दुनिया में बेहोशी का जो इतना आकर्षण है, उसका मौलिक कारण धर्म है। शराब का जो इतना आकर्षण है, उसका मौलिक कारण धार्मिक इच्छा है।

आप कहेंगे, क्या मैं यह कह रहा हूँ कि धार्मिक आदमी को शराब पीनी चाहिए? नहीं, मैं यही कह रहा हूँ कि धार्मिक आदमी को शराब नहीं पीनी चाहिए, क्योंकि शराब धर्म का 'सब्स्टिट्यूट' बन सकता है, नशा धर्म का परिपूरक बन सकता है। क्योंकि वहाँ भी एक तरह की समता, जड़–समता उपलब्ध होती है।

कृष्ण जिस समता की बात कर रहे हैं, वह **सचेतन–समता** की बात है। उस युद्ध के क्षण में तो बहुत सचेतन होना पड़ेगा। युद्ध के क्षण में तो बेहोश नहीं हुआ जा सकता, मारिजुआना और एल एस डी नहीं लिया जा सकता। न चरस पी जा सकती। युद्ध के क्षण में तो पूरा जागना होगा।

कभी आपने ख्याल किया हो, न किया हो! जितने खतरे का क्षण होता है, आप उतने ही जागे हुए होते हैं।

यहाँ हम बैठे हैं। अगर यहाँ जमीन पर एक फीट चौड़ी और सौ फीट लम्बी लकड़ी की पट्टी बिछा दूं और आपसे उस पर चलने को कहूँ, तो कोई गिरेगा उस पटटी पर से? कोई भी नहीं गिरेगा। बच्चे भी निकल जायेंगे,

बूढ़े भी निकल जायेंगे, बीमार भी निकल जायेंगे, कोई नहीं गिरेगा। लेकिन उस पट्टी को इस मकान की छत पर और दूसरे मकान की छत पर रख दें। वही पट्टी है, एक फीट चौड़ी है। ज्यादा चौड़ी नहीं हो गयी, कम चौड़ी नहीं हो गयी, उतनी ही लम्बी है। फिर हमसे कहा जाय, चलें इस पर। तब कितने लोग चलने को राजी होंगे इस पर?

गणित और विज्ञान के हिसाब से कुछ भी फर्क नहीं पड़ा है। पट्टी वही है, आप भी वही हैं। खतरा क्या है? डर क्या है? और जब आप नीचे निकल गये थे चलकर और नहीं गिरे थे, तो अभी गिर जायेंगे, इसकी संभावना क्या है? नहीं, लेकिन आप कहेंगे, अब नहीं चल सकते। क्यों? क्योंकि जमीन पर चलते वक्त जागने की कोई भी जरूरत न थी, सोये-सोये भी चल सकते थे। अब इस पर जागकर चलना पड़ेगा, खतरा नीचे खड़ा है। इतना जागकर चलने का भरोसा नहीं कि सौ फीट तक जागे रह सकेंगे। एक-दो फीट चलेंगे, होश खो जायेगा। कोई फिल्मी गाना बीच में आ जायेगा, कुछ और हो जायेगा। जमीन पर गिर जायेंगे। नीचे कोई कुत्ता ही भौंक देगा, तो सब समता समाप्त हो जायेगी। तो आप कहेंगे, नहीं, अब नहीं चल सकते। अब क्यों नहीं चल सकते हैं? अब एक नयी जरूरत है कि खतरे में जागरण चाहिए।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि युद्ध का इतना आकर्षण भी खतरे का आकर्षण है। इसलिए कभी आपने ख्याल किया है, जब दुनिया में युद्ध चलता है, तो लोगों के चेहरे की रौनक बढ़ जाती है, घटती नहीं। और जो आदमी कभी आठ बजे नहीं उठा था, वह पाँच बजे उठकर रेडियो खोल लेता है। पाँच बजे से पूछता है, अखबार कहाँ है? जिन्दगी में एक पुलक आ जाती है! बात क्या है? युद्ध के क्षण में इतनी पुलक? युद्ध का खतरा, हमारी नींद को थोड़ा कम करता है। हम थोड़े जागते हैं। जागने का अपना रस है। इसीलिए दस-पन्द्रह साल में सोई हुई मनुष्यता के लिए एक युद्ध पैदा करना पड़ता है, क्योंकि और कोई रास्ता नहीं, और किसी तरह जागने का उपाय नहीं। और जब युद्ध पैदा हो जाता है, तो रौनक छा जाती है। जिन्दगी में रस, पुलक और गति आ जाती है, युद्ध के इस क्षण में।

कृष्ण बेहोशी की बात तो कह ही नहीं सकते हैं। वह वर्जित है, उसका कोई सवाल ही नहीं, उठता है। फिर कृष्ण जिस समता की बात कर रहे हैं, जिस योग की, वह क्या है? वह है दो के बीच, द्वन्द्व के बीच निर्द्वन्द्व, अचुनाव, 'च्वाइसलेस' हो जाना। कैसे होगा यह? अगर आपने द्वन्द्व के बीच निर्द्वन्द्व होना भी चुना, तो वह भी चुनाव है। यह समझ लें, यह थोड़ा कठिन पड़ेगा।

अगर आपने दो द्वन्द्व के बीच, निर्द्वन्द्व होने को चुना, तो 'दैट टू इज ए च्वाइस', वह भी एक चुनाव है। निर्द्वन्द्व आप नहीं हो सकते। अब आप नये द्वन्द्व में जुड़ गये हैं। अब यह द्वन्द्व है, अब यह 'कान्फ्लिक्ट' है। अगर आप इसका चुनाव करते हैं कि निर्द्वन्द्व रहेंगे हम, हम द्वन्द्व में नहीं पड़ते, तो यह चुनाव हो गया। अब जरा सी और बारीक तथा नाजुक बात हो गयी। लेकिन निर्द्वन्द्व को कोई चुन ही नहीं सकता। **निर्द्वन्द्वता अचुनाव में खिलती है।** वह आपका चुनाव नहीं है। अचुनाव में निर्द्वन्द्वता का फूल खिलता है, उसे आप चुन नहीं सकते। तो आपको द्वन्द्व और निर्द्वन्द्व में चुनाव नहीं करना है।

गीता के इस सूत्र को पढ़ कर अनेक लोग मेरे पास आकर कहते हैं कि हम कैसे समतावान हों? यानी मतलब कि हम समता को कैसे चुनें। कृष्ण तो कहते हैं, समता ही योग है। तो हम समता को कैसे पा लें? वे समता को चुनने की तैयारी दिखला रहे हैं। कृष्ण कहते हैं, चुना कि समता खोयी। फिर तुमने द्वन्द्व बनाया। असमता और समता का द्वन्द्व बना लिया। असमता छोड़नी है, समता चुननी है। इससे क्या फर्क पड़ता है कि तुम द्वन्द्व का 'पेयर' (जोड़) कैसा बनाते हो? बादशाह और गुलाम का बनाते हो, कि बेगम और बादशाह का बनाते हो। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। आप द्वन्द्व बनाये बिना रह नहीं सकते। **और जो द्वन्द्व बनाता है, वह समता को उपलब्ध नहीं होता।** फिर कैसे, क्या है रास्ता?

रास्ता एक ही है कि **द्वन्द्व के प्रति जागें; कुछ करें मत।** 'जस्ट बी अवेयर'। जानें कि एक रास्ता यह है और एक रास्ता यह और यह मैं, तीन हैं यहाँ। यह रही सफलता, यह रही विफलता और यह रहा मैं। यह तीसरा 'मैं' जो हूँ, इसके प्रति जागें। और जैसे ही इस तीसरे के प्रति जागेंगे, वैसे ही यह 'थर्ड फोर्स', यह तीसरा तत्त्व नजर में आयेगा, कि न तो मैं सफलता हूँ, न मैं विफलता हूँ। विफलता भी मुझ पर आती है, सफलता भी मुझ पर आती है। सफलता भी चली जाती है, विफलता भी चली जाती है। सुबह होती है, सूरज खिलता है, रोशनी फैलती है। मैं रोशनी में खड़ा हो जाता हूँ। फिर साँझ होती, अंधेरा आता है, फिर अँधेरा मेरे ऊपर छा जाता है, लेकिन न तो मैं प्रकाश हूँ, न मैं अँधेरा हूँ। न तो मैं दिन हूँ, न मैं रात हूँ, क्योंकि दिन भी मुझ पर आकर निकल जाता है और फिर भी मैं होता हूँ। रात भी मुझ पर होकर निकल जाती है और फिर भी मैं होता हूँ। निश्चित ही रात और दिन से मैं अलग हूँ, पृथक हूँ, अन्य हूँ--**यह बोध कि मैं भिन्न हूँ द्वन्द्व से, द्वन्द्व को तत्काल गिरा देता**

है और निर्द्वन्द्वता का फूल खिल जाता है। वही समता का फूल योग है।

और जो समता को उपलब्ध हो जाता है, उसे कुछ भी और उपलब्ध करने को बाकी नहीं बचता है। इसीलिए कृष्ण कहते हैं, अर्जुन, तू समत्व को उपलब्ध हो। छोड़ फिक्र सिद्धि की, असिद्धि की; सफलता, असफलता की; हिंसा-अहिंसा की; धर्म की, अधर्म की। क्या होगा, क्या नहीं होगा, 'ईदर आर' छोड़--तू अपने में खड़ा हो। तू जाग, तू जागकर द्वन्द्व को देख। तू समता में प्रवेश कर। क्योंकि समता ही योग है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

इस समत्व रूप बुद्धियोग से सकाम कर्म अत्यंत तुच्छ है, इसलिए हे धनंजय, समत्वबुद्धि-योग का आश्रय ग्रहण कर, क्योंकि फल की वासनावाले अत्यंत दीन हैं।

भगवान् श्रीः कृष्ण कहते हैं, धनंजय, बुद्धि योग को खोजो। मैंने जो अभी कहा कि द्वन्द्व को छोड़ो, स्वयं को खोजो--उसी को कृष्ण कहते हैं, बुद्धि को खोजो। क्योंकि स्वयं का जो पहला परिचय है, वह बुद्धि है। अपने से परिचित होने चलेंगे, तो द्वार पर ही जिससे परिचय होगा, वही बुद्धि है। और स्वयं का द्वार बुद्धि है। और स्वयं के इस द्वार में से प्रवेश किये बिना, कोई भी न आत्मवान होता है, न ज्ञानवान होता है। यह बुद्धि का द्वार है। लेकिन बुद्धि के द्वार पर हमारी दृष्टि नहीं जाती। क्योंकि बुद्धि से हमेशा हम कर्मों के चुनाव का काम करते रहे हैं।

बुद्धि के दो उपयोग हो सकते हैं। सब दरवाजों के दो उपयोग होते हैं। प्रत्येक दरवाजे के दो उपयोग हैं। होंगे ही। सब दरवाजे इसीलिए बनाये जाते हैं कि उनसे बाहर भी जाया जा सकता है, उनसे भीतर भी जाया जा सकता है। दरवाजे का मतलब ही यह होता है कि उससे बाहर भी जाया जा सकता है, उससे भीतर भी आया जा सकता है। जिससे बाहर जा सकते हैं, उससे ही भीतर भी आ सकते हैं। लेकिन हमने अब तक बुद्धि के दरवाजे का एक ही उपयोग किया है--बाहर जाने का। हमने अब तक उसके 'एग्जिट' का ही उपयोग किया है, 'एंट्रेन्स' का उपयोग नहीं। जिस दिन आदमी बुद्धि का

'एंट्रेन्स' की तरह, प्रवेश की तरह उपयोग करता है, उसी दिन जीवन में क्रांति फलित हो जाती है।

अर्जुन भी बुद्धि का उपयोग कर रहा है। ऐसा नहीं कि नहीं कर रहा है। कहना चाहिए, जरूरत से ज्यादा ही कर रहा है। इतना ज्यादा कर रहा है कि कृष्ण को भी उसने दिक्कत में डाला हुआ है। बुद्धि का भलीभाँति उपयोग कर रहा है। वह निर्बुद्धि नहीं है, बुद्धि काफी है। यह 'काफी बुद्धि' ही उसे कठिनाई में डाले हुए है।

निर्बुद्धि वहाँ और भी बहुत हैं। वे परेशान नहीं हैं, लेकिन अर्जुन बुद्धि का एक ही उपयोग जानता है। वह बुद्धि का उपयोग कर रहा है—यह करूँ तो ठीक, कि वह करूँ तो ठीक? ऐसा होगा तो क्या होगा, वैसा होगा तो क्या होगा? बुद्धि का उपयोग कर रहा है, बहिर्जगत् के सम्बन्ध में, वह बुद्धि का उपयोग कर रहा है फलों के लिए, वह बुद्धि का उपयोग कर रहा है इसमें कि कल क्या होगा, परसों क्या होगा? संतति कैसी होगी? कुल नाश होगा, क्या होगा? क्या नहीं होगा? वह बुद्धि का सारा उपयोग कर रहा है। सिर्फ एक उपयोग नहीं कर रहा है—भीतर प्रवेश के लिए।

कृष्ण उससे कहते हैं, धनंजय, कर्म के संम्बन्ध में ही सोचते रहना बड़ी निकृष्ट उपयोगिता है बुद्धि की। उसके संबंध में भी सोचो, जो कर्म के संबंध में सोच रहा है। कर्म को ही देखते रहना, बाहर ही देखते रहना, बुद्धि का अत्यल्प उपयोग है—निकृष्टतम! अगर इसे ऐसा कहें कि व्यवहार के लिए ही बुद्धि का उपयोग करना कि क्या करना, क्या नहीं करना, यह बुद्धि की क्षमता का न्यूनतम उपयोग है। और इसलिए हमारी बुद्धि पूरी काम में नहीं आती क्योंकि उतनी बुद्धि की जरूरत नहीं। जहाँ सुई से काम चल जाता है, वहाँ तलवार की जरूरत ही नहीं पड़ती।

अगर वैज्ञानिक से पूछें, तो वह कहता है कि श्रेष्ठतम मनुष्य भी अपनी बुद्धि के पंद्रह प्रतिशत से ज्यादा का उपयोग नहीं करता है। कुल पंद्रह प्रतिशत, वह भी श्रेष्ठतम। श्रेष्ठतम यानी आइंस्टीन या कोई बर्ट्रेन्ड रसेल। तो जो दुकान पर बैठा है, वह आदमी कितनी बुद्धि का उपयोग करता है? जो दफ्तर में काम करता है, वह आदमी कितनी करता है? जो स्कूल में पढ़ा रहा है, वह आदमी कितनी कर रहा है, दो-ढाई 'परसेंट'। इससे ज्यादा नहीं। दो-ढाई परसेंट' (प्रतिशत) भी पूरी जिंदगी नहीं करता, उपयोग करता है केवल अट्ठारह साल की उम्र तक। अट्ठारह साल की उम्र के बाद तो मुश्किल से ही कोई उपयोग करता है। क्योंकि बुद्धि सीख लेती है सब कामचलाऊ बातें,

फिर उन्हीं से काम चलाती रहती है जिन्दगी भर।

अट्ठारह साल के बाद का मुश्किल से ऐसा आदमी मिलेगा, जिसकी बुद्धि बढ़ती है। आप कहेंगे गलत। सत्तर साल के आदमी के पास, अट्ठारह साल के आदमी से ज्यादा अनुभव होता है। अनुभव ज्यादा होता है, बुद्धि ज्यादा नहीं होती। अट्ठारह साल की ही बुद्धि होती है। उसी बुद्धि से वह, उसी चम्मच से वह अनुभव को इकट्ठा करता चला जाता है। चम्मच वही रहती है। अनुभव का ढेर बढ़ जाता है उसके पास, बाकी चम्मच जो उसकी बुद्धि की होती है, वह अट्ठारह साल वाली होती है।

दूसरे महायुद्ध में तो बड़ी कठिनाई हुई। कठिनाई यह हुई कि दूसरे महायुद्ध में अमेरिका को जाँच-पड़ताल करनी पड़ी कि हम जिन सैनिकों को भेजते हैं, उनका 'आई क्यू' कितना है, उनका बुद्धि-माप कितना है? भेज रहे हैं, तो उनकी बुद्धि की जाँच भी तो होनी चाहिए? शरीर की जाँच तो हो जाती है कि यह आदमी ताकतवर है, लड़ सकता है, सब ठीक। लेकिन अब युद्ध जो है, शरीर से नहीं चल रहा है, 'मस्कुलर' नहीं रह गया है। अब युद्ध बहुत कुछ मानसिक हो गया है। पर अब बुद्धि कितनी है? तो बड़ी हैरानी हुई।

युद्ध के मैदान के लिये जो सैनिक भर्ती हो रहे थे, उनकी जाँच करने से पता चला कि उन सभी सैनिकों की जो औसत बुद्धि की उम्र है, वह तेरह साल से ज़्यादा की नहीं है। तेरह साल? उसमें युनिवर्सिटी के ग्रेजुएट हैं, उसमें मैट्रिक से कम पढ़ा–लिखा तो कोई भी नहीं है। कहना चाहिए, पढ़े–लिखे से ज्यादा पढ़ा-लिखा वर्ग है। उसकी बुद्धि की उम्र उतनी है, जितनी तेरह साल के बच्चे की होनी चाहिए। बड़ी चौकाने वाली, बड़ी घबड़ाने वाली बात है। लेकिन कारण है, और कारण यह है कि बाहर की दुनिया में जरूरत ही नहीं है बुद्धि की इतनी।

जब कृष्ण कहते हैं, तो बहुत मनोवैज्ञानिक सत्य कह रहे हैं कि निकृष्ट-तम उपयोग है, कर्म के लिए बुद्धि का। निकृष्टतम! बुद्धि के योग्य ही नहीं है वह। वह बिना बुद्धि के भी हो सकता है। मशीनें आदमी से अच्छा काम कर लेती हैं। सच तो यह है कि आदमी रोज मशीनों से हारता जा रहा है, और धीरे-धीरे आदमियों को कारखानों और दफ्तरों के बाहर होना पड़ेगा। मशीनें उनकी जगह लेती चली जायेंगी। क्योंकि आदमी उतना अच्छा काम नहीं कर पाता, जितना अच्छा काम मशीनें कर लेती हैं। उसका कारण सिर्फ एक है कि मशीनों के पास बिलकुल बुद्धि नहीं है। भूल-चूक के लिए भी बुद्धि होनी

जरूरी है । गलती करने के लिए भी बुद्धि होनी जरूरी है । मशीनें गलती करती ही नहीं । करती ही चली जाती हैं, जो कर रही हैं ।

हम भी सत्रह अठारह साल की उम्र होते-होते तक 'मेकेनिकल' हो जाते हैं । दिमाग सीख जाता है कि क्या करना है, फिर उसको करता चला जाता है । एक और बुद्धि का महत् उपयोग है—बुद्धियोग—बुद्धिमानी नहीं, 'इंटलेक्चुअलिज़्म' नहीं, सिर्फ बौद्धिकता नहीं । बुद्धियोग का क्या मतलब है कृष्ण का? बुद्धियोग का मतलब है कि जिस दिन हम बुद्धि के द्वार का, बाहर के जगत् के लिए नहीं, बल्कि स्वयं को जानने की यात्रा के लिए प्रयोग करते हैं, तब सौ प्रतिशत बुद्धि की जरूरत पड़ती है । तब स्वयं में प्रवेश के लिए समस्त बुद्धिमत्ता पुकारी जाती है ।

अगर 'बायोलॉजिस्ट' से पूछें, तो वह कहता है कि आदमी का आधा मस्तिष्क बिलकुल बेकाम पड़ा है । आधी खोपड़ी कोई भी काम नहीं कर रही है। बड़ी चिन्ता की बात है जीव-शास्त्री के लिए कि बात क्या है? इसकी शरीर में जरूरत क्या है ? यह जो सिर का बड़ा हिस्सा बेकार पड़ा है, कुछ करता ही नहीं, उसको काट भी दें तो चल सकता है । आदमी में कोई फर्क नहीं पड़ेगा । पर यह है क्यों ? क्योंकि प्रकृति कुछ भी व्यर्थ तो बनाती नहीं । या तो यह हो सकता है कि पहले कभी आदमी पूरे मस्तिष्क का उपयोग करता रहा हो, फिर भूल-चूक हो गयी कुछ और आधी खोपड़ी के द्वार-दरवाजे बंद हो गये हैं । या यह हो सकता है कि आगे संभावना है कि आदमी के मस्तिष्क में और बहुत कुछ 'पोटेंशियल' है, बीज रूप है, वह सक्रिय हो और काम करे । दोनों ही बातें थोड़ी दूर तक सच हैं ।

ऐसे लोग भी पृथ्वी पर हो चुके हैं, बुद्ध या कृष्ण या कपिल या कणाद, जिन्होंने पूरी-पूरी बुद्धि का उपयोग किया था । ऐसे लोग भविष्य में भी होंगे, जो इसका पूरा-पूरा उपयोग करेंगे । लेकिन बाहर के काम के लिए थोड़ी सी ही बुद्धि से काम चल जाता है । वह न्यूनतम उपयोग है, निकृष्टतम ।

अर्जुन को कृष्ण कहते हैं, धनंजय, तू बुद्धि-योग को उपलब्ध हो । तू बुद्धि का भीतर जाने के लिए, स्वयं को जानने के लिए उपयोग कर—उसे जानने के लिए जो सब चुनावों के बीच में चुनने वाला है, जो सब करने के बीच में करनेवाला है, जो सब घटनाओं के बीच में साक्षी है, जो सब घटनाओं के पीछे खड़ा है, दूर देखने वाला दृष्टा है, उसे तू खोज । और जैसे ही उसे तू खोज लेगा, तू समता को उपलब्ध हो जायेगा । फिर ये बाहर की चिंताएँ कि ऐसा ठीक, वैसा गलत

तुझे पीड़ित और परेशान नहीं करेंगी । तब तू निश्चित भाव से जी सकता है । वह निश्चितता तेरी समता से आयेगी, तेरी बेहोशी से नहीं ।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।।५०।।

समत्वबुद्धि -- युक्त पुरुष पुण्य-पाप दोनों को इस लोक में ही त्याग देता है अर्थात् उनसे लिपायमान नहीं होता । इससे समत्वबुद्धियोग के लिए ही चेष्टा कर । यह समत्वबुद्धिरूप योग ही कर्मों में कुशलता है अर्थात् कर्म बन्धन से छूटने का उपाय है ।

भगवान् श्री : समत्वबुद्धि को उपलब्ध व्यक्ति पाप-पुण्य से निवृत्त हो जाता है । समत्वबुद्धि को उपलब्ध व्यक्ति कर्म की कुशलता को उपलब्ध हो जाता है और **कर्म की कुशलता ही**, कृष्ण कहते हैं, **योग है** ।

इसमें बहुत सी बातें हैं । एक तो है समत्वबुद्धि । इसके पहले सूत्र में मैंने कहा कि बुद्धि का प्रयोग प्रवेश के लिए, बहिर्यात्रा के लिए नहीं, अंतर्यात्रा के लिए है । जिस दिन कोई व्यक्ति अपने विचार का उपयोग अन्तर्यात्रा के लिए करता है, उस दिन योग में प्रविष्ट हो जाता है। जिस दिन भीतर पहुँचता है, स्वयं में जब खड़ा हो जाता है–'स्टैंडिंग इन वनसेल्फ'–जब अपने में ही खड़ा हो जाता है, जब स्वयं में और स्वयं के खड़े होने में रत्ती भर का फासला भी नहीं होता, जब हम वहीं होते हैं, जहाँ हमारा सब कुछ होना है, जब हम वही होते हैं जो हम हैं, जब हम ठीक अपने प्राणों की ज्योति के साथ एक होकर खड़े हो जाते हैं—इसे कृष्ण समत्वबुद्धि कहते हैं ।

मैंने पीछे आपसे कहा कि सांख्य परम ज्ञान है—"द सुप्रीम डॉक्ट्रिन" । उससे बड़ा कोई सिद्धान्त नहीं है । ह्यूबर्ट बेनॉयट ने एक किताब लिखी है । किताब का नाम है: 'द सुप्रीम डॉक्ट्रिन' । लेकिन उसे सांख्य का कोई पता नहीं है । उसने वह किताब झेन पर लिखी है । लेकिन जो भी लिखा है, वह सांख्य है । परम सिद्धान्त क्या है ? सांख्य को परम ज्ञान, कृष्ण कहते हैं । क्या बात है ? ज्ञान में श्रेष्ठतम ज्ञान सांख्य क्यों है?

दो तरह के ज्ञान होते हैं । एक ज्ञान, जिससे हम ज्ञेय को जानते हैं । और एक दूसरा ज्ञान, जिससे हम ज्ञाता को जानते हैं । एक ज्ञान, जिससे हम

'ऑब्जेक्ट' को जानते हैं—वस्तु को, विषय को। और एक ज्ञान, जिससे हम 'सब्जेक्ट' को जानते हैं, जानने वाले को ही जानते हैं। ज्ञान दो हैं। पहला ज्ञान साइंस बन जाता है–'ऑब्जेक्टिव नॉलेज'। दूसरा ज्ञान सांख्य बन जाता है—'सब्जेक्टिव नॉलेज'।

मैं आप को जान रहा हूँ, यह भी एक जानना है। लेकिन मैं आपको कितना ही जानूं, तब भी पूरा न जान पाऊंगा। मैं आपको कितना ही जानूं, मेरा जानना 'राउण्ड अबाउट' होगा। मैं आपके आस-पास घूमकर ही जानूंगा। मैं आपके भीतर नहीं जा सकता। अगर मैं आपके शरीर की चीर-फाड़ भी कर लूं, तो भी बाहर ही जानूंगा, तो भी भीतर नहीं जा सकता। अगर मैं आपके मस्तिष्क के भी टुकड़े-टुकड़े कर दूं, तो भी बाहर ही रहूँगा, भीतर नहीं जा सकता। उन अर्थों में मैं आपके भीतर नहीं जा सकता, जिन अर्थों में आप अपने भीतर हैं। यह 'इम्पॉसिबल' (असंभव) है।

आपके पैर में दर्द हो रहा है। मैं समझ सकता हूँ, क्या हो रहा है। मेरे पैर में भी दर्द हुआ है। मेरे सिर में दर्द हुआ है, तो भी मैं अनुमान कर सकता हूँ कि आपको क्या हो रहा होगा। अगर कुछ भी नहीं हुआ है, तो भी आपके चेहरे को देखकर समझ सकता हूँ कि कोई पीड़ा हो रही है। लेकिन सच में आपको क्या हो रहा है इसे मैं बाहर से जान सकता हूँ। वह 'इनफरेंस', अनुमान है। मैं अनुमान कर रहा हूँ कि ऐसा कुछ होगा। लेकिन जैसे आप अपने दर्द को जान रहे हैं, वैसा जानने का मेरे लिये, बाहर से कोई भी उपाय नहीं है।

लाइबनीज हुआ है एक बहुत बड़ा गणितज्ञ और विचारक। उसने आदमी के लिए एक शब्द दिया है 'मोनॅड'। वह कहता है, हर आदमी एक बन्द मकान है, जिसमें कोई द्वार-दरवाजा-खिड़की भी नहीं है। 'मोनॅड' का मतलब है: 'विन्डोलेस सेल'–एक बन्द मकान, जिसमें कोई खिड़की भी नहीं कि जिससे भीतर घुस जाओ और भीतर जाकर जान लो कि क्या हो रहा है? आप प्रेम से भरे हैं। क्या करें कि हम आपके प्रेम को जान लें बाहर से। कोई उपाय नहीं है। निरउपाय स्थिति है। हाँ, लेकिन कुछ-कुछ जान सकते हैं। पर वह जानना यह ठीक नहीं है कहना, कि ज्ञान है।

बर्ट्रेंड रसेल ने दो शब्द बनाये हैं—एक को वे कहते हैं: 'नॉलेज', एक को वे कहते हैं: 'एक्वेंटेंस'। एक को वे कहते हैं: 'ज्ञान' और एक को वे कहते हैं: 'परिचय'। तो दूसरे का हम ज्यादा से ज्यादा परिचय कर सकते हैं, 'एक्वेंटेंस' कर सकते हैं। दूसरे का ज्ञान नहीं हो सकता। और दूसरे का जो

परिचय है, उसमें इतने 'मीडियम' हैं बीच में कि वह ठीक है, इसका कभी भरोसा नहीं हो सकता है।

आप वहाँ बैठे हैं, बीस गज की दूरी पर। मैंने आपके चेहरे को कभी नहीं देखा, हालाँकि अभी भी देख रहा हूँ। लेकिन आपके चेहरे को नहीं देख रहा हूँ। आपके पास से ये प्रकाश की किरणें, आपके चेहरे को लेकर, मेरी आँखों के भीतर जा रही हैं। फिर आँखों के भीतर ये प्रकाश की किरणें, मेरी आँखों के तंतुओं को हिला रही हैं। फिर वे आँखों के तंतु मेरे भीतर जाकर मस्तिष्क के किसी रासायनिक द्रव्य में 'कुछ' कर रहे हैं, जिसको अभी वैज्ञानिक भी नहीं कहते कि क्या कर रहे हैं। वे कहते हैं 'समथिंग'। अभी पक्का नहीं हुआ है कि वे वहां क्या कर रहे हैं? उनके कुछ करने से मुझे आप दिखाई पड़ रहे हैं। पता नहीं, आप वहाँ हैं भी या नहीं, क्योंकि सपने में भी मुझे आप दिखाई पड़ते हैं और नहीं होते हैं। सुबह पाता हूँ, नहीं हैं। अभी आप दिखाई पड़ रहे है, पता नहीं, हैं या नहीं। इसे कौन कह सकता है कि जो मैं देख रहा हूँ, वह सपना नहीं हैं!

एक पीलिया का मरीज है, उसे सब चीजें पीली दिखायी पड़ती हैं। 'कलर ब्लाइन्ड' लोग होते हैं। दस में से एक व्यक्ति 'कलर ब्लाइन्ड' होता है। यहाँ भी कई लोग होंगे। उनको खुद भी पता नहीं होता। कुछ लोग रंगों के प्रति अंधे होते हैं। कोई किसी रंग के प्रति अंधा होता है। पता नहीं चलता, बहुत मुश्किल है पता चलना। क्योंकि अभाव का पता चलना बहुत मुश्किल है।

बर्नार्ड शॉ हरे रंग के प्रति अंधा था, यह साठ साल की उम्र में पता चला। साठ साल तक उसे पता ही नहीं था कि हरा रंग उसे दिखायी ही नहीं पड़ता था। उसे हरा और पीला एक सा दिखायी पड़ता था। कभी यह मौका नहीं आया कि जाँच-पड़ताल हो जाय। वह तो साठवीं वर्षगांठ पर किसी ने एक सूट उसे भेंट भेजा। हरे रंग का सूट था। टाई भेजना भूल गया होगा। तो बर्नार्ड शॉ ने सोचा, टाई भी खरीद लायें, तो सूट पूरा हो जाय। तो बाजार में टाई खरीदने गया, पीले रंग की टाई खरीद लाया। सेक्रेटरी ने रास्ते में कहा, आप यह क्या कह रहे हैं, यह बड़ी अजीब मालूम पड़ेगी!)पीले रंग की टाई और हरे रंग के कोट पर? बर्नार्ड शॉ ने कहा, पीला और हरा! क्या दोनों बिलकुल 'मैच' नहीं करते? क्या दोनों बिलकुल एक जैसे नहीं हैं? सेक्रेटरी ने कहा, आप मजाक तो नहीं कर रहे है? बर्नार्ड शॉ आदमी मजाक करने वाला था। उसने कहा, नहीं, मजाक नहीं कर रहा, तुम क्या कह रहे हो? ये दोनों अलग हैं? मैं तो समझता था कि ये दोनों एक ही रंग हैं। तब जब

आँख की जाँच करवाई गई, तो पता चला कि आँख को हरा रंग दिखाई ही नहीं पड़ता। वे 'ब्लाइंड' हैं,हरे रंग के प्रति।

जो मुझे दिखाई पड़ रहा है, वह सच में है? वैसा ही है, जैसा 'दिखाई पड़ रहा है, यह कुछ पक्का नहीं है। जो हमें दिखाई पड़ रहा है, वह सिर्फ 'एजम्पशन' (अनुमान) है। हम मानकर चल सकते हैं कि यह भी है। एक बड़ी दूरबीन ले आयें, एक बड़ी खुर्दबीन ले आयें और आपके चेहरे पर लगाकर देखें। ऐसी मजाक मैंने सुनी है। एक वैज्ञानिक ने एक बहुत सुन्दर स्त्री से विवाह किया। और जाकर अपने वैज्ञानिक मित्रों से कहा, बहुत सुन्दर स्त्री से प्रेम किया है। उन वैज्ञानिकों ने कहा, ठीक से देख भी लिया है? खुर्दबीन लगायी थी कि नहीं? क्योंकि भरोसा क्या है? उसने कहा, क्या पागलपन की बात करते हो? कहीं स्त्री के सौन्दर्य को खुर्दबीन लगाकर देखा जाता है! उन्होंने कहा, तुम ले आना अपनी सुन्दर स्त्री को।

मित्रों के पास वह अपनी पत्नी को, सिर्फ मजाक में मिलाने ले आया। उन सबने एक बड़ी खुर्दबीन रखी, सुन्दर स्त्री को दूसरी तरफ बिठाया। उसके पति को बुलाया कि जरा यहाँ से आकर देखो। देखा तो चीख निकल गयी उसके मुंह से। क्योंकि उस तरफ तो खाई-खड्डे के सिवाय कुछ दिखाई नहीं पड़ता था। स्त्री के चेहरे पर इतने खाई-खड्डे! सिर्फ खुर्दबीन चाहिए; सभी आदमी के चेहरे पर हैं। बड़ी खुर्दबीन से जब देखो तो खाई-पहाड़, खाई-पहाड़—ऐसा दिखाई पड़ता है।

सत्य क्या है? जो खुर्दबीन से दिखता है वह? या जो खाली आँख से दिखता है वह? अगर सत्य ही होगा, तो खुर्दबीन वाला ज्यादा सत्य होना चाहिए, खाली आँख की बजाय। उसको वैज्ञानिक बड़े इन्तजाम से बनाते हैं। जो हमें दिखायी पड़ रहा है, वह सिर्फ 'एक्वेटेंस' है, कामचलाऊ, 'यूटिलिटेरियन' है, उपयोगी है, सत्य नहीं है। इसलिए दूसरे से हम सिर्फ परिचित ही हो सकते हैं। उस परिचय को कभी ज्ञान मत समझ लेना।

इसीलिए कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, परम ज्ञान है सांख्य। सांख्य का मतलब है, दूसरे को नहीं, उसे जानो जो तुम हो, क्योंकि उसे ही तुम भीतर से, 'इंटिमेटली', आंतरिकता से गहरे में जान सकते हो। उसको बाहर से जानने की जरूरत नहीं है। उसमें तुम उतर सकते हो, डूब सकते हो, एक हो सकते हो।

हमारे मुल्क में तो हम ज्ञान कहते ही सिर्फ आत्मज्ञान को हैं। बाकी सब परिचय है। 'साइंस' ज्ञान नहीं है इन अर्थों में। साइंस का जो शब्द है अंग्रेजी

में, उसका मतलब होता है ज्ञान, उसका मतलब भी 'टु नो' है। लेकिन हम अपने मुल्क में 'साइंस' को ज्ञान नहीं कहते, हम उसे विज्ञान कहते हैं; हम कहते हैं, 'विशेष ज्ञान'। ज्ञान नहीं, 'स्पेसिफिक नॉलेज'। ज्ञान नहीं, क्योंकि ज्ञान तो है स्वयं को जानना। साइंस विशेष ज्ञान है, जिससे जिन्दगी में काम चलता है। साइंस 'एक्वेन्टेन्स' है, परिचय है। इसलिए हमारा 'विज्ञान' शब्द अंग्रेजी के साइंस शब्द से ज्यादा मौजू है, वह ठीक है। क्योंकि वह एक विशेषता जोड़कर यह कह देता है कि ज्ञान नहीं है, 'एक तरह का ज्ञान' है—'ए टाइप ऑफ नॉलेज'। लेकिन सच में ज्ञान तो एक ही है। और वह है: उसे जानना, जो सबको जानता है।

यह भी स्मरण रखना जरूरी है कि जब मैं उसे नहीं जानता, जो सबको जानता है, तो मैं सबको कैसे जान सकता हूँ! जब मैं अपने को ही नहीं जानता कि मैं कौन हूँ, तो मैं आपको कैसे जान सकता हूँ कि आप कौन हैं! अभी जब मैंने इस निकटतम सत्य को नहीं जाना, 'द मोस्ट इंटिमेट', 'द नियरेस्ट' को—जिससे इंच भर का भी फासला नहीं है, उस तक को भी नहीं जान पाया, तो आप तो मुझसे बहुत दूर हैं, अनंत दूरी पर हैं, और अनंत दूरी पर कितने ही पास बैठ जायें, घुटने से घुटना लगा लें, छाती से छाती लगा ले, दूरी अनंत है—'इनफिनिट इज द डिस्टेंस'। कितने ही करीब बैठ जायें, दूरी अनंत है। क्योंकि भीतर प्रवेश नहीं हो सकता, फासला बहुत है, उसे पूरा नहीं किया जा सकता।

सभी प्रेमियों की तकलीफ ही यही है, प्रेम की पीड़ा ही यही है कि जिसको पास लेना चाहते हैं, उसे पास नहीं ले पा रहे हैं। और पास ले लेते हैं, तो मन देखता है कि पास तो आ गये, लेकिन फिर भी पास कहाँ आ पाये? दूरी बनी ही रहती है। वे प्रेमी भी दुखी होते हैं, जो दूर रह जाते हैं और उनसे भी ज्यादा दुखी वे होते हैं, जो निकट आ जाते हैं। क्योंकि दूर रहने में कम से कम भरोसा तो रहता है कि अगर पास आ जाते, तो आनंद आ जाता। पास आकर पता चलता है कि 'डिसइलूजनमेंट' (भ्रम-भंग) हुआ। पास आ ही नहीं सकते। तीस साल पति पत्नी पास रहें, तो भी क्या पास आ पाते हैं? विवाह के दिन से दूरी रोज बड़ी होती है, कम नहीं होती। क्योंकि जैसे-जैसे समझ आती है, वैसे-वैसे पता चलता है कि पास आने का कोई उपाय नहीं है।

हर आदमी एक 'मोनॅड' है—अपने में बन्द, अपने में एकदम बन्द, 'आइलैण्ड' है। कहीं से खुलता नहीं। जितने निकट रहते हैं, उतना पता चलता है कि परिचित नहीं हैं, अपरिचित हैं बिलकुल। कोई पहचान नहीं हो पायी। मरते दम तक भी पहचान नहीं हो पाती। असल में जो आदमी दूसरे की पहचान को

निकला है—अपने को बिना जाने—वह गलत है। गलत यात्रा कर रहा है, जो कभी सफल नहीं हो सकती।

सांख्य स्वयं को जानने वाला ज्ञान है। इसलिए उसे मैं कहता हूँ—'द सुप्रीम साइंस,' परम ज्ञान। और कृष्ण कहते हैं, धनंजय, अगर तू इस परम ज्ञान को उपलब्ध होता है, तो योग सध गया समझ, फिर और कुछ साधने को नहीं बचता। **उसे सब सध गया, जिसने स्वयं को जाना। उसे सब मिल गया, जिसने स्वयं को पाया।** सब खुल गया, जिसने स्वयं को खोला। तो अर्जुन से कृष्ण कहते हैं, सब मिल जाता है। सब योग सांख्य-बुद्धि को उपलब्ध व्यक्ति को उपलब्ध है। और तब योग कर्म की कुशलता बन जाता है।

योग का अर्थ कर्म की कुशलता कभी हुआ है? क्यों? क्यों कहते हैं कि योग कर्म की कुशलता है? क्योंकि हम योगियों को सिर्फ कर्म से भागते देखते हैं। कृष्ण बड़ी उल्टी बात कहते हैं। असल में उल्टी बात कहने के लिए कृष्ण जैसी हिम्मत ही चाहिए, नहीं तो उल्टी बात कहना बहुत मुश्किल है। लोग सीधी-सीधी बातें कहते रहते हैं। सीधी बातें अक्सर गलत होती हैं। क्योंकि सीधी बातें सभी लोग मानते हैं। और सभी लोग सत्य को नहीं मानते हैं। सभी लोग जो 'कनव्हीनिएंट' है, सुविधापूर्ण है, उसको मानते हैं। कृष्ण बड़ी उल्टी बात कह रहे हैं। वे कह रहे हैं कि योगी कर्म की कुशलता को उपलब्ध हो जाता है। कर्म की कुशलता ही योग है।

हम तो योगी को भागते देखते हैं। एक ही कुशलता देखते हैं, भागने की। एक ही 'एफिसिएन्सि' है योगी के पास, कि वह एकदम रफू हो जाता है कहीं से। रफू शब्द तो आप समझते हैं? कम्बल में या शाल में छेद हो जाता है न, उसको रफू करनेवाला ठीक कर देता है। छेद एकदम रफू हो जाता है। रफू का मतलब कि पता ही नहीं चलता कि कहाँ है। ऐसे ही संन्यासी रफू होना जानता है। बस एक ही कुशलता है—रफू होने की। और तो कोई कुशलता संन्यासी में, योगी में दिखायी नहीं पड़ती।

कृष्ण क्या कहते हैं? वे किस योगी की बात कह रहे हैं? निश्चित ही वे जिस योगी की बात कह रहे हैं, वह पैदा नहीं हो पाया है। जिस योगी की वे बात कर रहे हैं, वह योगी चूक गया है। असल में योगी तो ऐसे पैदा हुए हैं, जो अर्जुन को जानते हैं, कृष्ण को नहीं। अर्जुन भी रफू होने के लिए बड़ी उत्सुकता दिखला रहा है। वह भी कहता है, रफू करो भगवन्! रास्ता दे दो, मैं निकल जाऊँ। फिर लौटकर न देखूँ, बड़े उपद्रव में उलझाया हुआ है। यह सब क्या

देख रहा हूँ? मुझे बाहर निकलने का रास्ता बता दो। कृष्ण उसे बाहर ले जाने का उपाय नहीं, और भी अपने भीतर ले जाने का उपाय बता रहे हैं।

अर्जुन इस युद्ध के भी बाहर जाना चाहता है। कृष्ण उसे इस युद्ध के भीतर तो खड़ा रखे ही हुए हैं, और उससे उल्टा कह रहे हैं, जरा और भीतर चल, युद्ध से भी भीतर, अपने भीतर चल। और अगर तू अपने भीतर चला जाता है, तो भागने की कोई जरूरत नहीं। फिर तू जो भी करेगा, वही कुशल हो जायेगा—तू जो भी करेगा, वही।

जो व्यक्ति भीतर शांत है, और जिसके भीतर का दिया जल गया है, और जिसके भीतर प्रकाश है, और जिसके भीतर मृत्यु न रही, और जिसके भीतर अहंकार न रहा, और जिसके भीतर असंतुलन न रहा, और जिसके भीतर सब समता हो गयी, और जिसके भीतर सब ठहर गया—सब मौन, सब शांत हो गया, उस व्यक्ति के कर्म में कुशलता न होगी, तो किसकी होगी?

अशांत है हृदय, तो कर्म कैसे कुशल हो सकता है? कंपता है, डोलता है मन, तो हाथ भी डोलता है। कँपता है, डोलता है चित्त, तो कर्म भी डोलता है। सब विकृत हो जाता है। क्योंकि भीतर ही सब डोल रहा है। भीतर ही कुछ थिर नहीं है। शराबी के पैर जैसे कँपते हैं, ऐसे ही भीतर सब कँप रहा है। बाहर भी सब कँप जाता है। कँप जाता है, तो व्यक्ति अकुशल हो जाता है। भीतर जब सब शांत है, सब मौन है, तो अकुशलता आयेगी कहाँ से? **अकुशलता आती है, भीतर की अशांति से।** भीतर के तनाव, 'टेंशन', एंग्जाइटी, भीतर की चिंता, भीतर के विषाद, भीतर गड़े हैं जो काँटे दुःख के, पीड़ा के, चिंता के, वे सब कँपा डालते हैं। उनसे जो आह उठती है, वह बाहर सब अकुशल कर जाती है। लेकिन भीतर अगर वीणा बजने लगे: मौन की, समता की, तो अकुशलता के आने का उपाय कहाँ है? बाहर सब कुशल हो जाता है। फिर तब ऐसा आदमी जो भी करे, वह माइडस जैसा हो जाता है।

कहानी है यूनान में कि माइडस जो भी छूता, वह सोने का हो जाता। वह तो बड़ी मुश्किल में पड़ा इससे, क्योंकि सोना पास में न हो तो ही ठीक। थोड़ा हो तो भी चल जाय। माइडस जैसा हो जाय, तो मुश्किल हो गयी। क्योंकि सोना न तो खाया जा सकता, न पिया जा सकता। पानी छुये माइडस, तो सोना हो जाय; खाना छुये तो सोना हो जाय। पत्नी उससे दूर भागे, बच्चे उससे दूर बचें। (सभी सोने वाले की पत्नियाँ और बच्चे दूर भागते हैं।) छूए तो सोना हो जाय। माइडस पत्नी को गले लगा ले प्रेम से तो वह मरी, सोना हो गयी। तो

जहाँ भी सोने का संस्पर्श है, वहाँ प्रेम मर जाता है। सब सोना हो जाता है सब पैसा हो जाता है । माइडस तो बड़ी मुश्किल में पड़ा । क्योंकि वह जो छूता था, जीवित भी हो तो मुर्दा सोना हो जाता था ।

मैं यह कह रहा हूँ कि कृष्ण एक और तरह की कीमया, एक और तरह की 'अल्केमी' बता रहे हैं। वे यह बता रहे हैं कि भीतर अगर समता है और भीतर अगर सांख्य है, और भीतर अगर सब मौन और शांत हो गया है, तो हाथ जो भी छूते हैं, वह कुशल हो जाता है । जो भी करते हैं, वह कुशल हो जाता है। फिर जो होता है, वह सभी सफल है । सफल ही नहीं, कहना चाहिए, सुफल भी है ।

सुफल होना और बात है। सफल तो चोर भी होता है। लेकिन सुफल नहीं होता । सफल का इतना ही मतलब है कि काम करते हैं, फल लग जाता है । लेकिन कड़वा लगता है, जहरीला भी लगता है । सुफल का मतलब है, अमृत का फल लग जाय । भीतर जब सब ठीक है, तो बाहर सब ठीक हो जाता है । इसे कृष्ण ने योग की कुशलता कहा है ।

पृथ्वी तब तक दीनता, दुख और पीड़ा से भरी रहेगी, जब तक कि अयोगी कुशलता की कोशिश कर रहे हैं । कर्म से योगी पलायन की कोशिश कर रहे हैं । जब तक योगी भागेंगे और अयोगी जमकर खड़े रहेंगे, तब तक यह दुनिया एक उपद्रव बनी रहे तो आश्चर्य नहीं । इससे उलटा हो तो ज्यादा स्वागत योग्य है । **अयोगी भागें तो भाग जायँ, योगी टिकें और खड़े हों और जीवन के युद्ध को स्वीकार करें ।** जीवन का युद्ध भीतर है, वह है कष्ट । द्वन्द्व भीतर है, वह है कष्ट । वहाँ निर्द्वन्दता, वहाँ मौन, वहाँ शांति हो, तो बाहर सब कुशल हो जाता है ।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्य नामयम् ।।५१।।

क्योंकि बुद्धियोगयुक्त ज्ञानीजन कर्मों से उत्पन्न होनेवाले फल को त्यागकर, जन्मरूप बन्धन से छूटे हुए निर्दोष, अर्थात् अमृतमय परमपद को प्राप्त होते हैं।

भगवान श्रीः जो भी ऐसे ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है, जो भी ऐसी निष्ठा

को, ऐसी श्रद्धा को, ऐसे अनुभव को उपलब्ध हो जाता है--जहाँ द्वन्द्व नहीं है, वैसा व्यक्ति जन्म के, मृत्यु के घेरे से मुक्त होकर, परमपद को पा लेता है । इसे थोड़ा-सा खोलना पड़ेगा ।

एक तो जन्म-मृत्यु से मुक्त हो जाता है, इसका ऐसा मतलब नहीं है कि अभी जन्म-मृत्यु में है । है तो अभी भी नहीं । ऐसा प्रतीत होता है कि है । जन्म-मृत्यु से मुक्त हो जाता है, इसका मतलब यह नहीं कि पहले बँधा था और अब मुक्त हो जाता है । नहीं, ऐसा बँधा तो पहले भी नहीं था, लेकिन मानता था कि बँधा हूँ । और अब जानता है कि नहीं बँधा हूँ । पहला ख्याल तो यह ले लेना जरूरी है । जो घटना घटती है जन्म और मृत्यु से मुक्ति की, वह वास्तविक नहीं है, क्योंकि जन्म और मृत्यु ही वास्तविक नहीं है । जो घटना घटती है, वह एक असत्य का, एक अज्ञान का निराकरण है ।

जैसे कि मैं एक गणित करता हूँ, दो और दो पाँच जोड़ देता हूँ । मैं कितना ही दो और दो पाँच जोड़ूं, दो और दो पाँच होते नहीं हैं । जब मैं दो और दो पाँच जोड़ रहा हूँ, तब भी दो और दो चार ही हैं । मेरे जोड़ने से दो और दो पाँच नहीं हो जाते हैं । एक कमरे में कुर्सियाँ रखी हैं—दो और दो, और मैं जोड़ कर बाहर आता हूँ और कहता हूँ कि पाँच हैं, तो भी कमरे में पाँच कुर्सियाँ नहीं हो जातीं । कमरे में कुर्सियाँ चार ही होती हैं । भूल जोड़ की है । जोड़ की भूल, अस्तित्व की भूल नहीं बनती ।

तो सांख्य का कहना है कि जो गलती है, वह अस्तित्व में नहीं है । जो गलती है, वह हमारी समझ में है। वह जोड़ की भूल जैसा है। ऐसा नहीं है कि जन्म और मृत्यु है । ऐसा हमें दिखायी पड़ रहा है कि है । हमारे दिखायी पड़ने से हो नहीं जाती । फिर कल मुझे पता चलता है कि नहीं, दो और दो पाँच नहीं होते, दो और दो चार होते हैं । मैं फिर लौटकर कमरे में जाता हूँ और मैं देखता हूँ कि ठीक, दो और दो चार ही हैं । और मैं बाहर आकर कहता हूँ कि जब गणित ठीक आ जाता है किसी को, तो कुर्सियाँ पाँच नहीं रह जातीं, चार हो जाती हैं । ऐसा ही—ठीक ऐसा ही समझना है । जो भूल है, वह ज्ञान की भूल है—'एरर ऑफ नोइंग' । वह भूल 'एक्जिस्टेंशियल' नहीं है, अस्तित्वगत नहीं है ।

क्योंकि अस्तित्वगत अगर भूल हो, तो सिर्फ जानने से नहीं मिट सकती, अगर कुर्सियाँ पाँच ही हो गयी हों, तो फिर मैं दो और दो चार कर लूं, इससे

चार नहीं हो जातीं। कुर्सियाँ दो और दो चार होने से, चार तभी हो सकती हैं, जब वे चार रही ही हों, उस समय भी, जब मैं पाँच गिनता था। वह मेरे गिनने की भूल थी। जीवन और मरण आत्मा का होता नहीं, प्रतीत होता है। 'एपीयरेंस', दिखायी पड़ता है। गणित की भूल है। मैंने पीछे आपसे बात कही, इसे थोड़ा और आगे ले जाना जरूरी है।

हम दूसरे को मरते देख लेते हैं, तो सोचते हैं, मैं भी मरूँगा। यह 'इमीटेटिव मिसअण्डरस्टैंडिंग' (नकल से उत्पन्न गैरसमझ) है। और चूंकि जिन्दगी में हम सब 'इमिटेशन' से सीखते हैं, नकल से सीखते हैं, तो मृत्यु भी नकल से सीख लेते हैं। यह नकल है, नकल चोरी है बिलकुल। जैसे कि बच्चे स्कूल में दूसरे की कॉपी में से उतार कर, उत्तर लिख लेते हैं, उनको हम चोर कहते हैं। हम सब चोर हैं जिन्दगी में, अधिकतम अनुभव हमारे चोरी के हैं। मृत्यु जैसा बड़ा अनुभव भी चुराया हुआ है। किसी को मरते देखा, कहा कि अब हम भी मरेंगे। आपने अपने को कभी मरते देखा है? किसी को मरते देखा है और सोचा है कि हम भी मरेंगे। नकल कर ली।

रोज कोई न कोई मर रहा है — एक मरा, दो मरे, तीन मरे, चार मरे, पाँच मरे, फिर पता चला कि सबको मरना ही पड़ता है। पहले जो भी हुए, सब मरे, तो पक्का हो जाता है अनुमान, गणित तय हो जाता है। नहीं, मरना ही है। मृत्यु है। यह अनुभूति सत्य नहीं है। यह 'एक्सपीरिएंस ट्रु' नहीं है कि मृत्यु है, यह अनुमानजन्य ('एनफरेन्शियल') है। यह हमने चारों तरफ देख लिया कि ऐसा होता है। इसलिए मृत्यु है।

आपने अपना जन्म देखा? बड़े मजे कि बात है, आप जन्मे और आपको अपने जन्म का भी पता नहीं? छोड़ें, मृत्यु अभी आनेवाली है भविष्य में, इसलिए भविष्य का हम कैसे पक्का करें। लेकिन जन्म तो कम से कम अतीत में है। आप जन्मे हैं, आपको जन्म का भी पता नहीं है, कि आप जन्मे हैं? बड़ी मजेदार बात है। मृत्यु का न पता हो, समझ में आता है। लेकिन मृत्यु अभी भविष्य है, पता नहीं, होगी कि नहीं होगी। लेकिन जन्म तो हो चुका है और आपको जन्म का भी कोई पता नहीं और **आप ही जन्मे और आपको ही अपने जन्म का पता नहीं!**

असल में आपको अपना ही पता नहीं, जन्म वगैरह का पता कैसे हो? इतनी बड़ी घटना जन्म की घट गयी और आपको पता नहीं है। असल में आपको जीवन की किसी गहरी घटना का कोई भी पता नहीं है। आपको तो जो सिखा

दिया गया है, वही पता है। स्कूल में गणित सिखा दिया गया है, माँ-बाप ने भाषा सिखा दी, फिर मंदिर ने धर्म की किताब सिखा दी, तो किसी ने हिन्दू-मुसलमान होना सिखा दिया, फिर किसी ने कुछ और सिखा दिया, वह सब सीखकर खड़े हो गये हैं। मगर आपको जिन्दगी का कुछ भी गहरा अनुभव नहीं, जन्म तक का अनुभव नहीं है।

तो ध्यान रहे, जब जन्म से गुजर कर आप को जन्म का अनुभव नहीं मिला तो पक्का समझना, मृत्यु से भी गुजर जाओ तो आपको अनुभव नहीं मिलेगा, क्योंकि वह भी इतनी ही गहरी घटना है, जितनी जन्म है। दरवाजा वही है, जन्म में आप आये थे, मृत्यु से आप लौटेंगे—'द सेम डोर'। दरवाजा अलग नहीं है। दरवाजा वही है। इधर आये थे, उधर जायेंगे और दरवाजे को देखने की आपको आदत नहीं है। आँख बन्द करके निकल जाते हैं। अभी निकल आये हैं आँख बन्द करके, अब फिर आँख बन्द करके निकल जायेंगे।

तो जन्म भी, लोग हमसे कहते हैं कि आपका हुआ। वह भी कथन है। मृत्यु भी हम देखते हैं कि होती है, वह अनुमान है। जन्म किसी ने बताया, मृत्यु का अनुमान हमने किया है। लेकिन न हमें जन्म का कोई पता है, न हमें मृत्यु का कोई पता है। तो जन्म और मृत्यु होते हैं, ये बड़े 'इमीटेटिव कनक्लूजन्स' हैं। ये नकल से ली गयी निष्पत्तियाँ हैं।

सांख्य कहता है कि काश! तुम जन्म लो एक बार जानते हुए। काश! तुम एक बार मरो जानते हुए, फिर तुम दुबारा न कहोगे कि जन्म और मृत्यु होती है। और अभी मृत्यु को तो देर है, और जन्म हो चुका, लेकिन जीवित अभी आप हैं। सांख्य कहता है, अगर तुम जीवित रहो जानते हुए, तो भी छुटकारा हो जायेगा। छुटकारे का मतलब इतना है कि वह जो भ्रांति हो रही है, विचार से जो निष्कर्ष लिया जा रहा है, गलत सिद्ध होता है। तो जो सांख्य-बुद्धि को उपलब्ध हो जाते हैं, कृष्ण कहते हैं, अर्जुन, वे जन्म-मृत्यु से मुक्त हो जाते हैं। ठीक होगा कहना कि **वे जन्म और मृत्यु की गलती से मुक्त हो जाते हैं।** परम-पद को उपलब्ध होते हैं। वह परम-पद कहां है?

जब भी हम परम-पद की बात सोचते हैं, तो कहीं ऊपर आकाश में ख्याल आता है। क्योंकि पद जो हैं हमारे, वे जमीन से जितने ऊँचे होते जाते हैं, उतने बड़े होते जाते हैं।

डॉ. पट्टाभि सितारमैया ने एक संस्मरण लिखा है। लिखा है कि मद्रास में एक अंग्रेज मजिस्ट्रेट था। वह अपनी अदालत में एक ही कुर्सी रखता था,

खुद के बैठने के लिए। बाकी कुर्सियाँ थीं, लेकिन वह बगल के कमरे में रखता था। नम्बर डाल रखे थे, क्योंकि वह कहता था कि आदमी देखकर कुर्सी देनी चाहिए। बिलकुल गरीब आदमी आ जाय, बहुत गरीब आ जाय, तो खड़े-खड़े चल जाय। नम्बर एक की, नम्बर दो की, फिर नम्बर तीन की, ऐसे सात नम्बर की कुर्सियाँ थीं।

एक दिन एक आदमी आया, पट्टाभि सितारमैया ने लिखा कि उस दिन बड़ी मुश्किल हो गयी। एक बड़ा धोखे से भरा आदमी आ गया। आदमी आया तो मजिस्ट्रेट ने देखा उसको, तो सोचा कि खड़े-खड़े चल जायेगा। सोचना पड़ता है न, कि कौन आदमी आया। आपको भी सोचना पड़ता है। कहाँ बिठायें, क्या करें, क्या न करें? आदमी देखकर जगह बनानी पड़ती है।

आदमी के लिए कोई जगह नहीं बनाता। जैसा दिखायी पड़ता है, उसके लिए जगह बनानी पड़ती है। पर जैसे ही वह पास आया और मजिस्ट्रेट ने आँख उठायी, तो देखा कि एक कीमती चश्मा लगाये हुए है। उसने कहा, नम्बर एक। चपरासी ने कहा, नम्बर एक? चपरासी भीतर भागा। वह बूढ़ा पास आकर खड़ा हुआ। जब उसने सिर ऊँचा किया, झुकी है कमर उसकी, तो देखा गले में सोने की चेन है। तब तक कुर्सी लिए चपरासी आता था। मजिस्ट्रेट ने कहा, रुक-रुक! नम्बर दो ला। तब तक उस बूढ़े ने कोट उठाकर घड़ी देखी। तब तक चपरासी नम्बर दो लाता था। मजिस्ट्रेट ने कहा, रुक-रुक! उस बूढ़े ने कहा, मैं बूढ़ा आदमी हूँ, जो आखिरी नम्बर हो, वही बुला लो। क्योंकि अभी बहुत बातें हैं। तुम्हें शायद पता नहीं। सरकार ने मुझे रायबहादुर की पदवी दी है। और तुम्हें शायद यह भी पता नहीं कि मैं यहाँ आया इसलिए हूँ कि कुछ लाख रूपया सरकार को दान करना चाहता हूँ। नम्बर 'अ' की कुर्सी या 'ब' की कुर्सी—जो हो बुला लें। बार–बार चपरासी को दिक्कत दे रहा हूँ। मैं बूढ़ा आदमी हूँ।

तो हमारे पद जो हैं, वे जमीन से ऊँचे उठते हैं। ऐसे ही ऊपर उठते जाते हैं सिंहासन। तो उसी सिंहासन के आखिरी छोर पर कहीं आकाश में परम-पद हमारे ख्याल में है। परम–पद जो है, वह कहीं ऊपर 'समव्हेयर अप' है। जिस परम-पद की कृष्ण बात कर रहे हैं, वह 'समव्हेअर इन (भीतर कहीं) है। ऊपर की बात नहीं है वह। वह कहीं भीतर है। उस जगह, जिसके और भीतर नहीं जाया जा सकता। उस जगह जो आंतरिकता का अंत है। वह जो 'इनरमोस्ट कोर', वह जो भीतरी से भीतरी जगह है, वह जो भीतरी से भीतरी मंदिर है चेतना का, वहीं परम-पद है। सांख्य को उपलब्ध व्यक्ति उस परम मंदिर में प्रविष्ट हो जाते हैं।

पन्द्रहवाँ प्रवचन

प्रथम गीता ज्ञान-यज्ञ, अहमदाबाद, प्रातः, दिनांक ६ दिसम्बर, १९७०

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च। ॥ ५२ ॥

और हे अर्जुन, जिस काल में तेरी बुद्धि मोहरूप दलदल को बिलकुल तर जाएगी, तब तू सुनने योग्य और सुने हुए के वैराग्य को प्राप्त होगा।

भगवान् श्रीः मोहरुपी कालिमा से जब बुद्धि जागेगी, तब वैराग्य फलित होता है। मनुष्य के आसपास कौन सा अंधकार है? एक तो वह अंधकार है, जो दीयों के जलाने से मिट जाता है। धर्म से उस अंधकार का कोई भी संबंध नहीं है। वह हो, तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता है। नहीं हो, तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता है। फिर धर्म किस अंधकार को मिटाने के लिए चेष्टा करता है? एक और भी अंधकार है, जो मनुष्य के शरीर को नहीं घेरता, वरन् मनुष्य की चेतना को घेर लेता है। एक और अंधकार है, जो मनुष्य की आत्मा के चारों तरफ घिर जाता है। उस अंधकार को कृष्ण कह रहे हैं 'मोहरूपी कालिमा'। तो अंधकार और मोह, इन दो शब्दों को थोड़ा गहरे में समझना उपयोगी है।

अंधकार का लक्षण क्या है? अंधकार का पहला लक्षण है कि जहाँ दिखायी नहीं पड़ता, जहाँ देखना खो जाता है, जहाँ देखना संभव नहीं हो पाता,

जहां आंखों पर पर्दा पड़ जाता है । दूसरा--जहां दिखायी न पड़ने से कोई मार्ग मालूम नहीं पड़ता कि कहां जायें, क्या करें । तीसरा--जहां दिखायी न पड़ने से प्रतिपल किसी भी चीज से टकरा जाने की संभावना हो जाती है ।

अंधकार हमारी दृष्टि का खो जाना है। मोह में भी ऐसा ही घटित होता है। इसलिए मोह को अंधकार कहने की सार्थकता है । मोह में जो हम करते हैं, मोह में जो हम होते हैं, मोह में जैसे हम चलते हैं, मोह में जो भी हमसे निकलता है, वह ठीक ऐसा ही है, जैसे अंधेरे में कोई टटोलता हो । नहीं कुछ पता होता कि क्या कर रहे हैं, नहीं कुछ पता होता कि क्या हो रहा है, नहीं कुछ पता होता कि कौन सा रास्ता है, कौन सा मार्ग है । आंखें नहीं होती हैं। **मोह अंधा है । और मोह का अंधापन आध्यात्मिक अंधापन है,** 'स्प्रिचुअल ब्लाइंडनेस' है ।

सुना था मैंने, एक आदमी के मकान में आग लग गयी । भीड़ इकट्ठी है । वह आदमी छाती पीटकर, चिल्लाकर रो रहा है । स्वभावतः उसके जीवन भर की सारी संपदा नष्ट हुई जा रही है । जिसे उसने जीवन समझा है, वही नष्ट हुआ जा रहा है । जिसके आधार पर वह खड़ा था; वह आधार गिरा जा रहा है । जिसके आधार पर उसके 'मैं' में शक्ति थी, बल था; जिसके आधार पर वह कुछ था, 'सम-बडी' था, वह सब बिखरा जा रहा है ।

जॉन सोलिज ने एक किताब लिखी है--'अरेस्ट्रोस' । उसमें कुछ कीमती वचन लिखे हैं । उसमें एक कीमती वचन है: 'नो-बडी वांट्स टु बी 'नो-बडी ।' ठीक-ठीक अनुवाद मुश्किल है । 'कोई भी नहीं चाहता कि वह न-कुछ हो ।' सभी चाहते हैं कि वे 'सम-बडी' हों, 'कुछ' हों ।

'सम-बडी-नेस' बिखरी जा रही है, उस आदमी की । वह 'कुछ' था, उस मकान के होने से । और जिनका भी कुछ होना किसी और चीज पर निर्भर है, किसी दिन ऐसा ही रुदन, ऐसी ही पीड़ा उन्हें घेर लेती है । क्योंकि वे सब जो बाहर की संपदा पर टिके हैं, वे किसी दिन बिखरते हैं, क्योंकि बाहर कुछ भी टिकनेवाला नहीं है । उसी के मकान में आग लग गयी हो ऐसा नहीं, सभी के बाहर के मकानों में आग लग जाती है । **असल में बाहर जो भी है, वह आग पर चढ़ा ही है ।**

वह छाती पीटता है, रोता है । स्वाभाविक है । फिर पड़ोस में कोई दौड़ा हुआ आता है और कहता है, व्यर्थ रो रहे हो तुम । तुम्हारे लड़के ने तो मकान बेंच दिया है । उसका बयाना भी हो गया है । क्या तुम्हें पता नहीं ? बस,

आंसू तिरोहित हो गये । उस आदमी का छाती पीटना बंद हो गया । जहां रो रहा था, वहाँ वह हँसने लगा, मुस्कराने लगा । सब एकदम बदल गया ।

अभी भी आग लगी है, मकान जल रहा है । वैसा ही, जैसा क्षण भर पहले जलता था । फर्क कहाँ पड़ गया ? मकान अब मेरा नहीं रहा, अपना नहीं रहा । मोह का जो जोड़ था मकान से, वह टूट गया । अभी भी मकान में आग है, लेकिन अब आँखों में आँसू नहीं हैं । आँखों में जो आँसू थे, वे क्या मकान जलने की वजह से थे ? वह मकान अब भी जल रहा है । आँखों में जो आँसू थे, वे 'मेरे' के जलने की वज़ह से थे । मेरा अब नहीं जल रहा है, तो आँखें साफ हो गयी हैं । अब आँसुओं की पर्त आँख पर नहीं है । अब आदमी को ठीक-ठीक दिखाई पड़ रहा है । अभी उसे कुछ भी दिखायी नहीं पड़ रहा था ।

उधर आग की लपटें थीं, इधर आँख में आँसू थे, तो सब धुंधला था, सब अंधेरा था । अब तक उसके हाथ-पैर कँपते थे, अब हाथ-पैर का कंपन चला गया । अब वह आदमी ठीक वैसा ही हो गया है, जैसे और लोग हैं और कह रहा है: ठीक, जो हो गया है, ठीक है ।

तभी उसका लड़का दौड़ा हुआ आता है । वह कहता है: बात तो हुई थी, लेकिन बयाना नहीं हो पाया है । बेचने की बात चली थी, लेकिन हो नहीं पाया। और अब इस जले हुए मकान को कौन खरीदने वाला है ! फिर आंसू वापस लौट आये, फिर छाती पीटना शुरू हो गया । मकान अब वैसा ही जल रहा है ! मकान को कुछ भी पता नहीं चला कि इस बीच सब बदल गया है । सब फिर बदल गया है । मोह फिर लौट आया । आँखें फिर अंधी हो गयीं । फिर 'मेरा' घर जलने लगा ।

इस जीवन में मोह ही जलता है, मोह ही चिंतित होता है, मोह ही तनाव से भरता है । मोह ही संताप को उपलब्ध होता है, मोह ही भटकाता है, मोह ही गिराता है । **मोह ही जीवन का दुःख है** । इसे कृष्ण मोह कह रहे हैं । बुद्ध ने इसे तृष्णा कहा है, तनहा कहा है । इसे कोई और नाम दें, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता ।

मोह के भीतरी रहस्य में एक गुण है, और वह यह कि जो मेरा नहीं है, वह मेरा मालूम होने लगता है । मोह की जो 'हिप्नोसिस' है, मोह का जो सम्मोहन है, वहाँ जो मेरा नहीं है, वह मेरा मालूम होने लगता है । और जो मेरा है, उसका कुछ पता ही नहीं चलता ।

मोह के अंधकार का जो गुण-धर्म है, वह यह है कि जो मेरा नहीं है, वह मेरा मालूम होता है। और जो मेरा है, वह मेरा नहीं मालूम होता है। एक 'रिवर्सन', एक विपर्यय हो जाता है। चीजें सब उल्टी हो जाती हैं। मकान 'मेरा' कैसे हो सकता है? मैं नहीं था, तब भी मकान था। मैं नहीं रहूँगा, तब भी मकान रहेगा। जमीन मेरी कैसे हो सकती है? मैं नहीं था, तब भी वह थी। मैं नहीं रहूँगा, तब भी वह होगी। और जमीन को बिलकुल पता नहीं है कि 'मेरी' है। और मेरा मोह एक सम्मोहन का जाल फैला लेता है। मेरा बेटा है, मेरी पत्नी है, मेरे पिता हैं, मेरा धर्म है, मेरा धर्मग्रन्थ है, मेरा मंदिर, मेरी मस्जिद है। 'मैं' के आसपास एक बड़ा जाल खड़ा हो जाता है। वह जो 'मैं' का फैलाव है, वही मोह का अंधकार है।

असल में 'मैं' जो है, उसे ठीक ऐसा समझें कि वह अंधेरे का दीया है। जैसे दीये से रोशनी गिरती है, ऐसे ही 'मैं' से अंधकार गिरता है। जैसे दीया जलता है, तो प्रकाश हो जाता है; ऐसे ही 'मैं' जलता है, तो अंधकार हो जाता है। जितना सघन 'मैं', उतनी 'डार्कनेस', उतना निबिड़ अंधकार चारों तरफ फैलता चला जाता है। जो आदमी 'मैं' में ही जीता है, वह अंधकार में जीता है। मोह संभव है अंधकार में ही।

तो कृष्ण कहते है : इस मोह की कालिमा से जो मुक्त हो जाता है, वैसा व्यक्ति वैराग्य को उपलब्ध होता है। लेकिन कृष्ण जिसे वैराग्य कहते हैं, हम आमतौर से उसे वैराग्य नहीं कहते हैं। इसलिए इस बात को भी ठीक से समझ लेना जरूरी है। हम वैराग्य राग की विपरीतता को कहते हैं। विपरीत राग को कहते हैं वैराग्य। मकान मेरा है, ऐसा जानना राग है, हमारी बुद्धि में। मकान मेरा नहीं है, ऐसा जानना वैराग्य है, हमारी बुद्धि में। लेकिन मेरा है या मेरा नहीं है, यह दोनों एक ही चीज के दो छोर हैं। कृष्ण इसे वैराग्य नहीं कहते। यह विपरीत राग है कहना कि नहीं, मेरा नहीं है। यह राग से मुक्ति नहीं है।

रामतीर्थ अमेरिका से वापस लौटे तो टेहरी गढ़वाल में मेहमान थे। उनकी पत्नी मिलने आयी। खिड़की से देखा पत्नी को आते हुए, तो खिड़की बन्द करके द्वार बन्द कर लिया। एक मित्र साथ ठहरे हुए थे, सरदार पूर्णसिंह। उन्होंने कहा, दरवाजा क्यों बन्द करते हैं? मैंने आपको कभी भी किसी भी स्त्री के लिए दरवाजा बन्द करते नहीं देखा! पूर्णसिंह जानते हैं, जो आ रही है उनकी पत्नी है—है या थी! रामतीर्थ ने कहा, वह मेरी कोई भी नहीं है।

पर पूर्णसिंह ने कहा, और भी जो स्त्रियाँ आती हैं, वे भी आपकी कोई नहीं हैं। लेकिन उन और 'कोई नहीं' स्त्रियों के लिए आपने कभी द्वार बन्द नहीं किया। नहीं, यह स्त्री जरूर आपकी कोई है। तभी विशेष आयोजन करते हैं, द्वार बन्द करते हैं आप।

रामतीर्थ ने कहा, वह मेरी पत्नी थी। लेकिन अब कोई मेरी पत्नी नहीं है। पूर्णसिंह ने कहा, अगर वह पत्नी नहीं है, तो उसके साथ वैसा ही व्यवहार करें, जैसा किसी भी स्त्री के साथ करते हैं। द्वार खोलें।

यह व्यवहार विशेष है, विपरीत राग का व्यवहार है। एक भ्रम था कि 'मेरी पत्नी' है। अब एक भ्रम है कि 'मेरी पत्नी नहीं' है। अगर पहला भ्रम गलत था, तो दूसरा भ्रम सही कैसे हो सकता है? वह पहले पर ही खड़ा है। वह पहले का ही 'एक्सटेंशन' है, वह उसी का ही विस्तार है।

पहला भ्रम तो हमारी समझ में आ जाता है। दूसरा भ्रम विरागी का भ्रम है—संयासी का, त्यागी का। वह हमारी समझ में जरा मुश्किल से आता है। लेकिन साफ है बात कि यह पत्नी विशेष स्त्री है, यह साधारण नहीं है। इस स्त्री के प्रति रामतीर्थ की विशेष दृष्टि है। किसी दिन रामतीर्थ ने इस स्त्री के लिए उठकर द्वार खोला होता, अब उठकर द्वार बन्द कर रहे हैं। लेकिन इस स्त्री के लिए उठते जरूर हैं। किसी दिन द्वार खोलने उठे होते कि अपनी पत्नी है, आज द्वार बन्द करने उठे हैं कि अपनी पत्नी नहीं है। लेकिन द्वार तक रामतीर्थ को उठना पड़ता है, यह वैराग्य नहीं है।

पूर्णसिंह ने कहा, अगर आप द्वार नहीं खोलते हैं, तो मैं नमस्कार करता हूँ। मेरे लिए आपका सब ब्रह्मज्ञान व्यर्थ हो गया। मैं जाता हूँ। यह कैसा ब्रह्मज्ञान है? क्योंकि किसी स्त्री से आपने नहीं कहा अब तक रुकने के लिए। सभी स्त्रियों में ब्रह्म दिखायी पड़ा, आज इस स्त्री से कौन सा कसूर हो गया कि ब्रह्म नहीं है।

रामतीर्थ को भी चुभी बात। ख्याल में पड़ी। द्वार तो खोल दिया, लेकिन विचारशील व्यक्ति थे। यह तो दिखायी पड़ गया कि वैराग्य फलित नहीं हुआ है। क्योंकि वैराग्य का अर्थ ही यह है कि जहाँ न राग रहा, न विराग रहा। मोह की निशा पूरी ही खो गयी हो। 'मेरा' खो गया हो, 'मेरा नहीं है', यह भी खो गया हो। जहाँ वैराग्य भी नहीं है, वहीं वैराग्य है। रामतीर्थ को भी दिखायी तो पड़ गया। समझ में तो आ गया। उसी दिन से उन्होंने गेरुए वस्त्र छोड़ दिये।

जानकर आपको हैरानी होगी कि रामतीर्थ ने जिस दिन जल-समाधि ली, उस दिन गैरिक वस्त्र नहीं पहने हुए थे। उस दिन उन्होंने साधारण वस्त्र पहन लिए थे। उनको भी यह साफ हो गया कि यह वैराग्य नहीं है।

वैराग्य का अर्थ है--जहाँ न राग रह गया, न विराग रह गया। न जहाँ किसी चीज का आकर्षण है, न विकर्षण है--न 'अट्रेक्सन' है, न 'रिपल्शन' है। जहाँ न किसी चीज के प्रति खिंचाव है, न विपरीत भागना है। न जहाँ किसी चीज का बुलावा है, न विरोध है। **जहाँ व्यक्ति थिर हुआ, सम हुआ। जहाँ पक्ष और विपक्ष एक से हो गये, वहाँ वैराग्य फलित होता है।**

लेकिन इसे वैराग्य क्यों कहते हैं? क्योंकि जहाँ विराग भी नहीं, वहाँ इसे वैराग्य क्यों कहते हैं? कोई उपाय नहीं है। शब्द की मजबूरी है, और कोई बात नहीं है। आदमी के पास सभी शब्द द्वन्द्वात्मक हैं 'डायलेक्टिकल' हैं। आदमी की भाषा में ऐसा शब्द नहीं है, जो **'नॉन-डायलेक्टिकल'** हो, द्वन्द्वात्मक न हो। मनुष्य ने जो भाषा बनायी है, वह मन से बनायी है। और मन द्वन्द्व है। इसलिए मनुष्य जो भी भाषा बनाता है, उसे विपरीत शब्दों में निर्मित करता है।

बड़े मजे की बात है यह कि हमारी भाषा बन ही नहीं सकती विपरीत के बिना। क्योंकि बिना विपरीत के हम परिभाषा नहीं कर सकते, 'डेफिनीशन' नहीं कर सकते। अगर कोई आपसे पूछे, अंधेरा यानी क्या? तो आप कहते हैं, जो प्रकाश नहीं है। बड़ी 'सर्कुलर' डेफिनीशन है। कोई पूछे, प्रकाश यानी क्या? तो आप कहते हैं, जो अंधेरा नहीं है। न आपको अंधेरे का पता है कि क्या है, न प्रकाश का पता है कि क्या है। जब पूछते है कि अंधेरा क्या है, तो कह देते हैं, जो प्रकाश नहीं है। और जब पूछते हैं, प्रकाश क्या हैं, तो कह देते है कि जो अंधेरा नहीं है। यह भी कोई परिभाषा हुई? यह कोई डेफिनीशन हुआ? परिभाषा तो तभी हो सकती है, जब कम से कम एक का तो पता हो!

मैंने सुना है, एक आदमी एक अजनबी गांव में गया। उसने पूछा कि 'अ' नाम का आदमी कहाँ रहता है? तो लोगों ने कहा कि 'ब' नाम के आदमी के पड़ोस में है। पर उसने कहा, मुझे 'ब' का पता नहीं, कि 'ब' कहां रहता है? उन्होंने कहा, 'अ' के पड़ोस में। पर उसने कहा, इससे कुछ हल नहीं होता, क्योंकि न मुझे 'अ' का पता है, न 'ब' का पता है। मुझे ठीक-ठीक बताओ, 'अ' कहाँ रहता है? उन्होंने कहा, 'ब' के पड़ोस में। उसने पूछा, लेकिन 'ब' कहाँ

रहता है? उन्होंने कहा, 'अ' के पड़ोस में।

आदमी से पूछो, चेतना क्या है? वह कहता है, जो पदार्थ नहीं है। उससे पूछो, पदार्थ क्या है? वह कहता है, जो चेतना नहीं। माइंड क्या है? जो 'मैटर' नहीं। मैटर क्या? जो 'माइंड' नहीं। बड़े से बड़ा दार्शनिक भी इसको परिभाषा कहता है, इसको 'डेफिनीशन' कहता है। यह 'डेफिनीशन' हुई? धोखा हुआ, 'डिसेप्शन' हुआ। परिभाषा न हुई, क्योंकि इसमें से एक का भी पता नहीं है।

आदमी को कुछ भी पता नहीं है, लेकिन काम तो चलाना ही पड़ेगा। इसलिए आदमी धोखे के शब्दों को रखकर काम चलाता है। वे शब्द 'डिसेप्टिव' हैं। उसके किसी शब्द में कोई अर्थ नहीं है। क्योंकि अपने शब्द में वह जिस शब्द से अर्थ बताता है, उस शब्द में भी उसका कोई अर्थ नहीं है। उसकी सब परिभाषाएँ 'सर्कुलर' हैं, वर्तुलाकार हैं। वह कहता है, बायें यानी दायें जो नहीं। और दायें? वह कहता है, जो बायें नहीं। लेकिन इनमें से किसी का पता है कि बायाँ या दायाँ क्या है?

आदमी की भाषा 'डायलेक्टिकल' है। 'डायलेक्टिकल' का मतलब यह कि जब आप पूछें 'अ' क्या है, तो वह 'ब' की बात करता है, और जब 'ब' पूछें तो वह 'अ' की बात करने लगता है। इससे भ्रम पैदा होता है कि सब पता है। पता कुछ भी नहीं है, सिर्फ शब्द पता हैं। लेकिन बिना शब्दों के काम नहीं चल सकता। राग है तो विराग है। तीसरा शब्द कहाँ से लाएँ?) और तीसरा शब्द ही सत्य है। वह कहाँ से लायें?

महावीर कहते हैं वीतराग, लेकिन उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। वीतराग का भी मतलब होता है, राग के पार हो जाना, 'बियॉन्ड अटेचमेंट'। विराग का भी मतलब वही होता है कि राग के बाहर हो जाना। कोई फर्क नहीं पड़ता। हम कोई शब्द बनायेंगे, वह किसी शब्द के विपरीत होगा। वह तीसरा नहीं होता, हमेशा दूसरा ही होता है। और सत्य तीसरा है, इस लिए दूसरे शब्द को कामचलाऊ रूप से उपयोग करते हैं। कृष्ण भी काम-चलाऊ शब्द का उपयोग कर रहे हैं।

इसीलिए वैराग्य का अर्थ राग की विपरीतता मत समझ लेना। वैराग्य का अर्थ है द्वन्द्व के पार--राग और विराग के पार जो हो गया है, जिसे न अब कोई चीज आकर्षित करती है, न विकर्षित करती है। क्योंकि विकर्षण आकर्षण का ही शीर्षासन है। वह सिर के बल खड़ा हो गया आकर्षण है।

पर है मोह ही। शर्त साफ है। वैराग्य को कौन उपलब्ध होता है? मोह की निशा टूटे तो, मोह की कालिमा बिखरे तो। लेकिन हम क्या करते हैं?

हम मोह की कालिमा नहीं तोड़ते, मोह के खिलाफ अमोह को साधने लगते हैं। हम मोह की कालिमा नहीं तोड़ते, हम मोह के खिलाफ विरोध में अमोह को साधने लगते हैं। हम कहते हैं: घर में मोह है तो घर छोड़ दो, जंगल चले जाओ। लेकिन मोह आदमी में था कि घर में था? अगर घर में मोह था तो आदमी जंगल चला जायगा, तो मोह के बाहर हो जायगा। लेकिन घर को कोई भी मोह नहीं है आपसे, मोह आपको है घर से। आप भाग रहे हैं और घर वहीं का वहीं है। आप जहाँ भी जायेंगे, मोह वहीं पहुँच जायेगा। वह आपके साथ चलेगा, वह आपकी छाया है। फिर आश्रम से मोह हो जायेगा कि मेरा आश्रम। क्या फर्क पड़ता है? मेरा घर, मेरा आश्रम--क्या फर्क पड़ता है? मेरा बेटा, मेरा शिष्य--क्या फर्क पड़ता है। मोह नया इन्तजाम कर लेगा, मोह नयी गृहस्थी बसा लेगा।

यह बड़ी मजेदार बात है कि गृह का अर्थ घर नहीं है। गृह का अर्थ उस मोह से है, जो घर को बसा लेता है। 'दैट व्हिच बिल्टस द होम'। 'होम' से मतलब नहीं है गृह का। उससे मतलब है, जो घर को बनाता है। वह कहीं भी घर को बना लेगा। झाड़ के नीचे बैठेंगे, तो मेरा हो जायगा। महल होगा, तो मेरा होगा। लंगोटी होगी, तो मेरी हो जायेगी। और मेरे को कोई दिक्कत नहीं आती कि बड़ा मकान हो कि छोटा हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। मेरे का आयतन कितना है, इससे मेरे के होने में कोई फर्क नहीं पड़ता। 'मेरा' आयतन पर निर्भर नहीं है।

इसे ऐसा समझिये कि एक आदमी दो लाख रुपये की चोरी करे और एक आदमी दो पैसे की चोरी करे, तो क्या आप समझते हैं कि दो पैसे की चोरी छोटी चोरी है और दो लाख रुपये की बड़ी चोरी है? हाँ, आयतन बड़ा है, लेकिन चोरी बराबर है। दो लाख की चोरी उतनी ही चोरी है, जितनी दो पैसे की चोरी है। क्योंकि चोरी करने में जो भी घटना घटती है, वह दो पैसे में भी घट जाती है, जो दो लाख में भी घट जाती है। चोर तो आदमी हो ही जाता है--दो पैसे में उतना ही, जितना दो लाख में। हाँ, अदालत दो पैसे के चोर को छोटा चोर कहे, दो लाख के चोर को बड़ा चोर कहे, सजा कम-ज्यादा करे, वह बात अलग है। क्योंकि अदालत को चोरी से मतलब नहीं है, दो लाख से मतलब है। अदालत 'क्वांटिटी' पर जीती है।

धर्म का 'क्वांटिटी' से, परिमाण से कोई संबंध नहीं, धर्म का 'क्वालिटी' से संबंध है। धर्म कहेगा, दो पैसे की चोरी या दो लाख की चोरी, बराबर चोरी है। इसमें कोई फर्क नहीं। गणित में होगा फर्क, धर्म में कोई फर्क नहीं है। धर्म के लिए चोरी हो गयी। आदमी चोर है। सच तो यह है कि अगर धर्म की ओर थोड़ी गहराई में उतरें, तो अगर दो लाख और दो पैसे की चोरी में कोई फर्क नहीं है, तो दो लाख की चोरी, और चोरी करने के विचार में भी क्या कोई फर्क हो सकता है? धर्म के लिए कोई फर्क नहीं हो सकता। चोरी की या चोरी करने का विचार किया, कोई अंतर नहीं है, बात घटित हो गयी। हम जो करते हैं, वह भी हमारे जीवन का हिस्सा हो जाता है। जो हम करने की सोचते हैं, वह भी हमारे जीवन का हिस्सा हो जाता है।

जॉन सोलिज की जिस किताब का मैंने नाम लिया था, उसमें उसका एक वचन और है कि आदमी अपने कर्मों से नहीं बनता—सिर्फ कर्मों से नहीं बनता, बल्कि जो उसने करना चाहा और नहीं किया, उससे भी बन जाता है। हम सिर्फ चोरी से नहीं बनते—की हुई चोरी से—नहीं की गई चोरी से, सोची गयी चोरी से भी उतने ही बन जाते हैं। की गयी चोरी का दूसरे को भी पता चलता है, न की गयी चोरी का जगत् को पता नहीं चलता, लेकिन परमात्मा को पूरा पता चलता है। क्योंकि परमात्मा से हमारे संबंध भाव के हैं, कृत्य के नहीं। 'करने' के नहीं हैं हमारे संबंध परमात्मा से, करने के संबंध जगत् से हैं, समाज से हैं, बाहर से हैं। 'होने' के संबंध हैं हमारे परमात्मा से–'बीइंग' के, 'डूइंग' के नहीं।

'करने' और 'होने' में क्या फर्क पड़ता है? मैंने चोरी की कल्पना की या मैंने चोरी की, इससे 'होने' में कोई फर्क नहीं पड़ता है। चोर तो मैं हो गया। परमात्मा की तरफ तो चोरी की खबर पहुँच गयी कि यह आदमी चोर है। हाँ, जगत् तक खबर नहीं पहुँची। जगत् तक खबर पहुँचने में देर लगेगी। जगत् तक खबर पहुँचने में चोरी का विचार ही नहीं, चोरी का हाथ से सहयोग लेना होगा। जगत् तक खबर पहुँचने में भाव ही नहीं पौद्गल कृत्य, 'मैटीरीयल ऐक्ट' भी करना होगा। इससे चोरी बनती नहीं, सिर्फ चोरी प्रगट होती है; 'अनमैनिफेस्ट' चोरी 'मेनिफेस्ट' होती है, अव्यक्त चोरी व्यक्त होती है। इसमें और कोई फर्क नहीं पड़ता। लेकिन अव्यक्त चोरी उतनी ही चोरी है, जितनी व्यक्त चोरी है।

जहाँ तक धर्म का संबंध है, यह सवाल नहीं है कि आपके पास कितना

बड़ा मकान है, कि मकान नहीं झोपड़ा है । यह सवाल नहीं है कि आपके पास करोड़ों रुपये हैं, कि कौड़ियाँ हैं । यह सवाल नहीं है । सवाल यह है कि आपके पास 'मेरा' कहने का भाव है या नहीं । **वही 'मेरे' का भाव मोह की निशा है, मोह का अंधकार है।** जब तक आप कह सकते हैं 'मेरा', तब तक चाहे यह 'मेरा' किसी भी चीज से जुड़ता हो--'मेरा धर्म' कहें, तो भी फर्क नहीं पड़ता—मोह की निशा जारी है । आप कह सकते हैं: हिन्दू, मुसलमान । मेरा कुरान, बाइबिल-गीता मेरी, मंदिर-मस्जिद मेरे । हम अजीब लोग हैं । सारे दुनिया में धर्म चिल्लाते हैं कि जिसे परमात्मा को पाना हो, उसे 'मेरे' को छोड़ना पड़ेगा और हम इतने कुशल हैं कि हम परमात्मा को भी मेरा बना लेते हैं कि वह परमात्मा तेरा है, और यह परमात्मा मेरा है ।

मैंने सुना है कि किसी गाँव में एक बहुत मजेदार घटना घटी । गणेशोत्सव था और गणेश का जुलूस निकल रहा था । लेकिन पूरे गाँव के लोगों के हर मोहल्ले के गणेश होते हैं । और गणेश हर मोहल्ले की ओर से कोई ब्राह्मणों का गणेश होता है, कोई भंगियों का गणेश होता है, कोई चमारों का गणेश होता है, कोई लोहारों का, कोई तेलियाँ का । लेकिन नियम था, 'डिसिप्लिन' गणेशों को भी माननी थी । और वह यह कि ब्राह्मणों का गणेश पहले चलता, फिर उसके बाद किसी का, फिर किसी का; ऐसी 'प्रोसेसन' (जुलूस) में व्यवस्था थी ।

लेकिन एक वर्ष ऐसा हुआ कि ब्राह्मणों के गणेश निश्चित समय से जरा देर से पहुँचे । ब्राह्मणों के गणेश थे । समय से जरा देर दिखानी ही चाहिए । आदमी के बड़े होने का पता ऐसे चलता है कि वह समय से जरा देर से पहुँचे । जितना बड़ा नेता, उतनी देर से पहुँचता है । जरा देर से पहुँचे ब्राह्मणों के गणेश, और तेलियों के गणेश जरा पहले पहुँच गये । गरीब गणेश थे, जरा पहले पहुँच गये कि कहीं जुलूस न निकल जाय, क्योंकि तेलियों के गणेश के लिये जुलूस कोई रोकेगा नहीं । उनको समय पर पहुँचना चाहिए, वे समय पर पहुँच गये थे ।

फिर निश्चित समय से बहुत देर हो गयी । जुलूस निकालना जरूरी था । रात हुई जाती थी, तो तेलियों के गणेश ही आगे हो गये । पीछे से आये ब्राह्मणों के गणेश ! ब्राह्मणों ने कहा, हटाओ तेलियों के गणेश को । तेलियों का गणेश आगे ? यह कभी नहीं हो सकता । तब फिर तेलियों के गणेश को पीछे हटना पड़ा । हिन्दू के भी देवता हैं, मुसलमान के भी । हिन्दुओं में भी, हिन्दुओं के हजार देवता हैं । एक देवता भी तेलियों और ब्राह्मणों का होकर, अलग हो जाता है । भगवान 'मेरे' को छोड़ने से मिलता है । और हम इतने

कुशल हैं कि भगवान् को भी मेरे की सीमाओं में बाँध कर खड़ा कर देते हैं । मंदिर जलता है तो किसी मुसलमान को पीड़ा नहीं होती, खुशी होती है । मस्जिद जलती है, तो किसी हिन्दू को पीड़ा नहीं होती, खुशी होती है । और हर हालत में भगवान् ही जलता है । लेकिन 'मेरे' की वजह से दिखायी नहीं पड़ता । **यह 'मेरा' अंधा कर जाता है** । वह 'मेरा' अंधकार है ।

किसी भी तरह का 'मेरे' का भाव मोह की निशा है, **इसके प्रति जागना है, भागना नहीं** । भागे कि 'मैं' की विपरीतता शुरू हुई । तो फिर 'मैं' कहीं और निर्माण होगा । फिर वह वहाँ जाकर अपने को निर्मित करता है ।

'मैं' जो है, बड़ी 'क्रियेटिव फोर्स' है । **'मैं' जो है, बड़ी सृजनात्मक शक्ति है** । पर वह वास्तविक का नहीं, स्वप्न का सृजन करती है--'ड्रीम क्रियेटिंग'। वह स्वप्न का निर्माण करती है, लेकिन करती है । बड़ी 'हिप्नोटिक' है । **जहाँ भी खड़ी हो जाती है, वहाँ एक संसार बन जाता है** । सत्य तो यह है कि 'मेरे' के कारण ही संसार है । जिस दिन 'मेरा' नहीं है, उस दिन संसार कहीं भी नहीं है ।

'मेरे' के कारण ही गृह है, गृहस्थी है । जिस दिन 'मेरा' नहीं है, उस दिन कहीं कोई गृह नहीं है, कोई गृहस्थी नहीं है । **संन्यासी वह नहीं है, जो घर छोड़कर भाग गया, संन्यासी वह है, जिसके भीतर घर को बनाने वाला बिखर गया है** । जिसके भीतर से वह निर्माण करने वाली मोह की जो तंद्रा थी, वह खो गयी । इसलिए कृष्ण कहते हैं कि मोह की निशा को जो छोड़ देता है, और जिसकी बुद्धि वैराग्य को उपलब्ध हो जाती है, उसके ही जीवन में फलित होता है—कहें उसे मोक्ष, कहें उसे ज्ञान, कहें उसे आनंद, कहें उसे परमात्मा, कहें उसे ब्रह्म, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता । वह सिर्फ नामों के फर्क हैं ।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

और जब तेरी अनेक प्रकार के सिद्धांतों को सुनने से विचलित हुई बुद्धि परमात्मा के स्वरूप में अचल और स्थिर ठहर जाएगी, तब तू समत्वरूप योग को प्राप्त होगा ।

भगवान श्री: जैसी बुद्धि है, निश्चल नहीं है। बुद्धि दृढ़ नहीं है। बुद्धि है—'वैवरिंग', कंपित, कँपती हुई, लहराती हुई। जैसी बुद्धि है वह ऐसी है, जैसे तूफान और आँधी में दीये की ज्योति हो। एक क्षण भी एक जगह नहीं। एक क्षण में भी अनेक जगह। क्षण के शुरू में कहीं होती है, तो क्षण के अंत में कहीं। एक क्षण को भी आश्वस्त नहीं कि बचेगी, बुझती—जलती मालूम पड़ती है। झोंके हवा के और ज्योति कि अब गई, अब गई, ऐसी ही होती है।

कीर्कगार्ड ने मनुष्य को कहा है–'ए ट्रेम्बलिंग', एक कंपन। पूरे समय जन्म से लेकर मृत्यु तक, मनुष्य एक कंपन है, जहाँ सब कँप रहा है, जहाँ सब भूकंप है। जहाँ भीतर कोई स्थिरता नहीं, कोई जड़ता नहीं है। जो हम बाहर के चेहरे बनाये हुए हैं, वे झूठे हैं। हमारे बाहर के चेहरे ऐसे लगते हैं, जैसे बड़े अकंपित हैं। सचाई वैसी नहीं है, भीतर सब कंपता हुआ है। बहादुर से बहादुर आदमी भी भीतर भय से कँप रहा है।

स्टैलिन था। नाम है उसका स्टैलिन, इसलिए उसे कहा गया–''मैन ऑफ स्टील'', लौहपुरुष। नाम नहीं है उसका, कि वह लोहे का आदमी हो। दिया हुआ नाम है उसका—लौहपुरुष, स्टैलिन, 'स्टील' का आदमी। लेकिन ख्रुश्चेव ने अभी संस्मरण लिखे हैं। उसमें लिखा है कि वह इतना भयभीत आदमी था, जिसका कोई हिसाब नहीं। और एक दिन तो ख्रुश्चेव से उसने कहा कि अब तक तो मैं दूसरों से डरता था, अब तो मैं अपने से भी डरने लगा हूँ। डर भारी था। स्टैलिन कभी भी भोजन नहीं कर सकता था सीधा, जब तक कि दो–चार को खिलाकर न देख ले।

अपनी लड़की पर भी उसे भरोसा नहीं था, कि जो खाना बना है, उसमें जहर तो नहीं है। ख्रुश्चेव ने लिखा है कि हम सबको उसका भोजन पहले चखना पड़ता था। हम भी कंपते हुए चखते थे। जिससे स्टैलिन घबरा रहा था रोज-रोज, वह हमको चखना पड़ रहा है। लेकिन मजबूरी थी। पहले चार को भोजन करवा लेता था सामने बिठाकर। जब देख लेता कि चारों जिन्दा हैं, तब भोजन करता था। भोजन करना भी निश्चिंतता न रही।

स्टैलिन घर से बाहर नहीं जाता था। समझा तो यह जाता है कि उसने एक डबल आदमी रख छोड़ा था, अपनी शकल का एक और आदमी रख छोड़ा था, जो सामूहिक जलसों में सम्मिलित होता था। हिलटर ने भी एक 'डबल' रख छोड़ा था। सामूहिक जलसे में कहाँ-

कब गोली लग जायेगी! सब इंतजाम है, फिर भी डर है। इंतजाम भारी था। स्टैलिन और हिटलर के पास जैसा इंतजाम था, वैसा इस पृथ्वी पर किसी भी आदमी के पास कभी नहीं रहा। एक-एक आदमी की तलाशी ले ली जाती थी। हजारों सैनिक के बीच में वे थे। सब तरह का इंतजाम था। लेकिन फिर भी आखिरी इन्तजाम यह था कि जो आदमी सलामी ले रहा है जनता की, वह असली स्टैलिन नहीं है, वह एक नकली अभिनेता है, जो स्टैलिन का काम कर रहा है। स्टैलिन तो अपने घर में बैठा हुआ देख रहा है, खबर सुन रहा है कि क्या हो रहा है। कैसी विडम्बना है कि स्टैलिन और हिटलर जैसे यशप्राप्त आदमी इसी यश को पाने के लिए इतना श्रम करते हैं!

पत्नी को भी कमरे में सुला नहीं सकते, क्योंकि रात कब गर्दन दबा देगी, कुछ पता नहीं। खूब स्टील के आदमी हैं! तो घास-फूस का आदमी कैसा होता है? भूसे से भरा आदमी कैसा होता है? और अगर स्टैलिन इतने भूसे से भरे हैं, तो हमारी क्या हालत होगी? हम तो स्टैलिन नहीं हैं, हम तो स्टील के आदमी नहीं हैं। स्टील के आदमी की यह हालत हो, तो हमारी क्या हालत होगी?

नहीं, एक चेहरा, एक 'मास्क', एक मुखौटा है, जो ऊपर से बिलकुल निर्भीक है, पर भीतर चेहरा पूरे वक्त कँप रहा है। वहां कंपन ही चल रहा है। बहादुर से बहादुर आदमी भी भीतर से भयभीत है। वहाँ ज्ञानी, तथाकथित ज्ञानी भी भीतर गहरे अज्ञान में कँप रहा है। यहाँ वह कह रहा है कि मुझे पता है, ब्रह्म है और वहाँ भीतर जान रहा है कि मुझे कुछ भी पता नहीं। यह भी पता नहीं है कि मैं हूँ। बाहर वह दिखला रहा है अधिकार, कि मुझे मालूम है। भीतर उसे कुछ भी मालूम नहीं है। भीतर अज्ञान खाये जा रहा है। बाहर से वह कह रहा है: आत्मा अमर है, और भीतर मौत मुँह बाये खड़ी है।

ऐसी हमारी बुद्धि है, जो दृढ़ नहीं है। लेकिन दृढ़ का क्या मतलब है? फिर वही कठिनाई है शब्दों की। दृढ़ का क्या मतलब है? जिसको हम दृढ़ आदमी कहते हैं, क्या उसके भीतर कंपन नहीं होता? असल में जितनी ही दृढ़ता आदमी बाहर से दिखाता है, उतना ही भीतर से कंपित होता है। असल में दृढ़ता जो है, वह 'सेफ्टी मेजर' है, वह भीतर के कंपन को झुठलाने के लिए आयोजन है।

एडलर ने इस संबंध में बड़ी मेहनत की है। शायद मनुष्य जाति के इतिहास में, इस दिशा में एडलर की खोज सर्वाधिक कीमती है। एडलर कहता है कि एक बड़ी अजीब घटना आदमी के साथ घटती है कि आदमी जो भीतर होता है, उससे ठीक उल्टा बाहर आयोजन करता है। 'द एग्जेक्ट कान्ट्रेरी', ठीक उल्टा आयोजन करता है। जितना मनुष्य भीतर हीनता से पीड़ित होता है, उतना बाहर श्रेष्ठता का आयोजन करता है।

सभी राजनीतिज्ञ 'इनफीरियरिटी कॉम्लेक्स' से पीड़ित होते हैं। होंगे ही, अन्यथा राजनीतिज्ञ होना मुश्किल है। राजनितिज्ञ होने के लिए जरूरी है कि भीतर हीनता का भाव हो कि मैं कुछ भी नहीं हूँ। तभी आदमी दौड़कर सिद्ध करता है कि देखो: मैं कुछ हूँ। यह आपको कम सिद्ध करता है, अपने को ज्यादा सिद्ध करता है--अपने सामने कि नहीं, गलत थी वह बात कि मैं कुछ नहीं हूँ। देखो ! मैं कुछ हूँ।

एडलर का कहना है कि बड़े-से-बड़े जो संगीतज्ञ हुए हैं जगत् में वे, वे ही लोग हैं, जिनके बचपन में कान कमजोर होते हैं। कमजोर कान का आदमी संगीतज्ञ हो जाता है, कमजोर आंख के आदमी चित्रकार हो जाते हैं।

लेनिन कुर्सी पर बैठता था, तो उसके पैर जमीन नहीं छूते थे। पैर बहुत छोटे थे, ऊपर का हिस्सा बहुत बड़ा था। लेकिन बड़ी-से-बड़ी कुर्सी पर वह आदमी बैठ सका। उसने सिद्ध करके बता दिया कि तुम्हारे पैर अगर जमीन को छूते हैं, तो कोई बात नहीं। कोई फिक्र नहीं, हम कुर्सी को आसमान से छूकर बता देते हैं। एडलर कहेगा कि लेनिन की इस महत्वाकांक्षा में पैरों का छोटा होना ही कारण था। वह हीनता ही उसको पीड़ित कर रही थी। पैर बहुत छोटे थे, साधारण कुर्सी पर भी लटक जाते थे, जमीन पर नहीं पहुँचते थे।

बर्नार्ड शॉ ने मजाक में कहा है कि छोटे पैर से क्या फर्क ! छोटा पैर हो या बड़ा हो, जमीन पर आदमी खड़ा हो, तो सभी के पैर जमीन पर पहुँच जाते हैं। क्या फर्क पड़ता है, छोटे-बड़े पैर से ? जमीन पर खड़े हों तो सभी के पैर जमीन पर पहुँच जाते हैं, तो ठीक है।

छोटे पैर से फर्क पड़ता है, आदमी कुर्सी पर पहुँच जाता है। क्योंकि जब तक कुर्सी पर नहीं पहुँच पाता, तब तक उसके प्राण पीड़ित होते हैं कि पैर छोटे हैं, पैर छोटे हैं। वही पीड़ा उसको विपरीत यात्रा पर ले जाती है।

तो एडलर से अगर पूछें कि दृढ़ता का क्या मतलब ? तो एडलर और कृष्ण के मतलब में फर्क है, वह मैं समझाना चाहता हूँ। एडलर कहेगा, दृढ़ता का मतलब कि आदमी 'वीकलिंग' है, भीतर कमजोर है, इसलिए बाहर से दृढ़ता आरोपित कर रहा है। आदमी भीतर घास-फूस का है, इसलिए बाहर से स्टैलिन है। आदमी भीतर से कुछ नहीं है, इसलिए बाहर से सब कुछ बनने के लिए वह कोशिश में लगा है।

क्या कृष्ण भी इसी दृढ़ता की बात कर रहे हैं ? अगर इसी दृढ़ता की बात कर रहे हैं, तो दो कौड़ी की है। नहीं, उस दृढ़ता की वह बात नहीं कर रहे हैं, जो भीतर की कमजोरी को दबाने से उपलब्ध होती है, जो भीतर के चित्त के विपरीत आयोजन करने से उपलब्ध होती है, बल्कि जो भीतर के कंपित चित्त के बिदा हो जाने से उपलब्ध होती है।

दो तरह की दृढ़ताएँ हैं। एक दृढ़ता तो वह है, जिसमें मेरे भीतर कमजोरी तो मौजूद रहती है, उसकी छाती पर सवार होकर मैं दृढ़ हो जाता हूँ। और एक ऐसी दृढ़ता है, जिसमें मेरी कमजोरी बिखर जाती है, विलीन हो जाती है, उसके अभाव में जो मेरे भीतर छूट जाती है। लेकिन उसे हम क्या कहें ? उसे दृढ़ता कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सच तो यह है कि दृढ़ता पहले वाली ही है। एडलर ठीक कहता है। उसे हम क्या कहें, जो कमजोरी के विसर्जन पर बचती हो ?

एक तो स्वास्थ्य वह है, जो भीतर बीमारी को दबाकर प्रकट होता है, और एक स्वास्थ्य वह है जो बीमारी के अभाव पर, 'एब्सेंस' में प्रगट होता है। लेकिन जो बीमारी के अभाव में प्रगट होता है, उस स्वास्थ्य को हम क्या कहें? क्योंकि हम एक ही तरह के स्वास्थ्य से परिचित हैं, जो बीमारी को दबाकर उपलब्ध होता है। दबाने की प्रक्रिया को इसलिए हम दवा कहते हैं। दवाई अर्थात् दबाने वाली। जिससे हम बीमारी को दबाते रहते हैं, उसको हम दवा कहते हैं।

एक और स्वास्थ्य है जो बीमारी का अभाव है। **दबाव नहीं, 'सप्रेशन' नहीं, 'एबसेंस'।** लेकिन अगर हम 'मेडिकल साइंस' वालों से पूछने जायँ, तो वे कहेंगे कि नहीं, हम ऐसे किसी स्वास्थ्य को नहीं जानते, जो बीमारी का अभाव है। हम तो ऐसे ही स्वास्थ्य को जानते हैं, जो बीमारी से लड़कर उपलब्ध होता है।

अगर आप किसी चिकित्सक से कहें कि मुझे स्वस्थ होना है, तो वह कहेगा, हम कुछ रास्ता नहीं बता सकते। हमसे तो यह पूछो कि फलाँ बीमारी है, उसे अलग करना है, उसे मिटाना है, तो हम रास्ता बता सकते हैं। इसलिए आज तक दुनिया की कोई भी 'मेडिकल साइंस', चाहे वह आयुर्वेद हो और चाहे वह एलोपैथी हो, चाहे होमियोपैथी हो और चाहे यूनानी हो और चाहे कोई और हो, कोई भी पैथी हो, वह अब तक स्वास्थ्य की परिभाषा नहीं कर पायी, सिर्फ बीमारियों की परिभाषा कर पायी है। उससे पूछो कि स्वास्थ्य क्या है? तो वह कहेगा, हमें पता नहीं। हमसे तो यह पूछो कि बीमारियाँ क्या हैं, तो हम बता सकते हैं। टी. बी. का मतलब यह, कैंसर का मतलब यह, फ्लू का मतलब यह, लेकिन स्वास्थ्य का क्या मतलब है? स्वास्थ्य का हमें कोई पता नहीं है।

एक हीनता को दबाकर श्रेष्ठता प्रगट होती है, यह श्रेष्ठता सदा नीचे की हीनता के कारण कँपती रहती है। सदा भयभीत, सदा अपने को सिद्ध करने को आतुर, सदा अपने को तर्क देने को चेष्टारत, सदा संदिग्ध, सदा भीतर से भयग्रस्त। और एक ऐसी भी श्रेष्ठता है, असंदिग्ध, जो अपने को सिद्ध करने को आतुर नहीं, अपने को प्रमाणित करने के लिए चेष्टारत नहीं, जिसे अपने होने का पता ही नहीं।

ध्यान रहे, जिस दृढ़ता का आपको पता है, वह एडलर वाली दृढ़ता होगी। और जिस दृढ़ता का आपको पता ही नहीं है, वह कृष्ण वाली दृढ़ता होगी। किस दृढ़ता का पता है, पता कैसे चलेगा? पता हमेशा 'कंट्रास्ट' में चलता है। स्कूल में शिक्षक लिखता है सफेद खड़िया से, काले ब्लैक-बोर्ड पर। सफेद दीवाल पर भी लिख सकता है, लिख जायेगा, पर पता नहीं चलेगा। लेकिन काले ब्लैक-बोर्ड पर लिखता है। लिखता है, तो दिखायी पड़ता है। काले पर लिखता ही इसलिए है कि दिखायी पड़ सके। जितना काला ब्लेक-बोर्ड है, उतने अक्षर साफ दिखायी पड़ेंगे।

जितना हीन आदमी, उतनी श्रेष्ठता दिखायी पड़ती है। जितना श्रेष्ठ आदमी, उतनी श्रेष्ठता सफेद दीवाल पर, सफेद अक्षरों जैसी लीन हो जाती है, दिखायी नहीं पड़ती है। 'कण्ट्रास्ट' में, विरोध में दिखायी पड़ती है।

अगर आपको पता चलता है कि मैं स्वस्थ हूँ, तो समझना कि बीमारी कहीं दबी है। अगर आपको पता चलता है कि मैं ज्ञानी हूँ, तो समझना कि

अज्ञान कहीं दबा है। अगर आपको पता चलता है कि मैं दृढ़ चित्तवान हूँ, तो समझना कि भीतर कहीं भूसा भरा है।

इसीलिए उपनिषद् कहते हैं कि जो कहता है, मैं जानता हूँ, समझना कि वह नहीं जानता। शायद इस तरह का 'करेजियस स्टेटमेंट,' इस तरह का साहसी वक्तव्य पृथ्वी पर कभी नहीं दिया गया है। उपनिषद् कहते हैं, अज्ञानी को क्या कहें? अज्ञानी तो भटक ही जाते हैं अंधकार में, ज्ञानी महा-अंधकार में, भटक जाते हैं–' ग्रेटर डार्कनेस' में। अज्ञानी तो भटकते ही हैं अंधकार में, ज्ञानी महा अंधकार में भटक जाते हैं। किन ज्ञानियों की बात कर रहा है उपनिषद्? उन ज्ञानियों की बात कर रहा है, जिन्हें ज्ञान का पता है कि ज्ञान है।

जिन्हें दृढ़ता का पता है, वे दृढ़ नहीं हैं। कृष्ण जिस दृढ़ता की बात कह रहें हैं, उसे एडलर की दृढ़ता से भिन्न जान लेना। कृष्ण का मनोविज्ञान बहुत और है। वह विपरीत पर खड़ा हुआ नहीं है, क्योंकि जो विपरीत पर खड़ा हुआ मकान है, किसी भी दिन गिर जायेगा। उसका कोई भरोसा नहीं। जो प्रतिकूल पर ही निर्मित है, वह अपने शत्रु पर ही आधार बनायेगा; स्वभावतः। अपने ही शत्रु के कंधे पर हाथ रखकर जो बलशाली हुआ है, वह कितनी देर बलशाली रहेगा? जो अपने ही विपरीत को, अपनी ही बुनियाद में, आधारशिला का पत्थर बनाता है, उसके शिखर कितनी देर आकाश के सूर्य की रोशनी में उन्नत रहेंगे, कितनी देर तक?

नहीं, यह नहीं हो सकता ज्यादा देर। और जितनी देर यह शिखर उन्नत दिखायी भी पड़ेगा, उतनी देर भी बुनियाद में पूरे समय संघर्ष है, पूरे समय द्वन्द्व है, पूरे समय प्राणों में कंपन है, 'वेवरिंग' है, 'ट्रेम्बलिंग' है, वहाँ कंपन चलता ही रहेगा, वहाँ भय हिलता ही रहेगा, वहाँ पानी की धार कंपती ही रहेगी। यह रेत पर बनाया हुआ मकान–रेत पर भी नहीं, पानी पर बनाया हुआ मकान –यह अब गिरा, अब गिरा, अब गिरा। भीतर आप जानते ही रहेंगे, अब गिरा अब गिरा, अब गिरा। भीतर आप डरते ही रहेंगे। जितना भीतर डरेंगे, उतनी बाहर दृढ़ता दिखलायेंगे—अपने को धोखा देने के लिए, दूसरों को धोखा देने के लिए।

लेकिन कृष्ण जिस दृढ़ता की बात कर रहे हैं, वह प्रवंचना नहीं है, वह रूपांतरण है। लेकिन वह कब फलित होता है? वह तभी फलित होता है, जब

चित्त राग और विराग से मुक्त हो जाता है, जब बुद्धि चुनाव से मुक्त हो जाती है और जब मन विषयों के बीच कंपन को छोड़कर अकम्प हो जाता है, जब मन इच्छाओं के बीच कंपन को छोड़कर अनिच्छा को उपलब्ध हो जाता है। 'अनिच्छा' का मतलब विपरीत इच्छा नहीं, इच्छा के अभाव को उपलब्ध हो जाना है। तब कृष्ण कहते हैं, अर्जुन, ऐसी अकम्प चित्त की दशा में फिर जीवन संपदा की उपलब्धि है। तब चित्त दृढ़ है, तब चित्त पानी पर नहीं, चट्टानों पर है, और तब आकाश में शिखर उठ सकता है। और तब पताका जीवन के अस्तित्व की ऊँचाइयों में फहरा सकती है।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम ॥५४॥

इस प्रकार भगवान् के वचनों को सुनकर अर्जुन ने पूछा : हे केशव, समाधि में स्थित स्थिरबुद्धि वाले पुरुष का क्या लक्षण है और स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है ?

भगवान् श्री: अर्जुन पहली बार, अब तक जो अर्जुन का वर्तुल-व्यक्तित्व था, उससे उठकर प्रश्न पूछ रहा है पहली बार। अब तक जो भी उसने पूछा था, वह पुराना आदमी पूछ रहा था, वह पुराना अर्जुन पूछ रहा था। पहली बार उसके प्रश्न ने कृष्ण को छूने की कोशिश की है—पहली बार। इस वचन से वह पहली बार कृष्ण के निकट आ रहा है। पहली बार अर्जुन, अर्जुन की तरह नहीं पूछ रहा है, पहली बार अर्जुन कृष्ण के निकट होकर पूछ रहा है। पहली बार, कृष्ण अर्जुन के भीतर प्रविष्ट हुए प्रतीत होते हैं।

यह सवाल गहरा है। वह पूछता है, स्थितप्रज्ञ किसे कहते हैं ? जिसकी प्रज्ञा स्थित हो गयी, वह कौन है, जिसके ज्ञान की ज्योति थिर हो गयी ? वह कौन है, जिसकी चेतना का दिया अकंप है ? वह कौन है, जिसे समाधिस्थ कहते हैं ? उसकी भाषा क्या है ? वह उठता कैसे है ? वह चलता कैसे है ? वह बोलता कैसे है ? उसका होना क्या है, उसका व्यवहार क्या है ? उसे हम कैसे पहचान पाते हैं ?

दो बातें वह पूछ रहा है। एक तो वह यह पूछ रहा है कि प्रज्ञा का स्थिर

हो जाना, स्थित हो जाना, ठहर जाना क्या है ? लेकिन वह घटना तो बहुत आंतरिक है। वह घटना तो शायद स्वयं पर ही घटेगी तभी पता चलेगा। वह शायद कृष्ण भी नहीं बता पायेंगे कि क्या है ? और इसलिए अर्जुन तत्काल दूसरी बात पूछता है कि समधिस्थ व्यक्ति कैसे चलता है, कैसे बोलता है। और इसमें अर्जुन बहुत ही बुद्धिमानी का सबूत देता है, बहुत ही विचार का, विवेक का सबूत देता है। प्रश्न के पहले हिस्से में पूछता है कि प्रज्ञा का थिर हो जाना क्या है ? लेकिन जैसे किसी अनजान मार्ग से उसको भी एहसास होता है कि प्रश्न शायद अति-प्रश्न है, शायद प्रश्न का उत्तर नहीं हो सकता है। क्योंकि घटना इतनी आंतरिक है कि शायद बाहर से न बतायी जा सके।

ठीक प्रश्न के दूसरे हिस्से में वह यह पूछता है कि बतायें, वह बोलता कैसे है ? वह, जिसकी प्रज्ञा थिर हो गयी, जो समाधि को उपलब्ध हुआ, जो समाधिस्थ है, वह बोलता कैसे, वह डोलता कैसे, उठता कैसे, उसका व्यवहार क्या है ? इस दूसरे प्रश्न में वह यह पूछता है कि बाहर से भी हम जानना चाहें तो वह कैसा है, भीतर से जानना चाहें तो क्या है ? वह घटना क्या है, वह 'हैपनिंग' क्या है ? जिसको समाधिस्थ होना कहते हैं, वह घटना क्या है ? यह भीतर से, लेकिन अगर यह न भी हो सके, तो जब किसी व्यक्ति में वैसी घटना घट जाती है, तो उसके बाहर क्या-क्या फलित होता है ? उस घटना के चारों तरफ जो परिणाम होते हैं, वे क्या हैं ?

यह प्रश्न पहला प्रश्न है, जिसने कृष्ण को आनंदित किया होगा। यह पहला प्रश्न है, जिसने कृष्ण के हृदय को पुलकित कर दिया होगा। अब तक के जो भी प्रश्न थे, अत्यंत रोगग्रस्त चित्त से उठे प्रश्न थे। अब तक जो प्रश्न थे, वे अर्जुन के 'जस्टिफिकेशन' के लिये थे। वह जो चाहता था, उसके ही समर्थन के लिए थे। अब तक जो प्रश्न थे, उनमें अर्जुन ने चाहा था कि कृष्ण, वह जैसा है, वैसे ही अर्जुन के लिए कोई 'कंसोलेशन', कोई सांत्वना दें।

यह पहला प्रश्न है, जिससे अर्जुन उस मोह को छोड़ता है कि मैं जैसा हूँ, वैसे के लिए, सांत्वना हो। यह पहला प्रश्न है जिससे वह पूछता है कि अब मैं उसको ही जानूँ, जिस आदमी के लिए तुम कहते हो, जैसे आदमी को तुम चाहते हो, जिस आदमी के आस-पास तुम्हारे इशारे हैं। अब मैं उसको ही जानने के लिए आतुर हूँ। छोड़ूँ उसे, जो अब तक मैंने पकड़ रखा था। इस प्रश्न से अर्जुन की वास्तविक जिज्ञासा शुरू होती है। अब तक

अर्जुन जिज्ञासा नहीं कर रहा था। अब तक अर्जुन कृष्ण को ऐसी जगह नहीं रख रहा था, जहां से उसे कुछ सीखना, जानना है। अब तक अर्जुन कृष्ण का उपयोग एक 'जस्टिफिकेशन' में. एक 'रेशनलाइजेशन' में, युक्तियुक्त हो सके उसका अपना ही ख्याल, उसके लिए कर रहा था। इसे समझ लेना उचित है,तो आगे समझ बहुत स्पष्ट हो सकेगी।

हम अक्सर जब प्रश्न पूछते हैं, तो जरूरी नहीं कि वह प्रश्न जिज्ञासा से आता हो। सौ में निन्यानबे मौके पर प्रश्न जिज्ञासा से नहीं आता। सौ में से निन्यानबे मौके पर प्रश्न सिर्फ 'कन्फर्मेशन' के लिए आता है, किसी दूसरे के प्रमाण को अपने साथ जोड़ लेने के लिए आता है।

बुद्ध एक दिन गांव में प्रविष्ट हुए। एक आदमी ने पूछा, ईश्वर है? बुद्ध ने कहा, नहीं, कहीं नहीं है, कभी नहीं था, कभी नहीं होगा। स्वभावतः वह आदमी कंप गया। उसने कहा, क्या कहते हैं आप? ईश्वर नहीं है? बुद्ध ने कहा, बिलकुल नहीं है। सब खोज डाला, मैं कहता हूँ, नहीं है।

फिर दोपहर एक आदमी उस गाँव में आया और उसने पूछा, जहाँ तक मैं सोचता हूँ, ईश्वर नहीं है। आपका क्या ख्याल है? बुद्ध ने कहा, ईश्वर नहीं है? ईश्वर ही है। उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उस आदमी ने कहा, क्या कहते हैं, मैं तो यह सोचकर आया कि बुद्ध नास्तिक हैं।

सांझ एक और आदमी आया और उस आदमी ने बुद्ध से कहा कि मुझे कुछ भी पता नहीं कि ईश्वर है या नहीं। आप क्या कहते हैं? बुद्ध ने कहा, मैं भी कुछ न कहूँगा। मै भी चुप रहूँगा। उसने कहा, नहीं, नहीं, कुछ तो कहें। बुद्ध ने कहा, मैं कुछ न कहूँगा।

कठिनाई में पड़ गया बुद्ध का भिक्षु आनंद। वह तीनों समय साथ था। सुबह भी, दोपहर भी, साँझ भी। उसका कष्ट हम समझ सकते हैं। सोचा न था कभी कि बुद्ध और ऐसे 'इनकंसिस्टेंट' हैं, इतने असंगत हैं कि सुबह कुछ दोपहर कुछ, और साँझ को कुछ कहें। लेकिन 'कंसिस्टेंट' बुद्धओं के सिवाय और कोई भी नहीं हो सकते। सिर्फ बुद्धिहीन संगत हो सकते हैं, बुद्धिमान के उत्तर असंगत होंगे ही; क्योंकि हर उत्तर किसी को दिया गया है, कोई उत्तर सभी को नहीं दिया गया। आनन्द ने बुद्ध से कहा, मुझे परेशानी में डाल दिया। रात सोते समय मुझे नींद न आयेगी, इसलिए पहले मेरा उत्तर दो। सही क्या है, इन तीनों में कौन सी बात ठीक है, या कि चौथी बात ठीक है?

बुद्ध ने कहा, तुझे क्या मतलब, जिनसे मैंने बात की थी, उनका मतलब पूरा हो गया। तेरा न सवाल था, न तेरे लिए जवाब हैं। तूने पूछा नहीं था, तूने सुना क्यों? उसने कहा, मजाक करते हैं? मेरे पास कान हैं। मैं बहरा नहीं हूँ। मैं पास ही मौजूद था। सुनाई मुझे पड़ गया। तो बुद्ध ने कहा, जो दूसरे के लिए कहा गया, उसे सुनना तुम्हें उचित नहीं है। तुझे क्या जरूरत थी? आनन्द ने कहा, जरूरत थी? थी या न थी, मुझे सुनायी पड़ गया और मैं बेचैन हो गया हूँ। ये तीन उत्तर एक ही दिन में? आप कहना क्या चाहते हैं?

बुद्ध ने कहा, मैंने तीन उत्तर नहीं दिये। मैंने तो एक ही उत्तर दिया है कि मैं तुम्हें कभी 'कन्फर्म' न करूँगा। मैं तुम्हारी हाँ में हाँ न भरूंगा मैंने उत्तर एक ही दिया है दिन भर। सुबह जो आदमी आया था, चाहता था कि मैं कह दूँ कि ईश्वर है,ताकि जिस ईश्वर को वह मानता है, उसको मेरा भी सहारा मिल जाय। ताकि वह आश्वस्त हो जाय कि चलो, मैं आश्वस्त हूं, बुद्ध भी यही कहते हैं। वह सिर्फ मेरा उपयोग करना चाहता था। वह मुझसे सीखने नहीं आया था। वह मुझसे जानने नहीं आया था। वह जानता ही था, वह सीखा ही हुआ था। वह सिर्फ मेरा और साथ चाहता था, वह सिर्फ एक सर्टिफिकेट और चाहता था, एक प्रमाण-पत्र और चाहता था कि जो मैं कहता हूँ, वही बुद्ध भी कहते हैं। मैं बिलकुल ठीक हूँ, क्योंकि बुद्ध भी यही कहते हैं। वह अपने सिर्फ अहंकार के लिए एक युक्ति और खोज रहा था। वह बुद्ध का भी अपने अहंकार के लिए शोषण कर रहा था।

दोपहर जो आदमी आया था, वह नास्तिक था। वह भी आश्वस्त था कि उसे पक्का पता है। उसकी कोई जिज्ञासा न थी। जिन्हें पक्का पता है, उनकी कोई जिज्ञासा नहीं होती। जिन्हें पक्का ही पता है, उन्हें जिज्ञासा कैसे हो सकती है? और मजा यह है कि जिन्हें पक्का पता है, वे भी जिज्ञासा करते हैं। तब उनका पक्का पता बहुत कच्चे पते पर खड़ा है। वह कच्चा पता बहुत नीचे है। पक्का ऊपर है, कच्चा नीचे है। फिर वह कच्चा उनको धक्के देता रहता है कि और पक्का कर लो, और पक्का कर लो। पक्का नहीं है। पता कुछ भी नहीं है। लेकिन भ्रम है कि पता है।

अर्जुन भी ऐसे ही बोलता रहा इस प्रश्न के पहले तक, जैसे उसे पता है कि क्या ठीक है, क्या गलत है? चाहता था इतना कि कृष्ण और हामी भर दें, गवाह बन जायँ, तो कल वह जगत् को कह सके कि मैं ही नहीं भागा, कृष्ण ने भी कहा था। मैंने युद्ध नहीं छोड़ा, कृष्ण से पूछो! 'रिस्पाँसिबिलिटी'

बाँटना चाहता था, दायित्व बाँटना चाहता था।

ध्यान रहे, जो दायित्व बाँटना चाहता है, उसके भीतर कम्पन है। पक्का उसको भी नहीं है, इसीलिए तो दूसरे का सहारा चाहता है। लेकिन यह बताना भी नहीं चाहता कि मुझे पता नहीं है। यह अहंकार भी छोड़ना नहीं चाहता, कि मुझे पता नहीं है।

अर्जुन पूरे समय ऐसे बोल रहा है कि उसे भलीभाँति पता है। धर्म क्या है, अधर्म क्या है? श्रेयस क्या है, अश्रेयस क्या है? जगत् का किससे लाभ होगा, किससे नहीं होगा; मरेगा कोई, नहीं मरेगा; सब उसे पता है। पता बिलकुल नहीं है। लेकिन अहंकार कहता है, पता है। इसी अहंकार में वह एक टेक कृष्ण की भी लगवा लेना चाहता था। तुम भी बन जाओ लँगड़े की बैसाखी, यही वह चाहता था। कृष्ण जैसे लोग किसी की बैसाखी नहीं बनते। क्योंकि किसी लँगड़े की बैसाखी बनना, उसको लँगड़ा बनाये रखने की व्यवस्था है। कृष्ण जैसे लोग तो सब बैसाखियाँ छीन लेते हैं। वे लँगड़े को पैर देना चाहते हैं, बैसाखी नहीं। इसलिए कृष्ण ने उसकी सब बैसाखियाँ छीन ली, जो अभी उसके पास थी, वह भी।

अब वह पहली दफा, पहली बार कृष्ण से जिज्ञासा कर रहा है, जिसमें अपने लिए समर्थन नहीं माँगता है। अब वह उन्हीं से पूछता है कि समाधिस्थ कौन है कृष्ण? किसे हम कहते हैं कि उसकी प्रज्ञा ठहर गयी और किसी की प्रज्ञा ठहर जाती है, तो उसका आचरण क्या होता है? और जब किसी के अंतस् की ज्योति ठहर जाती है, उसके बाहर के आचरण पर क्या परिणाम होते हैं? मुझे उस संबंध में बतायें। अब वह पहली बार 'हम्बल', अब वह पहली बार विनीत है।

जहाँ विनय है, वहीं जिज्ञासा है। और जहाँ विनय है, वहाँ ज्ञान का द्वार खुलता है। जहाँ अपने अज्ञान का बोध है, वहीं से मनुष्य ज्ञान की तरफ यात्रा शुरू करता है। इस वचन में कृष्ण ज्ञानी और अर्जुन अज्ञानी, ऐसी अर्जुन की प्रतीति पहली बार स्पष्ट है। इसके पहले अर्जुन भी ज्ञानी था। कृष्ण भी होंगें, परन्तु नम्बर दो के रहे होंगें। नम्बर एक वह खुद था अब तक। बड़ा कठिन है, दूसरे आदमी को नम्बर एक पर रखना। बड़ा कठिन है।

मैंने सुना है, गाँधी 'गोलमेज-कांफ्रेंस' के लिए गये लंदन। उनका एक भक्त बर्नार्ड शॉ को मिलने गया। और बर्नार्ड शॉ को कहा उस भक्त ने कि

गांधी जी को आप महात्मा मानते हैं या नहीं? भक्तों को बड़ी चिन्ता होती है कि उनके महात्मा को कोई दूसरा महात्मा मानता है कि नहीं। खुद भी संदेह होता है भीतर, इसलिए दूसरे से भी पक्की गारंटी करवाना चाहते हैं। अब बर्नार्ड शॉ से पूछने जाने की क्या जरूरत है भक्त को? इसको खुद ही शक रहा होगा। सोचा: चलो, बर्नार्ड शॉ से पूछ लें। और सोचा होगा यह भी कि शिष्टाचारवश कम से कम बर्नार्ड शॉ यह तो कह नहीं सकते कि नहीं हैं।

लेकिन बर्नार्ड शॉ जैसे लोग शिष्टाचार नहीं पालते, सत्याचार पालते हैं। सत्याचार बड़ी और बात है। शिष्टाचार में तो सब दिखावा है। बर्नार्ड शॉ ने कहा, महात्मा हैं तुम्हारे गांधी, बिलकुल हैं, लेकिन नंबर दो के हैं। भक्त ने कहा, नंबर दो के? नम्बर एक का महात्मा कौन है? बर्नार्ड शॉ ने कहा, मैं! बर्नार्ड शॉ ने कहा, मैं झूठ न बोल सकूंगा। मैं अपने से ऊपर किसी को रख ही नहीं सकता हूँ। ऐसी मेरी स्पष्ट प्रतीति है।

भक्त तो बहुत घबड़ा गया कि कैसा अंहकारी आदमी है। लेकिन बर्नार्ड शॉ बड़ा ईमानदार आदमी था। कोई भी अपने को ही नम्बर एक रखता है। वह जो कहता है, चरणों की धूलि हूँ, वह भी स्वयं को नम्बर एक पर रखता है। 'चरणों की धूलि' वगैरह सब शिष्टाचार है।

बर्नार्ड शॉ ने कहा, सच्चाई यह है कि ज्यादा से ज्यादा नम्बर दो पर रख सकता हूँ, तुम्हारे महात्मा को। नम्बर एक तो तय ही है। उसकी कोई बात ही मत करो। उसमें कोई शक-सुबहा नहीं है मुझे। मैं नम्बर एक हूँ। शॉ व्यंग कर रहा था गहरा, पूरी मनुष्य जाति पर और कभी-कभी ऐसा होता है कि बहुत बुद्धिमान जो नहीं कह पाते, वह व्यंग करने वाले कह जाते हैं।

अरबी में एक कहावत है कि परमात्मा जब भी किसी आदमी को बनाता है, तो दुनिया में धक्का देने के पहले, उसके कान में एक मजाक कर देता है। उससे कह देता है कि तुझसे अच्छा आदमी कभी नहीं बनाया। उसी मजाक में सभी आदमी जीते हैं। जिन्दगी भर वह कान में गूंजती रहती है परमात्मा की बात। मगर वह दिल में ही रखनी पड़ती है। क्योंकि बाकी को भी यही कह दिया है। उसको अगर जोर से कहिये, तो झगड़े के सिवाय कुछ हो नहीं सकता। इसलिऐ मन में अपने-अपने, हर आदमी समझता है। दूसरे से शिष्टाचार की बातें करता है, पर मन में उसी सत्य को जानता है, कि सत्य मुझे पता है।

अभी जो प्रश्न पूछे जा रहे थे कृष्ण से, कृष्ण भी समझते हैं कि अर्जुन अभी तक नम्बर एक है। इस पूरे बीच उसके नम्बर एक को गिराने की, उन्होंने सब तरह से कोशिश की है। कृष्ण ने चाहा है कि वह समझे कि स्थिति क्या है। व्यर्थ ही अपने को नम्बर एक न माने। क्योंकि नम्बर एक को केवल वही उपलब्ध होता है, जिसको अपने नम्बर एक होने का कोई पता नहीं रह जाता। वह हो जाता है। जिसको पता रहता है, वह कभी नहीं हो पाता। पहली दफे अर्जुन विनम्र हुआ है। जब उसकी 'हम्बल इन्क्वायरी' शुरू होती है। अब वह पूछता है कि बताओ कृष्ण! और इस पूछने में बड़ी विनम्रता है।

● **प्रश्नकर्ता :** जिस व्यक्ति की आन्तरिक चेतना जागृत हो जाती है, उसका ऊपरी ढाँचा, 'पैटर्न' क्या होगा? क्या उसका जीवन बहुत अनुशासित हो जायेगा? क्या सभी जागृत व्यक्ति, एक सी ही बातें और चेष्टाएँ करते हैं?

भगवान् श्री : ठीक पूछते हैं। जिस व्यक्ति के भीतरी जीवन में सत्य की किरणें फैल जाती हैं, सत्य का सूर्य जलता है, और जिसकी आंतरिक चेतना, जागृति को, पूर्ण जागृति को उपलब्ध हो जाती है, उसका जीवन 'स्पाँटेनियस' हो जाता है, सहज-स्फूर्त हो जाता है। उसके जीवन में किसी 'पैटर्न' को, किसी ढाँचे को खोजना मुश्किल है। उसके जीवन में कोई बँधी-बँधायी रेखाएँ नहीं होतीं। उस व्यक्ति का जीवन रेल की पटरियों पर दौड़ता जीवन नहीं होता। गंगा की तरह भागता हुआ, स्वतंत्रता से भरा जीवन होता है। वहाँ कोई रेल की पट-रियाँ नहीं होती बँधी हुई, कि जिन पर ही चलता हो वैसा व्यक्ति।

लेकिन फिर भी कुछ बातें कही जा सकती हैं। क्योंकि उसके 'नो-पैटर्न' में भी एक बहुत गहरा पैटर्न होता है। उसके न-ढाँचे में भी, उसके ढाँचे के अभाव में भी एक गहरी आंतरिक व्यवस्था होती है, एक 'इनर डिसिप्लिन' होती है। लेकिन ऊपर कोई ढाँचा नहीं होता। अब जैसे इतना तो कहा ही जा सकता है कि उसका जीवन सहज स्फूर्त होता है, 'स्पाँटेनियस' होता है। यह भी सूचना हो गई। बुद्ध सुबह कुछ कहते हैं, दोपहर कुछ कहते हैं, साँझ कुछ कहते हैं। 'पैटर्न' नहीं है, फिर भी 'पैटर्न' है। कोई ढाँचा नहीं, सुबह जो कहा था, वही दोपहर नहीं दोहराया।

बुद्ध जैसे व्यक्ति मर कर नहीं जीते हैं, जीकर ही जीते हैं। सुबह जो दोहराया था, सुबह जो कहा था, उसको सिर्फ वही दोहरायेगा, जो दोपहर तक मरा हुआ है। जो दोपहर तक जीया है, वह फिर से उत्तर देगा, फिर 'रिस्पाँस'

देगा। उसका उत्तर सदा नया होता है। नये का मतलब यह है कि पुराने उत्तर को दोहरायेगा नहीं। आप पूछेंगे, फिर क्या उत्तर उसमें प्रतिध्वनित होगा? होगा! लेकिन इन तीन अलग-अलग घटनाओं में, इन तीन अलग-अलग असंगति-यों में, इस 'इनकंसिस्टेंसी' में भी एक भीतर 'कंसिस्टेंसी' है।

सुबह भी बुद्ध सहज ही उत्तर देते हैं, दोपहर भी, साँझ भी। सुबह भी देख लेते हैं कि वह आदमी सिर्फ प्रमाण चाह रहा है, दोपहर भी देख लेते हैं कि प्रमाण चाह रहा है, साँझ भी देख लेते हैं कि प्रमाण चाह रहा है। सुबह भी उसे डग-मगा देते, दोपहर भी डगमगा देते, साँझ भी डगमगा देते।

बुद्ध का ऊपर कोई मृत ढाँचा नहीं है, लेकिन एक जीवंत धारा है। पर उस जीवंत-धारा के संबंध में भी कुछ इशारे किये जा सकते हैं। जैसे एक इशारा यही किया जा सकता है कि स्थितप्रज्ञ का जीवन सहज है-तत्क्षण-स्फूर्त, 'स्पाँटेनियस'। इसलिए दो स्थितिप्रज्ञ के जीवनों को (ऊपर से बिलकुल अलग-अलग होते हुए भी), भीतर की एकता को जाँचा जा सकता है, पहचाना जा सकता है।

जैसा मैंने पीछे कहा, तो कई मित्रों ने पूछा कि ऐसा कैसे हो सकता है! मैंने कहा कि महावीर और बुद्ध एक बार एक ही गाँव में, एक ही धर्मशाला में ठहरे। अब एक ही धर्मशाला में दो-दो स्थितप्रज्ञ—ऐसा कम होता है। एक ही धर्मशाला में, एक ही गांव में, बहुत 'रेयर फेनामेना', बड़ी अद्भुत घटना है। तो मुझसे मित्रों ने पूछा कि क्या इतने अहंकारी रहे होंगे कि मिले नहीं? हमको ऐसा ही सूझता है एकदम से, क्योंकि हम जब नहीं मिलते किसी से, तो फिर अहंकार के कारण नहीं मिलते। और हमारे पास कोई कारण नहीं होता। क्यों मिलें हम? लेकिन हमको यह पता ही नहीं होता कि अहंकार न बचा हो, तो मिलना कैसे हो सकता है?

मिलने वाला भी अहंकार है, न मिलने वाला भी अहंकार है। हमें ख्याल में नहीं आती है यह बात। मिले कौन, होना तो चाहिए न कोई? मिलने के लिए भी, और न मिलने के लिए भी। बुद्ध हैं कहाँ, महावीर हैं कहाँ? किससे मिलना है? कोई पराया बचा है, जिससे मिलना है? बुद्ध अगर बचे होते, तो चले जाते महावीर से मिलने, या इन्कार करते मिलने से।

यह बड़े मजे की बात है, न मिले, न इन्कार किया मिलने से। 'इट डि-डन्ट हैपेन', बस, यह हुआ नहीं। इसके सिवाय कोई उपाय भी नहीं है। क्योंकि

कौन मिले, किससे मिले? मिलने के लिए भी अहंकार चाहिए। और फिर किसलिए मिले? कोई कारण चाहिए। हाँ, अगर अहंकार होता तो, शायद एक ही धर्मशाला में ठहरने से भी इन्कार कर देते। कहते, वहाँ हम नहीं ठहरते। ठहर गये। अगर कोई पकड़ कर ले जाता, तो चले जाते। लेकिन रोकते भी नहीं कि नहीं जाते। कोई पकड़कर नहीं ले गया। किसी ने दोनों को खींचा नहीं।

असल में दोनों के आस-पास अहंकारियों का इतना बड़ा जाल रहा होगा कि उसने दीवाल का काम किया होगा। दोनों के आस-पास अहंकारियों का इतना जाल रहा होगा कि उसने सख्त प्राचीर का काम किया होगा। अगर कोशिश भी चली होगी, तो भक्तों ने फलित न होने दी होगी। ऐसा कैसे हो सकता है? अगर बुद्ध के भक्तों ने महावीर के भक्तों से कहा कि महावीर को ले आओ, तो उन्होंने कहा होगा, हम ले आयें? तुम ले आओ, अपने बुद्ध को मिलाना हो तो। उन्होंने कहा, यह कैसे हो सकता है कि बुद्ध को लेकर हम आयें! बुद्ध नहीं आ सकते। मगर यह बातचीत भक्तों में चली होगी। उन लोगों में चली होगी, जो चारों तरफ घेर कर खड़े हैं। वे सदा खड़े हैं।

इस दुनिया में बुद्ध, महावीर, कृष्ण और मुहम्मद और ईसा के बीच कोई दीवाल नहीं है। दीवालें हैं, भक्तों के साथ। वे जो घेर कर खड़े हैं। भयंकर दीवाल है। हाँ, बुद्ध अगर तोड़ना चाहते, तो दीवाल को तोड़ सकते थे, लेकिन तोड़ने का भी कोई कारण नहीं है। महावीर अगर चाहते कि मिलना है, तो मिल सकते थे, लेकिन महावीर और बुद्ध चाह से नहीं जीते। एकदम 'डिजायरलेस', अचाह से जीते हैं। **मिलना हो जाता, तो हो जाता। नहीं हुआ तो, नहीं हुआ।** राह पर चलते मिल जाते, तो मिल जाते। नहीं मिले, तो नहीं मिले। मगर दोनों बिलकुल एक जैसे हैं।

एक और मित्र ने मुझे इस संबंध में चिट्ठी लिखकर दी कि आप कहते हैं, महावीर और बुद्ध जो कहते हैं, वह बिलकुल एक है, तो क्या बुद्ध और महावीर को दिखाई नहीं पड़ा यह कि एक है? बिलकुल दिखाई पड़ता था। तो उन्होंने पूछा है कि अगर दिखायी पड़ता था, तो उन्होंने कह क्यों नहीं दिया कि एक हैं। उन्होंने नहीं कहा, आप पर कृपा करके। क्योंकि बुद्ध और महावीर कह दें कि बिलकुल एक हैं, तो आप 'कन्फ्यूज्ड' होंगें और कुछ भी नहीं होंगे। आप सिर्फ दिग्भ्रमित होंगे, और कुछ भी नहीं होंगे।

इसीलिए महावीर कहे चले जाते हैं कि जो मैं कह रहा हूँ, वही ठीक है।

यह जो मैं कह रहा हूँ, यही ठीक है। आप इतने कमजोर चित्त हैं कि अगर महावीर इतने अतिशय से न बोलें, तो आपके ऊपर कोई परिणाम ही होने वाला नहीं है, क्योंकि आप इतने कमजोर हैं कि अगर महावीर को आप देखें, तो वे कहेंगे, यह भी ठीक, वह भी ठीक, सभी ठीक, तो आप भाग खड़े होंगे। आप तो खुद ही कमजोर हैं। आप तो चले ही जायेंगे। जब सभी ठीक है, तो हम भी ठीक हैं। आप जो उससे निष्कर्ष निकालेंगे, वह यह, कि हम भी ठीक हैं। फिर हम जाते हैं।

अगर महावीर को ज्ञानियों के बीच में बोलना पड़े, तो महावीर कहेंगे: सभी ठीक; अगर बुद्ध को ज्ञानियों के बीच बोलना पड़े, तो बुद्ध कहेंगे: सभी ठीक। अगर अज्ञानियों के बीच बोलना पड़े, तो बुद्ध बोलेंगे ही नहीं। महावीर बोलेंगे ही नहीं, इतना भी नहीं कहेंगे कि सभी ठीक। लेकिन बोलना पड़ता है अज्ञानियों के बीच।

बुद्ध और महावीर की पीड़ा आपको पता नहीं है। बोलना पड़ता है उनके बीच में, जिन्हें कुछ भी पता नहीं है। उनके लिए इस तरह के 'एब्सोल्यूट स्टेटमेंट,' इस तरह के निरपेक्ष वचन कि सभी ठीक, सिर्फ व्यर्थ होंगे, अर्थहीन होंगे। उनके लिए कहना पड़ता है कि यही ठीक है। और इतने जोर से कहना पड़ता है कि महावीर के व्यक्तित्व का वजन और गरिमा और महिमा इसी 'ठीक' के बीच जुड़ जाय, तो शायद आप दो कदम उठायें।

महावीर भलीभाँति जानते हैं कि जिस दिन आप पहुँचेंगे, जान लेंगे कि सभी ठीक है। लेकिन उस दिन के लिए छोड़ दिया जाता है वह सब, क्योंकि उसके लिए कोई अभी चिन्ता करने की जरूरत नहीं है।

पहाड़ पर आप चल रहे हैं। मैं अपने रास्ते को कहता हूँ, यही ठीक है। आप कहते हैं, उस रास्ते के बाबत क्या ख्याल है, जो वहाँ से जा रहा है। मैं कहता हूँ बिलकुल गलत! जब मैं कहता हूँ, बिलकुल गलत, तो मेरा मतलब यह नहीं होता कि बिलकुल गलत। मैं भलीभाँति जानता हूँ कि उससे भी लोग पहुँचे हैं। लेकिन हजार रास्ते जा रहे हैं पहाड़ पर, और आप चल सकते हैं सिर्फ एक पर, हजार पर नहीं। अगर आपको हजार ही ठीक दिखायी पड़ जाय तो संभावना यह नहीं है कि आप हजार पर चलें, संभावना यही है कि आप एक पर भी न चलें। दो कदम एक पर चलें और फिर दो कदम दूसरे पर, दो कदम तीसरे पर चलें। जैसा आपका चित्त है डावाँडोल, वह रास्ते बदलता रहेगा

और आप पहाड़ के नीचे ही भटकते रहेंगे।

हजार रास्ते भी पहुँच जाते हैं पहाड़ पर, लेकिन हजारों रास्तों से चलकर कोई भी नहीं पहुँच सकता है। अनंत रास्ते पहुँचते हैं परमात्मा तक, लेकिन अनंत रास्तों से कोई भी नहीं पहुँचता। पहुँचने वाले सदा एक ही रास्ते से पहुँचेंगे।

तो महावीर जिस रास्ते पर खड़े हैं, वही उचित है। वे कहेंगे कि इसी रास्ते से पहुँचोगे, आ जाओ। और जरूरी है कि आपको इस रास्ते पर चलने के लिए भरोसा और निष्ठा आ सके, इसलिए वे कहेंगे कि बाकी कोई रास्ता नहीं पहुँचता।

महावीर को भी आपकी वजह से असत्य बोलना पड़ता है। और बुद्ध को भी आपकी वजह से असत्य बोलना पड़ता है। मनुष्य के ऊपर जो अनुकम्पा है ज्ञानियों की, उसकी वजह से उन्हें ढेर असत्य बोलने पड़ते हैं। लेकिन इस भरोसे में वे असत्य बोले जाते हैं कि आप एक से भी चढ़कर जब शिखर पर पहुँच जायेंगे, तब आप खुद ही देख लेंगे कि सभी रास्ते यहीं ले आते हैं।

अब जैसे पूछा है कि क्या ढाँचा होगा? ढाँचा कोई नहीं होगा, लेकिन जैसे यह बात कृष्ण भी कहेंगे कि इस रास्ते से चलो, बुद्ध भी कहेंगे कि इस रास्ते से चलो, महावीर भी कहेंगे कि इस रास्ते से चलो, शंकर भी कहेंगे कि इस रास्ते से चलो। और अगर झंझट बनी और शंकर से किसी ने पूछा कि बुद्ध के रास्ते के बावत क्या ख्याल है, तो वे कहेंगे कि वह बिलकुल गलत है। और बुद्ध से अगर किसी ने पूछा कि महावीर के रास्ते के बाबत क्या ख्याल है, तो बुद्ध कहेंगे कि वह बिलकुल गलत है। और महावीर से किसी ने पूछा कि बुद्ध के रास्ते के बावत क्या ख्याल है, तो महावीर कहेंगे, भटकना हो तो बिलकुल ठीक है। इस मामले में तो बिलकुल एक ही बात होगी।

यह जो ऊपर से ढाँचे नहीं दिखायी पड़ेंगे, लेकिन अगर बहुत गहरे में खोज-बीन की तो बहुत जीवंत 'पैटर्न', 'लिव्हिंग पैटर्न' होंगे। 'पैटर्न' भी 'डैड' और 'लिव्हिंग' हो सकते हैं। एक चित्रकार एक चित्र बनाता है, वह 'डैड' होता है, लेकिन एक चित्र प्रकृति बनाती है, वह 'लिव्हिंग' होता है। एक चित्रकार भी एक वृक्ष बनाता है, लेकिन वह मरा हुआ है। एक वृक्ष प्रकृति भी बनाती है, वह जीवंत होता है। वह प्रतिपल बदल रहा है। कुछ पत्ते गिर गये, कुछ आ रहे, कुछ जा रहे, कुछ फूट रहे, हवाएँ हिला रही हैं।

एक सूर्य सुबह ऊगता है और वानगॉग भी सूर्योदय का एक चित्र बनाता है। लेकिन वानगॉग के सूर्योदय का चित्र ठहरा हुआ है—'स्टेटिक', 'स्टेगनेंट' है। सुबह का सूरज कभी नहीं ठहरता। ऊगता चला जाता है, कहीं नहीं ठहरता। इतना ऊगता चला जाता है कि डूब जाता है, पर एक क्षण नहीं ठहरता है।

जिन्दगी में जो 'पैटर्न' हैं, वे सब जीवित हैं। वे ऐसे ही हैं जैसे किसी वृक्ष के नीचे खड़े हो जायें। छाया से छनकर धूप की किरणें आती हैं। वृक्ष में हवाएँ दौड़ती हैं, नीचे छाया और धूप का एक जाल बन जाता है। वह प्रतिपल कँपता रहता है, बदलता रहता है—प्रतिपल। स्थितप्रज्ञ की प्रज्ञा तो स्थिर होती है, लेकिन उसके जीवन का 'पैटर्न' बिलकुल जीवंत होता है, वह प्रतिपल बदलता रहता है।

कृष्ण से ज्यादा बदलता हुआ व्यक्ति खोजना मुश्किल है। नहीं तो हम सोच ही नहीं सकते कि एक आदमी बांसुरी भी बजाये और वही आदमी सुदर्शन चक्र लेकर भी खड़ा हो जाय। और एक ही आदमी गोपियों के साथ नाचे भी, इतना कोमल हो, और वही आदमी युद्ध के लिए इतना सख्त हो जाय। और वही आदमी नदी में स्नान करती स्त्रियों के कपड़े लेकर वृक्ष पर चढ़ जाय, और वही आदमी नग्न होती द्रौपदी के लिए वस्त्र बढ़ाता रहे, बढ़ाता रहे। यह एक ही आदमी के इतने बदलते 'पैटर्न्स'!

जिन्होंने कृष्ण को गोपियों के वस्त्र उठाकर वृक्ष पर बैठते देखा होगा, क्या वे सोच सकते थे कभी कि किसी नग्न होती स्त्री के यह वस्त्र बढ़ायेगा? भूल कर भी ऐसा नहीं सोच सकते थे। क्या कोई सोच सकता था कि यह आदमी, जो मोर के पंख बाँधकर और स्त्रियों के बीच नाचता है, यही आदमी युद्ध के लिए कभी जगत् की सबसे मुखर वाणी बन जायेगा? कोई सोच नहीं सकता था। मोर के पंखों से और युद्धों से कोई संबंध है, संगति है? लेकिन यह मृत आदमी नहीं है, मोर के पंख इसे बांधते नहीं हैं। यह मृत आदमी नहीं है, बाँसुरी की ध्वनि इसे बाँधती नहीं। यह मृत आदमी नहीं है, यह जीवित आदमी है।

जीवित आदमी का मतलब यही है, 'रिस्पोंसिव' है। जगत् जो भी स्थिति लायेगा, उसमें उत्तर देगा और उत्तर 'रेडीमेड' नहीं होंगे। स्थितप्रज्ञ के उत्तर कभी भी 'रेडीमेड' नहीं हैं, तैयार नहीं हैं। वे 'रेडीमेड' कपड़े की तरह नहीं हैं, वे बने-बनाये कपड़े नहीं हैं कि कोई भी पहन ले। प्रतिपल जीवन को दिये गये उत्तर से, प्रतिपल जीवन के प्रति हुई संवेदना से, सब कुछ निकलता है। इसमें एक अनुशासन नहीं है ऊपर, पर भीतर एक गहरा अनुशासन है।

एक बात और। जिनके जीवन में ऊपर अनुशासन होता है, उनके जीवन में ऊपर अनुशासन इसलिए होता है कि उन्हें 'इनर डिसिप्लिन' का भरोसा नहीं होता। उनके भीतर कोई डिसिप्लिन नहीं। जिन्हें भीतर के अनुशासन का कोई भरोसा नहीं, वे ऊपर से अनुशासन बाँधकर चलते हैं। लेकिन जिन्हें भीतर के अनुशासन का भरोसा है। वे ऊपर से बिलकुल स्वतंत्र होकर चलते हैं। उन्हें कोई डर ही नहीं है। वे तैयार होकर नहीं जीते, वे जीते हैं; क्योंकि वे तैयार हैं। जो भी स्थिति आयेगी उसमें उत्तर उनसे आयेगा। उस उत्तर के लिए पहले से तैयार होने की कोई भी जरूरत नहीं है।

श्री भगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

उसके उपरान्त श्री कृष्ण भगवान् बोले : हे अर्जुन, जिस काल में यह पुरुष मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग देता है, उस काल में आत्मा से ही आत्मा में संतुष्ट हुआ, स्थिर बुद्धिवाला कहा जाता है।

भगवान श्री : स्वरूप से संतुष्ट, 'टु बी कटेंट विथ वनसेल्फ,' इसे स्थितप्रज्ञ का पहला लक्षण कृष्ण कहते हैं। हम कभी स्वयं से संतुष्ट नहीं हैं। अगर हमारा कोई भी लक्षण कहा जा सके, तो वह है: स्वयं से असंतुष्टता। हमारे जीवन की पूरी धारा ही स्वयं से असंतुष्ट होने की धारा है। अकेले में हमें कोई छोड़ दे तो अच्छा नहीं लगता, क्योंकि अकेले में हम अपने ही साथ रह जाते हैं। हमें कोई दूसरा चाहिए 'कम्पनी' चाहिए, साथ चाहिए। तभी हमें अच्छा लगता है, जब कोई और साथ हो।

बड़े मजे की बात है कि दो आदमियों को साथ होकर अच्छा लगता है। और इन दोनों आदमियों को ही अकेले में बुरा लगता है। जो अपने साथ ही आनंदित नहीं है, वह दूसरे को आनंद दे पायेगा? और जो अपने को भी इस योग्य नहीं मानता कि खुद को आनन्द दे पाये, वह दूसरे को आनन्द कैसे दे पायेगा? करीब-करीब हमारी हालत ऐसी है कि जैसे दो भिखारी रास्ते पर मिल जायँ और एक दूसरे के सामने भिक्षा पात्र फैला दें।

मैंने सुना है, एक गांव में दो ज्योतिषी रहते थे। सुबह दोनों निकलते थे, तो एक दूसरे को अपना हाथ दिखा लेते थे कि आज कैसा धंधा चलेगा! हम

सब स्वयं से बिलकुल राजी नहीं हैं। अकेलापन भारी हो जाता है। जितना हम अपने से ऊब जाते हैं, उतना हम किसी से नहीं ऊबते। रेडियो खोलो, अखबार उठाओ, मित्र के पास जाओ, होटल में जाओ, सिनेमा में जाओ, नाच देखो, मंदिर में जाओ, कहीं न कहीं जाओ, पर अपने साथ मत रहो।

कृष्ण पहला सूत्र देते हैं—**स्वयं से संतुष्ट, स्वयं से तृप्त।** स्वभावत: जो अपने से तृप्त नहीं है, उसकी चेतना सदा दूसरे की तरफ बहती रहेगी, उसकी चेतना सदा दूसरे की तरफ कँपती रहेगी। असल में जहाँ हमारा संतोष है, वहीं हमारी चेतना की ज्योति मुड़ जाती है। मिलता है वहाँ संतोष या नहीं, यह दूसरी बात है। लेकिन जहाँ हमें संतोष दिखायी पड़ता है, हमारे प्राणों की धारा उसी तरफ बहने लगती है।

तो हम चौबीस घंटे बहते ही रहते हैं—यहाँ-वहाँ। एक जगह को छोड़कर **अपने में होने को छोड़कर, हमारा होना, सब तरफ डावांडोल** होता है। फिर जिसके पास बैठ जाते हैं, थोड़ी देर में वह भी उबा दे सकता है। मित्र से भी ऊब जाते हैं, प्रेमी से भी ऊब जाते हैं, क्लब से भी ऊब जाते हैं, खेल से भी ऊब जाते हैं, ताश से भी ऊब जाते हैं। फिर विषय बदलने पड़ते हैं। फिर दौड़ शुरु होती है – नये 'सेंसेशन' की, नयी संवेदना की। सब पुराना पड़ता जाता है तो मन कहता है : नया लाओ, नया लाओ, नया लाओ। इस प्रकार हम चीजें दोहराते चले जाते हैं। लेकिन हम कभी यह नहीं देखते कि जब मैं अपने से ही असंतुष्ट हूँ, तो मैं कहाँ संतुष्ट हो सकूंगा? जब मैं भीतर ही बीमार हूँ, तो मैं किसी के भी साथ होकर कैसे स्वस्थ हो सकूंगा? जब दुख मेरे भीतर ही है, तब किसी और का सुख मुझे कैसे भर पायेगा? हाँ, थोड़ी देर के लिए धोखा हो सकता है।

लोग मरघट पर ले जाते हैं किसी को, कंधे पर रखकर उसकी अर्थी को, तो रास्ते में कन्धा बदल लेते हैं। एक कंधा दुखने लगता है, तो दूसरे कंधे पर अर्थी कर लेते हैं। लेकिन क्या अर्थी का वजन कम होता है? नहीं, दुखा हुआ कंधा थोड़ी राहत पा लेता है। नये कंधे पर थोड़ी देर भ्रम होता है कि ठीक है। फिर दूसरा कंधा भी दुखने लगता है। लेकिन सिर्फ वजन के ट्रान्सफर (हस्तान्तरण) से क्या अन्तर पड़ता है? कोई अन्तर नहीं पड़ता है। अपने पर वजन है, तो कंधे बदलने से कुछ न होगा। यदि भीतर दुख है, तो साथी बदलने से कुछ न होगा।

दूसरे में सुख खोजना, संतोष खोजना ही प्रज्ञा की अस्थिरता है और

स्वयं में संतोष पा लेना ही प्रज्ञा की स्थिरता है। लेकिन स्वयं में संतोष वही पा सकता है, जो—दूसरे में संतोष नहीं मिलता है—इस सत्य का अनुभव करता है। जब तक यह भ्रम बना रहता है कि इसमें नहीं मिला तो दूसरे में मिल जायगा, दूसरे में नहीं तो तीसरे में मिल जायगा—जब तक यह भ्रम बना रहेगा तब तक यह प्रज्ञा जन्मों-जन्मों तक अस्थिर रहेगी। जब तक यह 'इलूजन', यह भ्रम पीछा करेगा कि इस स्त्री से सुख नहीं मिला, दूसरी में मिल सकता है; इस पुरुष में सुख नहीं मिला, दूसरे में मिल सकता है; इस मकान में सुख नहीं मिला, दूसरे में मिल सकता है; इस कार में सुख नहीं मिला, दूसरी में मिल सकता है—जब तक यह भ्रम बना रहेगा कि बदलाहट में सुख मिल सकता है, तब तक प्रज्ञा डोलती रहेगी, कम्पित होती ही रहेगी। यह विषयों की आकांक्षा, यह दूर के ढोल का सुहावनापन, चित्त को कंपाता ही रहेगा।

आदमी बहुत अद्भुत है। उसका सबसे बड़ा अद्भुत रहस्य जो है, वह यह है कि वह अपने आप को धोखा देने में अनंत रूप से समर्थ है। असीम उसकी सामर्थ्य है, धोखा देने की, धोखा खाने की। हर चीज से धोखा टूट जाये, पर टूट नहीं पाता, इसके पहले ही वह दूसरे धोखे का इन्तजाम कर लेता है।

बर्नार्ड शॉ ने कहीं कहा है: कैसा मजेदार है मन! एक जगह से उसका तम्बू उखड़ भी नहीं पाता कि दूसरी जगह खूँटियाँ गाड़ने का मन इन्तजाम शुरू कर लेता है। सत्य तो यह है कि मन इतना होशियार है कि इसके पहले कि एक जगह से तम्बू उखड़े, वह दूसरी जगह खूँटियां गाड़ चुका होता है।

हमारी समझ बड़ी तेज है। यदि पत्नी देख लेती है की पति उसमें थोड़ी कम रूचि ले रहा है, कम उत्सुकता दिखा रहा है, तो वह किसी बहुत गहरे इन्सटिंक्टिव (सहज इन्द्रियगत) आधार पर समझ जाती है कि खूँटियाँ किसी और स्त्री पर गड़नी शुरू हो गयी होंगी। तभी तत्काल गहरे में उसे कोई बता जाता है कि खूँटियां कहीं और गड़नी शुरू हो गयी है। और सौ में से निन्यानबे मौके पर बात सही होती है। सही इसलिए होती है कि सौ में से निन्यानबे मौके पर आदमी स्थितप्रज्ञ नहीं होता। और मन बिना खूँटियां गाड़े जी नहीं सकता। हां, एक मौके पर, कभी किसी मौके पर बात गलत हो जाती है।

यशोधरा ने भी सोची होगी यही पहली बात कि कुछ गड़बड़ है। जरूर कोई दूसरी स्त्री बीच में आ गयी होगी, अन्यथा भाग कैसे सकते थे! इसलिए बुद्ध जब बारह वर्ष बाद घर लौटे, तो यशोधरा बहुत नाराज थी। बहुत ज्यादा

नाराज थी। क्योंकि वह सोच भी नहीं सकती थी कि मन ने कहीं खूँटियां ही न गाड़ी हों या खूँटियां ही उखाड़ दी हों, सब तरफ से। फिर भी बड़े मजे की बात है कि स्त्री को इसमें ही ज्यादा सुख मिलेगा, अगर कोई दूसरी स्त्री पर खूँटियां गाड़ ले। इसमें ज्यादा पीड़ा होगी कि खूँटियां गाड़ी ही नहीं गई। यह समझ के बाहर हो जायेगा मामला।

कृष्ण से अर्जुन ने जो बात पूछी है, उसका पहला उत्तर बहुत गहरा है, मौलिक व आधारभूत है। जब तक चित्त सोचता है कि कहीं और सुख मिल सकता है, तब तक चित्त स्वयं से असंतुष्ट है और जब तक चित्त स्वयं से असंतुष्ट है, तब तक दूसरे की आकांक्षा, दूसरे की अभीप्सा उसकी चेतना को कंपित करती ही रहेगी, दूसरा उसे खींचता ही रहेगा और उसके दिये की लौ दूसरे की तरफ दौड़ती ही रहेगी, तो थिर नहीं हो सकेगी। जैसे ही—दूसरे में सुख नहीं है—इसका बोध स्पष्ट हो जाता है, जैसे ही मन दूसरों पर खूँटियां गाड़ना बंद कर देता है, वैसे सहज ही चेतना अपने में थिर हो जाती है।

बायरन ने शादी की। मुश्किल से शादी की। कोई साठ स्त्रियों से उसके संबंध थे। हमें लगेगा, कैसा पुरुष था। लेकिन अगर हमें ऐसा लगेगा तो अपने आप को धोखा दे रहे हैं। असल में ऐसा पुरुष खोजना कठिन है जो साठ स्त्रियों से भी तृप्त हो जाए। यह दूसरी बात है कि समाज का भय है। हिम्मत नहीं जुटती, व्यवस्था है, कानून है और फिर उपद्रव है बहुत।

लेकिन बायरन को एक स्त्री ने शादी करने के लिए मजबूर कर दिया। उसने कहा, 'पहले शादी, फिर कुछ और'। पहले शादी अन्यथा हाथ भी मत छूना। चर्च में शादी की घंटियां बज रही हैं, मोमबत्तियां जल रही हैं, मित्र बिदा हो रहे हैं। शादी करके बायरन नीचे उतर रहा है सीढ़ियों पर, अपनी नव-वधू का हाथ हाथ में लिए हुए और तभी सड़क से एक स्त्री जाती हुई दिखाई देती है। पत्नी का हाथ बायरन के हाथ से छूट गया। उसकी पत्नी ने चौंक कर देखा, बायरन वहां नहीं था। शरीर से ही था। उसका मन दूसरी स्त्री के पीछे चला गया था।

उसकी पत्नी ने कहा, "क्या कर रहे हैं आप?" और तब बायरन ने कहा, "अरे, तुम हो? जैसे ही तुम्हारा हाथ मेरे हाथ में आया, तुम मेरे लिए व्यर्थ हो गयी। मेरा मन एक क्षण को उस स्त्री के पीछे चला गया और मैं कामना करने लगा कि काश! वह स्त्री मुझे मिल जाये।"

इमानदार आदमी है बायरन, नहीं तो पहले ही दिन विवाहित स्त्री से

यह कहने की इतनी हिम्मत मुश्किल है। साठ साल के बाद भी मुश्किल पड़ता है कहना। पहला दिन, पहला दिन भी नहीं, अभी सीढ़ियां उतर रहा है चर्च की। पत्नी चौक कर खड़ी हो गयी। लेकिन बायरन ने कहा कि जो सत्य है वही मैंने तुमसे कहा है।

ऐसा ही है सत्य, हम सब के बाबत। कभी आपने सोचा है कि जिस कार के लिए आप दीवाने हो गये थे वह पोर्च में आकर खड़ी हो गयी है। फिर, फिर वही पीड़ा। जिस मकान के लिए आप दीवाने थे कि उसके भीतर पहुँच कर न जाने कौन से स्वर्ग में प्रवेश हो जाएगा ,और प्रवेश होते ही मकान भूल गया। कोई स्वर्ग नहीं मिला और फिर स्वर्ग कहीं और दिखाई पड़ने लगा।

मृग-मरीचिका है कि सुख कहीं और है और चित्त दौड़ता रहता है। कृष्ण कहते हैं, जब सुख यहीं है भीतर, अपने में, तभी प्रज्ञा की स्थिरता उपलब्ध होती है

★

सोलहवाँ प्रवचन

प्रथम गीता ज्ञान-यज्ञ, अहमदाबाद, रात्रि, दिनांक ६ दिसम्बर, १९७०

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

तथा दुखों की प्राप्ति में उद्वेगरहित है मन जिसका और सुखों को प्राप्ति में दूर हो गयी है स्पृहा जिसकी, तथा नष्ट हो गये हैं----राग, भय और क्रोध जिसके, ऐसा मुनि स्थिर-बुद्धि कहा जाता है।

भगवान् श्री : समाधिस्थ कौन है ? स्थिर कौन है ? कौन है जिसकी प्रज्ञा थिर हुई ? कौन है जो चंचल चित्त के पार हुआ ? अर्जुन ने उसके लक्षण पूछे हैं। कृष्ण इस सूत्र में कह रहे हैं कि दुख आने पर जो उद्विग्न नहीं होता है। दुख आने पर सिर्फ वही उद्विग्न नहीं होता, जिसने सुख की कोई स्पृहा न की हो, जिसने सुख चाहा न हो। जिसने सुख चाहा हो, वह दुख आने पर उद्विग्न होगा ही। जो चाहा हो और न मिले, तो उद्विग्नता होती ही है। सुख की चाह जहाँ है, वहाँ दुख की पीड़ा होगी ही। जिसे सुख के फूल चाहिये, उसे दुख के काँटों के लिये तैयार होना ही पड़ता है।

इसलिये पहली बात कहते हैं, 'दुख आने पर जो उद्विग्न नहीं होता . . .।' दूसरी बात कहते हैं, 'सुख की जिसे स्पृहा नहीं होती, सुख की जिसे आकांक्षा नहीं होती।' ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सुख की आकांक्षा है, तो दुख की उद्विग्नता होगी। सुख की आकांक्षा ही नहीं है, तो दुख असमर्थ है, उद्विग्न करने में।

दुख को तो कोई भी नहीं चाहता है, दुख आता है। सुख को सभी चाहते हैं। इसलिये दुख को आने का एक ही रास्ता है, सुख की आड़ में।

और तो कोई रास्ता भी नहीं है। दुख को तो कोई बुलाता नहीं, निमन्त्रण नहीं देता। दुख को तो कोई कहता नहीं कि आओ। दुख का अतिथि द्वार पर आये, तो कोई भी द्वार बन्द कर लेता है। दुख का तो कोई स्वागत नहीं करता। फिर भी दुख आता तो है। दुख कहाँ से आता है? दुख, सुख की आड़ में आता है, वही है मार्ग। अगर बहुत ठीक से समझें तो दुख, सुख की ही छाया है। और भी गहरे में समझें, तो जो ऊपर से सुख दिखायी पड़ता है, वह भीतर से दुख सिद्ध होता है। कहें कि सुख केवल दिखावा है, दुख स्थिति है।

एक आदमी मछली मार रहा है नदी के किनारे बैठकर, तो काँटे में आटा लगा लेता है। आटे को लटका देता है पानी में। कोई मछली काँटे को पकड़ने नहीं आती। कोई मछली क्यों काँटे को पकड़ेगी? लेकिन आटे को तो कोई भी मछली पकड़ना चाहती है। मछली सदा आटा ही पकड़ती है। लेकिन आटे के पकड़े जाने में मछली काँटे में पकड़ी जाती है। आटा धोखा सिद्ध होता है, आवरण सिद्ध होता है। काँटा भीतर का सत्य सिद्ध होता है। सुख आटे से ज्यादा नहीं है। **हर सुख के आटे में दुख का काँटा है।** और सुख भी तभी तक मालूम होता है, जब तक आटा दूर है और मछली के मुँह में नहीं है। मुँह में आते ही वह काँटा मालूम पड़ना शुरू हो जाता है।

सुख सिर्फ दिखायी पड़ता है, मिलता सदा दुख है। और जिसने सुख चाहा हो और उसे दुख मिल जाय, तो वह उद्विग्न कैसे न हो! तो फिर उद्विग्न और कौन होगा? जिसने सुख माँगा हो और दुख आ जाय, जिसने जीवन माँगा हो और मृत्यु आ जाय, जिसने सिंहासन माँगा हो और सूली आ जाय, क्या वह उद्विग्न नहीं होगा? वह उद्विग्न होगा ही। अपेक्षा के प्रतिकूल कुछ होने से उद्विग्नता निर्मित होती है।

और भी एक बात समझ लेने जैसी है कि असल में जो सुख माँग रहा है, वह भी उद्विग्नता माँग रहा है। शायद इसका कभी ख्याल न किया हो। ख्याल तो हम जीवन में किसी चीज का नहीं करते। आँख बन्द करके जीते हैं, अन्यथा कृष्ण को कहने की जरूरत न रह जाय, हमें ही दिखाई पड़ सकता है।

सुख भी एक उद्विग्नता है, **सुख भी एक उत्तेजना है।** हाँ, प्रीतिकर उत्तेजना है। है तो आंदोलन ही। मन थिर नहीं होता सुख में भी, कँपता

है। इसलिए कभी अगर बड़ा सुख मिल जाय, तो दुख से भी बदतर सिद्ध हो सकता है। कभी आटा भी बहुत आ जाय मछली के मुख में, तो काँटे तक नहीं पहुँचती। आटा ही मार डालता है, काँटे तक पहुँचने की जरूरत नहीं रह जाती। एक आदमी को लॉटरी मिल जाय और हृदय की गति एकदम से बन्द हो जाती है। लाख रुपया! हृदय चले भी तो कैसे चले! इतने जोर से चल नहीं सकता, जितने जोर से लाख रुपये के सुख में चलना चाहिए। इतने जोर से नहीं चलता है, इसलिए बन्द हो जाता है। बड़ी उत्तेजना की जरूरत थी। हृदय नहीं चाहिए था, लोहे का फेफड़ा चाहिए था, तो लाख रुपये की उत्तेजना में भी धड़कता रहता। लाख रुपये अचानक मिल जायें, तो सुख भी भारी पड़ जाता है।

ख्याल में ले लेना जरूरी है कि सुख भी उत्तेजना है। उसकी भी मात्राएँ हैं, कुछ मात्राओं को हम सह पाते हैं। आमतौर से सुख की मात्रा किसी को मारती नहीं, क्योंकि मात्रा से ज्यादा सुख आमतौर से उतरता नहीं।

यह बहुत मजे की बात है, मात्रा से ज्यादा दुख आदमी को नहीं मार पाता, लेकिन मात्रा से ज्यादा सुख मार डालता है। दुख को सहना बहुत आसान है, सुख को सहना बहुत मुश्किल है। सुख मिलता नहीं है, इसलिए हमें पता नहीं है। दुख को सहना बहुत आसान है, सुख को सहना बहुत मुश्किल है। क्यों? क्योंकि दुख के बाहर, सुख की सदा आशा बँधी रहती है। उस उत्तेजना के बाहर निकलने की आशा बनी रहती है। इसलिये उसे सहा जा सकता है।

सुख के बाहर कोई आशा नहीं रह जाती, मिला कि आप ठप्प हुए, बन्द हुए। मिलता नहीं है, यह बात दूसरी है। आप जो चाहते हैं वह तत्काल मिल जाय, तो आपके हृदय की गति वहीं बन्द हो जायेगी, क्योंकि सुख में 'ओपनिंग' नहीं है, दुख में 'ओपनिंग' है। दुख में द्वार है, आगे सुख की आशा है, जिससे जी सकते हैं। सुख अगर पूरा मिल जाय तो आगे फिर कोई भी आशा नहीं है। जीने का उपाय ही नहीं रह जाता। सुख भी एक गहरी उत्तेजना है।

मैंने सुना है, एक आदमी को लॉटरी मिल गयी है। उसकी पत्नी बहुत चिन्तित है, परेशान है। वह घबड़ा गयी है। उस आदमी के हाथ में कभी सौ रुपये नहीं आये थे, अब इकट्ठे पाँच लाख रुपये आ गये। पास में चर्च

है। वह पादरी के पास गयी है और उससे प्रार्थना की है कि पति को पाँच लाख की लॉटरी मिल गयी है। पति दफ्तर से लौटते होंगे। क्लर्क हैं, सौ रुपये से ज्यादा कभी देखे नहीं हाथ में, लेकिन अब मिल गया है पाँच लाख! उन्हें किसी तरह इस सुख से बचाओ। कहीं हानि न हो जाये!

पादरी ने कहा घबड़ाओ मत, एकदम से सुख पड़े तो खतरा हो सकता है, 'इन्स्टालमेंट' में पड़े, तो खत्रा नहीं हो सकता। हम आते हैं, हम खण्ड-खण्ड सुख देने का इन्तजाम करते हैं।

पादरी बुद्धिमान था, आ गया, बैठ गया। पति घर लौटा। पादरी ने सोचा पाँच लाख इकट्ठा कहना ठीक नहीं, पचास हजार से शुरू करो। उसने पति से कहा, सुना तुमने, पचास हजार लॉटरी में मिले। उसकी आँखों की तरफ देखा कि इतना पचा जाय, तो फिर और पचास हजार की बात करूँ। लेकिन उस आदमी ने कहा, सच! अगर पचास हजार मुझे मिले हैं, यह सच है, तो पच्चीस हजार मैं चर्च को दान देता हूँ। यह सुनते ही पादरी गिर पड़ा। पादरी का 'हार्ट-फेल' हो गया। पच्चीस हजार! पाँच पैसे कोई चर्च को देता नहीं। सुख का आधार अगर आकस्मिक हो, तीव्र हो, तो जीवनधारा तक टूट सकती है। जीवन के तार टूट सकते हैं।

सुख भी उत्तेजना है—प्रीतिकर। अपने आप में तो सिर्फ उत्तेजना है। हमारे मनोभाव में प्रीतिकर है, क्योंकि हमने उसे चाहा है। इसलिए एक और बात ध्यान में रख लेनी जरूरी है कि सब सुख 'कनव्हर्टिबल' हैं, सब सुख, दुख बन सकते हैं। और सब दुख, सुख बन सकते हैं। कुल सवाल इतना है कि चाह है। चाह का फर्क हो जाना चाहिए।

एक आदमी पहली दफा शराब पीता है, तो प्रीतिकर नहीं होती है। स्वाद तिक्त ही होता है, अप्रीतिकर ही होता है। इसलिए 'टेस्ट डेव्हलप' करना पड़ता है। शराब पीने वाले को स्वाद विकसित करना पड़ता है। फिर-फिर पीता है वह। मित्रों की शान में, लोगों की तारीफ में, कि मैं कोई कमजोर तो नहीं हूँ—पीता है, अभ्यास हो जाता है। फिर वह तिक्त स्वाद भी प्रीतिकर लगने लगता है।

सिगरेट जब कोई पहली दफ़ा पीता है, तो खाँसी भी आती है, तकलीफ भी होती है। फिर भी सिगरेट के साथ जुड़ी है अकड़। सिगरेट के साथ जुड़ा है अहंकार, सिगरेट के साथ शान के प्रतीक जुड़े हैं। उस शान के लिए

आदमी उस दुख को झेलता है और अभ्यासी हो जाता है। फिर वह सिगरेट का गन्दा स्वाद—धुएं में और कोई अच्छा स्वाद हो ही नहीं सकता—प्रीतिकर लगने लगता है, सुख हो जाता है।

दुख का भी अभ्यास सुख बन सकता है और सुख के अभ्यास से भी दुख निकल आता है। आये हैं आप मेरे पास, मैंने गले आपको लगा लिया, बहुत प्रीतिकर लगा है क्षण भर को, लेकिन मिनट होने लगा है, अब आप घबड़ा रहे हैं। दो मिनट होने लगा, अब आप छूटना चाहते हैं। तीन मिनट हो गये, अब आप कहते हैं, छोड़िये भी। चार मिनट हो गये, अब आप घबराते हैं कि मैं कोई पागल तो नहीं हूँ! पाँच मिनट हो गये, अब आप पुलिस वाले के लिए चिल्लाते हैं। यह हुआ क्या? पहले क्षण तो कह रहे थे हृदय से, कि मिलकर बड़ा आनन्द मिला है। पाँच मिनट में आनन्द खो गया है। अगर मिला था, तो पाँच मिनट में हजार गुना हो जाना चाहिए। एक सेकेंड में इतना मिला, तो दूसरे में और ज्यादा, तीसरे में और ज्यादा। नहीं वह पहले सेकेंड में भी मिला नहीं था, सिर्फ सोचा गया था। दूसरे सेकेण्ड में समझ बढ़ी, तीसरे में समझ और बढ़ी, पाया कि कुछ भी नहीं है। जिन हाथों को हम हाथों में लेने को तरसते हैं, थोड़ी देर में सिवाय पसीने के उनसे कुछ भी नहीं निकलता है।

सब सुख की उत्तेजनाएं परिचित होने पर दुःख हो जाती हैं, सब दुःख की उत्तेजनाएँ परिचित होने पर सुख बन सकती हैं। सुख और दुख **'कनव्हर्टिबल' हैं, एक दूसरे में बदल सकते हैं।** इसलिए बहुत गहरे में दोनों एक हैं, दो नहीं हैं। क्योंकि बदलाहट उन्हीं में हो सकती है, जो एक ही हों। सिर्फ हमारे मनोभाव में फर्क पड़ता है, चीज वही है, कोई अन्तर नहीं है।

इसीलिए कृष्ण ने दो सूत्र कहे। पहला कि दुख में जो उद्विग्न न हो, दुख में जो अनुद्विग्नमना हो। दूसरा—सुख की जिसे स्पृहा न हो, जो सुख की आकांक्षा और माँग किये न बैठा हो। तीसरी बात—क्रोध व भय जिसमें न हों।

यहाँ एक बात को बहुत ठीक से ध्यान में ले लें, क्योंकि उसके ध्यान में न होने से सारे मुल्क में बड़ी नासमझी हुई है। कृष्ण कह रहे हैं कि जिसमें क्रोध और भय न हो, वह समाधिस्थ है। वे यह नहीं कह रहे हैं कि जो क्रोध

और भय को छोड़ देता है वह समाधिस्थ हो जाता है। वे यह कह रहे हैं कि जो समाधिस्थ है, उसमें क्रोध और भय नहीं पाये जाते हैं। इन दोनों बातों में गहरा फर्क है। क्रोध और भय जो छोड़ दे, वह समाधिस्थ हो जाता है, ऐसा वे नहीं कह रहे हैं। वे कह रहे हैं कि जो समाधिस्थ हो जाता है, उसका क्रोध और भय छूट जाता है।

आप कहेंगे, इसमें क्या फर्क पड़ता है ? यह दोनों एक ही बात है। दोनों एक बात नहीं हैं। ये बहुत फासले पर हैं, ये विपरीत बातें हैं। जिस आदमी ने सोचा कि क्रोध और भय छोड़ने से समाधि मिल जाती है, वह क्रोध और भय को छोड़ने में लगा रहेगा, समाधि को कभी नहीं पा सकता। जिस आदमी ने सोचा कि क्रोध और भय को छोड़ने से समाधि मिल जाती है, वह क्रोध और भय से लड़ेगा। और **क्रोध से लड़कर, आदमी क्रोध के बाहर नहीं होता।** भय से लड़ कर, आदमी भय के बाहर नहीं होता। भय से लड़कर आदमी और सूक्ष्म भयों में उतर जाता है। **क्रोध से लड़कर आदमी और सूक्ष्म तलों पर क्रोधी हो जाता है।**

मैंने एक कहानी सुनी है। मैंने सुना है कि एक साधु की ख्याति हो गयी है कि उसने क्रोध पर विजय पा ली है। उसका एक मित्र उसके परीक्षण के लिये गया। सुबह थी, सर्दी थी अभी, लेकिन सूरज ऊग आया था। शायद साधु चार बजे रात से उठ आया होगा। आग जलाकर आग तापता था, फिर आग भी बुझ गयी थी, फिर राख ही रह गयी थी। अब भी साधु बैठा था। मित्र आया, उसने पास आकर नमस्कार किया और कहा कि थोड़ी बहुत आग बची या नहीं ? साधु ने कहा, नहीं, देखते नहीं, अंधे हो ? कोई आग नहीं है, राख ही राख है। वह आदमी हँसा। उसने कहा, नहीं बाबा जी, थोड़ी बहुत तो बची ही होगी, राख के नीचे दबी होगी ? साधु कहता है, आदमी कैसे हो ? मैं कहता हूँ, नहीं है आग। उस आदमी ने कहा, जरा कुरेदकर तो देखें, शायद कहीं कोई चिनगारी पड़ी ही हो। साधु का हाथ अपने चिमटे पर चला गया। उसने कहा, तू आदमी है कि जानवर है ? मैं कहता हूँ, नहीं है कोई आग। उस आदमी ने कहा, बाबा जी, अब तो चिनगारी भी नहीं, लपट बन गयी है।

वह जिस आग की बात कर रहा है, वह क्रोध है, वह जिस राख की बात कर रहा है, वह ऊपर का दमन है। पता नहीं, उस राख में आग थी या नहीं

लेकिन साधु में काफी आग थी। वह निकल आयी। जरा सी चोट और वह निकल आई। उस आदमी ने कहा, मैंने भी यही सुना था कि राख ही राख बची है, आग नहीं बची है। यही देखने आया था, लेकिन आग काफी बची है। राख ऊपर का ही धोखा है, भीतर आग है।

क्रोध से जो लड़ेगा, वह ज्यादा से ज्यादा क्रोध को भीतर दबाने में समर्थ हो सकता है। भय से जो लड़ेगा, वह ज्यादा से ज्यादा निर्भय होने में समर्थ हो सकता है, अभय होने में नहीं।

निर्भय का इतना ही मतलब है कि भय को भीतर दबा दिया। अब भय आता है, तो कोई फिक्र नहीं, डटे ही रहते हैं। अभय का मतलब बहुत और है। **अभय का मतलब है—भय का अभाव। निर्भय का अर्थ है—भय के बावजूद भी डटे रहने की हिम्मत।** अभय का मतलब 'फियरलेसनेस'। निर्भय का मतलब 'ब्रेव्हरी'। बड़ा से बड़ा बहादुर आदमी भी भयभीत होता है, अभय नहीं होता। अभय होने का मतलब है कि अब भय है ही नहीं, निर्भय होने का भी उपाय नहीं है।

कृष्ण लक्षण गिना रहे हैं। 'कॉजेज़' नहीं, 'कॉंसिक्वेंसेज' गिना रहे हैं। वे कारण नहीं गिना रहे हैं, लक्षण गिना रहे हैं कि अगर क्रोध न हो, अगर भय न हो, तो ऐसा आदमी स्थिर-बुद्धि है। लेकिन हम आमतौर से उल्टा कर लेते हैं। हम कह सकते हैं कि एक आदमी का शरीर अगर गरम न हो, तो उस आदमी को बुखार नहीं है। ठीक है, इसमें कोई अड़चन नहीं मालूम पड़ती है। एक आदमी का शरीर गरम न हो, तो फिर बुखार नहीं है। लेकिन एक आदमी का शरीर गरम हो, तो उसके शरीर को ठण्डा करने से बुखार नहीं जाता। पानी डालने से बुखार नहीं जाता है। बुखार अगर पानी डालकर मिटाने की कोशिश की, तो बीमारी के जाने की उम्मीद कम, बीमार के जाने की उम्मीद ज्यादा है।

शरीर पर जब बुखार देखता है चिकित्सक, 'टेम्परेचर' देखता है, तो यह जानने के लिये देखता है कि बीमारी कितनी है भीतर ? जिससे इतना ताप बाहर है। वह ताप सिर्फ लक्षण है। वह ताप बीमारी नहीं है। शरीर कहीं भीतर गहन संघर्ष में पड़ा है। भीतरी संघर्ष के कारण बाहर उत्तप्त हो गया है। शरीर के सेल, शरीर के कोष्ठ, कहीं लड़ रहे हैं भीतर, दुश्मनों की तरह। कहीं भीतर कोई लड़ाई जारी है। कोई कीटाणु भीतर घुस गये हैं जो शरीर के कीटाणुओं से लड़ रहे हैं। शरीर के रक्षक और शरीर के शत्रुओं के बीच

गहरा संघर्ष है। उस संघर्ष की वजह से सारा शरीर उत्तप्त हो गया है। उत्तप्त होना सिर्फ लक्षण है, 'सिम्प्टम्' है, बीमारी नहीं है। और अगर गरम होने को ही कोई बीमारी समझ लें, तो ठण्डा करना इलाज है। तो पानी डाल ही सकते हैं। बुखार तो नहीं, बीमार चला जायेगा। नहीं, इतना ही समझें कि यदि बुखार है, तो भीतर बीमारी है कोई। अब बीमारी को अलग करें। और बीमारी अलग हुई, यह तब जानें, जब शरीर पर बुखार न रह जाय।तो चिकित्सक कहता है कि जब शरीर पर गर्मी नहीं है, तब आदमी स्वस्थ है। लेकिन शरीर पर गर्मी घटाने का उपाय स्वास्थ्य की विधि नहीं है।

कृष्ण जब कह रहे हैं कि भय नहीं रह जाता, क्रोध नहीं रह जाता, तो समझना कि क्रोध और भय 'टेम्परेचर' हैं, जो बीमार आदमी के, 'डिसीज्ड माइंड' के भीतर, जिसके मन के भिन्न-भिन्न अंश आपस में लड़ रहे हैं, जो भीतर कलह से भरा है, उसके भीतर होते हैं। **कलह-ग्रस्त मन में क्रोध का बुखार होता है।** कलह-ग्रस्त मन में कमजोरी आ जाती है। स्वयं से लड़कर आदमी टूट जाता है, अपनी शक्ति को खोता है और इसलिये भयभीत हो जाता है। क्रोध और भय, स्वयं जब आदमी मन में संघर्ष में पड़ा होता है, तब लक्षण की तरह खबर देते हैं कि आदमी भीतर बीमार है, उसका चित्त रुग्ण है। बस इतनी ही खबर देते हैं। और जब क्रोध और भय नहीं होते, तब खबर मिलती है कि भीतर चित्त स्वस्थ है। **चित्त का स्वास्थ्य समाधि है, अंतर स्वास्थ्य समाधि है।**

इस भेद को इसलिये आपसे कहना चाह रहा हूँ कि आप क्रोध और भय से मत लड़ने लग जाना। क्रोध और भय को देखना, जानना, पहचानना। उनकी पहचान से पता चलेगा कि भीतर समाधि नहीं है। समाधि लाने के उपाय अलग ही हैं। समाधि लाने के उपाय करना। समाधि आ जायगी, तो क्रोध और भय चले जायेंगे। 'टेम्परेचर' कहेगा कि नहीं, थर्मामीटर बतायेगा कि नहीं। जब क्रोध और भय मालूम ही न पड़ें, तब समझना कि समाधि फलित हुई है। लेकिन हम इससे उल्टा करते हैं कि क्रोध और भय को दबा लेते हैं। दबाने से खतरा है। वह खतरा यह है कि समाधि तो भीतर फलित नहीं होती है और दबे हुये क्रोध और भय के कारण हमें पता भी नहीं चलता कि भीतर समाधि नहीं है। हम लक्षणों में धोखा दे देते हैं।

मैंने गुरजिएफ का नाम बीच में लिया था। मैंने कहा कि गुरजिएफ के

पास कोई आता, तो वे उसे शराब पिलाते थे। वे न केवल शराब पिलाते थे, बल्कि जब कोई आदमी साधना के लिये उसके पास आता, तो वह अजीब-अजीब तरह के 'टेम्पटेशन' पैदा करता। वह अजीब 'सिचुएशन्स', स्थितियाँ पैदा करता है। वह एक आदमी को इस हालत में ला देता है कि उसको पता ही न चले कि उसको क्रोध दिलाया जा रहा है, उसका पूरा क्रोध जगवा देता। वह ऐसी हालत पैदा कर देता कि वह आदमी बिलकुल पागल होकर क्रुद्ध हो जाता। और जब वह पूरे क्रोध में आ जाता, तब वह उस आदमी को कहता कि जरा जागकर देख कि कितना क्रोध है तेरे भीतर। जब तू आया था, तब इतना क्रोध नहीं था। लेकिन तू यह मत समझना कि यह क्रोध अभी आ गया है। यह था तब भी, लेकिन भीतर दबा था, अप्रगट था। इसे पहचान ले, क्योंकि यही लक्षण है।

हमें पता नहीं चलता कि हमारे भीतर कितना क्रोध दबा है। आमतौर से हम समझते हैं कि कभी-कभी कोई हमें क्रोध करवा देता है, यह बड़ी ही झूठी समझ है। दुनिया में कोई किसी को क्रोधित नहीं करवाता, जब तक कि भीतर क्रोध मौजूद न हो। दूसरे लोग तो केवल निमित्त बन सकते हैं, खूंटियां बन सकते हैं। कोट आपका ही टँगता है। कोट खूंटी का नहीं होता। आपके पास कोट होता है, तो आप टाँग देते हैं। आप यह नहीं कह सकते कि इस खूंटी ने कोट टँगवा लिया। कोट तो था ही। चाहे हाथ पर टाँगते, चाहे साँकल पर टाँगते, चाहे खीली पर टाँगते, चाहे कंधे पर टाँगते। कहीं न कहीं टाँगते। कोट तो था ही आपके पास। खूंटी ने सिर्फ रास्ता दिया, आपका कोट टाँग लिया। खूंटी जिम्मेवार नहीं, जिम्मेवार आप ही हैं। खूंटी सिर्फ निमित्त है।

एक आदमी मुझे गाली देता है। आग भड़क उठती है, क्रोध आ जाता है। तो मैं कहता हूँ कि इस आदमी ने क्रोध पैदा करवा दिया। यदि यह आदमी क्रोध पैदा करवा सकता है, तो मैं आदमी हूँ कि मशीन हूँ, कि इसने बटन दबायी तो क्रोध पैदा हो गया! नहीं, क्रोध मेरे भीतर उबल रहा है। यह आदमी सिर्फ निमित्त है। और ऐसा मत कहिये कि यह आदमी मुझको खोज रहा है। असलियत तो यह है कि मैं इस आदमी को खोज रहा हूँ। अगर यह न मिले तो मैं मुसीबत में पड़ जाऊँ। यह मिल जाता है, तो मैं हल्का हो जाता हूँ, 'अनबर्डन्ड' हो जाता हूँ, क्रोध उतर जाता है। जैसे एक

कुएँ में हम बाल्टी डालते हैं। बाल्टी में पानी भरकर आ जाता है, लेकिन कुएँ में पानी तो होना चाहिये न! बाल्टी खाली कुएँ से पानी नहीं ला सकती, सूखे कुएँ से पानी नहीं ला सकती। खड़खड़ा कर लौट आयेगी। कह देगी, नहीं है। दूसरे आदमी की गाली ज्यादा से ज्यादा बाल्टी बन सकती है, मेरे भीतर। लेकिन क्रोध वहाँ होना चाहिये, तभी उस बाल्टी में भर कर बाहर आ पायेगा।

सब भरा है भीतर। दबा-दबा कर बैठे हैं। और कागजी दबाव है, बड़ा दबाव नहीं है। जरा खरोंच दो, अभी उभर पड़ेगा। लेकिन उसे देखना जरूरी है।

तो कृष्ण की इस बात से यह मत समझ लेना कि क्रोध को दबा लिया, भय को दबा लिया, तो निश्चिन्त हो गये, समाधिस्थ हो गये, स्थिर-बुद्धि भी हो गये! इतना सस्ता मामला नहीं है। दबाने के बजाय क्रोध को उभार-कर ही देखना। और जब कोई गाली दे, तो अपने भीतर देखना कि कितना उभरता है। और जब कोई गाली दे, तो उसे धन्यवाद देना कि तेरी बड़ी कृपा! तू अगर बाल्टी न लाता, तो मुझे अपने कुएँ की खबर ही न मिलती। ऐसे ही कभी-कभी बाल्टी ले आना।

कबीर ने कहा है 'निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।' साधुओं से कबीर ने कहा है कि साधुओं, अपने निन्दक को आँगन में कुटी छवा कर अपने पड़ोस में बसा लो, ताकि जैसे ही तुम बाहर निकलो, वह बाल्टी डाल दे। तुम्हारे भीतर जो पड़ा है, वह तुम्हें दिखायी पड़ जाय। क्योंकि उसे तुम देख लो, उसे तुम पहचान लो, जिससे अपनी असली स्थिति का बोध हो।

जिसे अपनी असली स्थिति का बोध नहीं है, वह अपनी परम स्थिति को कभी प्राप्त नहीं हो सकता है। जो अपनी वास्तविक, यथार्थ स्थिति को जान लेता है, आज के क्षण में, वह अपनी परम स्थिति को, परम स्वभाव को भी उपलब्ध करने की यात्रा पर निकल सकता है।

क्रोध और भय इंगित हैं, सूचक हैं, सिम्बॉलिक हैं, 'सिम्प्टमैटिक' हैं। उनसे 'डायग्नोसिस' कर लेना, उनसे अपना निदान कर लेना कि ये हैं मेरे भीतर, समाधि नहीं है। लेकिन इनको दबा कर मत सोच लेना कि इनको दबाने से समाधि मिल जाती है। समाधि आयेगी, तो ये 'नहीं' हो जायेंगे। इनके दबाने से समाधि फलित नहीं होगी। इसलिये कृष्ण ने बहुत ठीक सूत्र कहे हैं।

दुख उद्विग्न न करे। सुख की आकांक्षा न हो, क्रोध उत्तप्त न करे, भय कँपाये नहीं, तो जानना अर्जुन, ऐसा व्यक्ति समाधिस्थ होता है।

●**प्रश्नकर्ता :** जिसकी प्रज्ञा जाग जाती है, थिर हो जाती है, क्या उसे कष्टों का पता नहीं चलता है?

भगवान् श्री : जिसकी प्रज्ञा जागी, स्थिर हुई, अकंप हुई, क्या उसे कष्ट का पता नहीं चलेगा? अब यहाँ एक नया शब्द बीच में आया है, जो अभी चर्चा में नहीं था। सुख था, दुख था, कष्ट नहीं था। उनके फासले को समझना जरूरी होगा। कष्ट तथ्य है, दुख व्याख्या है। पैर में काँटा चुभता है, तो चुभन तथ्य है, 'फैक्ट' है। स्थित-प्रज्ञ को भी कष्ट होगा। स्थित-प्रज्ञ मर नहीं गया है कि पैर में काँटा चुभे तो पता नहीं चले। पता चलेगा। शायद आपसे ज्यादा पता चलेगा। क्योंकि उसकी प्रज्ञा ज्यादा शांत है, ज्यादा संवेदनशील है। उसकी अनुभूति की क्षमता आपसे गहरी और घनी है। उसका बोध, उसकी संवेदनशीलता आपसे प्रगाढ़ है, अनन्तगुना प्रगाढ़ है। शायद आपको जो काँटा चुभा है, इस तरह कभी पता ही नहीं चला होगा, जैसा उसको पता चलेगा। क्योंकि पता चलना ध्यान की क्षमता पर निर्भर होता है।

एक युवक खेल रहा है हॉकी, मैदान में। पैर में चोट लग गयी है, हाकी की। खून बह रहा है, अँगूठे में। नाखून टूट गया है। उसे कुछ पता नहीं है। सारे देखने वाले देख रहे हैं कि पैर से खून टपक रहा है। वह दौड़ रहा है, तो खून की बूँदों की कतार बन जाती है। फिर खेल खत्म हुआ और वह पैर पकड़ कर बैठ गया। वह कह रहा है कि कब यह चोट लग गयी, मुझे कुछ पता नहीं कि यह कब हुआ? चोट लगी और पता नहीं चला?

असल में जब उसे चोट लगी, तब उसकी 'अटेंशन' कहीं और थी, ध्यान कहीं और था। और ध्यान के बिना पता नहीं चल सकता है। अंगूठे तक पहुँचने के लिए ध्यान उसके पास था ही नहीं। ध्यान 'एंगेज्ड' था। 'आकुपाइड' था, पूरा का पूरा संलग्न था खेल में। तब ध्यान के पास सुविधा न थी कि अँगूठे तक जाय। तो अंगूठा पड़ा रहा, चिल्लाता रहा। उसने कहा, चोट लगी है, चोट लगी है। लेकिन कहीं कोई सुनवायी नहीं थी। सुनने वाला मौजूद नहीं था। सुनने वाला उस यात्रा पर जाने को

राजी नहीं था, जहाँ अंगूठा है । सुनने वाला अभी कहीं और था, व्यस्त था। फिर खेल बन्द हुआ। व्यस्तता समाप्त हुई। सुनने वाले का ध्यान, 'अटेंशन' वापस आया। अब फुर्सत थी। वह पैर की तरफ भी गया। वहाँ पता चला कि खून बह रहा है, चोट लग गयी है, दर्द है।

स्थित-प्रज्ञ की प्रज्ञा तो पूरे समय अव्यस्त, 'अनआकुपाइड' है। जिस व्यक्ति का चित्त बिलकुल शांत है, उसकी चेतना हमेशा अव्यस्त है। चेतना कहीं भी उलझती नहीं है, सदा अपने में है। उसके पैर में अगर काँटा गड़ेगा, तो अनन्तगुना अनुभव उसे होगा। कष्ट-उत्तप्त, वह जानेगा कि पैर में कष्ट है। लेकिन पैर में कष्ट उसका, 'मुझमें दुख है', ऐसी व्याख्या नहीं बनेगा। पैर का कष्ट एक घटना है—बाहर, दूर, अलग।

ध्यान रहे, कष्ट और हमारे बीच सदा फासला है, दुख और हमारे बीच फासला नहीं है। जब हम कष्ट से 'आइडेंटिफाइड' होते हैं, तब कष्ट ही 'मैं' हो जाता हूँ, तब कष्ट दुख बनता है। वह कहेगा कि पैर में चोट है, पैर में काँटा गड़ रहा है। वह उपाय करेगा कि काँटे को निकाले, पैर से निकालना पड़ेगा। लेकिन वह इससे उद्विग्न ही नहीं है। अब यह बड़े मजे की बात है कि अगर पैर में कष्ट है, तो उद्विग्न होने से कम नहीं होता। जितना उद्विग्न आदमी होगा, उतना कष्ट को कम करने के उपाय में कमी कर देगा। जितना अनुद्विग्न आदमी होगा, उतना शीघ्र उपाय कर सकेगा।

मैं एक गाँव में ठहरा था। मेरे पड़ोस के मकान में आग लग गयी। एक बहुत मजेदार दृश्य देखने को मिला। तीन मंजिल मकान है। पूरे मकान पर टीन ही टीन छाये हुए हैं। दूसरे मंजिल पर आग लगी। बीड़ी के पत्ते रखे हुए हैं। मकान मालिक इतना उद्विग्न हो गया कि वह तीसरी मंजिल पर चढ़ गया, जहाँ उसकी टंकियाँ हैं पानी की। और उसने टंकी से बाल्टियाँ लेकर पानी फेंकना शुरू कर दिया। सारा मकान टीन से छाया हुआ है। टीन आग की तरह लाल, तप रहे हैं। पानी उन टीनों पर गिरे, और वह पानी जाकर नीचे खड़े लोगों पर गिरे, जो घर से बच्चों को निकाल रहे हैं, सामान निकाल रहे हैं। जिसके ऊपर पानी गिर जाय, वही चीख कर भागे कि मार डाला! फिर कोई उसके पास आने को तैयार न हुआ।

भीड़ खड़ी है, सारे लोग नीचे से चिल्ला रहे हैं कि तुम यह क्या पागलपन कर रहे हो? पानी डालना बन्द करो, नहीं तो तुम्हारे बच्चे अन्दर मर

जायेंगे। तुम्हारे घर से एक चीज भी निकाली न जा सकेगी। लेकिन वह आदमी बस, इतना ही चिल्ला रहा है, बचाओ! आग लग गयी! लेकिन पानी डालता चला जा रहा है। उस आदमी ने, आग ने नहीं, उस पूरे मकान को जलवा दिया। क्योंकि एक आदमी बुझाने की स्थिति में भीतर नहीं जा सकता था। एक बच्चा भी मरा, आग से नहीं, उसके पानी से। उस तक पहुँचने का कोई उपाय न रहा कि कैसे उस तक कोई चढ़कर जाय। उसका पानी इतने जोर से आता था कि कौन वहाँ चढ़ कर जायेगा। लोगों ने दूसरे मकानों पर चढ़कर बाँसों से उस पर चोट की। चिल्लाये कि भाई साहब! यह क्या कर रहे हो? वह बाँस को ऐसे ही अलग कर देता और चिल्लाता कि बचाओ आग लगी है!

उद्विग्न चित्त जो है, आत्मघाती हो जाता है। अनुद्विग्न जो उचित है, वही करता है। कष्ट हो सिर्फ, दुख न हो, तो उद्विग्न नहीं होते आप। फिर सिर्फ कष्ट के बोध से भरे होते हैं। दुख मानसिक व्याख्या है, कष्ट तथ्य है। ठीक ऐसे ही अकष्ट तथ्य है, सुख मानसिक व्याख्या है।

स्थित-प्रज्ञ कष्ट और अकष्ट को भली-भाँति जानता है। काँटे पर लिटाइए, तो उसे पता चलता है कि काँटे हैं और गद्दी पर बिठाइए, तो उसे पता चलता है कि गद्दी है। लेकिन गद्दी पर बैठने की वह आकांक्षा नहीं बाँध लेता, गद्दी पर बैठकर वह पागल नहीं हो जाता, गद्दी से वह एक नहीं हो जाता। गद्दी सुख नहीं बनती, मानसिक व्याख्या नहीं बनती, एक भौतिक तथ्य होती है। काँटे एक भौतिक तथ्य होते हैं।

स्थित-प्रज्ञ भी अनुभव में, अनुभूति में, तथ्यों के जानने में बुरी तरह संवेदनशील होता है, लेकिन व्याख्या, जो हम करते हैं, वह नहीं करता है। मृत्यु उसकी भी आती है। हम दुखी होते हैं, वह दुखी नहीं होता। वह मृत्यु को देखता है कि मृत्यु आती है। बुढ़ापा उसका भी आता है। ऐसा नहीं कि उसे पता नहीं चलता कि अब बुढ़ापा आ गया। लेकिन वह बुढ़ापे को देखता है कि जीवन का एक तथ्य है, और आता है। वह जवानी को जाते देखता और बुढ़ापे को आते देखता है। बुढ़ापे के कष्ट होंगे, शरीर जीर्ण-जर्जर होगा, लेकिन शरीर होगा। स्थित-प्रज्ञ को ऐसा नहीं लगता कि 'मैं' बूढ़ा हो रहा हूँ।

जब हम बूढ़े होते हैं, तो ऐसा नहीं लगता कि शरीर बूढ़ा हो रहा है,

ऐसा लगता है कि मैं बूढ़ा हो रहा हूँ। हमारे प्रत्येक तथ्य में हमारा 'मैं,' तत्काल समाविष्ट हो जाता है। जीवन का कोई तथ्य हमारे 'मैं' की व्याख्या के बाहर नहीं छूटता। हम प्रत्येक तथ्य को तत्काल व्याख्या, 'इंटरप्रिटेशन' बना लेते हैं। स्थित-प्रज्ञ की कोई व्याख्या नहीं है। वह 'अ' को 'अ' कहता है, 'ब' को 'ब' कहता है। वह कहीं भी अपने को जोड़ नहीं लेता। चूँकि जोड़ता नहीं, इसलिए सदा बाहर खड़ा होकर हँस सकता है।

मैंने सुना है एपिक्टीटस यूनान में, जिसको कृष्ण समाधिस्थ कहें, ऐसा एक व्यक्ति हुआ। वह कहता था, मुझे मार डालो तो भी मैं हँसता रहूँगा। मुझे काट डालो तो भी मैं हँसता रहूँगा। सम्राट ने उसे पकड़ बुलाया और कहा कि छोड़ो ये बातें। हम बातें नहीं मानते, हम कृत्य मानते हैं। दो पहलवान बुलाये, जंजीरें बाँधकर एपिक्टीटस को उनके सामने डाल दिया और कहा कि इसका एक पैर उखाड़ो। उन पहलवानों ने उसका एक पैर उखाड़ने के लिए पैर मोड़ा। एपिक्टीटस ने कहा कि बिलकुल ठीक, जरा और। अभी तुम जितना कर रहे हो, इससे सिर्फ कष्ट हो रहा है, पैर टूटेगा नहीं। जरा और, बस, जरा और कि टूट जायेगा!

सम्राट ने कहा, तू पागल तो नहीं है! अपने ही पैर को तोड़ने की तरकीब बता रहा है? एपिक्टीटस ने कहा, मुझे ज्यादा ठीक से पता चल रहा है, उन बेचारों को क्या पता चलेगा! दूसरे का पैर मरोड़ रहे हैं। मैं इधर भीतर जान रहा हूँ कि तकलीफ बढ़ती जा रही है, तकलीफ बढ़ती जा रही है, बढ़ती जा रही है। अब ठीक वह जगह है, जहाँ हड्डी टूट जायेगी। पर सम्राट ने कहा, हम तेरा पैर तोड़ रहे हैं!

एपिक्टीटस ने कहा, अगर मुझे तोड़ रहे होते, तो बात और होती। मेरे पैर को ही तोड़ रहे हैं न? मेरे पैर को आप नहीं तोड़ेंगे, तो कल मौत तोड़ देगी। और आप तो सिर्फ पैर ही तोड़ रहे हैं फुटकर, मौत 'होलसेल' तोड़ देगी, सभी कुछ टूट जायगा। एक पैर तोड़ रहे हैं, दूसरा तो बचा है। एपिटीक्टस से मैं भीतर कह रहा हूँ, देखो बेटे, एक ही टूट रहा है, अभी दूसरा बचा है। अभी तुम इसको भी तोड़वा दो, ठीक है। फिर यह भी अनुभव हम कर रहे हैं, उसने कहा, कि जितनी ज्यादा देर लगेगी टूटने में, उतनी देर कष्ट होगा। तुम्हारा प्रयोग भी न हो पायेगा, हमारा प्रयोग भी न हो पायेगा। आज मौका आ गया है। कहा हमने सदा है कि कोई

तोड़ डाले हमें, तो कुछ न होगा। आज देखने का अवसर जुटा दिया तुमने। तुम भी देख लोगे, हम भी देख लेंगे कि कष्ट दुख बनता है या नहीं बनता है।

कष्ट अकष्ट अलग बात है। सुख और दुख बिलकुल अलग बात है। सुख और दुख मनुष्य की व्याख्या है, इसलिए जब आप पूछ रहे हैं कि क्या ऐसा आदमी 'सुपर ह्यूमन' हो जायेगा? निश्चित ही। 'सुपर ह्यूमन' इन अर्थों में नहीं कि उसे काँटे नहीं चुभेंगे। इन अर्थों में भी अतिमानवीय नहीं कि उसे बीमारी होगी तो पीड़ा नहीं होगी। अतिमानवीय इन अर्थों में नहीं कि मौत आयेगी, बुढ़ापा आयेगा तो वह बूढ़ा नहीं होगा। नहीं, अतिमानवीय इन अर्थों में कि वह व्याख्या, जो मनुष्य की करने की आदत है, नहीं करेगा। वह मनुष्य की व्याख्या करने की आदत के बाहर होगा। इन अर्थों में वह अति-मानव है, 'सुपरमैन' है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

और जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ तथा अशुभ वस्तुओं को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी प्रज्ञा स्थिर है।

और कछुआ अपने अंगों को जैसे समेट लेता है, वैसे ही यह पुरुष जब सब ओर से अपनी इन्द्रियों को—इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है, तब उसकी प्रज्ञा स्थिर होती है।

भगवान् श्री : हर्ष में, विषाद में, अनुकूल में, प्रतिकूल में भेद नहीं। लेकिन यह अभेद कब फलित होगा? कृष्ण कहते हैं, जैसे कछुवा अपने अंगों को कभी भी भीतर सिकोड़ लेता है, जैसे कछुवा अपने अंगों को सिकोड़ लेना जानता है, ऐसा ही समाधिस्थ पुरुष विषयों से अपनी इन्द्रियों को सिकोड़ लेना जानता है। थोड़ी नाजुक बात है, थोड़ी 'डेलिकेट' बात है।

यहाँ इन्द्रियों को सिकोड़ने के, योग की दृष्टि में, दो रूप हैं। एक इन्द्रिय का वह रूप, जो हमें बाहर से दिखायी पड़ता है, कहें इन्द्रिय का शरीर। एक इन्द्रिय का वह रूप जो हमें दिखायी नहीं पड़ता है, लेकिन इन्द्रिय का प्राण है। कहें इन्द्रिय का प्राण या आत्मा।

एक मेरी आँख है। 'इन्स्ट्रूमेंट' है, आँख का। इस आँख के सम्बन्ध में चिकित्सक, सब कुछ बता सकता है। आँख को काट-पीट करके, 'सर्जरी' करके, एक-एक रग-रेशे की खबर ले आ सकता है, लेकिन यह आँख सिर्फ शरीर है, आँख का। वस्तुतः यह इन्द्रिय नहीं है। इन्द्रिय की बाह्य रूप-आकृति है। इन्द्रिय तो और है। इस आँख के पीछे देखने की जो वासना है, देखने की जो आकांक्षा है, वह इन्द्रिय है। वह प्राण है। उसका किसी चिकित्सक को, आँख के काटने-पीटने से कुछ पता नहीं चल सकता।

प्रत्येक इन्द्रिय का शरीर है, और प्रत्येक इन्द्रिय का प्राण है। आँख सिर्फ देखने का काम ही नहीं करती, देखने की आकांक्षा, देखने का रस भी, उसके पीछे छिपा है। देखने की वासना भी उसके पीछे हिलोरें लेती है। वही वासना असली इन्द्रिय है।

कृष्ण को समझने के लिए समस्त इन्द्रियों के इन दो हिस्सों को समझ लेना जरूरी है। अन्यथा आदमी आँख फोड़ने लग जाय। इन्द्रियाँ सिकोड़ने का क्या मतलब? आँख फोड़ लें? इन्द्रियाँ सिकोड़ने का क्या मतलब? कान फोड़ें? इन्द्रियाँ सिकोड़ने का क्या मतलब, जीभ काट डालें? और आप सोचते हों कि नहीं, ऐसा तो कोई नहीं समझता, तो गलत सोचते हैं।

जमीन पर अधिक लोगों ने ऐसा ही सोचा है। ऐसे साधु हुए, जिन्होंने आँखें फोड़ीं। ऐसे साधु हुए, जिन्होंने कान फोड़े। ऐसे साधु हुए, जिन्होंने पैर काट डाले। ऐसे साधु हुए, जिन्होंने जननेंद्रियाँ काट डालीं। मध्ययुग में योरोप में एक बहुत बड़ा ईसाइयों का सम्प्रदाय था, जिसने लाखों लोगों की जननेंद्रियाँ कटवा डालीं। स्त्रियों के स्तन कटवा डाले। पुरुषों की जननेंद्रियाँ कटवा डालीं।

लेकिन क्या आँख के फूट जाने से, देखने की वासना फूट जाती है? क्या जननेंद्रिय के कट जाने से, काम की वासना कट जाती है? तब तो सभी बूढ़े काम-वासना के बाहर हो जायेंगे। नहीं, इन्द्रिय कट जाने से सिर्फ

अभिव्यक्ति का माध्यम कट जाता है और अभिव्यक्त होने की जो प्रबल वासना थी भीतर, वह और विक्षिप्त होकर दौड़ने लगती है। मार्ग न मिलने से वह और पागल हो जाती है, द्वार न मिलने से वह और विक्षिप्त हो जाती है। हाँ, दूसरों को पता चलना बन्द हो जाता है। वह वासना प्रेत बन जाती है, उसके पास शरीर नहीं रह जाता।

कृष्ण इन्द्रिय को सिकोड़ने की बात कर रहे हैं, और कछुवे से जो उदाहरण दे रहे हैं, कछुवे के उदाहरण को बहुत मत खींच लेना। गीता पर टीका लिखने वालों ने बहुत खींचा है। आदमी कछुवा नहीं है। कोई उदाहरण पूरे नहीं होते। सब उदाहरण सिर्फ सूचक होते हैं-'जस्ट इन्डीकेशन'। एक इशारे की बात समझ में आ जाय, बस। जैसे कछुआ अपनी इन्द्रियों को सिकोड़ लेता है, ऐसा ही स्थितप्रज्ञ, वे जो भीतर की रस-इन्द्रियाँ हैं, उनको सिकोड़ लेता है। लेकिन रस-इन्द्रियों का जो बाह्य शरीर है, उसे सिकोड़ने का कोई मतलब नहीं है। उसे सिकोड़ने का मतलब तो सिर्फ मरना है। और उसे काट के, भीतर का रस नहीं कटता। हाँ, भीतर का रस कट जाय, तो इन्द्रियाँ शुद्ध 'इन्स्ट्रूमेंट' रह जाती हैं। वासना का नहीं, सिर्फ व्यवहार का।

आँख तब देखती है, बिना देखने की वासना के। तब जो आँख के सामने आ जाता है, वह देखा जाता है। तब आँख, कुछ आँख के सामने आ जाय, इसकी आकांक्षा से पीड़ित नहीं होती है। तब जो भोजन सामने आ जाता है, वह कर लिया जाता है। तब जीभ उस भोजन को करने में सहयोग देती है, लार छोड़ती है। लेकिन जो भोजन सामने नहीं है, जीभ फिर उसके लिये लार नहीं टपकाती है। फिर जो कान में पड़ जाता है, वह सुन लिया जाता है। लेकिन फिर कान तड़पते नहीं हैं, किसी को सुनने के लिये। तब इन्द्रियां सिर्फ व्यवहार की माध्यम रह जाती हैं।

ध्यान रहे, जब इंद्रियाँ व्यवहार की माध्यम रहती हैं, तब वे केवल बाहर से 'सेंस डेटा' इकट्ठा करती हैं, बस। जब इंद्रियाँ सिर्फ व्यवहार का माध्यम होती हैं, तो बाहर के जगत् के तथ्यों की सूचना भीतर देती हैं। और जब इंद्रियाँ वासना का माध्यम बनती हैं, तब वासनाओं को बाहर ले जाकर विषयों से जोड़ने के उपयोग में लायी जाती हैं।

ये दोनों अलग-अलग 'फंक्शन्स' हैं, ये दोनों अलग-अलग काम हैं। यह तो आँख का काम है कि वह बताये कि सामने दरख्त है। यह आँख का काम है कि वह बताये कि सामने पत्थर है। यह आँख का काम है कि वह खबर दे कि सामने क्या है। लेकिन जब आँख वासना से भरती है, तो बहुत मजेदार है।

तुलसीदास भागे हैं, पत्नी को खोजने। उस वक्त उनकी आँख 'फंक्शनल' नहीं है, उस वक्त साँप को वे रस्सी समझ लेते हैं। आँख अपना 'फंक्शन' नहीं कर पा रही है। वासनायें इतनी तीव्र हैं कि रस्सी को ही देखना चाहती हैं। किसी साँप को भी रस्सी की तरह देख ले, क्योंकि रस्सी ही चाहती है। उस वक्त एक क्षण चैन नहीं है। सामने के दरवाजे से जायेंगे, उचित भी नहीं, अभी पत्नी को आये देर भी नहीं हुई, वह पीछे ही पीछे चले जा रहे हैं...।

नदी पार करते हैं, तो एक मुर्दे की लाश को लकड़ी समझकर, सहारा लेकर नदी पार करते हैं। आँख अपना 'फंक्शनल' काम नहीं कर पा रही है। आँख जो करने के लिये बनी है, वह नहीं कर पा रही है कि लाश है। मन कह रहा है, कहाँ है लाश ? मन को लाश से कोई लेना-देना नहीं है। मन को पहुँचना है उस पार। उस पार भी नहीं पहुँचना है, वह जो पत्नी चली गयी है, उस तक पहुँचना है। अब मन बिलकुल आँखों का उपयोग नहीं कर रहा है। आँखें बिलकुल अन्धी हो गयी हैं। लाश का सहारा लेकर, लकड़ी समझकर, पार हो जाते हैं। साँप को पकड़ कर छत पर चढ़ जाते हैं। अब यहाँ अगर हम ठीक से समझें, तो आँख का जो व्यवहार है, जिसके लिये आँख है, वह नहीं हो रहा है, बल्कि आँख के पीछे जो वासना है, वह वासना आँख पर हावी है। आँख वासना से 'ऑब्सेस्ड' है। वासनाग्रस्त आँख अंधी हो जाती है। वह वही देखती है, जो देखना चाहती है। वह नहीं देखती, जो है।

कृष्ण जब कहते हैं, कछुये की तरह इंद्रियों को सिकोड़ लेता है स्थितप्रज्ञ, तो मतलब यह नहीं है कि आँखें फोड़ लेता है, कि आँखें बन्द कर लेता है। मतलब सिर्फ इतना ही है कि आँखों से सिर्फ आँखों का ही काम लेता है। सिर्फ देखता ही है आँखों से। वही देखता है, जो है। कानों से वही सुनता है, जो है। हाथों से वही छूता है, जो है। विषयों पर वासना को आरोपित नहीं

करता। विषयों पर वासना के सपनों के भवन नहीं बनाता। विषयों को आपूरित नहीं कर देता।

सुना है मैंने कि मजनू को उसके गाँव के राजा ने बुलाया और कहा कि तू बिलकुल पागल हो गया है, साधारण सी स्त्री है लैला। शायद आपको भी ख्याल न हो, क्योंकि मजनू ने इतना लैला ! लैला ! चिल्लाया है कि ऐसा ख्याल पैदा हो गया है कि लैला कोई बहुत सुन्दर स्त्री रही होगी। लैला बहुत साधारण स्त्री है। सम्राट ने बुलाकर कहा कि तुम पागल हो। बहुत साधारण सी स्त्री है, उसके पीछे तू दीवाना है ? उससे अच्छी स्त्रियाँ मैं तुझे दिलाये देता हूँ, कोई भी चुन ले। सम्राट ने बारह सुन्दरतम नगर की लड़कियों को लाकर खड़ा कर दिया। मजनू पर उसे दया आ गयी थी।

मजनू हँसने लगा। उसने कहा कि कहाँ लैला, और कहाँ ये स्त्रियाँ ! आपका दिमाग तो ठीक है ? लैला के चरणों में भी तो ये कोई बैठने योग्य नहीं हो सकतीं।

सम्राट ने कहा कि दिमाग मेरा ठीक है कि तेरा ठीक है ! मजनू ने कहा, कुछ भी हो, दिमाग से लेना-देना क्या है ! लेकिन एक बात आपसे कहे देता हूँ, अब दोबारा यह बात मत उठाना। क्योंकि लैला के सौंदर्य को देखने के लिये मजनू की आँख चाहिये।

मजनू के पास कौन सी आँख है ? कोई और तरह की आँख ? आँख तो ऐसी ही है, जैसी मेरी है, आपकी है, उस राजा के पास है। आँख तो जैसी सबकी है, वैसी उसकी भी है। लेकिन आँख वासनाग्रस्त है। आँख, आँख का काम नहीं कर रही है। पीछे जो आँख की वासना की इंद्रिय है वह हावी है। आँख वही देख रही है, जो वासना दिखाना चाह रही है। इस भीतर की अंतर् इंद्रिय को सिकोड़ लेने की बात है।

इस फासले को हमें ठीक से समझ लेना चाहिये। जब हाथ से मैं जमीन छूता हूँ, तब मेरा हाथ एक काम करता है। जब हाथ से मैं पत्थर छूता हूँ, तब भी वही करता है। जब हाथ से मैं किसी उस व्यक्ति को छूता हूँ, जिसको मैं छूना चाहता हूँ, तब भी हाथ क्या वही काम करता है ? नहीं, हाथ के काम में फर्क पड़ गया है।

जब मैं जमीन को छूता हूँ, तो सिर्फ छूता हूँ। कोई वासना नहीं है हाथ

में, सिर्फ स्पर्श है, एक भौतिक घटना है, एक मानसिक आरोपण नहीं है। लेकिन जब मैं किसी को प्रेम करता हूँ और उसके हाथ को छूता हूँ, तब सिर्फ भौतिक घटना है ? नहीं, तब एक मानसिक घटना भी है। हाथ सिर्फ छू ही नहीं रहा है, हाथ कुछ और भी कर रहा है। हाथ कोई सपना भी देख रहा है। हाथ किसी 'ड्रीम' में उतर रहा है। हाथ अपने स्पर्श करने के लिये, अकेले काम को नहीं कर रहा है। स्पर्श के आसपास काव्य भी बना रहा है, कविता भी गढ़ रहा है। वह भीतरी, वह जो भीतरी हाथ है, वह यह कर रहा है।

इस भीतरी हाथ के सिकोड़ लेने की बात कृष्ण कह रहे हैं कि स्थित-प्रज्ञ अंतर् इंद्रियों को ऐसे ही सिकोड़ लेता है, जैसे कछुआ बहिर् इंद्रियों को सिकोड़ लेता है। लेकिन आदमी को बहिर् इंद्रियां सिकोड़नी नहीं हैं। बहिर् इंद्रियां परमात्मा की बड़ी से-बड़ी देन हैं। उनके कारण ही जगत् का विराट् हम तक उतरता है, उनके द्वार से ही हम परिचित होते हैं प्रकाश से। उनके द्वार से ही आकाश से, उनके द्वार से ही फूलों से, उनके द्वार से ही मनुष्य के सौन्दर्य से, उनके द्वार से ही जगत् में जो है, उससे हम परिचित होते हैं।

नहीं, इंद्रियाँ तो द्वार हैं। लेकिन इस द्वार से जब तक जो सिर्फ बाहर है, वह भीतर जाय, तब तक यह द्वार विक्षिप्त नहीं हैं। और जब भीतर का मन इस द्वार से बाहर जाकर हमले करने लगता है, और चीजों पर आरोपित होने लगता है, और आग्रह निर्मित करने लगता है, और कल्पनाएँ सजाने लगता है, और सपने निर्माण करने लगता है तब, तब हम एक जाल में खो जाते हैं, जो जाल बाहर की इंद्रियों का नहीं है, अंतर् इंद्रियों का है।

स्थितप्रज्ञ इन अन्तर् इंद्रियों को सिकोड़ लेता है। कैसे सिकोड़ लेता होगा ? क्योंकि बहिर् इंद्रिय को सिकोड़ना तो बहुत आसान समझ में आता है। यह हाथ फैला है, इसको सिकोड़ लिया। इसके लिये कोई स्थितप्रज्ञ होने की जरूरत नहीं है।

कछुआ स्थितप्रज्ञ नहीं है, नहीं तो सभी आदमी कछुए हो जायँ। लेकिन बहुत लोगों ने कछुआ बनने की कोशिश की। कई साधु, संन्यासी, साधक त्यागी, योगी, कछुआ बनने की कोशिश में लगे हैं कि कैसे इंद्रियों को सिकोड़

लिया जाय। कछुआ बनने से कोई हल नहीं है। कछुआ तो सिर्फ एक प्रतीक था, अच्छा प्रतीक था। शायद कृष्ण जिस दुनिया में थे, उसमें इससे अच्छा प्रतीक और कोई मिल नहीं सकता था। आज भी नहीं है। आज भी हम खोजें कोई दूसरा 'सब्स्टिट्यूट' तो बहुत मुश्किल है। कछुआ बिलकुल ठीक से बात कह जाता है, ऐसा कुछ भीतर जगत् में। लेकिन वह भीतर के जगत् में होगा कैसे ?

बाहर की इंद्रियाँ सिकोड़ना बहुत आसान है, आँखें फोड़ लेना कितना आसान है, लेकिन **देखने का रस छोड़ना** कितना कठिन है। सच तो यह है कि आँखें फोड़ लो, तभी पहली दफा पता लगता है कि देखने का रस कितना है ! रात आँख तो बन्द हो जाती है, लेकिन सपने तो बन्द नहीं होते। और दिन भर में जो नहीं देखा, वह भी रात में दिखायी देता है। आँखें फोड़ लेंगे तो क्या होगा ? इतना ही होगा कि सपने २४ घंटे चलने लगेंगे। और क्या होगा ?

सपनों पर बहुत खोजबीन हुई है। जब आप रात सपना देखते हैं तब, अब तो बाहर से भी पता चल जाता है कि आप सपना देख रहे हैं कि नहीं। अब तो यंत्र बन गये हैं, जो आपकी आँखों पर लगा दिये जाते हैं रात में, और रात भर वे अंकित करते रहते हैं कि इस आदमी ने कब सपना देखा, कब नहीं देखा। क्योंकि जब आप सपना देखते हैं, तो बन्द आँख में भी आँख तेजी से चलने लगती है। आँख बन्द है। देखने को कुछ नहीं है वहाँ, लेकिन आँख तेजी से चलने लगती है। उसके 'मूव्हमेंट्स रैपिड' हो जाते हैं। इतनी तेजी से आँख चलने लगती है, जैसे सच में वह देख रही है अब।

तो आँख की गति ऊपर से पकड़ ली जाती है, उसका ग्राफ बन जाता है, कि आँख कब कितनी तेजी से चली। रात में कितनी बार आपने सपने देखे, वह ग्राफ बता देते हैं। अब तो धीरे-धीरे समझ में आ रहा है कि किस तरह का सपना देखा, ग्राफ से वह भी पता चलने लगा। जब आप 'सेक्सुअल' सपना देखते हैं, जब आप कामुक सपने देखते हैं—और सौ में से कम से कम पचास सपने कामुक होते हैं, सभी के—साधारणतः सभी के। जो असाधारण हैं, उनके जरा और ज्यादा परसेंटेज में होते हैं। पचास प्रतिशत कामुक सपने ! तब तो आंख ही नहीं, जननेंद्रिय भी तत्काल प्रभावित हो जाती

है। उस पर भी मशीन लगायी जा सकती है, वह भी खबर कर देती है, ग्राफ पर।

अब कोई भी नहीं है, आप बिलकुल अकेले हैं, अपने सपने में। न कोई विषय है, न कोई स्त्री है, न कोई पुरुष है, न भोजन है। निपट अकेले हैं, सब इंद्रियाँ बन्द हैं। फिर यह भीतर कौन गति कर रहा है? ये अन्तर् इंद्रियां हैं, जो भीतर गति कर रही हैं और इनकी भीतरी गति के कारण इनकी बहिर् इंद्रिय भी प्रभावित हो जाती हैं। काट डालें पूरे आदमी को, तो भी कोई फर्क नहीं पड़ेगा, पता नहीं चलेगा। सब भीतर-भीतर धुआं होकर घूमने लगेगा। सब सज्जन आदमियों के भीतर धुआं हो जाता है और भीतर घूमने लगता है। बुरे आदमी जो बाहर कर लेते हैं, उन्हें अच्छे आदमी भीतर करते रहते हैं। धर्म की दृष्टि से इनमें कोई भी फर्क नहीं है। इन भीतर की इंद्रियों को कैसे सिकोड़ेंगे? एक छोटा सा सूत्र, फिर हम दूसरा श्लोक लें।

बहुत छोटा सा सूत्र है, भीतर की इंद्रियों के सिकोड़ने का।

एक दिन बुद्ध बैठे हैं, ऐसे ही किसी साँझ, बहुत लोग सुनने सामने आ गये हैं। एक आदमी सामने ही बैठा हुआ, पैर का अँगूठा हिला रहा है। बुद्ध ने बोलते ही बीच में उस आदमी से कहा, क्यों भाई, यह पैर का अँगूठा क्यों हिलाते हो? वह आदमी भी चौंका और लोग भी चौंके। कहाँ बात चलती थी, कहाँ उस आदमी के पैर का अँगूठा? बुद्ध ने कहा, यह पैर का अँगूठा क्यों हिल रहा है? तत्काल उस आदमी का अँगूठा रुक गया। उस आदमी ने कहा, आप भी कैसी बातें देख लेते हैं? छोड़िये भी। बुद्ध ने कहा, छोड़ूंगा नहीं। जानना ही चाहता हूँ, अँगूठा क्यों हिलता था? तुम्हारे इतने सवाल के जवाब मैंने दिये, आज पहली दफे मैंने सवाल पूछा है, मुझे उत्तर दो। उस आदमी ने कहा कि आप पूछते हैं, तो मुश्किल में डालते हैं। सच बात यह है कि मुझे पता ही नहीं था कि पैर का अँगूठा हिल रहा है और जैसे ही पता चला, उसका हिलना रुक गया।

बुद्ध ने कहा, जो आन्तरिक कम्पन्न है, वह पता चलते ही रुक जाता है। तो भीतर की इन्द्रियों को सिकोड़ना नहीं पड़ता, सिर्फ इसका पता चलना कि भीतर इन्द्रिय है और गति कर रही है, इसका बोध ही उनका सिकुड़ना हो जाता—'द व्हेरी अवेयरनेस'।

जैसे ही पता चला कि यह भीतर काम की वासना उठी, कुछ करें मत, सिर्फ देखें। आँख बन्द कर लें और देखें कि यह काम की वासना उठी। काम की वासना चली जननेंद्रिय के केन्द्र की तरफ सिर्फ देखें। दो सेकेण्ड से ज्यादा नहीं और आप अचानक पायेंगे कि काम-वासना सिकुड़ गई। यह क्रोध उठा, चला यह बाहर की इन्द्रियों को पकड़ने। सिर्फ देखें, आँख बन्द कर लें और देखें, आप पायेंगे कि क्रोध वापस लौट गया।

किसी को देखने की इच्छा जगी और आँख तड़पी। देखें कि चली भीतर की इन्द्रिय, बाहर की वस्तु को पकड़ने। देखें, सिर्फ देखें। और आप पायेंगे कि देखने की वासना वापस लौट गयी। भीतर की इन्द्रियाँ इतनी संकुचनशील हैं कि वे जरा सी भी चेतना नहीं सह पातीं। उनके लिए अचेतना का, मूर्च्छा का होना जरूरी शर्त है।

इसलिए जो अपने भीतर की इन्द्रियों के प्रति जागने लगता है, उसके भीतर की इन्द्रियाँ सिकुड़ने लगती हैं, अपने आप सिकुड़ने लगती हैं। बाहर की इन्द्रियाँ बाहर पड़ी रह जाती हैं, भीतर की इन्द्रियाँ सिकुड़कर भीतर चली जाती हैं। ऐसी स्थिति व्यक्ति की, समाधिस्थ स्थिति बन जाती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ ५९॥

यद्यपि इन्द्रियों द्वारा विषयों को न ग्रहण करने वाले पुरुष के भी विषय तो निवृत हो जाते हैं, परन्तु रस निवृत नहीं होता। परन्तु इस पुरुष का रस भी परमात्मा को साक्षात् करके निवृत हो जाता है।

भगवान् श्री : 'देहाभिमानी तपस्वी भी....' तपस्वी और देहाभिमानी? असल में देहाभिमान दो तरह का हो सकता है। भोगी का, तपस्वी का। लेकिन दोनों की स्थिति देहाभिमान ही है। 'बॉडी ओरिएंटेशन' ही है। क्योंकि भोगी मानता है कि जो करूँगा वह शरीर से, और तपस्वी भी मानता है कि जो करूँगा वह शरीर से। भोगी भी मानता है कि शरीर ही द्वार है सुख का। सुख द्वार है सुख का, त्यागी भी मानता है कि शरीर ही द्वार है सुख का।

की धारणाएँ उनकी अलग हैं। भोगी शरीर से ही विषयों तक पहुँचने की कोशिश करता है, त्यागी शरीर से ही विषयों से छूटने की कोशिश करता है। लेकिन शरीर 'ओरिएंटेशन' है, शरीर ही आधार है दोनों का, और दोनों बड़े देहाभिमानी हैं। 'बॉडीसेंट्रिक' हैं, शरीर-केन्द्रित हैं। दोनों की दृष्टि शारीरिक है। इस तथ्य को पहले समझें, फिर दूसरा हिस्सा ख्याल में लाया जा सकता है।

दोनों की स्थिति शारीरिक है। एक आदमी सोचता है, शरीर से इंद्रियों को तृप्त कर ले, सारा जगत् सोचता है। मुझसे कोई पूछता था कि चार्वाक का कोई संप्रदाय क्यों नहीं बना ? उसके शास्त्र क्यों न बचे ? उसके मंदिर क्यों न निर्मित हुए ? उसका कोई पंथ, उसका कोई संप्रदाय क्यों नहीं है ? तो मैंने उस आदमी को कहा कि शायद तुम सोचते हो कि उसके पास अनुयायी कम हैं, तो गलत सोचते हो। असल में संप्रदाय सिर्फ 'माइनर-ग्रुप' के बनते हैं, 'मेजर-ग्रुप' के नहीं बनते हैं। जो अल्पमती होते हैं, उनका संप्रदाय बनता है, जो बहुमती होते हैं, वे बिना संप्रदाय के जीते हैं। बहुमत को संप्रदाय बनाने की जरूरत नहीं होती। बहुमत को संप्रदाय बनाने की क्या जरूरत है ? अल्पमत संप्रदाय बनाता है। करोड़ आदमी हैं, दस आदमी एक मत के हैं- तो संप्रदाय बनायेंगे, बाकी क्यों बनायेंगे ? चार्वाक का संप्रदाय इसलिए नहीं बना कि सारी पृथ्वी चार्वाक की है। सब चार्वाकवादी हैं, नाम कुछ भी रखें।

इसीलिए चार्वाक शब्द बड़ा अच्छा है—'चारु-वाक्' अर्थात् जो वचन सभी को प्रिय लगते हैं। चार्वाक का मतलब है, जो बातें सभी को प्रीतिकर हैं। चार्वाक का एक दूसरा नाम है, लोकायत। लोकायत का मतलब, जो लोक को मान्य है, जो सबको मान्य है। बड़ी अजीब बात है, जो सबको मान्य है, ऐसा विचार लोकायत है, जो सबको प्रीतिकर है। चार्वाक का कोई मंदिर नहीं बना, कोई संप्रदाय नहीं बना क्योंकि सभी उसके साथ हैं।

चार्वाक कहता क्या है ? वह कहता यह है कि सब सुख ऐन्द्रिक हैं। इन्द्रिय के अतिरिक्त कोई सुख नहीं है। सुख यानी ऐन्द्रिक होना, सुख चाहिए तो इन्द्रिय से ही मिलेगा। हाँ, वह कहता है, यह बात सच है कि दुख भी इन्द्रिय से मिलते हैं। बिलकुल ठीक ही है, जहाँ से सुख मिलेगा, वहीं से

दुख भी मिलेगा। लेकिन वह कहता है कि कोई भी पागल भूसे के कारण गेहूँ को नहीं फेंक देता। कोई भी पागल काँटों के कारण फूल को नहीं छोड़ देता। तो दुख के कारण सुख को छोड़ने की कोई भी जरूरत नहीं है। बुद्धिमान दुख को कम करता और सुख को बढ़ाता चला जाता है। लेकिन सब सुख ऐन्द्रिक हैं।

इस बात पर आपको कभी शक हुआ है कि सब सुख ऐन्द्रिक हैं ? अगर शक नहीं हुआ तो कृष्ण को समझना बहुत मुश्किल हो जायेगा। हम सबका भी भरोसा यही है कि सब सुख ऐन्द्रिक हैं। हमने कोई सुख जाना नहीं है, इन्द्रिय के बाहर। जाना है स्वाद, जाना है संगीत, दृश्य देखें हैं, गंध सूँघी है सौंदर्य देखा है, जो भी देखा, वह सब इन्द्रियों से देखा है। हमारे सब अनुभव ऐन्द्रिक हैं। इन्द्रिय के अतिरिक्त हमने और कुछ जाना नहीं है। हम इन्द्रियों के अनुभव के जोड़ हैं। इसीलिए तो हमें आत्मा का कोई पता नहीं चलता। क्योंकि इंद्रिय का अनुभव ही जिसकी सारी संपदा है, वह शरीर के ऊपर किसी भी तत्त्व को नहीं जान सकता है। यह तो हमारी स्थिति है, यह हम देहाभिमानी भोगी की स्थिति है। कभी कोई देहाभिमानी भोगी, देह को भोगते-भोगते ऊब जाता है...। हर चीज को भोगते-भोगते ऊब आ जाती है। सभी चीजों से चित्त ऊब जाता है। अगर स्वर्ग में भी बिठा दिया जाय आपको, तो ऊब जायेंगे। ऐसा मत सोचना कि स्वर्ग में बैठे हुए लोग जँभाई नहीं लेते हैं। लेते हैं। वहाँ भी ऊब जायेंगे।

बर्ट्रेन्ड रसेल ने कहीं मजाक में कहा है कि मैं स्वर्ग से बहुत डरता हूँ। सबसे बड़ा डर यह है कि 'इटर्नल' है स्वर्ग। फिर वहाँ से लौटना नहीं है। उसने कहा, इससे बहुत डर लगता है। दूसरा उसने कहा, वहाँ सुख ही सुख है, सुख ही सुख है। तो फिर ऊब नहीं जायेंगे सुख से ? मिठास भी उबा देती है। बीच-बीच में नमकीन की जरूरत पड़ जाती है। सुख भी उबा देता है, बीच-बीच में दुखकी जरूरत पड़ जाती है। सब एकरसता, सब 'मोनो-टोनस' बातें उबा देती हैं। कितना ही सुन्दर संगीत हो, बजता रहे, बजता रहे, तो सिर्फ नींद ही ला सकता है, और कुछ नहीं कर सकता है।

देहाभिमानी भोगी भी ऊब जाता है—इंद्रियों के सुखों से ऊब जाता है। तो वह इंद्रियों से शत्रुता करने लगता है। वह देहाभिमानी भोगी की जगह देहाभिमानी त्यागी बन जाता है। फिर जिस-जिस इंद्रिय से उसने सुख पाया

है, उस-उस इंद्रिय को वह सताता है। और कहता है, इससे विपरीत चलकर सुख पा लेंगे, लेकिन मानता है इंद्रिय को ही आधार अब भी। कृष्ण कहते हैं, ऐसा व्यक्ति ज्यादा से ज्यादा विषयों को छोड़ सकता है, लेकिन रस से मुक्त नहीं होता। अब आँख फोड़ डालेंगे, तो दिखायी पड़ने वाले 'ऑब्जेक्ट' से मुक्त तो हो ही जायेंगे। जब दिखायी ही नहीं पड़ेगा, तो दिखायी पड़ने वाला विषय तो खो ही जायेगा। जब कान ही न होंगे, तो वीणा तो खो ही जायेगी, सुनायी पड़ने वाला विषय तो खो ही जायेगा। लेकिन क्या रस खो जायेगा ?

रस, विषय से अलग बात है। **विषय बाहर है, रस भीतर है, इंद्रियाँ बीच में हैं।** इंद्रियाँ सेतु हैं, ब्रिज हैं। रस और विषय के बीच में बना हुआ सेतु है। इन्द्रियाँ रस को ले जाती हैं विषय तक, विषय को ले आती हैं रस तक। इंद्रियाँ बीच के द्वार, मार्ग, 'पैसेज' हैं। इंद्रियाँ तोड़ दें, ठीक है, विषय से रस का संबंध टूट जायेगा, लेकिन रस तो नहीं टूट जायेगा। रस भीतर निर्मित रह जायेगा—अपनी जगह तड़पता, अपनी जगह कूदता, विषयों की माँग करता, लेकिन विषयों तक पहुँचने में असमर्थ, 'इम्पोटेंट'। क्लीव हो जायेगा रस। उन सबको खो देगा, द्वार खो देगा, मार्ग खो देगा, वह विक्षिप्त हो जायेगा, और भीतर घूमने लगेगा। अब वह रस भीतर कल्पना के विषय निर्मित करेगा। क्योंकि जब वास्तविक विषय नहीं मिलते, जब 'एक्चुअल ऑब्जेक्ट' नहीं मिलते, तब चित्त कल्पित विषय निर्मित करना शुरू कर देता है।

दिन भर उपवास करके देखें, तो रात सपने में पता चल जाता है कि दिन भर किया उपवास, तो रात सपने में भोजन करना पड़ता है। रस भीतर विषय निर्मित करने लगता है। वह कहता है, कोई फिक्र नहीं। बाहर नहीं मिला, भीतर इंतजाम कर लेते हैं। असल में रस इतना प्रबल है कि अगर विषय न हों, तो वह काल्पनिक विषयों को निर्मित कर लेता है। सेतु टूट जाय, तो भीतर ही विषय बना लेता है। 'आटो इरोटिक' हो जाता है। दूसरे की जरूरत ही नहीं रह जाती। वह आत्ममैथुन में ही रत हो जाता है। अपने ही रस को अपना ही विषय बनाकर भीतर ही जीने लगता है। पागल, विक्षिप्त, 'न्युरोटिक' हो जाता है। कृष्ण जो कह रहे हैं कि विषय तो टूट जायेंगे, छूट जायेंगे, देहाभिमानी त्यागी के, लेकिन रस नहीं छूटेगा।

और असली सवाल विषयों का नहीं है, असली सवाल रसों का है।

असली सवाल इसका नहीं है कि बाहर कोई बड़ा मकान है। असली सवाल इसका है कि मेरे भीतर बड़े मकान की चाह है। असली सवाल यह नहीं है कि बाहर सौंदर्य है, असली सवाल यह है कि मेरे भीतर सौंदर्य की मालकियत की आकांक्षा है। असली सवाल यह नहीं है कि बाहर फूल है, असली सवाल यह है कि मेरे हाथ में फूल को तोड़ने की हिंसा है। असली सवाल फूल नहीं है। रहे फूल, अगर मेरे हाथ में तोड़ने की हिंसा नहीं है, तो मैं निकल जाऊँगा फूल के पास से। फूल कभी कहता नहीं कि आओ, तोड़ो। फूल बुलाता नहीं। फूल निमंत्रण नहीं देता, मैं ही जाता हूँ।

कीमती क्या है, विषय या रस? अगर विषय कीमती है, तो तपश्चर्या बहुत 'मैटीरियल' होगी, शारीरिक होगी, 'फिजिकल' होगी। और अगर रस महत्वपूर्ण है, तो फिर तपश्चर्या मनोवैज्ञानिक होगी; फिर तपश्चर्या आंतरिक होगी। और मैंने जैसा कहा कि कृष्ण गहरे मनोवैज्ञानिक हैं, इसलिए वह जो भौतिक साधक है, उसकी गहरी व्यंगना और गहरी मजाक कर रहे हैं। वे यह कह रहे हैं कि उसके विषय छूट जाते हैं, पर रस नहीं छूटता। और देहाभिमानी कहकर जितनी कड़ी आलोचना हो सकती है, उतनी उन्होंने कर दी। देहाभिमानी तपस्वी को...। अब वे 'देहाभिमानी' और 'तपस्वी' कहते हैं।

नहीं, देह को मानने वाला तपस्वी है। उसको भी तपस्वी कह रहे हैं, क्योंकि तपश्चर्या तो बहुत करता है—व्यर्थ करता है, लेकिन करता है बहुत। असफल होता है, परन्तु चेष्टा बहुत करता है। श्रम में कमी नहीं है, दिशा गलत है। रस भीतर रह जायेंगे, और अगर सारे विषय बाहर से छोड़ दिये जायँ, और सारे रस भीतर रह जायँ, तो इससे सिर्फ 'साइकोसिस', विक्षिप्तता पैदा होती है, विमुक्तता पैदा नहीं होती।

समाधिस्थ व्यक्ति के विषय नहीं, रस छूट जाते हैं। और जिस दिन विषय छूटते हैं, उस दिन विषय, विषय नहीं रह जाते। क्योंकि वे विषय इसीलिए मालूम पड़ते हैं, क्योंकि रस उनको विषय बनाते थे। जिस दिन रस छूट जाते हैं, उस दिन विषय, वस्तुएँ मात्र (थिंग्ज़) रह जाती हैं, विषय नहीं। क्योंकि उनसे अब कोई रस का सम्बन्ध नहीं रह जाता।

समाधिस्थ व्यक्ति रसों के विसर्जन में उत्सुक है। विषयों के त्याग में नहीं। त्याग हो जाता है, यह दूसरी बात है। लेकिन असली सवाल आंतरिक रसों के विसर्जन का है। यह लक्षण भी वे गिनाते हैं कि समाधिस्थ व्यक्ति रसों से मुक्त हो जाता है। विषयों की उसे जरा भी चिन्ता नहीं है।

यह ध्यान में ले लेना जरूरी है, क्योंकि यही कृष्ण के ऊपर बड़े से बड़ा आक्षेप रहा है। क्योंकि कृष्ण को आम्र-कुंजों में नाचते देखकर बड़ी कठिनाई पड़ेगी देहाभिमानी तपस्वी को, कि क्या हो रहा है! उसकी पीड़ा का अंत न रहेगा। उसका वश चले तो वह पुलिस में रिपोर्ट लिखाने भागेगा। यह क्या हो रहा है? कृष्ण और नाच रहे हैं? कृष्ण को समझ पाना उसे मुश्किल हो जायेगा। उसके ख्याल में भी नहीं आ सकता कि किसी व्यक्ति के रस अगर भीतर सिकुड़ गये हों, तो बाहर के विषयों से सेतु नहीं बनता। सेतु बनाने वाला ही खो गया है। तब न कोई भागना है, न कोई चाहना है।

इसीलिए कृष्ण के जीवन में अद्भुत घटनाएँ घटती हैं। जिस वृन्दावन में वे नाचे हैं, उस वृन्दावन को जब छोड़कर चले गये हैं, तो लौटकर भी नहीं देखा। वासनाग्रस्त चित्त होता है, तो छोड़कर जाना बहुत मुश्किल पड़ता है। वासनाग्रस्त चित्त होता, तो स्मृतियाँ बड़ी पीड़ा देतीं। वासना-ग्रस्त चित्त होता, तो लौट-लौटकर वृन्दावन मन को घेरता, सपनों में आता। नहीं, वृन्दावन जैसे था ही नहीं, गया। जैसे पृथ्वी के नकशे पर अब वह है ही नहीं। जिन्होंने वृन्दावन में उनके आस-पास नृत्य करके उनको प्रेम किया था, उनकी पीड़ा का अंत नहीं है। वहाँ रस भी रहा होगा। इसलिए उनका मन तो वृन्दावन और द्वारका के बीच, 'ब्रिज' (सेतु) बनाने की चेष्टा में लगा ही है, सेतु बनाना ही चाहता है। लेकिन कृष्ण को जैसे कोई बात ही नहीं है, सब अंत हो गया। जहाँ थे, वहाँ थे। जहाँ नहीं हैं, वहाँ नहीं हैं। वृन्दावन नहीं है, वह नकशे से गिर गया। रस न हो भीतर, तो ही यह संभव है। रस भीतर हो, तो यह कतई संभव नहीं है।

खूबी है यह कि जितना रस, वासना से भरा हुआ व्यक्ति हो, तो उतना विषय के निकट होने पर पीड़ित नहीं होता, जितना दूर होने पर पीड़ित होता है। जिसे हम चाहते हैं, वह पास रहे, तो उसकी याद नहीं आती।

जिसे हम चाहते हैं, वह दूर रहे, तभी उसकी याद आती है। जिसे हम चाहते हैं, वह पास हो, तब तो भूलना बहुत आसान है। जिसे हम चाहते हैं, वह पास न हो, तब भूलना बहुत कठिन बात है।

कृष्ण उल्टे हैं। जो पास है, उसे पूरी तरह याद रखते हैं। हम, जो पास है, उसे बिलकुल भूल जाते हैं। जो दूर है, उसे पूरी तरह याद रखते हैं। कृष्ण जो पास है, उसे पूरी तरह याद रखते हैं। वह उनकी चेतना में पूरा का पूरा है। वही, उसी से तो भ्रम पैदा होता है। उसी से तो प्रत्येक को लगता है, इतनी 'अटेंशन' मुझे दी, इतना ध्यान मेरी तरफ दिया, फिर मुझे इस तरह भूल गये, तो बड़ी गैर वफादारी है। उसे पता नहीं कि कृष्ण जहाँ हैं, वहीं उनका पूरा ध्यान है। वे जहाँ हैं, वहाँ पूरे हैं, उनकी उपस्थिति पूरी है। पत्थर को भी देखते हैं, तो पूरे ध्यान से देखते हैं। पत्थर भूल में नहीं पड़ता, यह बात दूसरी है। लेकिन कृष्ण आदमी को देख लेते हैं, तो आदमी भूल में पड़ जाते हैं। स्त्री को देख लेते हैं, तो स्त्रियाँ और भी भूल में पड़ जाती हैं। फिर वे तड़पती हैं, रोती हैं, चिल्लाती हैं। उन्हें पता नहीं है, कृष्ण गये, तो गये। वहाँ भीतर कोई सेतु नहीं बनता, वहाँ भीतर कोई रस नहीं है। इस तथ्य को न समझ पाने से कृष्ण के सम्बन्ध में भारी भूल हुई है। जिस स्थिति की भी वे बात कर रहे हैं, वैसी स्थिति, थिरता चेतना की, स्वयं उनमें फलित हुई है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥६०॥

और हे अर्जुन, इसलिए यत्न करते हुए बुद्धिमान पुरुष के भी मन को यह प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियाँ बलात्कार से हर लेती हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६१॥

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहित चित्त हुआ, मेरे परायण स्थित होवे। क्योंकि, जिस पुरुष के इन्द्रियां वश में होती हैं, उसकी ही प्रज्ञा स्थिर होती है।

भगवान् श्री : एक चेतावनी कृष्ण देते हैं, वह यह है कि इंद्रियाँ भी व्यक्ति को खींचती हैं, विषयों की ओर। इस बात को थोड़ा गहरे में समझना आवश्यक है। इंद्रियाँ भी व्यक्ति को खींचती हैं, विषयों की ओर। साधक को भी इंद्रियाँ गिरा देती हैं। इंद्रियाँ कैसे गिरायेंगी? क्या इंद्रियों के पास अपनी कोई, व्यक्ति की आत्मा से अलग शक्ति है? क्या इंद्रियों के पास अपनी कोई अलग ऊर्जा है? क्या इंद्रियाँ इतनी बलवान हैं स्वतंत्र रूप से, जो व्यक्ति की आत्मा को गिरायेंगी? नहीं, इंद्रियों के पास कोई भी शक्ति नहीं है। इंद्रियाँ व्यक्ति से स्वतंत्र, अस्तित्ववान भी नहीं हैं, लेकिन फिर भी इंद्रियाँ गिरा सकती हैं, गिराने का कारण बहुत दूसरा है।

वह कारण यह है कि इंद्रियाँ "मैकेनिकल हैबिट्स" हैं, यांत्रिक आदतें हैं। और आपने जन्मों-जन्मों से इंद्रियों की जो आदत बनायी है, जो 'कण्डीशनिंग' की है उसकी, जब आप बदलते हैं, उसे कुछ भी पता नहीं होता कि आप बदल गये हैं। वह अपनी पुरानी आदत को दोहराये चली जाती हैं। इंद्रियाँ यंत्र हैं, उन्हें कुछ पता नहीं होता। आपने एक ग्रामोफोन का रिकार्ड़ चला दिया। रिकार्ड़ गाये चला जा रहा है, आधा गीत हो गया, अब आपका मन बिलकुल सुनने को नहीं है, लेकिन रिकार्ड गाये चला जा रहा है। अब रेकार्ड को कोई पता नहीं है कि अब आपका मन सुनने को नहीं है, उस रिकार्ड को पता हो भी नहीं सकता। रिकार्ड तो सिर्फ यंत्र की तरह चलता है, लेकिन उठकर आप रिकार्ड को बन्द कर देते हैं, क्योंकि रिकार्ड को कभी आपने अपना हिस्सा नहीं समझा।

इंद्रियों के यंत्र के साथ एक दूसरी "आइडेंटिटी" है कि आप इंद्रियों को अपना ही समझते हैं। इसलिये इंद्रियाँ जब चलती ही चली जाती हैं, तो अपना समझने के कारण आप भी उनके पीछे चल पड़ते हैं। आप उनको यंत्र की तरह बन्द नहीं कर पाते। अब एक आदमी है, उसे सिगरेट पीने की यांत्रिक आदत पड़ गयी है। कसम खाता है, नहीं पीऊँगा। निर्णय करता है, नहीं पीऊँगा, लेकिन उसकी इंद्रियों को कोई पता नहीं, उनके पास 'बिल्ट-इन प्रोसेस' है। तीस साल से वह पी रहा है, चालीस साल से वह पी रहा है। इंद्रियों का एक नियमित ढाँचा हो गया है, जिसे हर आधा घंटे पर सिगरेट चाहिये। हर आधा घंटे पर यंत्र की घण्टी बज जाती है कि सिगरेट लाओ। आदमी कहता है कि तलब लगी है उसे। तलब वगैरह क्या लगेगी? वह

कहता है, सिगरेट पुकारती है। सिगरेट क्या पुकारेगी? नहीं, चालीस-पचास वर्ष का यांत्रिक जाल है इंद्रियों का। हर आधे घंटे पर सिगरेट मिलती रही है, तो इंद्रियों के पास व्यवस्था बन गयी है। उनके पास 'बिल्ट-इन प्रोग्रेम' है। उनके पास चौबीस घण्टे की योजना है कि जब आधा घण्टा हो जाय, तब आपको खबर कर दें कि अब सिगरेट चाहिये। इंद्रियों के साथ पूरा शरीर मांग करता है।

जब सिगरेट चाहिये, तब शरीर के अनेक अंगों से खबर आयेगी कि सिगरेट चाहिये। होंठ कुछ पकड़ने को आतुर हो जायेंगे, फेफड़े कुछ खींचने को आतुर हो जायेंगे, खून निकोटिन लेने के लिये प्यासा हो जायेगा, नाक कुछ छोड़ने को आतुर हो जायेगी। मन किसी चीज में व्यस्त होने को आतुर हो जायेगा। यह इकहरी घटना नहीं है, कॉम्पलेक्स (बहु आयामी) है। इसमें पूरा शरीर संयुक्त है, पूरा शरीर इन्तजार करने लगेगा कि लाओ। सब तरफ से दबाव पड़ने लगेगा कि लाओ।

चालीस-पचास साल का दबाव है। और आपने जो निर्णय लिया है सिगरेट न पीने का, वह सिर्फ चेतन मन से लिया है। और यह दबाव चालीस साल का, अचेतन मन के गहरे कोने तक पहुँच गया है। इसकी बड़ी ताकत है। और मन जल्दी बदलने को राजी नहीं होता, क्योंकि अगर मन जल्दी बदलने को राजी हो, पूरा मन, तो आदमी जिन्दा नहीं रह सकता है। इस लिये मन को बहुत 'आर्थोडॉक्सी' दिखलानी पड़ती है। मन को पूरी कोशिश करनी पड़ती है कि जो चीज चालीस साल में सीखी है, वह एक सेकेंड में छोड़ोगे! तब तो जिन्दगी बहुत मुश्किल में पड़ जायेगी।

एक आदमी चालीस साल तक एक स्त्री को प्रेम करता रहा। जरा सा गुस्सा आता है तो वह कहता है, छोड़ देंगे। लेकिन कोई छोड़ता-वोड़ता नहीं, क्योंकि चालीस साल जो पकड़ा है, उसका वजन ज्यादा है। और ऐसा छोड़ना होने लगे, तो जिन्दगी एकदम अस्त-व्यस्त हो जाय। इसलिये मन कहता है, जिसको चालीस साल पकड़ा है, कम से कम चालीस दिनों में छोड़ो।

फिर मन के भी संकल्प के क्षण हैं, और संकल्पहीनता के क्षण हैं। मन हमेशा एक ही स्थिति में नहीं होता। कभी वह संकल्प के शिखर पर होता है, तब ऐसा लगता है कि दुनिया की कोई ताकत नहीं रोक सकती है। कभी वह विषाद के गड्ढे में होता है, तब ऐसा लगता है कि जरा सा धक्का लगेगा

तो मर जाऊँगा। जब वह संकल्प के शिखर पर होता है, तब वह कहता है, ठीक है, छोड़ देंगे। घण्टे भर बाद जब वह विषाद में उतर जाता है, तब वह कहता है, क्या छोड़ना है, कैसे छोड़ सकते हैं ? नहीं छूट सकती है, अपने वश की बात नहीं है। इस जन्म में नहीं हो सकता है। मन यह कहता जाता है भीतर, हाथ तब तक सिगरेट को खोल लेते हैं, हाथ तब तक सिगरेट मुंह में लगा देते हैं, दूसरा हाथ माचिस जला देता है। जब तक वह भीतर सोच रहा है कि यह नहीं हो सकता है, तब तक शरीर पीना ही शुरू कर देता है। तब वह जागकर देखता है, क्या हो गया है ? सिगरेट पी ली, नहीं यह नहीं हो सकता ! तब निर्णय पक्का हो जाता है कि यह हो ही नहीं सकता।

कृष्ण कहते हैं, इंद्रियाँ खींच-खींच कर गिरा देती हैं साधक को। इंद्रियाँ क्या गिरायेंगी ? इसका कारण है, साधक का ही अतीत में इंद्रियों को दिया गया बल, साधक का इंद्रियों को दिया गया अभ्यास, साधक की ही इंद्रियों को दी गयी 'कण्डीशनिंग,' संस्कार। और संस्कार बड़ी प्रबल चीज है। हम सब संस्कार से जीते हैं, हम चेतना से नहीं जीते। हम जीते संस्कार से हैं। संस्कार बड़ी प्रबल चीज है। संस्कार इतनी प्रबल चीज है कि जब संस्कार की सारी स्थिति भी चली जाती है, अकेला संस्कार रह जाता हो, तो अकेला संस्कार भी काम करता रहता है।

मैंने सुना है, विलियम जेम्स एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक अमेरिका में हुआ। वह संस्कार पर बड़ा काम कर रहा था। असल में जो मनोविज्ञान संस्कार पर काम नहीं करता, वह मनोविज्ञान बन ही नहीं सकता। क्योंकि बहुत गहरी पकड़ तो मनुष्य की 'कण्डीशनिंग' की है। सारी पकड़ तो वहाँ है, जहाँ आदमी जकड़ा हुआ है। जहाँ वह अवश, 'हेल्पलेस' हो जाता है। तो वह 'कंडीशनिंग' पर काम कर रहा है। वह एक होटल में बैठा हुआ है, एक मित्र से बात कर रहा है, और उसने कहा, इतना अजीब जाल है संस्कार का कि जिसका कोई हिसाब नहीं। तभी उसने देखा, सामने, पिछले महायुद्ध का रिटायर हुआ मिलिट्री का एक कैप्टन चला जा रहा है। अण्डों की एक टोकरी लिये हुये है। उसे सूझा कि ठीक उदाहरण है। विलियम जेम्स ने होटल के भीतर से चिल्लाकर उससे कहा, 'अटेंशन'। वह मिलिट्री का आदमी अण्डे छोड़कर 'अटेंशन' खड़ा हो गया। 'रिटायर्ड' हुये भी वर्षों हो गये उसे, लेकिन 'अटेंशन' ने बिलकुल बंदूक के 'ट्रीगर' की तरह काम किया।

गोली चल गयी। वह आदमी बहुत नाराज हुआ कि तुम किस तरह के आदमी हो, यह कोई मजाक है ? सारे अण्डे फूट गये ! लेकिन विलियम जेम्स ने कहा कि तुमसे किसने कहा कि तुम 'अटेंशन' हो जाओ। हमें 'अटेंशन' कहने का हक है। तुमसे ही कहा, यह तुमने कैसे समझा ? और तुमसे कहा भी, तो तुम पर होने की मजबूरी किसने लादी ! उस आदमी ने कहा, यह सवाल कहाँ है, यह कोई सोचने की बात है ! इन पैरों ने वर्षों तक 'अटेंशन' सुना है, और अटेंशन हुए हैं। इसमें गैप ही नहीं है बीच में। उधर अटेंशन कि इधर अटेंशन घटित हो जाता है।

करीब-करीब ऐसा ही वह जो कृष्ण कह रहे हैं, वह भी एक बहुत मनोवैज्ञानिक सत्य है।

❀

सत्रहवाँ प्रवचन

प्रथम गीता ज्ञान-यज्ञ, अहमदाबाद, प्रातः, दिनांक ७ दिसम्बर, १९७०

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥

विषयों को चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है। और, आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है। और, कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

क्रोध से अविवेक अर्थात् मूढ़भाव उत्पन्न होता है। और, अविवेक से स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है। और, स्मरणशक्ति के भ्रमित हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्ति का नाश हो जाता है। और बुद्धि के नाश होने से यह पुरुष अपने श्रेय साधन से गिर जाता है।

भगवान् श्री : मनुष्य के मन की भी अपनी श्रृङ्खलाएँ हैं। मनुष्य के मन के भी ऊर्ध्वगमन और अधोगमन के नियम हैं। मनुष्य के मन का अपना विज्ञान है। मनुष्य के मन का अधोगमन कैसे होता है, कैसे वह पतन के मार्ग पर एक-एक सीढ़ी उतरता है, कृष्ण उन सीढ़ियों का पूरा ब्योरा यहाँ दे रहे हैं।

सूक्ष्मतम होता है प्रारम्भ, स्थूलतम हो जाता है अंत। मन के बहुत गहरे में उठती है लहर, फैलती है और पूरे मन को ही नहीं, पूरे आचरण को, पूरे व्यक्तित्व को ग्रसित कर लेती है। सूक्ष्म उठी इस लहर की इसके स्थूल तक पहुँचने की जो पूरी प्रक्रिया है, जो उसे पहचान लेता है, वह उससे बच भी सकता है, वह उसके पार भी जा सकता है।

कहाँ से मन का पतन शुरू होता है, कहां से मन संसार उन्मुख होता है, कहां से मन स्वयं को खोना शुरू करता है? कृष्ण ने कहा है कि **विषय के चिन्तन से, वासना के विचार से।** पहला वर्तुल जहाँ से पकड़ा जा सकता है, वह है विचार का वर्तुल—सूक्ष्मतम, जहां से हम पकड़ सकते हैं। विषय की इच्छा, विषय का विचार, भोग की कामना उठती है मन में। विषय का संग करने की आकांक्षा जगती है मन में, वह पहली लहर है, जहां से सब शुरू होता है। **काम की जो बीज-स्थिति है, वह विषय का विचार है।** संग की कामना पैदा होती है, भोग की कामना पैदा होती है।

राह पर देखते हैं, भागती एक कार को। चमकती हुई, आंखों में कौंध कर निकल जाती है। देखते हैं, एक सुन्दर स्त्री को; देखते हैं, एक सुन्दर बलिष्ठ पुरुष को; आंख में एक कौंध—और व्यक्ति निकल जाता है। वह जब सुन्दर स्त्री या सुन्दर पुरुष या सुन्दर कार या सुन्दर भवन दिखाई पड़ा है, तब तत्क्षण भीतर खोजने की जरूरत है कि क्या आपको सिर्फ दिखाई ही पड़ा है, सिर्फ आपने देखा ही है या देखने के साथ ही मन के किसी कोने में चाह ने भी जन्म लिया है। सिर्फ देखा ही या चाहा भी है? दिखाई पड़ी है एक सुन्दर स्त्री, देखी ही या भीतर कोई और भी कंपन उठा—चाह की, मांग की, पा लेने की, 'पजेस' करने की। अगर सिर्फ देखा, तो बात आई और गई हो गई। सिर्फ बहिर् इन्द्रियों ने भाग लिया। आंख ने देखा, मन ने खबर की, कोई जाता है। लेकिन चाहा भी, तो जो देखा, वहीं बात समाप्त नहीं हो गई। मन में वर्तुल शुरू हो गये, मन में लहरें शुरू हो गईं। देखने तक ही बात समाप्त नहीं हुई। भीतर चाह ने भी जन्म लिया, मांग भी उठी। आप कहेंगे, नहीं मांगा नहीं, चाहा नहीं, सिर्फ देखा। सिर्फ इतना हुआ मन में कि सुन्दर है। इस बात को ठीक से समझ लेना जरूरी है।

अगर इतना भी मन में उठा कि सुन्दर है, तो चाह ने अपने अंकुर फैलाने शुरू कर दिये। क्योंकि सुन्दर का और कोई मतलब नहीं होता। सुन्दर का इतना ही मतलब होता है कि जिसे चाहा जा सकता है। सुन्दर का और मतलब नहीं होता। असुन्दर का इतना ही मतलब होता है कि जिसे चाहा नहीं जा सके।

सुन्दर है, इस वक्तव्य में चाह कहीं दिखाई नहीं पड़ती, यह वक्तव्य बड़ा निर्दोष मालूम पड़ता है। यह वक्तव्य सिर्फ 'ए स्टेटमेन्ट ऑफ फैक्ट' मालूम

पड़ता है। नहीं, लेकिन यह सिर्फ तथ्य का वक्तव्य नहीं है। इसमें आप संयुक्त हो गये, क्योंकि चीजें अपने आप में न सुन्दर हैं, न असुन्दर हैं। चीजें सिर्फ हैं, आपने व्याख्या डाल दी।

एक स्त्री निकली है राह पर से, वह सिर्फ है। सुन्दर और असुन्दर देखने वाले की व्याख्या है। सुन्दर या असुन्दर उसमें कुछ भी नहीं है। व्याख्याएं बदलती हैं, सौन्दर्य बदल जाते हैं। चीन में चपटी नाक सुन्दर हो सकती है, भारत में नहीं हो सकती। चीन में उठे हुये गाल की हड्डियां सुन्दर हैं, भारत में नहीं। अफ्रीका में चौड़े होठ सुन्दर हैं और स्त्रियाँ पत्थर लटकाकर अपने होठों को चौड़ा करती हैं। सारी दुनिया में कहीं चौड़े होठ सुन्दर नहीं हैं, पतले होठ सुन्दर हैं। वे सब हमारी व्याख्याएँ हैं, वे हमारी सांस्कृतिक व्याख्याएँ हैं। एक समाज ने क्या व्याख्या पकड़ी है, इस पर निर्भर करता है। फिर फैशन बदल जाते हैं, सौन्दर्य बदल जाता है। तथ्य वही के वही रहते हैं।

अफ्रीका में जो स्त्री पागल कर सकती है, पुरुषों को, वही भारत में सिर्फ पागलों को आकर्षित कर सकती है। क्या हो गया! स्त्री वही है, तथ्य वही है, लेकिन व्याख्या करने वाले दूसरे हैं। जब हम कहते हैं कि 'सुन्दर है,' तभी हम सम्मिलित हो गये, तभी तथ्य केवल तथ्य नहीं रहा।

बुद्ध एक वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहे हैं। रात है पूर्णिमा की। गांव से कुछ मनचले युवक एक वेश्या को लेकर पूर्णिमा की रात मनाने आ गये हैं। उन्होंने वेश्या को नग्न कर लिया है, उसके वस्त्र छीन लिये हैं। वे सब शराब में मदहोश हो गये हैं और नाच-कूद रहे हैं। उनको बेहोश हुआ देखकर वेश्या भाग निकली।

थोड़ा होश आया, तो उन्होंने देखा कि जिसके लिये नाचते थे, वह बीच में नहीं है। खोजने निकले। जंगल है, किससे पूछें? आधी रात है, फिर उस वृक्ष के पास आये जहां बुद्ध बैठे हैं। उन्होंने सोचा कि यह भिक्षु यहां बैठा है, यही तो रास्ता है एक जाने का। अभी तक कोई दोराहा भी नहीं आया। वह स्त्री जरूर यहीं से गुजरी होगी। तो उन्होंने बुद्ध को कहा, सुनो भिक्षु, यहां से कोई एक नग्न सुन्दर स्त्री भागती हुई निकली है, तुमने देखी है? बुद्ध ने कहा, कोई निकला जरूर, लेकिन युवती थी या युवक, कहना मुश्किल है, क्योंकि व्याख्या करने की मेरी कोई इच्छा नहीं। कोई निकला है जरूर।

सुन्दर था या असुन्दर था, कहना मुश्किल है, क्योंकि जब अपनी चाह न रही, तो किसे सुन्दर और किसे असुन्दर कहें।

सौन्दर्य चुनाव है, सौन्दर्य निर्णय है। असल में जैसे ही मन ने कहा, कि मन के किसी कोने पर बनना शुरू हो गया भाव कि मिले। सौन्दर्य पसंदगी की शुरुआत है। वह वक्तव्य सिर्फ तथ्य का नहीं, वह वक्तव्य वासना का है। **वासना छा गई है तथ्य पर**— वह कहती है, सुन्दर है।

हम साधारणतया कहेंगे कि नहीं, सुन्दर कहने से कोई मतलब नहीं होता। सुन्दर है। जब पहले मन का विषयों में गमन शुरू होता है, तो यह अवस्था सूक्ष्म है। वह ऐसे ही शुरू होता है : सुन्दर है, असुन्दर है, प्रीतिकर है, अप्रीतिकर है, अच्छा लगता है, बुरा लगता है। चाह जब पैदा होती है, तो पहले पसन्द और नापसन्द के रूप में झलकती है, फिर बढ़ती है। अभी बीज है, पहचानना बहुत मुश्किल है। अभी कोई कृष्ण और बुद्ध पहचान सकेगा। हम तो तब पहचानेंगे, जब वह वृक्ष हो जायेगा। लेकिन बीज से मुक्त हुआ जा सकता है, वृक्ष से मुक्त होना अति कठिन है।

जितनी बढ़ जायेगी वासना भीतर—गहरी और प्रगाढ़ और जड़ों को फैला देगी, उतना ही उससे छूटना कठिन होता जायेगा। जब वासना अभी सिर्फ बीज है, जब उसमें कोई जड़ें नहीं हैं अभी, अभी जब उसने चित्त की भूमि में कहीं जड़ों को फैलाकर भूमि को पकड़ कर कस नहीं लिया है, तब तक उससे मुक्त होना बहुत आसान है।

बीज फेंके जा सकते हैं, पर वृक्षों को काटना, और उखाड़ना पड़ता है। और मजा यह है कि वृक्ष काटने से कटते हों, ऐसा नहीं है। अक्सर तो काटने से सिर्फ कलम होती है। एक शाखा कटती है और चार शाखाएँ निकल आती हैं। जड़ों तक काट डालने से भी जड़ें नये अंकुर छोड़ जाते हैं और एक वृक्ष में अनेक वृक्ष भी हो जाते हैं।

जड़ों को उखाड़ना बहुत कठिन है, क्योंकि जड़ें मनुष्य के मन के अचेतन गर्भों में फैल जाती हैं। उन तक पहुँचना ही मुश्किल हो जाता है। इसलिये कृष्ण का यह सूत्र साधक के लिये बहुत समझ लेने जैसा है। इस पर मन के रूपान्तरण की पूरी कॉजेलिटी, पूरा कारण और राज छिपा है।

तथ्य तभी तक तथ्य हैं, जब तक आपने व्याख्या नहीं की है। बुद्ध ने कहा, निकला कोई जरूर है। यह व्याख्या नहीं है कि निकला है कोई। युवक

था कि युवती, कहना कठिन है, क्योंकि, बुद्ध ने कहा, जब तक पुरुष मेरे भीतर बहुत लालायित था, तब तक बाहर खोज चलती थी कि कौन स्त्री है, कौन पुरुष।

स्त्री और पुरुष तथ्य होते हुये भी हमारी व्याख्या के कारण ही तथ्य दिखाई पड़ते हैं। और यह बड़े मजे की बात है कि हम जिन्दगी में सब भूल जाते हैं। एक आदमी आज मुझे मिले, मैं भूल जाता हूँ कि उसका नाम क्या है? दस साल बाद भूल जाता हूँ, जाति क्या है, धर्म क्या है, चेहरा कैसा था, आखें कैसी थीं? कितना पढ़ा लिखा था? सब भूल जाता हूँ। एक बात नहीं भूल पाता हूँ कि स्त्री थी कि पुरुष था।

यह बड़े मजे की बात है। क्या कभी आप भूलेंगे किसी के बाबत कि मुझे पक्का याद नहीं आता कि वह जो मिला था, वह स्त्री थी कि पुरुष था? हम सब भूल जाते हैं। नाम, शकल, चेहरा, जाति, धर्म, कई बार तो यह भी शक होता है कि वह मिला था कि नहीं मिला था। यह भी भूल सकते हैं। लेकिन वह स्त्री थी या पुरुष, यह नहीं भूल सकते हैं। जरूर और सब पहचान से यह स्त्री और पुरुष की पहचान आपके किसी गहरे मन ने की है, जहां उसको भूलना नहीं होता है।

अगर एक हवाई जहाज आपके गांव में गिर पड़े या अंतरिक्ष यान गिर पड़े, कोई दूसरे ग्रह के यात्री का जहाज आपके गांव में गिर पड़े, उसमें से पायलट को आप बाहर निकालें, तो जो पहली जिज्ञासा उठेगी, वह यह होगी कि वह स्त्री है या पुरुष। पहली जिज्ञासा कि वह स्त्री है या पुरुष! फिर दूसरी जिज्ञासाएँ उठेंगी।

निश्चित ही स्त्री और पुरुष होना एक बायोलॉजिकल फैक्ट है, एक जैविक तथ्य है। स्त्री और पुरुष के शरीर में फर्क है। लेकिन यह फर्क इतना प्रगाढ़ होकर दिखाई पड़े, इसकी अनिवार्यता उसमें नहीं है। इसकी अनिवार्यता हमारे मन की चाह में है।

रास्ते से आप निकलते हैं, वृक्ष लगे हैं। आपने शायद ही कभी देखा हो कि सभी वृक्ष एक जैसे हरे नहीं हैं। हरेपन में भी हजार तरह के हरेपन हैं। हरा कोई एक रंग नहीं है। हरा भी हजार रंग है, लेकिन आपको वे नहीं दिखाई पड़ेंगे। एक चित्रकार मिले, तो उसे दिखाई पड़ेगा कि हजार तरह के हरे रंग हैं। दो हरे रंग एक से हरे नहीं हैं। ये जो सामने दस वृक्ष हैं, दस

तरह के हरे हैं। आपको भी नहीं दिखाई पड़ेगा। इन वृक्षों के नीचे से आप रोज निकलते हैं, इनका दस तरह का हरा होना प्राकृतिक तथ्य है। लेकिन आपके भीतर चित्रकार चाहिये, तब वह दिखाई पड़ेगा। आपके भीतर कोई चीज खोजती हो, तो ही दिखाई पड़ेगा अन्यथा दिखाई नहीं पड़ेगा। चित्रकार को दिखाई पड़ेगा कि रंग ही रंग, हरे रंग भी कई रंग हैं।

स्त्री और पुरुष जैविक तथ्य है, लेकिन जो आपको इतना प्रगाढ़ होकर दिखाई पड़ता है, वह जैविक तथ्य नहीं है, मानसिक तथ्य है, वह साइकोलॉजिकल तथ्य है। इसमें कुछ-न-कुछ आपने जोड़ना शुरू कर दिया है। इसमें आपने कुछ डालना शुरू कर दिया है। थोड़ा-सा आप भी इसमें प्रवेश कर गये। फिर चिन्तन शुरू होगा।

यह तो हैपेनिंग हुई कि रास्ते पर स्त्री देखी, पुरुष दिखी, फिर आपने कहा कि सुन्दर है, फिर आपकी यात्रा शुरू हुई चित्त की। अब चिन्तन होगा। सुन्दर है, तो पीछे से चाह चली आयेगी। चाह आयेगी, तो भोग शुरू हो जायेगा। कामना में ही, मन में ही, स्वप्न में ही प्रतिमाएँ निर्मित होनी शुरू हो जाएँगी।

अगर किसी दिन आदमी की खोपड़ी में 'विन्डो' बना सकें . . . बना सकेंगे। अब तो सर्जन्स कहते हैं कि बहुत कठिनाई नहीं है। मनोवैज्ञानिक भी कहते हैं कि बहुत कठिनाई नहीं है। अगर हम एक आदमी की खोपड़ी में कांच की खिड़की बना सकें (जो कि हम बना ही लेंगे), तब आपको मुसीबत पता चलेगी। तो बाहर से भी झांका जा सकेगा कि भीतर क्या-क्या हो रहा है!

एक स्त्री जा रही है, तत्काल आपके मन के भीतर कुछ होना शुरू हो गया। यह होना किसी को पता नहीं चलता है, आपको ही पता चलता है। बहुत मौकों पर तो यह इतना अचेतन होता है कि आपको भी पता नहीं चलता। दूसरों को तो पता चलता ही नहीं, खुद आप भी चूक जाते हैं। यह भीतर चलता रहता है और आप कहीं और चलते रहते हैं। लेकिन कैसे यह शुरू हो रहा है?

तथ्य हैं जगत् में, फिक्शन्श वहां नहीं हैं, वहां फैक्ट्स हैं। कल्पनाएँ मनुष्य डालता है। 'सुन्दर है' कहा कि यात्रा शुरू हुई। सुन्दर है, तो चाह है। चाह है, तो भोग है। अब चिन्तन शुरू हुआ। अब वासना चिन्तन बनेगी।

चिन्तन को कहें कि काल्पनिक संग पैदा हुआ। जब काल्पनिक संग पैदा

होगा, तो क्रिया भी आयेगी। काम भी आयेगा। और कृष्ण कहते हैं कि काम आयेगा, तो क्रोध भी आयेगा। क्यों? काम आयेगा, तो क्रोध क्यों आ जायेगा?

असल में जो कामी नहीं है, वह क्रोधी नहीं हो सकता। क्रोध काम का ही एक और ऊपर गया चरण है। क्रोध क्यों आता है? क्रोध का क्या गहरा रूप है? क्रोध आता ही तब है, जब काम में बाधा पड़ती है अन्यथा क्रोध आता ही नहीं। जब भी कोई आपकी चाह में बाधा डालता है—जो आप चाहते हैं, उसमें बाधा डालता है—तभी क्रोध आता है। जो आप चाहते हैं, अगर वह होता चला जाये, तो क्रोध कभी नहीं आयेगा।

समझें आप कल्पवृक्ष के नीचे बैठे हैं, तो कल्पवृक्ष के नीचे क्रोध नहीं आ सकता। (अगर कल्पवृक्ष नकली न हो…) कल्पवृक्ष असली है, तो क्रोध नहीं आ सकता। क्योंकि क्रोध का उपाय नहीं है। आपने चाह की, यह सुन्दर स्त्री मिले, और मिल गई। आपने चाहा: यह मकान मिले, मिल गया। आपने चाहा: यह धन मिले, मिल गया। आपने चाहा: सिंहासन मिल जाये, मिल गया।

आपने चाहा कि मिला, तो क्रोध के लिये जगह कहां है? क्रोध आता है...चाहा और नहीं मिला, इसके बीच में जो गैप है, उस गैप का नाम, उस अंतराल का नाम क्रोध है। चाहा और नहीं मिला, अटक गई चाह, रुक गई चाहा, हिन्डर्ड डिजायर, चाह के बीच में अड़ गया पत्थर, चाह के बीच में पड़ गई बाधा क्रोध के वर्तुल को पैदा करती है।

नदी भाग रही है सागर की तरफ, आ जाये एक पत्थर बीच में, तो सब गड़बड़ हो जाता है। आवाज पैदा हो जाती है। पत्थर न हो तो नदी में आवाज नहीं होती। नदी आवाज नहीं करती, पत्थर के साथ टकराकर आवाज पैदा हो जाती है। अगर काम की नदी बहती रहे और कोई बाधा न हो, तो क्रोध कभी पैदा न होगा।

काम की नदी बहती है और बाधाओं के पत्थर चारों ओर खड़े हैं। वे खड़े ही हैं, कोई आपके काम को रोकने के लिये नहीं खड़े हैं, वे खड़े ही थे। आपके काम ने वहां से बहना शुरू किया। एक स्त्री सुन्दर दिखाई पड़ी, मैंने उसे चाहना शुरू किया। अब आप एक पत्थर हैं। उस स्त्री का जो पति है, वह भी पत्थर है। उस स्त्री का जो पिता है, भाई है, वे भी पत्थर हैं। कानून

है, अदालत है, पुलिस है—वे भी पत्थर हैं। और या कोई भी न हो तो कम से कम वह स्त्री भी तो है। मैंने चाहा इसलिये वह भी चाहे, यह कोई जरूरी नहीं है। मेरी चाह पर उसके लिये नियम और कानून तो नहीं है। वह स्त्री तो है ही। वह भी पत्थर बन सकती है। इस जगत् में हम सारे पत्थर हटा दें, तो भी वह स्त्री तो है ही और फिर अगर वह स्त्री भी राजी हो, तो भी पत्थर नहीं रहेंगे, ऐसा नहीं है। तो यहां थोड़े और गहरे में उतरना पड़ेगा।

अगर ऐसा भी हम कर लें (जैसा कि समाजशास्त्री सोचते हैं, जैसा कि समाजवादी सोचते हैं) कि ये सारे पत्थर अलग कर दें। जैसा कि हिप्पी और बीटनिक सोचते हैं कि सारे पत्थर अलग करो कानून अलग करो, पुलिस अलग करो, जहां-जहां पत्थर है वह अलग कर दो, क्योंकि व्यर्थ ही उनसे क्रोध पैदा होता है और मन उससे दुखी होता है। लेकिन सब पत्थर अलग कर दो, तो भी एक स्त्री को पचीस पुरुष नहीं चाह लेंगे, एक पुरुष को पचीस स्त्रियां नहीं चाह लेंगी, इसका क्या उपाय है?

असल में कानून और व्यवस्था इसीलिये बनानी पड़ी कि अव्यवस्था इससे भी ज्यादा बदतर हो जायेगी। यह बदतर है काफी, लेकिन अव्यवस्था इससे भी ज्यादा बदतर हो जायेगी। यह चुनाव रिलेटिव है, यह बदतर है। काफी है कि हर जगह चाह के बीच में उपद्रव खड़ा है, लेकिन अगर सारे उपद्रव हटा लें, तो महाउपद्रव खड़ा हो जायेगा। अभी एक ही पति है उसका खड़ा, पति की व्यवस्था को हटा दो, तो हजार पति खड़े हो जाएँगे। क्या उपाय होगा, इसे रोकने का? अभी एक ही पत्नी पति पर पहरा दे रही है। हटा दो उसे, तो हजार पत्नियां नहीं पहरा देंगी, इसकी क्या गारंटी है?

फिर हम कल्पना भी कर लें कि सब हटा दिया जाये और ऐसा भी कुछ हो जाये कि बाहर से कोई बाधा नहीं आती, तो भीतरी बाधाएँ हैं, जो और भी बड़ी बाधाएँ हैं। क्योंकि जिस स्त्री को आप चाहते हैं या जो स्त्री आपको चाहती है और बीच में और कोई बाधा नहीं है, तो भी आप दो हैं और दो होना भी काफी बड़ी बाधा है। और क्रोध रोज-रोज जन्मेगा। जरा-जरा-सी बात में जन्मेगा।

आप सुबह पांच बजे उठना चाहते हैं, आपकी स्त्री सुबह छह बजे उठना चाहती है। बस, इतना भी काफी है। कोई पुलिस, अदालत, कानून और राज्य की जरूरत नहीं है। क्रोध के लिये इतनी ही बाधा काफी है। छोटी-छोटी

अड़चनें चाह में खड़ी होती हैं और बाधा खड़ी हो जाती है। और दूसरा व्यक्ति भी व्यक्ति है, मशीन नहीं है। उसकी भी अपनी चिन्तना है, अपना सोचना है, अपना ढंग है। और दो चिन्तन एकदम 'पैरेलल' (समानान्तर) नहीं हो पाते। हो नहीं सकते। सिर्फ दो मशीनें समानान्तर हो सकती हैं, दो व्यक्ति कभी समानान्तर नहीं हो सकते।

असल में दो व्यक्तियों का साथ रहना ही उपद्रव है। न रहना भी उपद्रव है, क्योंकि बीच में चाह है। साथ न रहे, तो पूरी नहीं हो सकती। साथ रहे तो भी पूरी नहीं हो पाती है।

जितनी भी अड़चनें हैं, वे सब काम में अड़चनें, पत्थर बन जाती हैं और क्रोध को जन्माती हैं। कामी क्रोधी हो जाता है।

अगर कृष्ण ने कहा है कि स्थितप्रज्ञ को क्रोध नहीं होता, तो उसका कारण यही है कि स्थितप्रज्ञ को काम नहीं होता। वह निष्काम है। ये 'नेसेसरी स्टेप्स' हैं, ये अनिवार्य सीढ़ियां हैं, जो एक के पीछे चली आती हैं। एक को लायें, तो दूसरे को लाना पड़ता है। वह दूसरा पहले से इतना बंधा है कि एक को लाते वक्त वह उसकी छाया की तरह भीतर प्रवेश कर जाता है।

आपको मैंने निमंत्रण दिया, तो आपकी छाया भी मेरे घर में आ जाती है। आपकी छाया को मैंने कभी निमंत्रण नहीं दिया था, पर आपके साथ वह भीतर चली आती है। काम के पीछे, आता है क्रोध। अगर चित्त में क्रोध हो, तो जरा भीतर खोजने से पता चलेगा कि भीतर कहीं काम है।

अटका हुआ काम, क्रोध है। रुका हुआ काम, क्रोध है। बाधा डाला गया काम, क्रोध है। क्रोध का सांप फुफकारता तभी है, तभी वह फन फैलाता है, जब मार्ग में कोई अड़चन आ जाती है, और द्वार नहीं मिलता है। कोई रोकता है, कोई अटकाता है......।

फिर हम अकेले नहीं हैं, इस जगत् में। विराट् यह जगत् है। सभी की कामनाएँ एक दूसरे की कामनाओं को 'क्रिसक्रॉस' कर जाती हैं। फिर सब जगह अटकाव हो जाता है। मैं कुछ चाहता हूँ, लेकिन साढ़े तीन अरब लोग और हैं पृथ्वी पर, वे कुछ और चाहते हैं।

फिर अदृश्य परमात्मा है, फिर अदृश्य जीव-जन्तु हैं, फिर अदृश्य देवी-देवता हैं, फिर अदृश्य पशु-पक्षी हैं, उन सब की चाहें हैं। अगर हम अपने

ऊपर देख सकें, तो हमें पता चले कि पूरा आकाश अनन्त चाहों से 'क्रिसक्रॉस' है। **अनन्त चाहें एक दूसरे को काट रही हैं। एक-एक चाह पर करोड़-करोड़ चाहों का कटाव है।** वह कटाव क्रोध पैदा करता है। करेगा ही। जहां भी वासना कटी कि पीड़ा हुई। जैसे किसी की रग काट दो, तो खून बहने लगे। वासना की रग कटती है, तो क्रोध का खून बहता है।

कृष्ण कहते हैं कि काम से क्रोध पैदा होता है। मनुष्य के अस्तित्व में, जैसा मनुष्य है, क्रोध की बड़ी गहरी आधारशिलाएँ रखी हैं। पर है क्या क्रोध, अपने में ?—ऊर्जा, एनर्जी। तृप्ति के लिये वह काम के मार्ग से जाती थी, लेकिन मार्ग अवरुद्ध पाकर शक्ति उद्विग्न हो गई है। चाहा था कुछ, उस चाह की पगडंडी से प्राणों की ऊर्जा बहनी थी, बीच में आ गया है पत्थर। अटक गया सब। शक्ति अपने पर लौट पड़ी। सब भीतर क्रुद्ध हो गया है। लौटा हुआ काम, काम के मार्ग से जाती हुई ऊर्जा अवरुद्ध होकर विद्रोह से भर गई है, विक्षिप्त हो गई है, 'इनसेन' हो गई है। इसलिये क्रोध है।

दूसरी मजे की बात है कि जैसे-जैसे क्रोध बढ़ता है, फिर वैसे-वैसे मोह भी बढ़ता है। क्योंकि जिसे हम चाहते हैं और नहीं पा पाते, उसके प्रति मोह और गहरा हो जाता है। मिल जाये, तो मोह कम हो जाता है। न मिले, तो मोह बढ़ जाता है। जो नहीं मिलता है, उसी के प्रति मोह रहता है, जो मिलता है, उसके प्रति मोह नहीं रह जाता। इस प्रकार क्रोध मोह को जन्म दे जाता है। मोह का मतलब क्या है ?

मैंने सुना है कि नादिरशाह ने एक दफे बहुत गहरा मजाक किया। और कभी-कभी पाप में गहरे गये लोगों की बुद्धि भी पुण्य में गहरे गये लोगों की बुद्धि जैसी ही गहरी हो जाती है। उल्टी होती है, लेकिन गहरी हो जाती है।

नादिरशाह किसी स्त्री के प्रति लोलुप है, लेकिन वह स्त्री उसके प्रति बिलकुल ही अनासक्त है, पर नादिरशाह के एक सैनिक के प्रति पागल है। स्वभावतः नादिरशाह के लिये बर्दाश्त करना मुश्किल हो गया। पकड़वा भिजवाया दोनों को। पूछा अपने वजीरों से कि कोई नई सजा खोजो, जो कभी नहीं दी गई हो। ऐसी कोई सजा है, जो कभी नहीं दी गई हो ? सब सजाएँ चुक गई हैं।

वजीर बड़ी मुश्किल में पड़े। नई-नई सजाएँ खोजकर लाते, लेकिन नादिर कहता कि यह तो हो चुका है। यह कई बार दी जा चुकी है। हम ही

दे चुके हैं। दूसरे दे चुके हैं। नई चाहिये। और सच में ही एक बूढ़े वजीर ने नई सजा खोज ली। आप भी नहीं सोच सकेंगे कि नई सजा क्या हो सकती थी ?

नई सजा यह थी कि दोनों को नग्न करके, एक दूसरे के चेहरों को आमने-सामने करके, दोनों को एक खम्भे से बांध दिया जाये। कभी सोचा भी नहीं होगा किसी ने। एक दिन, दो दिन, फिर एक दूसरे के शरीर से बास आने लगी, मल-मूत्र छूटने लगा। तीन दिन, फिर एक दूसरे के चेहरे को देखने की इच्छा न रही। चार दिन, फिर एक दूसरे पर भारी घृणा पैदा होने लगी। पांच दिन बाद नींद नहीं। मल-मूत्र, गंदगी, बंधे हैं, दोनों एक साथ। वे प्रेमी यही चाहते थे ! पन्द्रह दिन बाद दोनों पागल हो गये कि एक दूसरे की गर्दन काट दें।

नादिर रोज आकर कहता कि कहो प्रेमियों, इच्छा पूरी कर दी न ! मिला दिया न दोनों को ! और ऐसा मिलाया है कि छूट भी नहीं सकते। जंजीरें बंधी हैं। पन्द्रह दिन बाद, जब उन दोनों को छोड़ा, तो कथा है कि उन्होंने लौटकर एक दूसरे को जिन्दगी में न दुबारा देखा और न बोले। जो भागे एक दूसरे से, तो फिर लौटकर कभी नहीं देखा।

क्या हुआ ? मोह पैदा होने का उपाय न रहा। अमोह पैदा हो गया।

करीब-करीब जिसे हम विवाह कहते हैं, वह भी नादिरशाह का बहुत छोटे पैमाने पर प्रयोग है—बड़े छोटे पैमाने पर। किसी बहुत होशियार आदमी ने बड़ी गहरी ईजाद की है, विवाह की। विवाह **मोह को नहीं जन्मने देती, मोह को मार डालती है।** असल में मोह, जो नहीं मिलता, उसके लिये पैदा होता है।

इसलिये कृष्ण की 'इनसाइट', उनकी अंतर्दृष्टि गहरी है। वे कहते हैं कि क्रोध से मोह पैदा होता है अर्जुन, क्योंकि क्रोध का मतलब ही यह है कि जिसे चाहा था, वह नहीं मिल सका, इसलिये क्रोध आया। नहीं मिल सका, इसलिये मिलने की और आकांक्षा आयेगी। नहीं मिल सका, इसलिये पाने का और पागलपन आयेगा। नहीं मिल सका, इसलिये मन और विक्षिप्त हो जायगा और मांग करेगा।

जापान में वेश्याओं का एक वर्ग है—गीसा गर्ल्स। उनकी जो ट्रेनिंग है, उस ट्रेनिंग का जो एक हिस्सा है, वह दुनिया में सभी वेश्याओं की ट्रेनिंग का हिस्सा है। वेश्याएँ पत्नियों से ज्यादा होशियार हैं। गीसा गर्ल्स को

सिखाया जाता है कि कभी इतनी मत मिल जाना किसी को कि अमोह पैदा हो जाये। बस, मिलना और न मिलना—इनके बीच सदा खेल को चलाते रहना। पास बुलाना किसी को और दूर हो जाना। कोई निकट आ पाये कि सरक जाना। बुलाना भर, मिल ही मत जाना, क्योंकि मिल ही गये कि मोह नष्ट हो जाता है। वेश्याएँ भी जानती हैं, कृष्ण के राज को। उनको भी पता है।

यह बड़े मजे की बात है। ख्याल में आती है, आपसे कहता हूं। एक समय था, जब स्त्रियां घूंघट में दबी थीं, अंधेरे में छिपी थीं। पति भी नहीं देख पाता था, सूरज की रोशनी में। कभी खुले में, बात भी न कर पाता था। अपनी पत्नी से भी बात चोरी से होती थी। रात के अंधेरे में—वह भी खुसर-फुसर, क्योंकि बड़ा परिवार होता था, कोई सुन न ले! और तब आकर्षण गहरा था, मोह जिन्दगी भर चलता था।

स्त्री उघड़ी, पर्दा गया–अच्छा हुआ, स्त्री के लिये बहुत अच्छा हुआ। सूरज की रोशनी आई। लेकिन साथ ही मोह क्षीण हुआ। स्त्री और पुरुष आज कम मोहग्रस्त हैं। आज स्त्री इतनी आकर्षक नहीं है, जितना सदा थी। और यूरोप और अमेरिका में और भी अनाकर्षक हो गई है। क्योंकि चेहरा ही नहीं उघड़ा, पूरा शरीर भी उघड़ा।

आज अमेरिका और यूरोप के समुद्र तट पर स्त्री करीब-करीब नग्न है और पास से चलने वाला रुक कर भी तो नहीं देखता, पास से गुजरने वाला ठहर कर भी नहीं देखता कि नग्न स्त्री है।

कभी आपने देखा कि बुरके में ढँकी औरत जाती हो, तो पूरी सड़क उत्सुक हो जाती है। **ढँके का आकर्षण है, क्योंकि ढँके में बाधा है।** जहां बाधा है, वहां मोह है। जहां बाधा नहीं है, वहां मोह नहीं है।

स्त्री और पुरुष का आकर्षण जितना सेक्सुअल है, जितना कामुक है, उससे ज्यादा सोसल (सामाजिक) है, कल्चरल (सांस्कृतिक) है। वह काम से पैदा हुआ है, उससे भी ज्यादा काम में डाली गई सामाजिक बाधाओं से पैदा हुआ है।

अब मैं मानता हूँ कि आज नहीं कल सारी दुनिया में घूंघट वापस लौट सकता है। आज कहना बहुत मुश्किल मालूम पड़ता है, पर यह भविष्यवाणी करता हूँ कि पचास साल में घूंघट वापस लौट आयेगा। क्योंकि स्त्री पुरुष

इतने अनाकर्षक हालत में जी नहीं सकेंगे। वे आपसी आकर्षण फिर पैदा करना चाहेंगे।

आने वाले पचास वर्षों में स्त्रियों के वस्त्र फिर बड़े होंगे। फिर उनका शरीर ढँकेगा।

बर्ट्रेन्ड रसेल ने लिखा है कि जब वह बच्चा था, तो विक्टोरियन युग समाप्त हो रहा था। और स्त्रियों के पैर का अंगूठा भी देखना मुश्किल था। घाघरा ऐसा होता था कि जमीन छूता था। तो बर्ट्रेन्ड रसेल ने लिखा है कि अगर किसी स्त्री के पैर का अंगूठा भी दिख जाता था, तो चित्त में बिजली कौंध जाती थी। उसने लिखा है कि अब कल्पना करने को भी कुछ नहीं बचा है। स्त्री पूरी दिखाई पड़ जाती है और चित्त में कोई बिजली नहीं कौंधती।

नग्न स्त्री उतनी आकर्षक नहीं है, नग्न पुरुष उतना आकर्षक नहीं है। और स्त्रियां पुरुषों से ज्यादा होशियार हैं, इसलिये स्त्रियां नग्न पुरुष में कभी कोई उत्सुकता नहीं लेती हैं। गहरे-से-गहरे प्रेम के क्षण में भी स्त्रियां आंख बन्द कर लेती हैं कि पुरुष दिखाई ही न पड़े। स्त्रियां ज्यादा होशियार हैं, शायद 'इन्सटिंक्टिवली' वे प्रकृति के ज्यादा करीब हैं और रहस्यों से ज्यादा परिचित हैं।

कृष्ण कहते हैं, **क्रोध से मोह पैदा होता है। क्योंकि क्रोध में बाधा पैदा होती है। जहां भी बाधा है, वहां आकर्षण खड़ा हो जाता है।**

अब यह बड़े मजे की बात है कि जिन लोगों ने बाधाएँ खड़ी की हैं, वे ही आकर्षण के लिये जिम्मेदार हैं। ईसाइयत ने पाप को बड़ा आकर्षक बना दिया है, क्योंकि पाप के लिये बहुत बाधाएँ खड़ी की हैं। धर्मों ने सेक्स को बहुत आकर्षक बना दिया है, क्योंकि उन्होंने बहुत बाधाएँ खड़ी की हैं। आमतौर से लोग समझते हैं: फिल्में हैं, नग्न चित्र हैं, नग्न-अश्लील तस्वीरें हैं, ये लोगों को कामुक बना रही हैं। कृष्ण यह नहीं कह सकते कि कामुक बना रही हैं। कृष्ण कहेंगे कि यह तो लोगों का सारा मोह खराब कर देगी। क्योंकि जो चीज परिचित हो जाती है, वह लोगों के लिये अनाकर्षक हो जाएगी। जिसमें बाधा नहीं है, वह अनाकर्षक हो जाती है।

अगर कृष्ण से हम पूछें मनोवैज्ञानिक तथ्य, तो वह यह होगा कि अगर दुनिया में स्त्री पुरुष के आकर्षण को बढ़ाना हो तो नग्न तस्वीरें बन्द करो, अश्लील तस्वीर बन्द करो, स्त्री को नग्न मत करो। ढांको, बाधाएँ खड़ी करो।

स्त्री पुरुष को एकदम मिल जाने की सुविधा मत बनाओ। असुविधाएँ खड़ी करो, अगर मोह पैदा करना है तो।

कृष्ण से हम पूछें, तो कृष्ण वह जबाब नहीं देंगे, जो हिन्दुस्तान के सब साधु दे रहे हैं। वे कह रहे हैं कि फिल्मों में चुम्बन न हो, चुम्बन हुआ तो लोग कामुक हो जाएँगे। वे गलत हैं। उन्हें मनोविज्ञान का कुछ भी पता नहीं। कृष्ण को ज्यादा पता है। कृष्ण कह रहे हैं कि अगर बाधा बिलकुल नहीं है, तो मोह बिलकुल गिर जायगा। अगर चीजें बिलकुल साफ हैं, तो आकर्षण खो देती हैं। निषेध में निमंत्रण है। जहां ढँका है, वहां उघाड़ने का मन होता है।

मेरी अपनी समझ यह है कि पुरानी मनुष्य की संस्कृति स्त्री और पुरुष के बीच ज्यादा आकर्षण को जन्माती थी। पुरानी संस्कृति में तलाक मुश्किल था। आकर्षण भारी था। पति अपनी पत्नी से मिल कहां पाता था? कितनी बाधाएँ थीं? संयुक्त परिवार बड़ी बाधा का काम करता था। आकर्षण जीवन भर खींचता था। जीवन भर ही नहीं, स्त्री पुरुष चाहते थे कि मर कर भी साथ ही रहें। तलाक इस जन्म में भी करने का मन न था। जन्मों-जन्मों तक एक ही को पा लेने का आकर्षण था। राज कहाँ है? राज इसी सूत्र में है कि बाधाएँ बहुत थीं।

क्रोध सबसे बड़ी बाधा है। असल में क्रोध बाधा से ही पैदा होता है। चित्त बाधाओं से घिरता है, तो मोह पैदा हो जाता है और जहां मोह पैदा होता है, वहां स्मृति भ्रष्ट हो जाती है। स्मृति मोह से भ्रष्ट क्यों हो जाती है?

आमतौर से हम सोचते होंगे कि काम से भ्रष्ट होनी चाहिये स्मृति। काम से भ्रष्ट नहीं होती, क्योंकि काम प्राकृतिक तथ्य है। आमतौर से हमें सोचना चाहिये कि क्रोध से भ्रष्ट हो जाती है स्मृति। लेकिन क्रोध से भी नहीं होती। क्योंकि क्रोध सिर्फ काम के मार्ग में पड़ी अड़चन से पैदा होता है। क्रोध 'प्रोजेक्टिव' नहीं है। यह समझना पड़ेगा। क्रोध का कोई सम्मोहन नहीं है। क्रोध केवल प्रतिकार है, प्रक्षेप नहीं। क्रोध किसी दूसरे का प्रतिकार है, किसी बाधा को हटाने की चेष्टा है। बाधा हट जाये, तो क्रोध खो जाएगा।

मोह क्रोध से भी सबल है। मोह 'प्रोजेक्टिव' है। मोह अंधा कर देता है।

क्रोध पागल करता है, मोह अंधा कर देता है। मोह कुछ भी हो, सब बाधाओं को भूल कर पागल होकर जिसे पाना चाहते हो, उसके पीछे दौड़ पड़ता है। क्रोध बाधाओं को अलग करने की कोशिश करता है। क्रोध काफी 'रीयलिस्टिक' है। क्रोध बहुत यथार्थ है। लेकिन मोह कहता है कि बाधाएँ, कोई बाधाएँ नहीं है, छलांग लगायेंगे, दौड़ कर निकल जायेंगे।

मोह अंधा कर देता है और जब चित्त अंधा होता है, तभी स्मृति क्षीण होती है। हां, मोह तक आने के लिये काम और क्रोध जरूरी है। मोह कहना चाहिये परिपाक है। मोह हमारे चित्त के विकार की सौ डिग्री अवस्था है, जहां से भाप बनना शुरू होता है। निन्यानबे डिग्री तक भी पानी भाप नहीं बनता है। गर्म ही रहता है। और गर्म रहने में एक खूबी है कि अभी नीचे से अगर ईंधन निकाल लिया जाये, तो फिर ठंडा हो सकता है। लेकिन सौ डिग्री पर पहुँच कर पानी भाप बन जायेगा। फिर आप ईंधन निकालो या कुछ करो, भाप फिर ईंधन निकालने से ठंडी नहीं हो सकती। पानी ने नई अवस्था पा ली है।

क्रोध तक मन सिर्फ गर्म है, पर मोह तक भाप बन जाता है। नई अवस्था शुरू हो गई मन की—'ए न्यू स्टेट', 'क्वालिटेटिव चेन्ज' हो गया, गुणात्मक अंतर हो गया। क्रोध तक गुणात्मक अंतर नहीं है, परिमाणात्मक अंतर है। 'क्वांटिटेटिव चेन्ज' हो रही है। इसलिये क्रोध से वापस लौट आना आसान है, मोह से वापस लौट आना बहुत मुश्किल हो जाता है।

इसलिये कृष्ण कहते हैं कि मोह से स्मृति भ्रष्ट हो जाती है। क्योंकि चित्त भाप हो जाता है। लौटना बहुत कठिन है। अब उसको ठंडा करना बहुत कठिन है। अब ईंधन हटाने से कुछ न होगा। और फिर मोह के तत्त्व को ठीक से समझें, तो पता चलेगा कि मोह स्मृति को क्यों नष्ट करता है।

मनुष्य के मन में स्मृति का जो काम है, मोह का उससे विपरीत काम है। स्मृति तथ्यगत है। स्मृति का मतलब ही यही है कि जो जाना, उसे वैसे ही याद रखना, जैसा कि जाना है। 'राइट मेमोरी', ठीक स्मृति का मतलब इतना ही है कि हम अपनी तरफ से कुछ नहीं जोड़ते। जो है, उसको ही स्मरण रखते हैं। उसमें हमारा कोई जोड़ नहीं होता।

मोह कहना चाहिये 'क्रिएटिव' है, सृजनात्मक है। वह, वही नहीं देखता, जो है; वह 'प्रोजेक्ट' करता है; उसका निर्माण करता है, जो चाहता है कि

हो। **मोह स्वप्न निर्माता है।** मोह सम्मोहक है, हिप्नोटिक है। **मोह अपने** हिप्टोनिज्म का जाल फैला देता है। **वह बिलकुल अंधा होकर वही देखने** लगता है, जो देखना चाहता है।

इसलिये अक्सर हम कहते हैं कि जब कोई मोहग्रस्त होता है, कोई प्रेम में पागल हो जाता है, तो फिर उसे तथ्य दिखाई नहीं पड़ते। वह आग में चल सकता है, वह पहाड़ों से कूद सकता है। उसे फिर कुछ दिखाई नहीं पड़ता। फिर वह 'रीयलिस्ट' नहीं रह जाता। वह 'सोमनाम्बुलिस्ट' हो जाता है। वह नींद में चलने लगता है। उसका चलना नींद में चलने जैसा है। इसलिये प्रेमी को मनुष्य हमेशा से पागल कहता रहा है। और प्रेम को सदा से अंधा कहता रहा है। ठीक होगा कि हम प्रेम की जगह मोह का उपयोग करे। ठीक शब्द मोह है। मोह अंधा है, 'ब्लाइंड' है। प्रेम बड़ी और बात है।

प्रेम को मोह के साथ एक कर लेने से भारी नुकसान हुआ है। प्रेम बहुत ही और बात है। **प्रेम तो उसी के जीवन में घटित होता है, जिसके जीवन में मोह नहीं होता।** लेकिन हम प्रेम को ही मोह और मोह को प्रेम कहते रहे हैं।

प्रेम तो बुद्ध और कृष्ण जैसे लोगों के जीवन में होता आया है। हमारे जीवन में प्रेम होता ही नहीं है। जिनके जीवन में मोह है, उनके जीवन में प्रेम नहीं हो सकता। क्योंकि मोह मांगता है, प्रेम देता है। वे बिलकुल अलग अवस्थाएँ हैं। उनकी हम आगे बात कर सकेंगे। लेकिन मोह को समझने के लिये प्रेम को समझना उपयोगी है।

प्रेम उस चित्त में फलित होता है, जिसमें कोई 'काम' नहीं रह जाता, जिसमें कोई वासना नहीं रह जाती। क्योंकि दे वही सकता है, जो मांगता नहीं। वासना मांगती है। वासना कहती है: यह मिलना चाहिये, वह मिलना चाहिये। प्रेम कहता है कि अब कोई मांग नहीं। **वासना भिखारी है और प्रेम सम्राट।** प्रेम कहता है कि जो हमारे पास है, ले जाओ। हमें तो कोई जरूरत न रही, अब हमारी कोई मांग न रही। अब तुम्हें जो ले जाना है, ले जाओ।

प्रेम दान है। वासना भिक्षावृत्ति है, मांग है। इसलिये वासना में कलह है। प्रेम में कोई कलह नहीं है। ले जाओ तो ठीक, न ले जाओ तो ठीक। लेकिन मांगने वाला यह नहीं कह सकता कि दो तो ठीक, न दो तो ठीक। देने वाला कह सकता है कि ले जाओ तो, ठीक न ले जाओ तो ठीक।

क्योंकि देने में कोई अन्तर ही नहीं पड़ता है। नहीं ले जाते, तो मत ले जाओ। मांग में अंतर पड़ता है। नहीं मिलेगा, तो प्राण छटपटाते हैं, क्योंकि फिर अधूरा रह जाएगा भीतर कुछ, पूरा नहीं हो पायेगा।

मोह पैदा होता है, वासना की अंतिम कड़ी में और प्रेम पैदा होता है, निर्वासना की अंतिम कड़ी में। कहना चाहिये, जिस तरह मोह से स्मृति नष्ट होती है, उसी तरह से प्रेम से स्मृति पुष्ट होती है। पर उसकी अलग बात करेंगे।

मोह सीढ़ियों का नीचे उतरा हुआ सोपान है, पायदान है, जहां आदमी पागल होने के करीब पहुँचता है। प्रेम सीढ़ियों का ऊपरी पायदान है, जहां आदमी विमुक्त होने के करीब पहुँचता है। **मोह के बाद विक्षिप्तता है, प्रेम के बाद विमुक्ति है।**

यह जो मोह पैदा हुआ, यह स्मृति को नष्ट कर देता है। क्यों? क्योंकि स्मृति अब रिकार्ड नहीं कर पाती कि 'क्या है?' स्मृति का काम सिर्फ रिकार्डिंग का है कि वही रिकार्ड कर ले, जो है। तथ्य को अंकित कर ले। लेकिन **मोह के कारण तथ्य दिखाई नहीं पड़ता।** मोह के कारण हम एक जाल अपनी तरफ से 'प्रोजेक्ट' करते हैं।

प्रोजेक्टर आपने देखा होगा। सिनेमा गृह में पर्दा होता है। पर्दे पर चित्र होते हैं। लेकिन आपकी पीठ के पीछे, दीवाल के उस पार, छिपा हुआ प्रोजेक्टर होता है, मशीन होती है, जो पर्दे पर फेंकती है। चित्र उस मशीन में छिपे होते हैं, पर्दे पर नहीं होते हैं। पर्दे पर चित्रों का सिर्फ भ्रम पैदा होता है। चित्र होते हैं मशीन में छिपे प्रोजेक्टर में, फेंकने वाले में। और वहां से चित्र फेंके जाते हैं, लेकिन दिखाई पड़ते हैं पर्दे पर। होते हैं प्रोजेक्टर में, दिखाई पड़ते हैं पर्दे पर।

मोह 'प्रोजेक्टर' (प्रक्षेपक) है। होता है हमारे भीतर, दिखाई पड़ता है पर्दे पर। जब मैं किसी स्त्री के प्रेम पड़ जाता हूँ, तो जो चेहरा मुझे दिखाई पड़ता है, वह उस स्त्री का नहीं होता, वह मेरे प्रोजेक्टर का होता है। वह होता है, मेरे भीतर; दिखाई पड़ता है, वहां। स्त्री सिर्फ पर्दा होती है। क्योंकि जिसको स्त्री से मोह नहीं है, उसको वह चेहरा सुन्दर नहीं दिखाई पड़ता है, जैसे मुझे दिखाई पड़ता है। मुझे उसके पसीने में भी सुगन्ध आने लगती है। उसके पसीने में भी गुलाब खिलने लगते हैं। किसी दूसरे को नहीं

खिलते। कुछ दिन बाद मुझे भी नहीं खिलेंगे—तब जब मोह गिरेगा और प्रोजेक्टर बंद हो जाएगा और पर्दा दिखाई पड़ेगा। तब मैं कहूँगा, अरे, क्या हुआ? गुलाब के फूल कहां गये! गुलाब के फूल बिदा हो जाएँगे। वे गुलाब के फूल वहां थे ही नहीं। वे गुलाब के फूल, मैंने आरोपित किये थे, प्रोजेक्ट किये थे। वह मेरा प्रक्षेप था।

धन में, धन के पागल को जो दिखाई पड़ता है, वह धन में होता नहीं, 'प्रोजेक्टेड' होता है। धन में क्या होगा? लेकिन धन के पागल को देखा है आपने। वह रुपयों को किस मोह से पकड़ता है, जैसे किसी जीवन्त चीज को पकड़ रहा हो! वह रुपये को किस प्रेम से सम्हालता है, जैसे उसका हृदय हो! वह तिजोरी को कैसे आहिस्ता से खोलता है! वह तिजोरी को कैसे देखता है, जैसे उसकी आत्मा बन्द है! वह रात सोता भी है, तो तिजोरी के ही चिन्तन में घूमता है। रात सपने भी आते हैं, तो रुपयों के ढेर बनते चले जाते हैं। वह जिस जगत् में जी रहा है, उसका हमें कुछ भी पता नहीं कि उसका 'प्रोजेक्शन' क्या कर रहा है, क्या 'प्रोजेक्ट' करता है?

मैंने सुना है एक आदमी एक गांव में बहुत धनपति था। फिर गांव में लोग मरने लगे, अकाल पड़ा, तो लोगों ने उससे कहा कि इतना धन है तुम्हारे पास, इतना धान्य है तुम्हारे पास, लोग मर रहे हैं, ऐसे क्षण पर रोको मत, बाँटो। तो उस आदमी ने कहा कि जिसे तुम बांटने के लिये कह रहे हो, वह अगर बंट जाये तो मैं मर जाऊँगा। तो लोग मर रहे हैं माना, लेकिन मैं मरना नहीं चाहता! यह तुम भी जान लो। और लोग मर रहे हैं, तो दूसरे पैदा हो जाएँगे। लेकिन जो धन मैंने इकट्ठा किया है, वह दूसरा कहां से आ सकता है? लोग बड़े चकित हुये। कभी न सोचा था कि ऐसा उत्तर मिलेगा। लेकिन हमें पता नहीं कि लोग उस आदमी के लिये छायाओं की तरह झूठे हैं। धन आत्मा की तरह सच्चा है, लोग हैं ही उसकी जीवन-परिधि में। उसके मन के घेरे में लोगों का कोई अस्तित्व नहीं है। वे प्रतिबिम्ब हैं। आते हैं, जाते हैं। धन बहुत वास्तविक है।

फिर उसकी पत्नी भी बीमार पड़ गई। गांव भर के लोग मर रहे हैं, बीमारी फैल गई। तो लोगों ने कहा कि कम-से-कम अपनी पत्नी को दिखाने के लिये वैद्य को बुला लो। उसने कहा कि पत्नी फिर भी मिल सकती है। लेकिन धन फिर भी मिलेगा, इसका आश्वासन क्या है?

जिसके मन में धन का मोह है, हम नहीं समझ पाते उसकी भाषा। जैसे अर्जुन पूछ रहा है कि स्थितप्रज्ञ कैसी भाषा बोलता है, ऐसे ही मोहग्रस्त कैसी भाषा बोलता है, वह भी हम नहीं समझ सकते। मोहग्रस्त कैसे उठता, कैसे बैठता, हमारी पकड़ में नहीं आता। हां अपने-अपने मोह को देखेंगे, तो पकड़ में आ सकता है। सबके मोह हैं। दूसरे का मोह हमारी समझ में नहीं आता, हमारा मोह ही हमारी समझ में आता है।

उसने कहा कि पत्नी दूसरी मिल जायेगी। पत्नी मर गई, फिर एक दिन वह खुद भी मरने के करीब आ गया। बीमारियों ने उसे भी पकड़ लिया। लोगों ने कहा कि अब तो कम-से-कम अपने पर कृपा करो। अब तो तुम्हीं मरने के करीब हो! उसने कहा कि धन न बचे, मैं बच जाऊँ, तो ऐसे बचने से मर जाना ही बेहतर है। वह तो बड़ा दुखद है, वह तो बड़ा भयप्रद है कि धन न बचे और मैं बच जाऊँ। कल्पना ही नहीं कर सकता, धन के बिना मेरे होने की। हां, मेरे न होने की कल्पना कर सकता हूँ। लेकिन धन के बिना मेरे होने की कल्पना नहीं कर सकता।

मोहग्रस्त आदमी ऐसी ही भाषा बोलता है। वह कहता है कि यह स्त्री न मिली, तो मैं मर जाऊंगा। इस स्त्री के बिना अपने होने की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। हां, अपने न होने की कल्पना कर सकता हूँ।

वही मोह है, जो कहता है कि अगर मंत्री पद न मिला, तो मर जाऊँगा। मैं मंत्री पद के बिना अपने होने की कल्पना नहीं कर सकता। हां, अपने न होने की कल्पना कर सकता हूँ। मोहग्रस्त की यही भाषा है।

फिर लोगों ने उस धनपति से कहा कि लेकिन, तुम मर जाओगे, तो यह धन पड़ा रह जायेगा! इतने दिन बचाया है, फिर इसका क्या होगा? उसने कहा कि क्या तुम समझते हो कि मैं धन को पड़ा रहने दूँगा! मैं साथ ले जाऊँगा। लोगों ने कहा कि अब तक तो सुना नहीं कि कोई धन को साथ ले गया हो! उसने कहा कि सुन लेना, जब मैं ले जाऊँगा, तो तुम्हें पता चल जायेगा।

मोहग्रस्त-मन की स्मृति खो जाती है। सोच-विचार खो जाता है। सहज विवेक खो जाता है। वह कह रहा है कि मैं धन को भी साथ ले जाऊँगा! क्योंकि मोहग्रस्त आदमी कहता है कि छोड़ूँगा ही नहीं, प्राणों में समा लूंगा। अपना-अपना मोह है।

एक मुख्य मंत्री को मैं जानता हूँ एक प्रदेश के। उन्होंने मरने के एक साल पहले मुझसे कहा कि अब एक ही इच्छा है कि मुख्य मंत्री रहते हुये मरूँ। मौत करीब दिखने लगी थी। बहुत बीमार थे। कहा कि मुझे एक ही इच्छा है कि मुख्य मंत्री रहते हुये मैं मरूँ। मैंने कहा कि मरने का इतना भय नहीं, जितना मुख्य मंत्री पद छूटने का भय है! मरते हुये भी कम-से-कम मुख्य मंत्री पद तो साथ चला जाये! मरे तो मुख्य मंत्री थे, साथ ले गये!

उस धनपति ने कहा कि ले जाऊँगा साथ। और सच में उसने एक रात कोशिश की। **मोहग्रस्त आदमी** कोई भी कोशिश कर सकता है। **उसकी स्मृति खो जाती है, उसका विवेक खो जाता है।** रात उसने देखा कि शायद सुबह नहीं होगी, तो आधी रात वह उठा। उसने अपने सारे हीरे-जवारात, जो भी कीमती थे, वह एक बोरी में बन्द किया। लेकर नदी के किनारे पहुँचा। उसने सोचा कि बोरे को अपनी कमर में बांध कर नदी में कूद जाऊं। आखिरी चेष्टा की कि साथ ले जाऊं। लेकिन नदी गहरी है और अगर किनारे कूद पड़े, तो लाश तो किनारे लगी रह जायेगी। वह हीरे-जवाहरातों से भरा बोरा किनारे रह जायेगा। न मालूम उसे कौन उठा ले! तो उसने नाविकों को जगाया। एक नाविक के जगाने से काम चल जाता। पर नाविकों को जगाया, क्योंकि आदमी ठहराये बिना नहीं कर सकता था काम, उसको जाना था बीच नदी में।

उसने माझियों को जगाया और कहा कि सबसे कम में कौन ले जा सकता है। सबसे कम में! और वह आदमी मरने जा रहा है। वह सब धन लेकर डूब जाने वाला है। तो सबसे कम में कौन ले जा सकता है! भाव ठहराया उसने। सबसे छोटी अशर्फी में जो राजी था, उस मल्लाह के साथ वह उस नदी में उतरा। और आखिर जब बीच मझधार में पहुँच गया, तो उसने उस मल्लाह से कहा कि क्या एक मरते हुये आदमी की आखिरी इच्छा पूरी न करोगे। उसने कहा कि क्या मतलब? कैसी आखिरी इच्छा? फिर उसने कहा कि अगर तुम वह अशर्फी न मांगो तो मैं शांति से मर जाऊँ। पर एक मरते हुये आदमी की आखिरी इच्छा! इतनी धृष्टता करोगे कि एक मरते हुये आदमी की आखिरी इच्छा पूरी नहीं करोगे?

गरीब मल्लाह ने उस मरते हुये आदमी की आखिरी इच्छा पूरी की। वह धनपति शांति से कूद गया। ऐसे ही हम सब कूद जाते हैं, अपने-अपने

मोह से भरे हुये—मृत्यु में। मोह स्मृति को नष्ट कर देता है, विचार को छुड़ा देता है।

जहां स्मृति नष्ट होती है, कृष्ण कहते हैं कि वहां बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। स्मृति और बुद्धि में फर्क है। **स्मृति बुद्धि नहीं है,** स्मृति बुद्धि की एक 'फेकल्टी' है। स्मृति केवल बुद्धि का, कहना चाहिये, एक कोषागार है। स्मृति, कहना चाहिये, बुद्धि का संग्रहालय है—रिजरवायर है। कहना चाहिये, स्मृति बुद्धि का अतीत है। बुद्धि ने जो-जो जाना है, वह स्मृति ने संग्रहीत कर दिया है। बुद्धि का अतीत है स्मृति, बुद्धि नहीं। स्मृति का अर्थ है, 'द पास्ट', बीता हुआ।

लेकिन **पहले अतीत भ्रष्ट होता है, फिर वर्तमान भ्रष्ट होता, तब भविष्य भ्रष्ट होता है।** पहले उसका बोध क्षीण होता है, जो था। फिर उसका बोध क्षीण होता है, जो है। फिर उसका बोध क्षीण हो जाता है, जो होगा। स्वाभाविक है। क्योंकि अतीत सबसे ज्यादा स्पष्ट है। जो हो चुका है, वह सबसे ज्यादा स्पष्ट है। जो हो रहा है, अभी धूमिल है। जो नहीं हुआ, वह अनिश्चित है। बुद्धि की पकड़ सबसे ज्यादा अतीत पर साफ होती है।

जो हो चुका है, वह साफ होगा ही। सब रेखायें पूरी हो गईं। घटनाएँ घट चुकीं। जो होना था, उसने पूरा रूप ले लिया। वह आकृति बन गया। जो हो रहा है, वह अभी निराकार से आकार में आ रहा है। जो होगा, वह अभी निराकार है। जो भविष्य है, वह अव्यक्त है। जो वर्तमान है, वह व्यक्त होने की प्रक्रिया में है। जो अतीत है, वह व्यक्त हो गया है। इसलिये जब पहला हमला होगा, तो स्मृति पर होगा। क्योंकि वही सबसे पहले स्पष्ट है। सबसे पहले स्पष्ट डावाँडोल हो जायेगा। और जब स्पष्ट ही डावांडोल हो जाएगा, तो अस्पष्ट के डावाँडोल होने में कितनी देर लगेगी! और जब अस्पष्ट ही डावाँडोल हो जाएगा, तो जो भी निराकार है, उसकी तो सारी समझ ही छूट जाएगी।

पहले अतीत नष्ट हो जाएगा, फिर वर्तमान, फिर भविष्य। पहले इतिहास विकृत हो जाएगा, फिर जीवन और फिर संभावनाएँ। कृष्ण एक-एक कदम, ठीक वैज्ञानिक कदम की बात कर रहे हैं। वे कहते हैं, स्मृति नष्ट हो जाती है अर्जुन, फिर बुद्धि का नाश हो जाता है।

बुद्धि क्या है ? और कृष्ण जिस अर्थ में बुद्धि का उपयोग करते हैं, वह क्या है ? कृष्ण 'इन्टेलेक्ट' के अर्थों में बुद्धि का उपयोग नहीं करते। 'इन्टेलिजेन्स' के अर्थों में बुद्धि का उपयोग करते हैं। भाषाकोष में इन दोनों शब्दों का एक ही मतलब है। आप कहेंगे कि बुद्धि (इन्टलेक्ट) और 'इन्टेलिजेन्स' (बुद्धिमानी) में क्या फर्क है ? बुद्धि का वह रूप जो 'एक्चुअलाइज' हो गया है, इन्टेलेक्ट (बुद्धि) का वह रूप जो वास्तविक हो गया, जिसका आप प्रयोग कर चुके, जो सक्रिय हो गया है, वह इन्टेलिजेन्स है, बुद्धिमानी है। जो बुद्धि का रूप अभी भी निष्क्रिय पड़ा है, जो अभी सक्रिय नहीं हुआ, जो अभी 'पोटेन्शियल' रूप में पड़ा है, बीज रूप में पड़ा है, अभी रूपाकृत नहीं हुआ, रूपायत नहीं हुआ, जो अभी साकार नहीं हुआ, जो अभी वास्तविक नहीं हुआ—केवल संभावना है—बुद्धि में, इन्टलेक्ट में वह भी सम्मिलित है।

'द एक्चुआलाइज्ड इन्टलेक्ट इज इन्टेलिजेन्स'। जो वास्तविक बन गई है बुद्धि, वह बुद्धिमानी है। और जो अभी वास्तविक नहीं बनी, वह भी बुद्धि के हिस्से में है। तो आपकी बुद्धिमानी ही आपकी बुद्धि नहीं है, आपकी बुद्धि आपकी बुद्धिमानी से बड़ी चीज है। अगर आपकी बुद्धिमानी ही आपकी बुद्धि है, तो फिर आपमें विकास का कोई उपाय न बचेगा। बात खत्म हो गई। बुद्धि का एक वर्तुल है। बुद्धिमानी का वर्तुल बुद्धि के बड़े वर्तुल में छोटा हिस्सा है। यह बुद्धिमानी का वर्तुल बड़ा होता जाए, बड़ा होता जाए और किसी दिन बुद्धि के पूरे वर्तुल को छू ले, तो आदमी स्थितप्रज्ञ हो जाता है।

कृष्ण कहते हैं कि बुद्धि विकृत हो जाती है। बुद्धिमानी तो विकृत हो जाती है, स्मृति के साथ ही। क्योंकि बुद्धिमानी यानी स्मृति। 'नॉलेज' यानी 'मेमोरी'; 'नोइंग' यानी बुद्धि, जानने की क्षमता यानी बुद्धि। जानने की क्षमता जितनी सक्रिय हो गई, उतनी बुद्धिमानी। जो जान लिया गया, वह बुद्धिमानी और जो जानने की शक्ति है भीतर, वह है बुद्धि। बुद्धि सदा जानने की शक्ति से बड़ी है। बुद्धि जानने की वास्तविकता से बड़ी क्षमता है।

स्मृति पहले विकृत हो जाती है। स्मृति अर्थात् 'इन्टेलेक्ट' विकृत हो गई। और फिर कृष्ण कहते हैं कि वह जो अव्यक्त में पड़ी बुद्धि है, उस तक भी

डावाँडोल भँवर पहुँचने लगते हैं। वह जो गहरे में छिपी प्रज्ञा है, वह भी कंपित होने लगती है। क्योंकि जब स्मृति की आधारशिलायें गिर जाती हैं, तो उसके ऊपर अव्यक्त का जो भवन है, शिखर है, वह भी कंपने लगता है। वह अंतिम पतन है। और जब बुद्धि का नाश हो जाता है, तब सब खो जाता है।

कृष्ण कहते हैं कि अर्जुन, जब बुद्धि का नाश हो जाता है, तो सब खो जाता है। फिर कुछ भी बचता नहीं। वह आदमी की परम दीनता है, बैंकरप्सी, दिवालियापन है। **वहां आदमी बिलकुल दिवालिया हो जाता है—धन खो कर नहीं, स्वयं को ही खो कर।** फिर उसके पास कुछ बचता ही नहीं। वह बिलकुल नकार हो जाता है, न-कुछ हो जाता है। उसका सब खो जाता है। यही दीनता है, यही दरिद्रता है। अगर आध्यात्मिक अर्थों में समझें, तो ऐसी स्थिति ही 'स्पिरिचुअल पावर्टी' है। **ऐसी स्थिति ही आध्यात्मिक दरिद्रता है।**

लेकिन हम भौतिक दारिद्र से बहुत डरते हैं, आध्यात्मिक दारिद्र से जरा भी नहीं डरते। हम बहुत डरते हैं कि एक पैसा न खो जाये। आत्मा खो जाये, हम नहीं डरते। हम बहुत डरते हैं कि कोट न खो जाये, कमीज न खो जाये, लेकिन जिसने कोट और कमीज पहना है, वह खो जाये, तो हमें जरा भी फिक्र नहीं। कोट और कमीज बच जाये, बस, बहुत है। **वस्तुओं को बचा लेते हैं, स्वयं को खो देते हैं।**

खोने की जो प्रक्रिया कृष्ण ने कही, वह बहुत ही मनोवैज्ञानिक है। अभी पश्चिम का मनोविज्ञान या आधुनिक मनोविज्ञान इतने गहरे नहीं जा सका है। जायेगा, कदम उठाने शुरू हो गये हैं, लेकिन इतने गहरे नहीं जा सका है। अभी पश्चिम का मनोविज्ञान 'काम' के आसपास ही भटक रहा है, 'सेक्स' के आसपास ही भटक रहा है।

अभी पश्चिम के मनोवैज्ञानिक, चाहे वह फ्रायड हो, और चाहे कोई और हो, अभी वे पहले वर्तुल पर ही भटक रहे हैं—जहां काम है। अभी उन्हें पता नहीं है कि काम के बाद और गहरे में क्रोध है, क्रोध के बाद और गहरे में मोह है, मोह के और गहरे में स्मृति-नाश है। स्मृति-नाश के और गहरे में स्वयं का बुद्धि का दिवालियापन है। बुद्धि के दिवालिएपन के और गहरे में स्वयं का पूर्णतया नकार हो जाना है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

परन्तु, स्वाधीन अन्तःकरणवाला पुरुष राग-द्वेष से रहित, अपने वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ प्रसाद अर्थात् अन्तःकरण की प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

भगवान् श्री : पतन की जो कहानी थी, ठीक उसके विपरीत है यह अवस्था—रागद्वेष से मुक्त, कामनाओं के पार, स्वयं में ठहरा—स्वायत्त। स्वयं को पा चुका और स्वयं में ठहरा हुआ। अभी जो कहानी हमने समझी, अभी जो कथा हमने समझी, अभी जो यात्रा हमने देखी, वह थी स्वयं को खोने की और आदमी स्वयं को कैसे खोता है—सीढ़ी-सीढ़ी, वह हमने देखा कि स्वयं से कैसे रिक्त और शून्य हो जाता है, स्वयं से कैसे बाहर, और बाहर, और दूर हो जाता है, कैसे स्वयं को खो कर 'पर' में ही आयत्त हो जाता है, पर में ही ठहर जाता है।

जिसको मैंने कहा, 'आध्यात्मिक दिवालियापन', 'स्पिरिचुअल बैंकरप्सी'—उसका मतलब है, 'पर' में आयत्त हुआ पुरुष। यह जो पूरी की पूरी यात्रा थी 'पर' में आयत्त होने से शुरू हुई थी। देखा था रात किसी स्त्री को, देखा था किसी भवन को, देखा था किसी पुरुष को, देखा था चमकता हुआ सोना, देखा था सूरज में झलकता हुआ हीरा—'पर', 'दि अदर' से कहीं आकर्षित हुआ चित्त खोज पर निकला था, चिन्तन किया था, चाह की थी। फिर बाधाएँ पायीं, क्रोधित हुआ था, मोहग्रस्त बना था। और स्मृति को खोया था, बुद्धि के नाश को उपलब्ध हुआ था। पर-आयत्त था दूसरे में ही, 'दि अदर ओरिएन्टेड'। मनोविज्ञान भी जो शब्द उपयोग करेगा वह है, 'दि अदर ओरिएन्टेड'।

तो बड़ी मजे की बात है कि कृष्ण ने स्वायत्त, 'सेल्फ ओरिएन्टेड' शब्द का उपयोग किया। पर-आयत्त, अर्थात् विपरीत की तरफ बहता हुआ पुरुष, दूसरे को केन्द्र मानकर जीता हुआ पुरुष। इस पुरुष शब्द को थोड़ा समझें तो इस 'पर-आयत्त' और 'स्व-आयत्त' को समझा जा सकता है।

शायद कभी ख्याल नहीं किया हो कि पुरुष शब्द क्या है? सांख्य का शब्द है, पुरुष। गांव को हम कहते हैं, 'पुर'—नागपुर, कानपुर, जबलपुर। गांव को हम कहते हैं, 'पुर'। सांख्य कहता है कि पुर के भीतर जो छिपा है, वह पुरुष है—पुर में रहने वाला। शरीर है पुर। कहेंगे कि इतना छोटा सा शरीर, पुर! बहुत बड़ा है, छोटा नहीं है। बहुत बड़ा है। कानपुर की कितनी आबादी है? पांच लाख, छः लाख, सात लाख की होगी। शरीर की कितनी आबादी है? सात करोड़। सात करोड़ जीवाणु रहते हैं, शरीर में। छोटा पुर नहीं है, सात करोड़ जीवित सेल्स हैं, शरीर में। अभी तक दुनिया में कोई पुर नहीं है इतना बड़ा। लंदन की आबादी एक करोड़, टोकियो की सवा करोड़, कलकत्ता की अस्सी लाख, बम्बई की साठ।

अभी मनुष्य के शरीर के बराबर पुर (शहर) पृथ्वी पर बना नहीं है। सात करोड़? क्या इससे कोई फर्क पड़ता है कि छोटे-छोटे प्राणी रहते हैं। छोटा कौन है, बड़ा कौन है? सब 'रिलेटिव' मामला है। आदमी कोई बहुत बड़ा प्राणी है? हाथी से पूछें, ऊंट से पूछें, तो बहुत छोटा प्राणी है। तो क्या यह ऊंट और हाथी कोई बड़े प्राणी हैं? पृथ्वी से पूछें, हिमालय से पूछें। सोचते होंगे कि हिमालय में कोई प्राण नहीं। गलत सोचते हैं। हिमालय अभी भी बढ़ रहा है, अभी भी उसमें 'ग्रोथ' है। हिमालय अभी भी बड़ा हो रहा है।

हिमालय अभी भी जवान है। सतपुड़ा और विन्ध्याचल बूढ़े हैं, अब बढ़ते नहीं। अब सिर्फ थक और झुक रहे हैं। हिमालय अभी भी बढ़ रहा है। हिमालय की उम्र भी बहुत कम है। वह सबसे नया पहाड़ है। विन्ध्याचल सबसे ज्यादा पुराना पहाड़ है। सबसे पहले पृथ्वी पर विन्ध्या पैदा हुआ। बूढ़े-से-बूढ़ा पर्वत है। वह पूरा बढ़ गया है, अब वह बढ़ता नहीं। अब वह थक रहा है, टूट रहा है, झुक रहा है, कमर उसकी आड़ी हो गई है। हमारे पास कहानी है, उसके आड़े होने की।

विन्ध्य की एक कथा है, इस प्रकार, कि मुनि गये हैं दक्षिण और कह गये हैं, झुका रहना, जब तक मैं न लौटूं। फिर वे नहीं लौटते। कर्म आदमी के हाथ में है, फल आदमी के हाथ नहीं है। लौटना मुनि का नहीं हो सका। फिर वह बेचारा झुका ही है। पर यह 'जियोलॉजिकल फैक्ट' भी है, सिर्फ एक पुराण कथा नहीं है। विन्ध्य झुक गया है और अब उसमें विकास नहीं है। बूढ़ा है। हिमालय बच्चा है।

हिमालय से पूछें, वह कहेगा कि ऊंट, हाथी बहुत छोटे प्राणी हैं। खुर्दबीन से देखूं, तो दिखाई पड़ते हैं, नहीं तो नहीं दिखाई पड़ते हैं। पृथ्वी से पूछें कि हिमालय की कुछ खबर है। वह कहेगी, ऐसे कई हिमालय पैदा हुये, आये और गये। सब मेरे बच्चे हैं और मुझमें समा जाते हैं। पृथ्वी मां है। लेकिन सूरज से पूछें। सूरज साठ लाख गुना बड़ा है पृथ्वी से। उसे दिखाई भी नहीं पड़ता कि पृथ्वी कहां है। साठ लाख गुना बड़े को पृथ्वी कैसे दिखाई पड़ेगा?

पर सूरज क्या बहुत बड़ा है? इस ख्याल में मत पड़ना। वह बहुत 'मीडियॉकर स्टार' है। वह बहुत मध्यवर्गीय तारा है। उससे बहुत बड़े सूर्य हैं, उससे करोड़ और अरब गुने बड़े सूर्य हैं। ये जो रात के तारे दिखाई पड़ते हैं, ये सब सूर्य हैं। छोटे-छोटे दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि बहुत दूर हैं। वे छोटा होने की वजह से छोटे नहीं दिखाई पड़ते। वे बहुत दूर हैं, इसलिये छोटे दिखाई पड़ते हैं। बहुत बड़े-बड़े महासूर्य हैं, जिनसे पूछें कि हमारा भी सूर्य है, तो वे कहेंगे कि है, पर बहुत गरीब है, छोटा है। किसी गिनती में नहीं आता। कोई 'व्ही आई पी' नहीं है!

लेकिन वे महासूर्य जो इस सूर्य से भी अरबों गुने बड़े हैं, वे भी क्या बहुत बड़े हैं? तो पूरे जगत् से पूछें। अब तो विज्ञान भी कहता है कि चार अरब सूर्यों का तो हमें पता चला है। मगर वहां भी अंत नहीं है। उसके पार भी, उसके भी पार, 'बियांड एण्ड बियांड'—अनन्त अस्तित्व है। कहीं अन्त नहीं है। यहां कौन छोटा, कौन बड़ा! सब छोटा-बड़ा 'रिलेटिव' है, सापेक्ष है।

आपके शरीर में जो जीवाणु हैं, वे भी छोटे नहीं हैं। आप भी बड़े नहीं हैं। एक शरीर में सात करोड़ जीवाणुओं की बस्ती! पर क्या आप सोचते हैं कि इन सात करोड़ जीवाणुओं को आपका कोई भी पता है? इनको आपका कोई भी पता है? नहीं है। आपको इनका पता नहीं है, इनको आपका पता नहीं है। उनको भी आपका पता नहीं कि आप हैं। आप जब नहीं होंगे, इस शरीर में, तब भी उनमें से बहुत से जीवाणु जीये चले जाएँगे। आपके मर जाने के बाद भी, आप मरते हैं, वे नहीं मरते हैं। उनमें जो अमीबा हैं, वे बहुत छोटे हैं, वे तो मरते ही नहीं हैं। उनकी लाखों साल की उम्र है। अगर उम्र की लिहाज के हिसाब से सोचें, तो आप छोटे हैं, वे बड़े हैं।

कब्रिस्तान में दबे हुये आदमी के भी नाखून और बाल बढ़ते रहते हैं। क्योंकि बाल और नाखून बढ़ाने वाले जो जीवाणु हैं, वे आपके साथ नहीं मरते। वे अपना काम जारी रखते हैं। उनको पता ही नहीं पड़ता कि आप मर गये। वे नाखून और बाल को बढ़ाये चले जाते हैं। और जब आप मरते हैं, तो सात करोड़ कीटाणुओं की संख्या में कमी नहीं होती है। और बढ़ती ही होती है। आपके मरने से जगह खाली होती है और हजारों कीटाणु प्रवेश कर जाते हैं। जिसको आप सड़ना कहते हैं, 'डिटीरियोरेशन', वह आपके लिए होगा। नये कीटाणुओं के लिए तो वह जीवन है।

यह शरीर एक पुर है और जो बीच में बसा है इस नगर के, वह पुरुष है। यह पुरुष दो तरह से हो सकता है: 'पर-आयत्त' हो सकता है, 'स्व-आयत्त' हो सकता है।

जब यह वासना-ग्रस्त होता है, तो यह दूसरे को केन्द्र बनाकर घूमने लगता है। सेटेलाइट (उपग्रह) हो जाता है। जैसे चांद है, चांद सेटेलाइट है। चांद जमीन को केन्द्र बनाकर घूमता है। जमीन भी एक सेटेलाइट है, वह सूर्य को केन्द्र बनाकर घूमता है। सूर्य भी सेटेलाइट है, वह किसी महा-सूर्य को केन्द्र बनाकर घूमता है।

सब 'अदर ओरिएन्टेड' हैं, 'पर-केंद्रित' हैं। लेकिन उन्हें माफ किया जा सकता है, क्योंकि उनमें चेतना नहीं कि वे जान सकें कि क्या 'अदर' और क्या 'सेल्फ', क्या स्वयं और क्या 'पर'। पर आदमी को माफ नहीं किया जा सकता है, वह जानता है। पति पत्नी का सेटेलाइट है, पत्नी के आसपास घूमता है। कभी छोटा वर्तुल बनाता है, कभी बड़ा वर्तुल बनाता है, लेकिन पत्नी के आसपास घूम रहा है। पत्नी पति की सेटेलाइट है। वह उसके आसपास घूम रही है।

कोई धन के आसपास घूम रहा है, कोई काम के आसपास घूम रहा है, कोई पद के आसपास घूम रहा है—सेटेलाइट की तरह, पर-आयत्त। **दूसरा केन्द्र है, हम तो सिर्फ परिधि पर घूमते हैं। यही दिवालियापन है।**

लेकिन जब हम अपने केन्द्र स्वयं हैं, किसी के आसपास नहीं घूमते, तो आदमी स्वायत्त है। यही सम्राट होना है। यही 'स्पिरिचुअल रिचनेस' (आध्यात्मिक सम्पन्नता) है। जिसको जीसस ने 'किंगडम ऑफ गॉड', परमात्मा का साम्राज्य कहा है, उसको कृष्ण कह रहे हैं कि **स्वायत्त हुआ**

पुरुष, परमआनन्द को उपलब्ध हो जाता है। पर-आयत्त हुआ पुरुष, परम दुख को उपलब्ध हो जाता है।

दुख यानी पर-आयत्त होना, आनन्द यानी स्व-आयत्त होना।

यह सब समाधिस्थ व्यक्ति की तरफ ही वे इशारे करते जा रहे हैं, अर्जुन को—सब दिशाओं से। अनेक-अनेक जगहों से वे इशारे कर रहे हैं कि समाधिस्थ पुरुष यानी क्या है?

वह जो सवाल पूछ लिया था अर्जुन ने, उसे हो सकता है कि वह खुद ही भूल गया हो, कि उसने क्या सवाल पूछा था। लेकिन, कृष्ण उसके सवाल को समस्त दिशाओं से ले रहे हैं। कहीं से भी उसकी समझ में आ जाए।

तो वे यह कह रहे हैं कि **जो स्वयं ही अपना केन्द्र बन गया,** जिसका अब कोई 'पर' केन्द्र नहीं है, **ऐसा पुरुष परम ज्ञान को, परम शान्ति को, परम आनन्द को उपलब्ध हो जाता है।**

❀

अठारहवाँ प्रवचन

प्रथम गीता ज्ञान-यज्ञ, अहमदाबाद, रात्रि, दिनांक ७ दिसम्बर, १९७०

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

उस निर्मलता के होने पर इसके सम्पूर्ण दुखों का अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही अच्छी प्रकार स्थिर हो जाती है।

भगवान् श्री : विक्षेपरहित चित्त में शुद्ध अंतःकरण फलित होता है। या शुद्ध अंतःकरण विक्षेपरहित चित्त बन जाता है। कृष्ण जो कह रहे हैं वह हमारी साधारण साधना की समझ के बिलकुल विपरीत है। साधारणतया हम सोचते हैं कि विक्षेप अलग हो तो अंतःकरण शुद्ध होगा। कृष्ण कह रहे हैं कि अंतःकरण शुद्ध हो तो विक्षेप अलग हो जाते हैं। यह बात ठीक से न समझी जाए तो बड़ी भ्रान्तियाँ पैदा होती हैं, जो जन्मों-जन्मों के व्यर्थ के चक्कर में ले जा सकती है। ठीक से कॉज और इफेक्ट को अर्थात् क्या कारण बनता है और क्या परिणाम, इसे समझ लेना ही विज्ञान है। बाहर के जगत् में भी, भीतर के जगत् में भी। जो कार्य-कारण की व्यवस्था को ठीक से नहीं समझ पाता और कार्यों को कारण समझ लेता है और कारणों को कार्य बना लेता है, वह अपने हाथ से ही अपने को गलत करता है। वह अपने हाथ से ही अपने को अनबन करता है।

किसान गेहूँ बोता है, तो फसल आती है। गेहूँ के साथ भूसा भी आता है। लेकिन भूसा को अगर बो दिया जाए, तो भूसे के साथ गेहूँ नहीं आता है। ऐसे किसान सोच सकता है कि जब गेहूँ के साथ भूसा आता है, तो

उल्टा क्यों नहीं हो सकता है। भूसे को बो दें तो गेहूँ साथ आ जाए—'वाइस वरसा'। ऐसा नहीं क्यों हो सकता? लेकिन भूसा बोने से सिर्फ भूसा सड़ जाएगा, गेहूँ तो आएगा ही नहीं, हाथ का भूसा भी जाएगा। भूसा आता है गेहूँ के साथ, गेहूँ भूसे के साथ नहीं आता है। **अंतःकरण शुद्ध हो तो चित्त के विक्षेप सब खो जाते हैं,** विक्षिप्तताएँ खो जाती हैं। लेकिन चित्त की विक्षिप्तता को कोई खोने में लग जाए, तो अंतःकरण तो शुद्ध होता ही नहीं, चित्त की विक्षिप्तता और बढ़ जाती है।

जो आदमी अशांत है, अगर वह शांत होने की चेष्टा में लग जाए, तो अशान्ति सिर्फ दुगुनी हो जाती है। अशान्ति तो थी ही; अब शांत न होने की अशान्ति भी पीड़ा देती है। लेकिन पूछा जा सकता है कि अंतःकरण शुद्ध कैसे हो जाएगा? जब तक विचार आ रहे हैं, विक्षेप आ रहा है, विक्षिप्तता आ रही है, विकृतियां आ रही हैं, तब तक अंतःकरण शुद्ध कैसे हो जाएगा? कृष्ण अंतःकरण को शुद्ध करने को पहले रखते हैं, पर वह होगा कैसे?

यहां सांख्य का जो गहरे से गहरा सूत्र है, वह आपको स्मरण दिलाना जरूरी है। सांख्य का गहरे से गहरा सूत्र यह है कि अंतकरण शुद्ध है ही। 'कैसे हो जाएगा,' यह पूछता ही वह है, जिसे अंतःकरण का पता ही नहीं। जो पूछता है कि कैसे हो जाएगा शुद्ध, उसने एक बात तो मान ली कि अंतःकरण अशुद्ध है। आपने अंतःकरण को कभी जाना है? या बिना जाने मान लिया है कि अंतःकरण अशुद्ध है और उसको शुद्ध करने में लगे हैं! अगर अंतःकरण शुद्ध नहीं है, तो आपके शुद्ध करने की सारी चेष्टा व्यर्थ ही होगी। और जब यह चेष्टा असफल होगी, (सफल तो हो नहीं सकती, क्योंकि जो अशुद्ध है, उसको शुद्ध किया नहीं जा सकता। लेकिन जो शुद्ध है, उसको शुद्ध करने की चेष्टा असफल होगी) तो असफलता दुख लाएगी, असफलता विषाद लाएगी, असफलता दीनता-हीनता लाएगी। असफलता हारापन, 'फ्रस्ट्रेशन' लाएगी। और बार-बार असफल होकर आप यही कहेंगे कि अंतःकरण शुद्ध नहीं होता है, अशुद्धि बहुत गहरी है। आप जो निष्कर्ष निकालेंगे, निष्पत्ति निकालेंगे वह बिलकुल ही उल्टी होगी।

एक घर में अँधेरा है। तलवारें लेकर तुम उस घर में घुस जाओ और अंधेरे को बाहर निकालने की कोशिश करो। तलवार चलाएँ, अंधेरे को काटें-पीटें, अंधेरा बाहर नहीं निकलेगा। थक जायेंगे, हार जायेंगे, जिन्दगी

गवां देंगे, अंधेरा बाहर नहीं निकलेगा। तो शायद सारी मेहनत करने के बाद हम बैठ कर सोचें कि अंधेरा बहुत शक्तिशाली है, इसलिए बाहर नहीं निकलता।

तर्क अनेक बार गलत निष्कर्ष में हमें ले जाता है कि जो ठीक दिखाई पड़ता है, यही उनका खतरा है। अब यह बिलकुल ठीक दिखाई पड़ता है कि इतनी मेहनत की और अंधेरा नहीं निकला। तो इसका मतलब साफ है कि मेहनत कम पड़ रही है, अंधेरा ज्यादा शक्तिशाली है। सचाई उल्टी है। अगर अंधेरा शक्तिशाली हो, तब तो उसे किसी तरह निकाला जा सकता है। छोटी शक्ति को निकालने के लिए बड़ी शक्ति ईजाद की जा सकती है।

अंधेरा है ही नहीं। यही उसकी शक्ति है। वह है ही नहीं इसलिए आप उसको शक्ति से निकाल नहीं सकते। वह 'नॉन-इक्जिस्टेन्शियल' है, उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। और जिसका अस्तित्व नहीं है, उसको न तलवार से काटा जा सकता है, न धक्के से निकाला जा सकता है। असल में अंधेरा सिर्फ 'एब्सेन्स' है किसी चीज की, अंधेरा अपने में कुछ भी नहीं। अंधेरा सिर्फ अनुपस्थिति है प्रकाश की, बस। इसलिए आप अंधेरे के साथ सीधा कुछ भी नहीं कर सकते हैं।

अंधेरे के साथ कुछ भी करना हो, तो प्रकाश के साथ कुछ करना पड़ता है। प्रकाश जलाएँ, तो अंधेरा नहीं होता। प्रकाश बुझाएँ, तो अँधेरा हो जाता है। सीधा अंधेरे के साथ कुछ भी नहीं किया जा सकता है। क्योंकि अंधेरा नहीं है। और जो नहीं है, उसके साथ जो सीधा कुछ करने में लग जाएगा, वह अपने जीवन को ऐसे उलझाव में डाल देता है, जिसके बाहर कोई भी मार्ग नहीं होता। वह 'एब्सर्डिटि' में पड़ जाता है।

अंतःकरण अगर शुद्ध है, तो अंतःकरण को शुद्ध करने की सब चेष्टा खतरनाक है, अंधेरे को निकालने जैसी चेष्टा है। क्योंकि जब नहीं है अशुद्धि, तो उसको निकालेंगे कैसे? सांख्य कहता है कि अंतःकरण अशुद्ध नहीं है और अगर अंतःकरण भी अशुद्ध हो सकता है, तो इस जगत् में शुद्धि का कोई भी उपाय नहीं। फिर शुद्ध कौन करेगा? क्योंकि जो शुद्ध कर सकता था, वह अशुद्ध हो गया। अंतःकरण अशुद्ध नहीं है। अगर ठीक से समझें, तो अंतःकरण ही शुद्धि है 'द व्हेरी प्योरिफिकेशन, द व्हेरी प्योरिटी'।

अंतःकरण शुद्ध ही है। लेकिन अंतःकरण का हमें पता ही नहीं है कि वह क्या है। आप किस चीज को अन्तःकरण जानते हैं ?

अँग्रेजी में एक शब्द है 'कॉन्सियंस' और गीता का जिन्होंने अनुवाद किया है, उन्होंने अन्तःकरण का अनुवाद 'कॉन्सियंस' किया है। उससे गलत कोई अनुवाद नहीं हो सकता। 'कॉन्सियंस' अन्तःकरण नहीं है। **'कॉन्सियंस' अंतःकरण का धोखा है।** इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी होगा, क्योंकि वह बहुत गहरे, डीप में बैठ गई भ्रान्ति है सारे जगत् में।

जहां भी गीता पढ़ी जाती है, वहां अन्तःकरण का अर्थ 'कॉन्सियंस' कर लिया जाता है। हम भी अन्तःकरण से जो मतलब लेते हैं, वह क्या है ? आप चोरी करने जा रहे हैं, भीतर से कोई कहता है कि चोरी मत करो, चोरी बुरी है। आप कहते हैं कि अन्तःकरण बोल रहा है। यह 'कॉन्सियंस' है, अन्तःकरण नहीं। यह सिर्फ समाज के द्वारा डाली गई धारणा है, अन्तः-करण नहीं। क्योंकि अगर समाज चोरों का हो, तो ऐसा नहीं होगा। ऐसे समाज हैं।

जाट जाति में लड़के की शादी नहीं होगी, जब तक वह दो-चार चोरियां न कर ले। जाट का लड़का जब चोरी करने जाता है, तो कभी उसके मन में नहीं आता कि बुरा कर रहा है। अंतःकरण उसके पास भी है, आपके ही पास नहीं है। लेकिन जो 'बिल्ट-इन', आपके भीतर डाली गई सामाजिक धारणा है, वह उसके पास नहीं है।

मेरे एक मित्र पख्तून इलाके में घूमने गए थे। तो पेशावर में उन्हें मित्रों ने कहा कि पख्तून इलाके में जा रहे हैं, जरा सम्हल कर बैठना। जीप तो ले जा रहे हो, लेकिन होशियारी रखना। उन्होंने कहा कि खतरा क्या है, हमारे पास कुछ है नहीं लूटे जाने को। उन्होंने कहा कि नहीं, यह खतरा नहीं है। खतरा यह है कि पख्तून लड़के अक्सर सड़कों पर निशाना सीखने के लिए लोगों को गोली मार देते हैं। केवल निशाने सीखने के लिए, दुश्मन को नहीं ! पख्तून लड़के निशाने सीखने के लिए सड़क के किनारे चलती हुई कार में गोली मार कर देखते हैं कि निशाना लगा कि नहीं। मित्र तो बहुत घबड़ा गए। उन्होंने कहा कि आप क्या कहते हैं, निशाना लगाने के लिए ! तो क्या उनके पास कोई अंतःकरण नहीं है ? अंतःकरण पख्तून के पास भी है। अंतःकरण किसी की बपौती नहीं। लेकिन पख्तून के पास जिसको हिंसा-

अहिंसा का सामाजिक बोध कहते हैं, उसे डालने का बचपन से कोई प्रयास नहीं किया गया। एक हिन्दू से कहें कि अपनी बहन से शादी कर ले, तो उसका अंतःकरण इंकार करता है, मुसलमान कभी इन्कार नहीं करता। कारण यही है कि मुसलमान के पास एक दूसरी धारणा है। सिर्फ चचेरी बहन से शादी करने की धारणा का भेद है, जो समाज देता है। वह अन्तःकरण नहीं है।

समाज ने एक इंतजाम किया है, बाहर अदालत बनाई है और भीतर भी एक अदालत बनाई है। समाज ने एक पुख्ता इंतजाम किया है। बाहर से वह कहता है कि चोरी करना बुरा है। वहां पुलिस है, अदालत है। लेकिन इतना काफी नहीं है, क्योंकि भीतर भी एक पुलिस वाला होना चाहिए, जो पूरे वक्त कहता रहे कि चोरी करना बुरा है। क्योंकि बाहर के पुलिसवाले को धोखा दिया जा सकता है। उस हालत में भीतर का पुलिस-वाला काम पड़ सकता है।

'कॉन्सियंस' जो अंग्रेजी का शब्द है, उसको हमें कहना चाहिए—'अंतस्-चेतन,' अंतःकरण नहीं। सांख्य का अंतःकरण, बात ही और है। अंतःकरण को अगर अंग्रेजी में अनुवादित करना हो, तो 'कॉन्सियंस' शब्द सही नहीं है। अंग्रेजी में कोई शब्द नहीं है ठीक, क्योंकि **अंतःकरण का ठीक मतलब होता है 'द इनरमोस्ट इन्स्ट्रूमेन्ट,' अंतरतम उपकरण**—अंतरतम, जहां तक अंतस् में जाया जा सकता है भीतर—वह जो आखिरी है भीतर, वही अंतःकरण है। इसका मतलब क्या हुआ ? इसका मतलब आत्मा नहीं।

यह बड़े मजे की बात है कि अंतःकरण का मतलब आत्मा नहीं है, क्योंकि आत्मा तो वह है, जो बाहर और भीतर दोनों में नहीं है, दोनों के बाहर है। अंतःकरण आत्मा के निकटतम उपकरण है, जिसके द्वारा हम बाहर से जुड़ते हैं।

समझ लें कि आत्मा के पास एक दर्पण है, जिसमें आत्मा प्रति-फलित होती है, वह अंतःकरण है, निकटतम। आत्मा में पहुँचने के लिए अंतःकरण आखिरी सीढ़ी है। और **अंतःकरण आत्मा के इतने निकट है कि अशुद्ध नहीं हो सकता। आत्मा की यह निकटता ही उसकी शुद्धि है।** यह अंतःकरण 'कॉन्सियंस' नहीं है।

जब हम सड़क पर चलते हैं और बायें न चलकर दायें चले जायें, तो

भीतर से कोई कहता है कि दायें चलना ठीक नहीं है, बायें चलना ठीक है। यह अंतःकरण नहीं है। यह केवल सामाजिक आंतरिक व्यवस्था है। यह अंतस्-चेतन है, जिसका समाज ने इंतजाम किया है, ताकि आपको व्यवस्था, अनुशासन दिया जा सके। समाज बदलता है, तो व्यवस्था अलग हो जाती है। अमेरिका में चलते हैं, तो वहां बायें चलने की जरूरत नहीं है। वहां अंतःकरण (जिसको हम अंतःकरण कहते हैं, कहता है कि दायें चलो, बायें मत चलना। क्योंकि नियम बायें चलने का नहीं है, दायें चलने का है। सामाजिक व्यवस्था की जो आंतरिक धारणाएँ हैं, वे अंतःकरण नहीं हैं। अंतःकरण का हमें पता ही नहीं है। हम जिसको अंतःकरण समझ रहे हैं, वह बिलकुल ही भ्रान्ति है।

अंतःकरण नैतिक धारणा का नाम नहीं है, अंतःकरण 'मॉरैलिटी' नहीं है। क्योंकि 'मॉरैलिटी' हजार तरह की होती है और अंतःकरण एक ही तरह का होता है। हिन्दू की नैतिकता अलग है, मुसलमान की नैतिकता अलग, जैन की नैतिकता अलग, ईसाई की नैतिकता अलग, अफ्रीकन की अलग, चीनी की अलग। **नैतिकताएँ हजार हैं, अंतःकरण एक है।**

अंतःकरण शुद्ध ही है। आत्मा के इतने निकट रहकर कोई चीज अशुद्ध नहीं हो सकती। जितनी दूर रहती है आत्मा से, उतनी अशुद्ध होने की संभावना बढ़ती है। अगर ठीक से समझें तो 'मोर द डिस्टेन्स, मोर द इम्प्योरिटी।' जैसे एक दिया जल रहा है। दिये की बत्ती जल रही है। बत्ती के बिलकुल पास रोशनी का वर्तुल है, वह शुद्धतम है। फिर बत्ती की रोशनी आगे गई, फिर धूल है, हवा है और रोशनी अशुद्ध हो गई। फिर और दूर हो गई, तो और अशुद्ध हुई। और दूर गई, और अशुद्ध हुई। और थोड़ी दूर जाकर हम देखते हैं कि रोशनी नहीं है, अंधेरा है। एक-एक कदम रोशनी जा रही है और अंधेरे से डूबती जा रही है।

शरीर तक आते-आते सब चीज अशुद्ध हो जाती है, आत्मा तक जाते-जाते सब शुद्ध हो जाता है। शरीर के निकटतम इंद्रियां हैं। इन्द्रियों के निकट अंतस्-इंद्रियां हैं। अंतस्-इन्द्रियों के निकटतम स्मृति है, स्मृति के निकटतम बुद्धि है—प्रयोगिक, 'एप्लाइड इन्टेलेक्ट'। और उसके निकट है, अप्रायोगिक बुद्धि। अप्रायोगिक बुद्धि के नीचे अंतःकरण है। अंतःकरण के नीचे आत्मा है, आत्मा के नीचे परमात्मा है।

ऐसा अगर ख्याल में आ जाए, तो सांख्य कहता है कि अंतःकरण शुद्ध ही है। वह कभी अशुद्ध हुआ नहीं। लेकिन हमने अंतःकरण को कभी जाना नहीं। इसलिए लोग पूछते कि अंतःकरण कैसे शुद्ध हो? अंतःकरण शुद्ध नहीं किया जा सकता। करेगा कौन? और जो शुद्ध है ही, वह शुद्ध कैसे किया जा सकता है? पर जाना जा सकता है कि शुद्ध है। कैसे जाना जा सकता है? एक ही रास्ता है—पीछे हटें, पीछे हटें—अपने को पीछे हटायें, अपनी चेतना को सिकोड़ें, जैसे कछुवा अपने अंगों को सिकोड़ लेता है।

शरीर को भूलें, इन्द्रियों को भूलें। छोड़ें बाहर की परिधि को और भीतर चलें। अंतस्-इंद्रियों को छोड़ें और भीतर चलें। स्मृति को छोड़ें और भीतर चलें। भीतर याद आ रही है, शब्द आ रहे हैं, विचार आ रहे हैं, स्मृति आ रही है। छोड़ें, कहें कि यह भी मैं नहीं हूँ। कहें कि नेति, नेति—यह भी मैं नहीं हूँ। हैं भी नहीं, क्योंकि जो देख रहा है भीतर कि स्मृति से विचार आ रहा है, वह अन्य है, भिन्न है, वह पृथक है। जानें कि यह मैं नहीं हूँ। आप मुझे दिखाई पड़ गए, निश्चित ही आप मुझे दिखाई पड़ गए, पक्का हो गया कि आप मैं नहीं हूँ। नहीं तो देखेगा कौन आपको? देखनेवाला और दिखाई पड़नेवाला भिन्न है, दृश्य और द्रष्टा भिन्न है, यह सांख्य का मौलिक साधना-सूत्र है।

दृश्य और द्रष्टा भिन्न हैं। सांख्य की सारी साधनाएँ इसी भिन्नता के ऊपर गहरे उतरती हैं। तो सांख्य कहता है कि जो भी चीज दिखाई पड़े, समझना कि वह आप से भिन्न है। भीतर से देखें, तो शरीर दिखाई पड़ता है। और भीतर देखें, तो हृदय की धड़कन सुनाई पड़ती है। आप धड़कन से भिन्न हैं। और भीतर देखें, तो विचार दिखाई पड़ते हैं। आप विचारों से भिन्न हैं। और भीतर देखें, और भीतर देखें, तो समाज की धारणाएँ हैं, चित्त पर बहुत सी पर्तें हैं—वे सब दिखाई पड़ती हैं। और गहरे जाएँ। आखिर में उस जगह पर पहुँच जाते हैं, जहां अंतःकरण है, सब शुद्धतम है। लेकिन शुद्धतम वह भी भिन्न है। वह भी अलग है। इसलिए उसको भी आत्मा नहीं कहा। उसको भी अंतःकरण कहा। क्योंकि आत्मा उस शुद्धतम के भी पार है। शुद्धतम का अनुभव कैसे होगा? आपको शुद्धतम का अनुभव कैसे होता है?

कोई मुझसे आकर पूछता है कि शुद्ध का हम अनुभव कैसे करेंगे, तो

उसको मैं कहता हूँ कि अभी बगीचे की तरफ चलो। अभी बगीचा नहीं आया, लेकिन ठंडी हवा मालूम होने लगी। तुम्हें कैसे पता चल जाता है कि ठीक चल रहे हैं? क्योंकि ठंडी हवा मालूम होने लगी है। फिर तुम और बढ़ते हो, सुगंध भी आने लगती है। तब तुम जानते हो कि और निकट है बगीचा। अभी बगीचा आ नहीं गया। शायद अभी दिखाई भी नहीं पड़ रहा हो। और निकट बढ़ते हो। अब हरियाली दिखाई भी पड़ने लग जाती है। अब बगीचा और निकट आ गया है। अभी फिर भी हम बगीचे में नहीं पहुँचे हैं। फिर हम बगीचे के बिलकुल द्वार पा खड़े हो गए। सुगन्ध है, शीतलता है, हरियाली है। चारों तरफ शांति और सन्नाटा और एक 'वेल बीइंग' और एक स्वास्थ्य का भाव घेर लेता है।

ऐसे ही कोई भीतर जाता है, तो आत्मा के जितने निकट पहुँचता है, उतना ही शांत, उतना ही मौन, उतना ही प्रफुल्लित, उतना ही प्रसन्न, उतना ही शीतल होने लगता है। जैसे-जैसे भीतर चलता है, उतना ही प्रकाशित होता जाता है, उतना ही आलोक से भरने लगता है।

जैसे-जैसे भीतर चलने लगता है—कदम-कदम भीतर सरकता है, कहता है कि यह भी नहीं, यह भी नहीं, यह भी नहीं। पहचानता है, 'रिकग्नाइज' करता है—यह भी नहीं। यह दृश्य हो गया है, यह मैं नहीं हूँ। मैं तो वहां तक चलूंगा जहां सिर्फ द्रष्टा रह जाए। **तो जब द्रष्टा अंत में रह जाए, तो उसके पहले जो मिलता है, वह अंतःकरण है।**

अंतःकरण जो है, अंतर्यात्रा का आखिरी पड़ाव है। आखिरी पड़ाव मंजिल नहीं है, मंजिल उसके बाद है।

यह अंतःकरण शुद्ध ही है, इसलिए सांख्य की बात कठिन है। कोई हमें समझाए कि शुद्ध कैसे होता है, तो समझ में आये। सांख्य कहता है कि तुम शुद्ध ही हो। तुम कभी गये ही नहीं वहां तक, जहां सब शुद्ध है। तुम बाहर ही बाहर घूम रहे हो घर के। तुम कभी घर के भीतर गए ही नहीं। घर के गर्भ में परम शुद्धि का वास है। उस परम शुद्धि के बीच आत्मा और उस आत्मा के बीच परमात्मा है।

वहां गये ही नहीं हम कभी। घर के बाहर ही घूम रहे हैं और घर के बाहर गंदगी है। एक आदमी घर के बाहर घूम रहा है और सड़क पर गंदगी पड़ी है। वह कहता है, इस गंदगी को देखकर कि मेरे घर के अन्दर सब गंदा

होगा, उसको मैं कैसे शुद्ध करूँ? हम उसे कहते हैं कि यह गंदगी घर के बाहर है। तुम घर के भीतर चलो, वहाँ कोई गंदगी नहीं है। तुम इस गंदगी से 'आब्सेस्ड' (आविष्ठ) मत हो जाओ। यह घर के बाहर होने की वजह से है, यहाँ तक उस शुद्धि की धारा नहीं पहुँच पाती है। माध्यमों से विकृत हो जाती है, अनेक माध्यमों में विकृत हो जाती है। अन्दर चलो, भीतर चलो, 'गो बैक,' वापस लौटो।

तो कृष्ण कह रहे हैं कि **अंतःकरण शुद्ध होता है, ऐसा जिस दिन जाना जाता है, उसी दिन चित्त के सब विक्षेप, चित्त की सारी विक्षिप्तता खो जाती है**—खोनी नहीं पड़ती।

इसे ऐसे समझें, जैसे एक पहाड़ के किनारे एक खाई में हम बसे हैं। अंधेरा है बहुत। सीलन है। सब गंदा है। पहाड़ को घेरे हुए बादल घूमते हैं। वे घाटी को, खाई को ढँक लेते हैं। उनकी वजह से सूर्य भी दिखाई नहीं पड़ता। उनकी काली छायाएँ दौड़ती हैं घाटी में और बड़ी भयानक मालूम होती हैं।

एक आदमी शिखर पर खड़ा है, वह कहता है कि तुम पहाड़ पर चढ़ जाओ। लेकिन हम नीचे से पूछते हैं कि इन बादलों से छुटकारा कैसे होगा! ये काली छायायें सारी घाटी को घेरे हुए हैं, इनसे मुक्ति कैसे होगी? वह आदमी कहता है कि तुम इनकी फिक्र छोड़ो, तुम पहाड़ पर चढ़ो। तुम उस जगह आ जाओगे, जहाँ तुम पाओगे कि बदलियाँ नीचे हैं और तुम ऊपर, और ऊपर हो गये हो। और जिस दिन तुम पाओगे कि बदलियाँ नीचे रह गई हैं और तुम ऊपर हो गए हो, उस दिन से बदलियाँ तुम पर कोई छाया नहीं डाल सकतीं।

बदलियाँ सिर्फ उन्हीं लोगों के ऊपर छायाएँ डालती हैं, जो बदलियों के नीचे हैं। बदलियाँ उन पर छाया नहीं डालती हैं, जो बदलियों के ऊपर हैं। अगर कभी हवाई जहाज में आप उड़े हैं, तो बदलियाँ आप पर छाया नहीं डालतीं। बदलियाँ नीचे रह जाती हैं, आप ऊपर हो जाते हैं। लेकिन पृथ्वी पर बदलियाँ बहुत छाया डालती हैं।

मन के जो विक्षेप हैं, विक्षिप्तताएं हैं, विकार हैं, वे बदलियों की तरह हैं और हम पर छाया डालते हैं, क्योंकि हम घाटियों में जीते हैं।

कृष्ण कहते हैं कि चलो अंतःकरण की यात्रा पर। जब तुम अंतःकरण पर

पहुँचोगे, तब तुम हँसोगे कि ये बदलियाँ, जो बड़ी पीड़ित करती थीं, अब नीचे छूट गई हैं। अब इनका कोई ख्याल भी नहीं आ रहा है, अब ये कोई छाया भी नहीं डालतीं, अब इनसे कोई सम्बन्ध भी नहीं है। अब सूरज आमने-सामने है। अब बीच में कोई बदलियाँ नहीं हैं, कोई जाल नहीं।

विचार घाटियों के ऊपर बादलों की भाँति हैं. जो अंतःकरण तक पहुँचता है, वह शिखर पर पहुँच जाता है। वहाँ सूर्य का प्रकट प्रकाश है। यह यात्रा है, यह शुद्धि की प्रक्रिया नहीं है। यह यात्रा है। यात्रा के अन्त में पता चलता है कि अंतःकरण शुद्ध ही है। कृष्ण कह रहे हैं, अंतःकरण शुद्ध है, वहाँ चित्त का कोई विक्षेप नहीं है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

अयुक्त पुरुष के अन्तःकरण में श्रेष्ठ बुद्धि नहीं होती है और उसके अन्तःकरण में आस्तिक-भाव भी नहीं होता है और बिना आस्तिक-भाव वाले पुरुष को शान्ति भी नहीं होती है। फिर शान्तिरहित पुरुष को सुख कैसे हो सकता है?

भगवान् श्री : अयुक्त पुरुष को शांति नहीं। युक्त पुरुष को शांति है। अयुक्त पुरुष क्या है? युक्त पुरुष क्या है? अयुक्त पुरुष को भावना नहीं, शान्ति नहीं, आनन्द नहीं। युक्त और अयुक्त का क्या अर्थ है? अयुक्त का अर्थ है अपने से ही अलग। अपने 'होने' से दूर पड़ गया अपने से ही बाहर पड़ गया, अपने से ही टूट गया, स्प्लिट।

लेकिन अपने से कोई कैसे टूट सकता है? अपने से कोई कैसे अयुक्त हो सकता है? अपने से टूटना तो असंभव है। अगर हम अपने से ही टूट जाएँ, तो इससे बड़ी असंभव बात क्या हो सकती है! क्योंकि अपने का मतलब ही होता है स्वयं का 'होना'। अगर मैं अपने से ही टूट जाऊँ, तो मेरे दो अपने हो गए—एक जिससे मैं टूट गया, एक जो टूट रहा है। अपने से टूटना हो नहीं सकता।

और अपने से जुड़ने का भी क्या मतलब, अपने से युक्त होने का भी क्या मतलब, जब टूट ही नहीं सकते हैं!

सच में कोई अपने से टूटता नहीं, लेकिन अपने से टूट सकता है, ऐसा सोच सकता है। ऐसे विचार सकता है। ऐसे भाव, ऐसे संम्मोहन से भर सकता है कि मैं अपने से टूट गया हूँ। आप रात सोये। सपना देखा कि अहमदाबाद में नहीं हूँ, कलकत्ते में हूँ। कलकत्ते में चले नहीं गये। कलकत्ता जाने का अभी तो कोई उपाय नहीं है। अपनी खाट पर अहमदाबाद में ही पड़े हैं। लेकिन स्वप्न देख रहे हैं कि कलकत्ता पहुँच गए। सुबह जल्दी काम है अहमदाबाद में। अब चित्त बड़ा घबड़ाया, अब वापस अहमदाबाद जाना है। सपने में लोगों से पूछ रहे हैं कि अहमदाबाद कैसे जाऊँ! ट्रेन पकड़ूँ, हवाई जहाज से जाऊँ। जल्दी पहुँचना है। सुबह काम है और यह रात गुजरी जाती है।

आपकी घबड़ाहट उचित है, अनुचित नहीं। अहमदाबाद में काम है। कलकत्ता में पड़े हैं। बीच में फासला बड़ा है। सुबह करीब आती जाती है। वाहन खोज रहे हैं। लेकिन क्या अहमदाबाद आने के लिए वाहन की जरूरत पड़ेगी? क्योंकि अहमदाबाद से आप गए नहीं हैं क्षण भर को भी, इंच भर को भी। न भी मिले वाहन तो भी जैसे ही नींद टूटेगी, पायेंगे कि लौट आए। असल में गये ही नहीं हैं, इसलिए लौट आना शब्द ठीक नहीं। सिर्फ जाने के भ्रम में हैं।

तो जब कृष्ण कहते हैं, 'अयुक्त और युक्त,' तो दोनों में वास्तविक फर्क नहीं है। कोई अयुक्त तो होता नहीं कभी, सिर्फ अयुक्त होने के भ्रम में होता है, स्वप्न में होता है। यह सिर्फ एक 'ड्रीम क्रिएशन' है, एक स्वप्न का भाव है कि अपने से अलग हो गये। युक्त पुरुष वह है, जो इस सपने से जाग गया और उसने देखा कि मैं तो अपने से कभी भी अलग नहीं हुआ हूँ।

अयुक्त पुरुष में भावना नहीं होती। क्यों नहीं होती? भावना से मतलब आप न समझ लेना 'आपकी भावना', क्योंकि हम सब अयुक्त पुरुष हैं और हममें भावना बहुत है। इसलिए कृष्ण इस भावना की बात नहीं कह रहे होंगे, जो हममें है।

एक आदमी कहता है कि उसमें भावना बहुत है। पत्नी मर गई, रो रहा है। बेटा बीमार पड़ा है, आँसू गिरा रहा है। कहता है कि भावना बहुत है। यह भावना नहीं है। यह 'फीलिंग' नहीं है, यह सिर्फ 'सेन्टिमेन्टलिटी' है। फर्क क्या है? अगर यह भावना नहीं है, सिर्फ भावना का धोखा है, तो फर्क क्या है?

एक आदमी रो रहा है, अपने बेटे के पास बैठा हुआ। मेरा बेटा बीमार है और चिकित्सक कहते हैं कि बचेगा नहीं, मर जाएगा। रो रहा है। छाती पीट रहा है। उसके प्राणों को बड़ा संकट है। तभी हवा का एक झोंका आता है और टेबल से एक कागज उड़कर उसके पैरों पर गिर जाता है और उसे वह यों ही उठाकर देखने लगता है। पाता है कि उसकी पत्नी को लिखा हुआ किसी का प्रेम पत्र है। पता चलता है पत्र को पढ़कर, कि बेटा अपना नहीं, किसी और से पैदा हुआ है। सब भावना विदा हो गई। कोई भावना न रही। दवाई की बोतलें हटा देता है। जहर की बोतलें रख देता है। रात एकांत में गर्दन दबा देता है।

वही आदमी जो उसे बचाने के लिए कह रहा था, वही आदमी गर्दन दबा देता है। भावना का क्या हुआ ! यह कैसी भावना थी ? यह भावना नहीं थी। यह भावना का मिथ्या भ्रम था। 'मेरा नहीं,' तो बात समाप्त हो गई।

टाल्स्टॉय ने एक कहानी लिखी है। लिखा है कि एक आदमी का बेटा बहुत दिन से घर के बाहर चला गया। बाप ही क्रोधित हुआ था इसलिए चला गया था। फिर बाप बूढ़ा होने लगा। बहुत परेशान था। अखबारों में खबर निकाली, संदेशवाहक भेजे। फिर उस बेटे का पत्र आ गया कि मैं आ रहा हूँ। आपने बुलाया तो आता हूँ। मैं फलाँ दिन, फलाँ फलाँ ट्रेन से आ आऊँगा।

स्टेशन दूर है, देहात में रहता है बाप। अपनी बग्घी सजा कर वह उसे लेने आया। मालगुजार है, जमींदार है। लेकिन पता चला कि ट्रेन आ चुकी है। वह सोचता था चार बजे आएगी, वह दो बजे आ गई। तो धर्मशाला में ठहरना चाहा जाकर, ताकि अपने बेटे की तलाश करे कि वह कहाँ गया।

धर्मशाला में आया। कोई जगह खाली नहीं थी। धर्मशाला के मैनेजर को उसने कहा कि कोई भी जगह खाली करवाओ ही, वह जमींदार है। मैनेजर ने कहा कि अभी एक कोई भिखमंगा-सा आदमी आकर ठहरा है इस कमरे में—उसको निकाल बाहर कर दें ! उसने कहा कि निकाल बाहर कर दो। उसे पता नहीं कि वह उसका बेटा है। उसे निकाल कर बाहर कर दिया गया। वह बैठा है अपने कमरे में आराम से। उसने आदमी भेजे कि गाँव में बेटे को खोजो।

वह बेटा बाहर सीढ़ियों पर बैठा है। सर्द रात उतरने लगी। उस गरीब लड़के ने बार-बार कहा कि मुझे भीतर आ जाने दो, बाहर बर्फ पड़ रही है। और मुझे बहुत दर्द है पेट में। मैनेजर ने कहा कि यहाँ गड़बड़ मत करो, भाग जाओ यहाँ से, रात मेरी नींद खराब मत करना। फिर रात पेट की तकलीफ से वह लड़का चीखने लगा। तो उसने नौकरों से उठवाकर उसे सड़क पर फिकवा दिया।

सुबह वह लड़का मर गया। फिर सुबह वह जमींदार उठा, तो लड़का मरा हुआ पड़ा था। लोगों की भीड़ इकट्ठी थी। लोग कह रहे थे कि कौन है, क्या है, कुछ पता लगाओ। इतने में खीसे में ढूंढ़ने से एक चिट्ठी मिल गई। तब तो उन्होंने कहा कि अरे, वह जमींदार जिसको खोज रहा है, यह वही है। जमींदार को लिखी गई चिट्ठी-पत्री, यह अखबारों की कटिंग ! यह उसका ही लड़का है।

जमीदार बाहर बैठकर अपना हुक्का पी रहा है। जैसे ही उसने सुना कि मेरा लड़का है, एकदम भावना आ गई और वह छाती पीट रहा है, और वह रो रहा है। अब उस मरे लड़के को कमरे के अन्दर ले गया। जिन्दे को वह नहीं ले गया। मरे को, रात मरे को दिन में कमरे के अन्दर ले गया। अब उस मरे बेटे की सफाई की जा रही है। नये कपड़े पहनाए जा रहे हैं। वह जमीदार का बेटा जो है। अब उसको घर ले जाने की तैयारी चल रही है। और रात उसने ही कई बार प्रार्थना की थी कि मुझे भीतर आने दो, तो उसको नौकरों से सड़क पर फिकवा दिया गया था। यह भावना है ? नहीं, यह भावना का धोखा है। भावना 'मेरे-तेरे' से बंधी नहीं होती, भावना भीतर का सहज भाव है।

अगर भावना होती तो उसे कमरे के बाहर निकालना मुश्किल होता। अगर भावना होती तो रात उसके पेट में दर्द है, सर्द रात है, बाहर बर्फ पड़ती है, उसे बाहर बिठाना मुश्किल होता। यह सवाल नहीं है कि वह कौन है। सवाल यह है कि क्या भाव है भीतर ! ध्यान रहे, भावना स्वयं की स्फुरणा है। दूसरे का सवाल नहीं कि वह कौन है। मुर्दा है एक आदमी तो नौकरों से फिकवा दिया उसको उठवा कर।

टाल्सटॉय ने जब यह कहानी लिखी, तो उसने अपने स्मरणों में लिखा है कि मेरी यह कहानी एक अर्थों में 'आटोबायोग्राफी' भी है। यह मेरी

आत्म-कथा भी है। क्योंकि खुद वह शाही परिवार का था।

उसने लिखा है कि मेरी माँ, मैं समझता था, बहुत भावना-भरी थी। लेकिन बाद में उसका उद्घाटन हुआ कि भावना जैसी कोई चीज उसमें नहीं है। समझता था कि भावना थी, क्योंकि थियेटर में उसके चार-चार रूमाल भीग जाते आँसुओं से। जब नाटक चलता और जब कोई दुखद दृश्य (ट्रेजेडी) होता तो वह ऐसी धुआँधार रोती कि नौकर रूमाल लिये खड़े रहते। शाही घर की लड़की थी। तत्काल रूमाल बदलने पड़ते थे। चार-चार, छह-छह, आठ-आठ रूमाल एक नाटक में भींग जाते थे। टॉल्सटॉय ने लिखा है कि मैं उसके बगल में बैठकर देखा करता था कि मेरी माँ में कितनी भावना थी!

लेकिन जब मैं बड़ा हुआ, तो मुझे पता चला कि बग्घी छह घोड़ों में जुती खड़ी रहती थी और आज्ञा थी कि कोचवान बग्घी पर ही बैठा रहे क्योंकि कब उसका मन हो जाए थियेटर से जाने का, तो ऐसा न हो जाए कि एक क्षण को भी कोचवान को ढूंढना पड़े। बाहर बर्फ पड़ती रहती और अक्सर ऐसा होता कि जब तक वह थियेटर में नाटक देखती, तब तक एक या दो कोचवान मर जाते। उनको फेंक दिया जाता, दूसरा कोचवान तत्काल बिठा दिया जाता। वह औरत बाहर आकर देखती कि मुर्दे कोचवान को हटाया जा रहा है और दूसरे जिन्दा आदमी को बैठाया जा रहा है। और वह थियेटर में रोती रहती, दुखद दृश्यों को देखकर!

तो टॉल्सटॉय ने लिखा है कि एक अर्थ में यह कहानी मेरी, आटोबायोग्राफिकल भी है, आत्म-कथ्यात्मक भी है। ऐसा मैंने अपनी आँख से देखा है। तब मुझे पता चला कि भावना कोई और चीज होगी। जो देखा है, वह भावना नहीं हो सकती।

जिसको हम भावना कहते हैं, कृष्ण उसको भावना नहीं कहते हैं। **भावना उठती है उस व्यक्ति में, जो अपने में संयुक्त है, जो अपने में युक्त है। युक्त यानी योग को उपलब्ध, युक्त यानी जुड़ गया जो, संयुक्त। अयुक्त अर्थात्** वियुक्त—जो अपने से जुड़ा हुआ नहीं है। **वियुक्त सदा दूसरों से जुड़ा रहता है। युक्त सदा अपने से जुड़ा रहता है।**

वियुक्त सदा दूसरों से जुड़ा रहता है। उसके सब 'लिंक' (जोड़) दूसरों से होते हैं। वह किसी का पिता है, किसी का पति है, किसी का मित्र है,

किसी का शत्रु है, किसी का बेटा है, किसी का भाई है, किसी की बहन है, किसी की पत्नी है। **लेकिन खुद कौन है, इसका उसे कोई पता नहीं होता।** उसकी अपने बाबत सब जानकारी दूसरों से ही निश्चित होती है। पिता है अर्थात् बेटे से कुछ सम्बन्ध है, पति है यानी पत्नी से कुछ सम्बन्ध है। उसकी अपने सम्बन्ध में सारी खबर दूसरों से जुड़े होने की होती है।

अगर हम उससे पूछें कि नहीं, तू पिता नहीं, भाई नहीं, मित्र नहीं—तो तू कौन है? ('हू यू आर?') तो वह कहेगा कि कैसा फिजूल सवाल पूछते हो। मैं तो पिता हूँ, मैं तो पति हूँ, मैं तो क्लर्क हूँ, मैं तो मालिक हूँ। लेकिन यह सब 'फन्कशन्स' हैं। यह सब बाह्य काम-चलाऊ बातें हैं। यह सब दूसरों से जुड़े होना है।

अयुक्त व्यक्ति दूसरों से जुड़ा होता है। जो दूसरों से जुड़ा होता है, उसमें भावना कभी पैदा नहीं होती, क्योंकि भावना तभी पैदा होती है जब कोई अपने से जुड़ता है। जब अपने भीतर के झरने से कोई जुड़ता है, तब भावना का स्फुरण होता है। जब कोई स्वयं से जुड़ता है, तब भावना का स्फुरण होता है। जो दूसरों से जुड़ता है, उसमें भावना नहीं होती—एक। जो दूसरों से जुड़ा होता है, वह सदा अशांत होता है—दो। भीतर जो संगीत की अनन्त धारा बह रही है, उसमें संयुक्त हो जाने के अतिरिक्त शान्ति का और कोई भी अर्थ नहीं है।

शांति का अर्थ है 'इनर हारमोनी', शांति का अर्थ है कि मैं अपने भीतर तृप्त हूँ, संतुष्ट हूँ। अगर सब भी चला जाए, चाँद तारे मिट जाएँ, आकाश गिर जाये, पृथ्वी चली जाए, शरीर गिर जाए, मन न रहे, फिर भी मैं जो हूँ, काफी हूँ—'मोर दैन इनफ'—जरूरत से ज्यादा काफी हूँ।

पम्पेई नगर में ज्वालामुखी फूटा, तो सारा गाँव भागने लगा। आधी रात थी। गाँव में एक फकीर भी था। कोई अपनी सोने की तिजोरी, कोई अपनी अशर्फियों का बंडल, कोई फर्नीचर, कोई कुछ, कोई कुछ, जो जो बचा सकता है, लोग लेकर भागे। फकीर भी चला भीड़ में। चला, भागा नहीं।

भागने के लिए या तो पीछे कुछ होना चाहिए या आगे कुछ होना चाहिए। **भागने के लिए या तो पीछे कुछ होना चाहिये, जिसके लिए तुम भागो या आगे कुछ होना चाहिए, जिसके लिए भागो।**

सारा गाँव भाग रहा है, फकीर चल रहा है। लोगों ने उसे धक्के भी दिये और कहा कि यह कोई चलने का वक्त है, भागो। उसने कहा कि किससे भागूं और किसके लिए भागूं। लोगों ने कहा कि पागल हो गये हो! यह कोई वक्त है चलने का। टहल रहे हो तुम। यह कोई तफरीह हो रही है!

उस आदमी ने कहा कि **मैं किससे भागूं। मेरे पीछे कुछ भी नहीं है, मेरे आगे कुछ भी नहीं है।** लोगों ने उसे नीचे से ऊपर तक देखा और उससे कहा कि कुछ बचाकर नहीं लाये! उसने कहा कि मेरे सिवाय मेरे पास कुछ भी नहीं है। मैंने कभी कोई चीज बचाई नहीं, इसलिए खोने का उपाय ही नहीं रहा। मैं अकेला काफी हूँ।

कोई रो रहा है कि मेरी तिजोरी छूट गई। कोई रो रहा है कि मेरा 'यह' छूट गया। कोई रो रहा है कि मेरा 'वह' छूट गया है। सिर्फ एक आदमी उस भीड़ में हँस रहा है। लोग उससे पूछते हैं कि तुम हँस क्यों रहे हो? क्या तुम्हारा कुछ छूटा नहीं? वह कहता है कि मैं जितना था, उतना ही हूँ यहाँ भी। मेरा कुछ भी नहीं छूटा।

उस अशांत भीड़ में अकेला वही आदमी है, जिसके पास कुछ भी नहीं है। बाकी सब, कुछ न कुछ बचाकर लाए हैं, फिर भी अशांत हैं। और वह आदमी कुछ भी बचाकर नहीं लाया, फिर भी शान्त है। बात क्या है?

युक्त पुरुष शांत हो जाता है, अयुक्त पुरुष अशान्त हो जाता है। ज्ञानी युक्त होकर शांति को उपलब्ध हो जाता है।

> **इंद्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।**
> **तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥**
>
> **तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।**
> **इन्द्रियाणिन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठता ॥ ६८ ॥**

क्योंकि, जल में वायु नाव को जैसे कम्पित कर देता है, वैसे ही विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के बीच में जिस इन्द्रिय के साथ मन रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुष की प्रज्ञा का हरण कर लेती है।

इससे हे महाबाहो, जिस पुरुष की इन्द्रियां सब

प्रकार इन्द्रियों के विषयों से वश में की हुई होती हैं, उसकी प्रज्ञा स्थिर होती है।

भगवान् श्री : जैसे नाव चलती हो और हवा की आँधियों के झोंके उसको डावांडोल कर देते हों; आँधियाँ तेज हों, तो नाव डूब भी जाती है, ऐसे ही कृष्ण कहते हैं कि अर्जुन, जिसके चित्त की शक्ति विषयों की तरफ विक्षिप्त होकर भागती है, उसका मन आँधी बन जाता है, उसका मन तूफान बन जाता है। उस आँधी और तूफान में शांति की, समाधि की, स्वयं की नाव डूब जाती है। लेकिन अगर आँधियाँ न चलें, तो नाव डगमगाती भी नहीं। अगर आँधियाँ बिलकुल न चलें, तो नाव के डूबने का उपाय भी नहीं रह जाता।

ठीक ऐसे ही मनुष्य का चित्त जितने ही झंझावात से भर जाता है वासनाओं के, जितने ही जोर से चित्त की ऊर्जा और शक्ति विषयों की तरफ दौड़ने लगती है, जीवन की नाव उतने ही जोर से डगमगाने लगती है और डूबने लगती है।

ज्ञानी पुरुष इस सत्य को देखकर, इस सत्य को पहचान कर चित्त की, वासना की आँधियों में नहीं दौड़ता। इसका क्या मतलब है? क्या मन को रोक लेता है? लेकिन आँधियाँ अगर रोकी जाएँगी, तो भी आँधियाँ ही रहेंगी। और दौड़ रही आँधियाँ शायद कम संघातक हों, रोकी गई आँधियाँ शायद और भी संघातक हो जाएँ।

तो क्या ज्ञानी पुरुष आँधियों को रोक लेता है, 'रेस्ट्रेन' करता है? अगर रोकेगा तो भी आँधियाँ, आँधियाँ ही रहेंगी और रुकी आँधियों का वेग और भी बढ़ जाएगा। तो क्या करता है ज्ञानी पुरुष?

यह बहुत मजे की और समझने की बात है कि आँधियाँ रोकनी नहीं पड़तीं, सिर्फ चलानी पड़ती हैं। आप न चलायें, तो रुक जाती हैं। क्योंकि आँधियाँ कहीं बाहर से नहीं आ रही हैं, आपके ही सहयोग से, 'को-आपरेशन' से आ रही हैं।

मैं अपने हाथ को हिला रहा हूँ। हाथ को हिलने से मुझे रोकना नहीं पड़ता। जब रोकता हूँ, तो उसका कुल मतलब इतना होता है कि अब नहीं हिलाता हूँ। कोई हाथ अगर बाहर से हिलाया जा रहा हो, तो मुझे

रोकना पड़े। मैं ही हिला रहा हूँ, तो रोकने का क्या मतलब होता है! शब्द में 'रोकना' क्रिया बनती है, उससे भ्रांति पैदा होती है। यथार्थ में वस्तुतः रोकना नहीं पड़ता, सिर्फ चलाता नहीं हूँ कि हाथ रुक जाता है।

एक झेन फकीर हुआ। उसका नाम था रिंझाई। एक आदमी उसके पास गया और उसने कहा कि मैं अपने मन को कैसे रोकूं? उस फकीर ने कहा कि गलत सवाल मेरे पास पूछा तो ठीक नहीं होगा। यह डंडा देखा है? रिंझाई एक डंडा साथ रखता था। और वह दुनिया बहुत कमजोर है, जहाँ फकीर के पास डंडा नहीं होता। कृष्ण कुछ कम डंडे की बात नहीं करते!

एक मित्र कल मुझसे कह रहे थे, मेरी हालत भी अर्जुन जैसी है। आप मुझे सम्हालना। मेरे मन में हुआ कि मैं उनसे कहूँ कि अगर कृष्ण जैसे एक दफा तुमसे कह दूं कि महामूर्ख, तो तुम दुबारा लौट कर न आओगे। तुम आओगे ही नहीं। अर्जुन होना भी आसान नहीं है।

तो कृष्ण अर्जुन को डंडे पर डंडे दिये चले जाते हैं। अर्जुन भागता नहीं है। उसमें सन्देह है, लेकिन निष्ठा में भी कोई कमी नहीं है। सन्देह है, तो सवाल उठाता है, लेकिन निष्ठा में भी कोई कमी नहीं है। भागता भी नहीं है।

रिंझाई ने कहा, देखा है यह डंडा, झूठ और गलत सवाल पूछेगा, तो सर तोड़ दूंगा।

उस आदमी ने कहा कि क्या कहते हैं आप? सिर मेरा वैसे ही अपनी वासनाओं से टूटा जा रहा है। आप मुझे कोई तरकीब मन को रोकने की बताएँ। रिंझाई ने कहा, रोकने की बात नहीं, मैं तुमसे यह पूछता हूँ कि किस तरकीब से तू वासनाओं को चलाता है—क्योंकि तू ही चलानेवाला है, तो क्या रोकने की तरकीब मुझसे पूछनी पड़ेगी!

एक आदमी दौड़ रहा है और हमसे पूछता है कि कैसे रुकें। रुकना नहीं पड़ता है, सिर्फ नहीं दौड़ना पड़ता है। हाँ, कोई उसको घसीट रहा हो, कोई उसके गर्दन में बैल की तरह रस्सी बाँध कर खींच रहा हो, तब तो कोई सवाल नहीं। कोई उसको पीछे से धक्के दे रहा हो, तब तो कोई सवाल नहीं। न कोई उसे घसीट रहा हो और न कोई पीछे से धक्के दे रहा हो, वह आदमी दौड़ रहा हो और कहता हो कि मैं कैसे रुकूं? तो उसे इतना ही कहना पड़ेगा कि तू गलत ही सवाल पूछ रहा है। दौड़ भी तू रहा है और कैसे

रुकने की बात भी तू ही पूछ रहा है। निश्चय ही तू रुकना नहीं चाहता। इसलिए पूछ रहा है।

जो लोग रुकना नहीं चाहते हैं, वे यही पूछते हैं कि कैसे रुकें। इसी में समय गँवाते रहते हैं। वे पूछते हैं: 'हाऊ टु डू इट'। करना नहीं चाहते हैं।

मजा यह है कि 'वासना को कैसे चलाएँ,' इसे पूछने आप कभी किसी के पास नहीं गये। बड़े मजे से चला रहे हैं वासनाओं को। कृष्ण कह रहे हैं कि जो इन आँधियों को नहीं चलाता है, रोक लेता है, नहीं चलता है"। हमारा 'को-आपरेशन' माँगती है वासना।

आपने कोई वासना देखी है, जो आपके बिना सहयोग के इंच भर सरक जाए? कभी बिना आपके सहयोग के आपके भीतर कोई भी वासना सरकी है इंच भर, इसे जरा लौटकर देखना। जब वासना सरके, तो खड़े हो जाना और कहना कि मेरा सहयोग नहीं, अब तू चल। और आप पाएँगे कि वासना वहीं गिर गई—वहीं। इंच भर भी आगे नहीं जा सकती। उसे आपका 'को-आपरेशन' चाहिए।

एक मेरे मित्र हैं, उनको बड़ा क्रोध आता है। बड़े मंत्र पढ़ते हैं, बड़ी प्रार्थनाएँ करते हैं और मंदिर जाते हैं और वहाँ से और क्रोधी होकर लौटते हैं। क्रोध नहीं जाता। बस, उनको यही परेशानी है कि क्रोध नहीं जाता। मैंने उनसे कहा कि तुम ही क्रोध करते हो कि कोई और करता है? उन्होंने कहा कि मैं ही करता हूँ, लेकिन फिर भी क्रोध जाता नहीं। कैसे जाए?

मैंने कहा कि आप यह सब छोड़ें। यह कागज मैं लिखकर आपको देता हूँ। कागज लिखकर उन्हें दे दिया। उसमें मैंने बड़े अक्षरों में लिख दिया कि 'अब मुझे क्रोध आ रहा है'। उससे कहा कि इसे खीसे में रखो और जब भी क्रोध आये, तो पढ़कर इसे खीसे में रखना और कुछ मत करना। उन्होंने कहा, इससे क्या होगा? मैं बड़े-बड़े ताबीज बाँध चुका हूँ! मैंने कहा कि छोड़ो उन ताबीजों को। तुम इसको खीसे में रखो। पन्द्रह दिन बाद मेरे पास आना।

पन्द्रह दिन नहीं, वे पाँच ही दिन बाद आ गए। और कहने लगे कि क्या जादू है? मैं जैसे ही इसे पढ़ता हूँ कि 'अब मुझे क्रोध आ रहा है', पता नहीं कैसे भीतर से क्रोध विसर्जित हो जाता है। एक सेकन्ड को 'को-आपरेशन' अगर चूक जाए तो फिर क्रोध असंभव है।

वे कहने लगे कि अब तो खीसे तक अन्दर हाथ भी नहीं लगाना पड़ता। उधर हाथ गया कि अक्षर ख्याल आये कि 'अब क्रोध आ रहा है'। बस, कोई चीज बीच में एकदम से गिर जाती है।

वासना सहयोग माँगती है आपका। निर्वासना सिर्फ असहयोग माँगती है। निर्वासना के लिए कुछ करना नहीं है, वासना के लिए जो किया जा रहा है, वही भर नहीं करना है।

तो रिंझाई ने मुट्ठी बाँध ली उस आदमी के सामने और कहा कि देख, यह मुट्ठी बँधी है, अब मुझे मुट्ठी को खोलना है। अब मैं क्या करूँ? उस आदमी ने कहा कि क्या फिजूल की बातें पूछते हैं! बाँधिए मत, मुट्ठी खुल जाएगी। बाँधिए मत। क्योंकि बाँधना पड़ता है, बाँधना, एक काम है। खोलना काम नहीं है। बाँधने में शक्ति लग रही है, खोलने में कोई शक्ति नहीं लगती। न बाँधिए तो मुट्ठी खुली रहती है, बाँधिए तो बंधती है।

वासना शक्ति माँगती है, न दीजिए उसे शक्ति, तो निर्वासना फलित हो जाती है।

ऐसा झंझावात से मुक्त हुआ चित्त स्वयं में प्रतिष्ठित हो जाता है। कृष्ण कहते हैं कि हे महाबाहो, जो स्वयं में प्रतिष्ठित हो जाता है, वह सब कुछ पा लेता है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ ६९॥

और हे अर्जुन, सम्पूर्ण भूत प्राणियों के लिए जो रात्रि है, उसमें भगवत्ता को प्राप्त हुआ संयमी पुरुष जागता है। और जिस नाशवान, क्षणभंगुर सांसारिक सुख में सब भूत प्राणी जागते हैं, तत्त्व को जानने वाले मुनि के लिए वह रात्रि है।

भगवान् श्री : जो सबके लिए अँधेरी रात है, वह भी ज्ञानी के लिए, संयमी के लिए जागरण का क्षण है। जो निद्रा है सबके लिए, वह भी ज्ञानी के लिए जागृति है। यह महावाक्य है। यह साधारण वक्तव्य नहीं है। यह

महावक्तव्य है। इसके बहु-आयामी अर्थ हैं। दो तीन आयाम समझ लेना जरूरी है।

एक तो बिलकुल सीधा जिसको कहना चाहिए 'लिटरल' जो अर्थ है, वह भी इसका अर्थ है। आमतौर से गीता पर किये गये वार्तिक उसके तथ्यगत अर्थ को कभी नहीं लेते। यह बड़ी ही गलत बात है कि इसे सदा ही 'मेटाफर', रूपक मान लिया गया है। वह सिर्फ 'मेटाफर' ही नहीं है।

जब यह बात कही जा रही है कि जो सबके लिए निद्रा है, वह भी संयमी और ज्ञानी के लिए जागरण है—**इसका पहला अर्थ बिलकुल शाब्दिक है। जब रात आप सोते हैं, तब भी संयमी नहीं सोता है।** इसे पहले समझ लेना जरूरी है, क्योंकि इसे कहने की हिम्मत नहीं जुटाई जा सकी है आज-तक। सदा इसका अर्थ 'मोहरूपी निशा' आदि बातें कही गई हैं। इसका पहला अर्थ बिलकुल ही शब्दगत है।

जब आप रात सोते हैं, तब भी ज्ञानी नहीं सोता है। इसका क्या यह मतलब है कि बिस्तर पर नहीं लेटता, इसका क्या मतलब है कि आँख नहीं बन्द करता है, इसका क्या मतलब है कि रात विश्राम को उपलब्ध नहीं होता है? नहीं, यह सब करता है, फिर भी वह नहीं सोता है। दो तीन उदाहरण से इस बात को समझें।

बुद्ध ने आनन्द को दीक्षा दी। वह उनका चचेरा भाई था और बड़ा भाई था। तो दीक्षा लेते वक्त आनन्द ने कहा कि दीक्षा के बाद तो तुम गुरु और मैं शिष्य हो जाऊँगा। तो गुरु से फिर मैं कुछ कह न सकूंगा। अभी मैं तुम्हें आज्ञा दे सकता हूँ। मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूँ। दीक्षा लेने के पहले मैं तुम्हें दो तीन आज्ञाएँ देता हूँ, जो तुम्हें छोटे भाई की तरह माननी पड़ेंगी। बुद्ध ने कहा कि कहो।

आनन्द ने कहा कि एक तो यह कि मैं चौबीस घंटे तुम्हारे साथ रहूँगा। रात तुम सोओगे जहाँ, वहीं मैं भी सोऊँगा। दूसरा यह कि जब भी मैं कोई सवाल पूछूँ, तो तुम्हें उसी वक्त उत्तर देना पड़ेगा। तुम टाल न सकोगे। तीसरा यह है कि मैं अँधेरी, आधी रात को भी किसी व्यक्ति को आपसे मिलाने लाऊँ, तो मिलना पड़ेगा, इंकार न कर सकोगे। तो ये तीन आज्ञाएं तुम्हें मैं देता हूँ, बड़े भाई की हैसियत से। फिर दीक्षा के बाद तो मैं कुछ

कह न सकूंगा। तुम्हारी आज्ञा मेरे सिर पर होगी।

बुद्ध ने ये वचन दे दिये। फिर आनन्द बुद्ध के कमरे में ही सोता। दो-चार-दस-दिन में ही बहुत हैरान हुआ, क्योंकि बुद्ध जिस करवट सोते हैं—जहाँ हाथ रखते हैं, जहाँ पैर रखते हैं—रात में इंच भर भी वहाँ से हिलाते नहीं। कभी करवट भी नहीं बदलते। हाथ जहाँ रखा है, वहीं रखा रहता है पूरी रात। पैर जहाँ रखा है, पैर वहीं रखा रहता है पूरी रात। तो आनन्द ने सोचा कि यह क्या मामला है। यह कैसी नींद है!

दो-चार-दस दिन, कई बार रात में उसने उठकर देखा। देखा कि वही मुद्रा है, वही आसन है, वही व्यवस्था है—सब वही है। दसवें दिन उसने पूछा कि एक सवाल उठ गया है। रात में आप सोते हैं या क्या करते हैं? बुद्ध ने कहा, **जब से अज्ञान टूटा, तब से सिर्फ शरीर सोता है, मैं नहीं सोता हूँ।** तो अगर करवट तक मुझे बदलनी पड़ी, तो मेरे बिना सहयोग के शरीर नहीं बदल सकता। कोई जरूरत नहीं बदलने की। एक ही करवट से काम चल जाता है। तो फकीर आदमी को जितने से काम चल जाए, उससे ज्यादा के उपद्रव में नहीं पड़ना चाहिए। ऐसे चल जाता है। हाथ जहाँ रखता हूँ, वहीं रखे रहता हूँ। हाथ सो जाता है, मैं नहीं सोता हूँ।

कृष्ण कहते हैं कि जो सबके लिए अँधेरी निद्रा है, वह भी ज्ञानी के लिए जागरण है।

आप भी पूरे नहीं सोते हैं। क्योंकि ज्ञान का कोई न कोई कोना तो आप में भी जागा रहता है। यहां जितने लोग बैठे हैं, अगर वे सब सो जायें और रात कोई आदमी आकर चिल्लाए, 'राम'! तो सबको सुनाई नहीं पड़ेगा। लेकिन जिसका नाम राम होगा, वह फौरन जाग उठेगा कि कौन बुला रहा है? कान सबके हैं, लेकिन सब सोये हैं। 'राम' शब्द गूंजा है, तो सबको सुनाई पड़ा, लेकिन जो 'राम' है, वह कहता है कि कौन बुला रहा है? रात में कौन बड़बड़ करता है, सोने नहीं देता? क्या हुआ। जरूर इसके भीतर चेतना का एक कोना इस रात में भी जागा है। पहरा दे रहा है। पहचानता है कि राम नाम अपना है।

माँ सोई है रात, तूफान आ जाए बाहर, आंधी आ जाए, बादल गरजे, बिजली चमके, उसकी नींद नहीं टूटती। लेकिन उसका बच्चा जरा सा कुन-कुन करे, तो वह फौरन हाथ उस पर रख लेगी। उसके भीतर कोई

हिस्सा जागा हुआ है। माँ का वह हिस्सा देखता है कि बच्चे को कोई गड़बड़ न हो जाए। और बच्चे की गड़बड़ इतनी धीमी है कि माँ के एक हिस्से को जागा ही रहना होगा।

आकाश में बिजली चमकती है, बादल गरजते हैं, पानी बरस रहा है, माँ को कुछ भी सुनाई नहीं पड़ता है। लेकिन बच्चे की जरा सी आवाज, उसका जरा सा करवट लेना, उसकी धीमी-सी पुकार उसे तत्काल जगा देती है। एक हिस्सा माँ का जागा हुआ है। एक तात्कालिक व्यवस्था है भीतर, 'इमरजेन्सी मेजर' है वह हमारा। साधारणतया हमारी पूरी चेतना डूबी रहती है अँधेरे में।

कृष्ण कहते हैं कि **ज्ञानी पुरुष नींद में भी जागा रहता है।** पहला अर्थ, पहले आयाम का अर्थ 'वास्तविक निद्रा में भी जागरण' है।

और मैं आपसे कहता हूँ कि यह बहुत कठिन नहीं है। जो आदमी दिन के जागते हिस्से में बारह घंटे जागा हुआ जीएगा, वह रात में जागा हुआ सोता है।

आप रास्ते पर चल रहे हैं, जागते हुए चलें। आप खाना खा रहे हैं, जागकर खाएँ। आप किसी से बात कर रहे हैं, जागकर बोलें। सुन रहे हैं, जाग कर सुनें। यह नींद-नींद में, 'स्लीपी स्लीपी' सी न हो।

एक आदमी खाना खा रहा है। हमें लगता है कि नींद में कैसे खाना खा सकता है, लेकिन मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि कुछ लोग नींद में खाना खा रहे हैं।

इमरसन एक बड़ा विचारक हुआ। सुबह बैठा है। उसकी नौकरानी नाश्ता रख गई। किताब में इमरसन उलझा है, तो नौकरानी ने बाधा नहीं डाली। सोचा कि जैसे किताब से छूटेंगे, तो नाश्ता कर लेंगे।

उसका मित्र एक मिलने आया है। लेकिन इमरसन किताब में डूबा हुआ है। नाश्ता पास है। मित्र ने सोचा, इससे बात पीछे कर लेंगे। पहले नाश्ता कर लें। मित्र ने नाश्ता कर लिया। प्लेट खाली करके बगल में सरका दी। फिर इमरसन ने कहा कि अरे कब आये? मित्र को देखा, खाली प्लेट को देखा और कहा कि जरा देर से आये, मैं नाश्ता कर चुका हूँ। क्या इस आदमी ने कभी जागकर नाश्ता किया होगा? नहीं, हमने भी नहीं किया है। एक 'रूटीन' है भोजन, जिसको हम नींद में भी कर लेते हैं।

आदमी साइकिल चलाता है, पैर साइकिल चलाते रहते हैं। आदमी भीतर कुछ और चलाता रहता है, चलाता चला जा रहा है।

सड़क के किनारे खड़े हो जाएँ। लोगों को जरा चलते हुए देखें। कोई बात-चीत करता दिखाई पड़ेगा किसी से, जो मौजूद नहीं है। किसी के होठ हिल रहे हैं। कोई हाथ से किसी को झिड़क रहा है। कोई इशारा कर रहा है। आप बहुत हैरान होंगे कि क्यों हो रहा है यह सब। नींद में कर रहे हैं सब।

जब हम जागे हुए भी सोये हैं, तो सोते में जागना बहुत मुश्किल है। इसलिए मैं कहता हूँ कि जिन लोगों ने गीता में इस महावाक्य पर वक्तव्य दिये हैं, उनको खुद का कोई अनुभव नहीं है अन्यथा यह पहला वक्तव्य चूक नहीं सकता था। उनको साफ पता नहीं है कि नींद में जागा हुआ हुआ जा सकता है। लेकिन जागे हुए ही सोये हुए आदमियों को नींद में जागने का ख्याल भी कैसे उठ सकता है! तो वे सब 'मेटाफोरिकल' (रूपक) अर्थ करते हैं। वह अर्थ ठीक नहीं है।

जो आदमी दिन में जाग कर चलेगा, उठेगा, बैठेगा, वह रात में भी जागा हुआ सोयेगा।

अजीब बात कही है महावीर ने। कहा है, साधुओं! जागकर चलना, जागकर उठना, जागकर बैठना। यह सब तो ठीक है। लेकिन आखिर में महावीर कहते हैं कि जागकर सोना। पागलपन की बातें कर रहे हैं! तो हम सोयेंगे काहे के लिए! महावीर कहते हैं कि जागकर सोना, जागते रहना और देखना कि नींद कब आई।

आप कितनी दफे सोये, लेकिन कभी नींद को आते देखा? जिन्दगी भर सोये, रोज सोये। आदमी साठ साल जीता है, तो बीस साल सोता है। आठ घंटे रोज सोये अगर, तो बीस साल सोने में चले जाते हैं। जिन्दगी का एक तिहाई सोते हैं। बीस साल सोकर भी कभी आपको पता है कि नींद कब आती है? कैसे आती है? नींद क्या है?

कैसा अद्भुत है यह मामला! बीस साल जिस अनुभव से गुजरते हैं, उस अनुभव की कोई भी पहचान नहीं है! रोज सोते हैं, लेकिन कोई आपसे पूछे कि नींद क्या है, 'व्हाट इज स्लीप?' नींद कैसे आती है? आते वक्त क्या उसकी शकल है और क्या उसका रूप है? उतरती है कैसे? जैसे शाम

उतरती है अँधकार की, सूरज डूबता है, ऐसा आपके भीतर क्या उतरता है नींद में? तो आप कहेंगे कि मुझे तो कुछ पता नहीं है। क्योंकि जब तक जागे रहते हैं, तब तक नींद नहीं आती। और नींद आ जाती है, तो उसके पहले सो गये होते हैं।

सुबह उठते हैं रोज। कभी देखा है कि नींद का टूटना क्या है? नींद कैसे टूटती है? क्या होता है नींद के टूटने में? आपको कुछ पता है?

तब तक नींद नहीं टूटती, तब तक हम नहीं होते। जब नींद टूट जाती है, तब टूट ही चुकी होती है। नींद का कोई पता हमें नहीं है।

कृष्ण कह रहे हैं कि ज्ञानी जागकर सोता है। और जिस व्यक्ति ने जागकर अपनी नींद को देख लिया, वही व्यक्ति अपनी मृत्यु को भी जागकर देख सकता है, अन्यथा नहीं देख सकता। इसलिए इस सूत्र को मैं महावाक्य कहता हूँ।

मौत तो कल आयेगी, नींद तो आज ही आयेगी। रात नींद को देखते हुए सोयें। रोज सोते वक्त एक ही प्रार्थना मन में हो, एक ही भाव मन में आये कि जब नींद आये, तो उसे देखूं। जागें पूरे। पूरे देखते रहें, देखते रहें। आज चूकेंगे, कल चूकेंगे, परसों चूकेंगे। महीना, दो महीना, तीन महीना चूकेंगे। फिर अचानक किसी दिन आप पाएँगे कि नींद उतर रही है और आप देख रहे हैं। और जिस दिन आप नींद को उतरते हुए देखेंगे, उसी दिन कृष्ण का यह महावाक्य आपकी समझ में आएगा। उसके पहले समझ में नहीं आ सकता है।

यह उसका वास्तविक अर्थ है। इसका जो 'मेटाफॉरिकल' (रूपक) अर्थ है, वह भी आपसे कहूँ। वह भी है, लेकिन वह नम्बर दो का मूल्य वाला है। नम्बर एक का मूल्य इसी का है। वह भी है। लेकिन वह तो और भी बहुत सी बातों से कह दिया। उसको कहने के लिए इस वाक्य को कहने की कोई भी जरूरत न थी।

एक दूसरी जो 'मोह-निशा' है, उसकी तो बहुत चर्चा हो गई। वह जो विषयों की नींद है, वह जो वासना की नींद है, उनकी तो काफी चर्चा हो गई। कृष्ण जैसे लोग एक शब्द भी व्यर्थ नहीं बोलते। एक शब्द भी पुनरुक्त नहीं करते। अगर पुनरुक्ति दीखती हो, तो आपकी समझ में भूल और गलती होती है। कृष्ण जैसे लोग—'दे नेव्हर रिपीट'। पुनरुक्ति का तो कोई सवाल

ही नहीं है। दोहराने की कोई जरूरत नहीं है।

आपको तो पता है कि कौन लोग दोहराते हैं। सिर्फ वही लोग दोहराते हैं, जिसमें आत्मविश्वास की कमी होती है। दूसरे आदमी नहीं दोहराते। जिसने एक बात पूरे विश्वास के साथ कह दी—पूरी तरह जान कर, बात खत्म हो गई।

तो कृष्ण दोहरा नहीं सकते। इसलिए मैं कहता हूँ कि आम व्याख्या की गई है कि जहां कामी आदमी काम-वासना में, मोह-निद्रा में, विषयों की नींद में, अँधेरे में डूबा रहता है, वहाँ संयमी आदमी जागा रहता है। इसे दोहराने के लिये इस वाक्य की बहुत जरूरत नहीं है। लेकिन वह अर्थ भी करें तो बुरा नहीं। लेकिन पहला अर्थ पहले समझ लें।

दूसरा अर्थ है कि एक तन्द्रा का घेरा, कहना चाहिए एक 'हिप्नोटिक आरा' हमारे व्यक्तित्व में अटका हुआ है। **जब आप चलते हैं, तब आपके चारों तरफ नींद का एक घेरा चलता है। जब जागा हुआ पुरुष चलता है, तो उसके चारों तरफ जागरण का एक घेरा चलता है।** यह जो हमने नानक और कबीर, राम और कृष्ण, महावीर और बुद्ध—उनके चेहरे के आस-पास एक गोल घेरा बनाया है, यह कोई 'फोटोग्राफिक ट्रिक' नहीं है। यह सिर्फ एक 'मिथ' नहीं है।

जागे हुए व्यक्ति के आस-पास प्रकाश का एक उज्ज्वल घेरा चलता है और जो लोग भी अपने आसपास के प्रकाश को देखने में समर्थ होते हैं, वे दूसरे के 'आरा' (आभा-मण्डल) को भी देखने में समर्थ हो जाते हैं। जिन लोगों को भीतर अपने प्रकाश दिखाई पड़ने लगता है, वे दूसरे आदमी के चेहरे के आस-पास प्रकाश के गोल घेरे को तत्काल देख लेते हैं। हाँ, आपको नहीं दीखता, क्योंकि आपको उस तरह के सूक्ष्म प्रकाश का कोई भी अनुभव नहीं।

तो जैसे महावीर, बुद्ध और कृष्ण के चेहरे के आसपास एक वर्तुल चलता है जागरण का, रोशनी का, ऐसे ही हम सब सोये हुए आदमियों के आस-पास एक गोल वर्तुल चलता है अँधकार का, निद्रा का। वह भी आपको दिखाई नहीं पड़ेगा, क्योंकि होने का पता ही तब चलेगा, जब प्रकाश दिखाई पड़े। तो आपको पता चलेगा कि जिन्दगी भर एक अँधेरे का गोला भी आपके साथ चलता था। पता तो पहले प्रकाश का चलेगा, तभी अँधकार का बोध होगा।

उसके साथ ही हम पैदा होते हैं। उससे इतने निकट और परिचित होते हैं कि वह दिखाई नहीं पड़ता। लेकिन मैं देखता हूं कि रास्ते पर दो आदमी चल रहे हों, तो दोनों के पास का चलनेवाला घेरा अलग होता है। रंग में फर्क होते हैं, शेड में फर्क होते हैं। अँधेरे और सफेदी के बीच में से ग्रे कलर होते हैं।

साधारणतया सोये हुए आदमी के पास, सौ में से निन्यानबे आदमियों के पास नींद का एक वर्तुल चलता है, एक 'स्लीपी' वर्तुल चलता है। वैसा आदमी जहाँ जाता है, उसके साथ उसकी नींद भी जाती है। वह जो भी छूता है, उसे नींद में छूता है। वह जो भी करता है, उसे नींद में करता है। वह जो भी बोलता है, नींद में बोलता है।

कभी आपने सोचा है कि आप अपने वक्तव्यों के लिए कितनी बार नहीं पछताये हैं। पछताये हैं, लेकिन कभी आपको पता है कि आपने ही वह बोला था!

पति घर आया है और पत्नी एक शब्द बोल गई और कलह शुरू हो गई। और वह जानती है कि यह शब्द रोका जा सकता था। क्योंकि यह शब्द पचीस दफे बोला जा चुका है और उस शब्द के आसपास इसी तरह की कलह पचीस बार हो चुकी है। फिर आज यह क्यों बोला गया? नींद में बोल गई, फिर बोल गई। कल फिर बोलेगी, परसों फिर बोलेगी, वह नींद में चलेगा। वह रोज वही बोलेगी और रोज वही होगा। पति भी रोज वही उत्तर देगा।

अगर एक पति-पत्नी को सात दिन ठीक से देख लिया जाए, तो उनकी पिछली जिन्दगी और आगे की सारी जिन्दगी की कथा लिखी जा सकती है कि पीछे क्या हुआ और आगे क्या होगा। क्योंकि यही होगा। इसकी ही पुनरुक्ति होती रहेगी।

ये नींद में चलते हुए लोग—वही क्रोध, वही काम, वही सब, वही दुख, वही पीड़ा, वही चिन्ता। सब वही। रोज वही उठाते हैं और वही दोहराते हैं। जैसे सब तय है, बँधी हुई मशीन की तरह। बस, रोज अपनी-अपनी मशीन पर जम जाते हैं। और सब चलता है। यह नींद है। यह कृष्ण का दूसरा अर्थ है।

जागा हुआ पुरुष जो भी करता है, वह नींद में करनेवाले आदमी जैसा व्यवहार नहीं है।

क्या फर्क पड़ेगा उसके व्यवहार में ! तो उन्होंने इंगित किया है कि नींद से भरा हुआ आदमी मैं के और अहंकार के आसपास जीएगा। उसका सब कुछ अहंकार से भरा होगा।

कभी आपने ख्याल किया है कि आइने के सामने खड़े होकर जो तैयारी आप कर रहे हैं, यह आपकी तैयारी है कि अहंकार की तैयारी है ! किसकी तैयारी कर रहे हैं ? अहंकार की तैयारी कर रहे हैं। बाहर निकलते हैं, तो रीढ़ सीधी कर लेते हैं। आँखें तेज हो जाती हैं। या तो सुरक्षा में लग जाते हैं या आक्रमण में लग जाते हैं। चल पड़े हैं, नींद वाला आदमी निकला है घर से बाहर। उपद्रव संभावित है। सब कुछ होगा अब। अब यह कुछ न कुछ करेगा। और सारे लोग अपने घरों के बाहर निकल गए हैं। ये कुछ न कुछ करेंगे।

अमेरिका में अभी कार के एक्सिडेन्ट का जो सर्वेक्षण हुआ है, उससे पता चला है कि ७५ प्रतिशत कार की दुर्घटनाएँ भौतिक नहीं हैं, मानसिक घटनाएँ हैं। पागलपन की बात मालूम होती है। कार की दुर्घटना और मानसिक, कार का भी कोई माइंड है, कार का भी कोई मन है कि कार भी कोई मन से दुर्घटना करती है ! कार का नहीं है मन, उस ड्राइवर का है, वह जो सारथी, जो बैठा है भीतर।

आपको पता है क्या कि जब आप क्रोध में होते हैं, तो कार का 'एक्सि-लरेटर' जोर से दबता है—नींद में, होश में नहीं। जल्दी आपको कहीं पहुँचना नहीं है। लेकिन चित्त क्रोध से भरा है। किसी चीज को दबाना चाहता है। इसकी फिक्र नहीं कि किसको दबा रहे हैं। एक्सिलेरेटर को ही दबा रहे हैं। अब एक्सिलेरेटर से कोई झगड़ा नहीं है। अगर एक्सिलेरेटर को दबाइये क्रोध में, तो खतरा पक्का है। यह तो नींद में दबाया जा रहा है। आपको पता ही नहीं है कि क्यों दबा रहे हैं एक्सिलेरेटर को। पता होना चाहिए कि क्यों दबा रहे हैं, कहां दबा रहे हैं, कितनी भीड़ है, कितने लोग हैं, कितनी कारें दौड़ रही हैं। आपको कुछ भी पता नहीं है।

आप एक्सिलेरेटर को नहीं दबा रहे हैं। कोई अपनी पत्नी के सिर पर पैर दबा रहा है, कोई अपने बेटे के, कोई अपने बाप के, कोई अपने मालिक

के। पता नहीं वह एक्सिलेरेटर किन-किन के लिए काम कर रहा है। पता नहीं कौन कब एक्सिलेरेटर बना हुआ है। दबाये जा रहे हैं। अब यह आदमी नींद में एक्सिलेरेटर दबा रहा है। इस आदमी को क्या सड़क दिखाई पड़ रही होगी !

इसकी हालत ठीक वैसे है जैसी मैंने सुना है कि वर्षा हो रही है और एक आदमी अपनी कार चला रहा है। जोर से वर्षा हो रही है। लेकिन वह आदमी अपने व्हाइपर नहीं चला रहा है कार के। उसकी पत्नी उससे कहती है, यह क्या कर रहे हो। (जैसे कि पत्नियां आमतौर से ड्राइवर को गाइड करती रहती हैं। पति चलाता है पत्नियां चलवाती हैं। वे हर वक्त बताती रहती हैं कि यह करो, यह करो।)

उस पत्नी ने पूछा, क्यों नहीं चला रहे हैं व्हाइपर ? तो उसने कहा कि कोई फायदा नहीं है, क्योंकि चश्मा तो मैं घर ही भूल आया हूँ। कुछ वैसे ही नहीं दिखाई पड़ रहा है कि पानी गिर रहा है कि नहीं गिर रहा है। इसका क्या मतलब है ! यह जो आदमी है, वह भी एक्सिलेरेटर को क्रोध में दबा रहा है। वह भी अँधा है, उसको भी कुछ नहीं दिखाई पड़ रहा है कि बाहर क्या हो रहा है।

पचहत्तर प्रतिशत दुर्घटनाएं मानसिक घटनाएँ हैं। यह नींद के कारण है। इस नींद में हम उल्टा भी करते हैं।

इस श्लोक का एक तीसरा अर्थ भी है। नींद का कृत्य—हमेशा जो आप करते हैं और जो होता है, उसका आपको कुछ ख्याल नहीं होता। जो आप करते हैं, वह आप से ही होता है, लेकिन जब होता है, तब आप पछताते हैं कि यह कैसे हो गया ! क्योंकि हमने तो यह कभी नहीं किया।

एक स्त्री सज रही है, आइने के सामने सज रही है और उसको पता नहीं कि सच में वह कर क्या रही है। लेकिन वह सज-धज कर सड़क पर आ गई है। उसने चुस्त कपड़े पहन रखे हैं। अब उसको पता नहीं कि वह धक्का निमंत्रित कर रही है। कोई आदमी धक्का मारेगा। जब धक्का मारेगा, तो वह कहेगी कि बहुत ज्यादती हो रही है। वह स्त्री कहेगी कि बहुत ज्यादती हो रही है, अन्याय हो रहा है, अनीति हो रही है। लेकिन सब तैयारी करके आई है वह। और वह तैयारी नींद में की गई थी, उसे कोई 'कॉज-इफेक्ट' (कार्य-कारण) नहीं दिखाई पड़ता कि इतने चुस्त

कपड़े, इतने बेढंगे कपड़े, इतनी सजावट किसी को धक्का मारने के लिए निमंत्रण है।

और बड़े मजे की बात है कि अगर उसे कोई भी धक्का न दे, तो भी दुखी लौटेगी कि सब मेहनत बेकार गई। किसी ने देखा ही नहीं! सड़क पर कोई इसे न देखे, कोई इसकी पहल ही न ले, कोई 'अटेन्शन' न दे, तो यह ज्यादा दुखी लौटेगी। धक्का दे कोई, तो भी दुखी लौटेगी। क्या हो रहा है यह!

मैंने सुना है कि एक बच्चे ने बाप को खबर दी है कि मैंने पांच मक्खियां मार डाली हैं। और उसने कहा कि तीन नर थे और दो मादाएँ थीं। उसके बाप ने कहा कि हद कर दिया तूने, कैसे पता लगाया? तो उसने कहा कि दो मक्खियां आइने पर ही बैठती थीं। समझ लिया कि स्त्रियां होनी चाहिए।

यह जो नींद में सब चल रहा है, जिसमें हम ही कारण होते हैं और जब कार्य आता है तो हम चौंक कर खड़े हो जाते हैं कि यह मैंने नहीं किया? अगर जब हम नींद में नहीं हों, तो हम फौरन समझ जायेंगे कि यह मेरा किया हुआ है। यह धक्का मेरा बुलाया हुआ है। यह धक्का ऐसा ही नहीं आ गया है। इस जगत् में कुछ भी आकस्मिक नहीं है, 'एक्सिडेन्टल' नहीं है। सब चीजों की हम व्यवस्था करते हैं। लेकिन फिर व्यवस्था जब सब पूरी हो जाती है, तो पछताते हैं कि यह क्या हो गया! यह क्या हुआ?

यह भी नींद का अर्थ है। संयमी, ज्ञानी इस भाँति कभी नहीं सोता। जागा ही रहता है। स्वभावतः जागकर वह वैसा व्यवहार नहीं करता, जैसा सोया हुआ आदमी करता है। उसका 'मैं' कभी केन्द्र में नहीं होता। 'मैं' सदा नींद के ही केन्द्र में होता है। समझ लें कि नींद का केन्द्र 'मैं' है। 'न-मैं', इगोलेसनेस, निरअहंकार भाव, जागरण का केन्द्र है। यह बड़े मजे की बात है।

हम यह कह सकते हैं कि सोया हुआ आदमी ही 'होता' है, जागा हुआ आदमी होता नहीं। यह बड़ा उल्टा वक्तव्य लगेगा। सोया हुआ आदमी ही होता है, जागा हुआ आदमी 'नहीं' होता है—'न-मैं' होता है। जागरण आदमी के अहंकार का विसर्जन है। निद्रा आदमी के अहंकार का संग्रह है, 'कन्सेन्ट्रेशन', केन्द्रीकरण है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ ७०॥

और जैसे सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्र में नाना नदियों के जल उसको चलायमान न करते हुए ही समा जाते है, वैसे ही जिस स्थितप्रज्ञ पुरुष के प्रति सम्पूर्ण भोग किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वह पुरुष परमशान्ति को प्राप्त होता है, न कि भोगों को चाहने वाला।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ ७१॥

क्योंकि, जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममता रहित और अहंकाररहित, स्पृहारहित हुआ बर्तता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ ७२॥

हे अर्जुन, यह ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की ब्राह्मी-स्थिति है। इसको प्राप्त होकर वह मोहित नहीं होता है और अन्तकाल में भी इस निष्ठा में स्थित होकर ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।

भगवान् श्री : महासागर अनन्त-अनन्त नदियों को भी अपने में समा कर जरा भी मर्यादा नहीं खोता है, इंच भर भी परिवर्तित नहीं होता है। जैसे कुछ समाया ही नहीं उसमें, ऐसा ही होता। जैसा पहले था; हजारों नदियों

के गिरने के बाद भी वैसा ही होता है। ऐसे ही जो व्यक्ति जीवन के समस्त भोगों को भोगने के पहले जैसा था, भोगने के बाद भी वैसा ही होता है—जैसे कि भोगा ही न हो अर्थात् जो भोगते हुए भी 'न-भोगा' बना रहता है, जो भोगते हुए भी भोक्ता नहीं बनता है, जिसमें भोग से कोई भी अंतर नहीं आता है, जो जैसा था वैसा ही बना रहता है, ऐसा व्यक्ति मुक्ति को, ब्राह्मीस्थिति को उपलब्ध हो जाता है।

कृष्ण का यह सब कहना बड़ी मजेदार बात है, क्योंकि अर्जुन ने जिज्ञासा मुक्ति की नहीं की थी। अर्जुन ने जिज्ञासा सिर्फ युद्ध से बचने की की थी। लेकिन कृष्ण कहते हैं, हे पार्थ, तेरी मुक्ति की जिज्ञासा के कारण तेरे मोक्ष की खोज के लिए तुझे यह बताता हूं।

अर्जुन ने नहीं की थी मुक्ति की जिज्ञासा, लेकिन अर्जुन ने जो भी जिज्ञासा की थी, कृष्ण ने इस बीच उसे मुक्ति की जिज्ञासा में रूपान्तरित किया है। इस पूरी यात्रा में कृष्ण ने अर्जुन की जिज्ञासा को भी रूपान्तरित किया है। धीरे-धीरे युद्ध गौण हो गया है। धीरे-धीरे युद्ध रहा ही नहीं। बहुत देर हो गई, जब से युद्ध की बात समाप्त हो गई। बहुत देर हो गई है, तब से अर्जुन भी और हो गया है।

अर्जुन शब्द का अर्थ होता है: 'दैट व्हिच इज नॉट स्ट्रेट'। 'रिजु' से बनता है वह शब्द। 'रिजु' का मतलब होता है—सीधा, सरल। अर्जुन का मतलब होता, तिरछा। अर्जुन का मतलब आड़ा-तिरछा—अरिजु। अर्जुन सीधा-सादा नहीं, बहुत आड़ा-तिरछा है। विचार करनेवाले सभी लोग आड़े-तिरछे होते हैं। निर्विचार ही सीधा होता है।

अर्जुन की जिज्ञासा को कृष्ण ने रूपान्तरित किया है, ट्रांसफॉर्म किया है। और ध्यान रहे कि साधारणतया मनुष्य धर्म की जिज्ञासा से शुरू नहीं करता है। साधारणतया मनुष्य जिज्ञासा तो संसार से ही शुरू करता है। लेकिन उसकी जिज्ञासा को संसार से मुक्ति और मोक्ष की तरफ रूपान्तरित किया जा सकता है। क्यों? इसलिए नहीं कि कृष्ण कर सकते हैं, बल्कि इसलिए कि संसार की जिज्ञासा करनेवाला मनुष्य भी जानता नहीं है कि वह क्या कर रहा है। उसकी गहरी और मौलिक जिज्ञासा सदा ही मुक्ति की होती है।

जब कोई धन खोजता है, तब भी बहुत गहरे में ऐसा व्यक्ति आंतरिक

दरिद्रता को मिटाने की चेष्टा में रत होता है—भले ही गलत चीजों से, लेकिन चेष्टा उसकी यही होती है कि दरिद्र न रह जाऊँ, दीवालिया न रह जाऊँ। जब कोई आदमी पद खोजता है, तब भी उसकी भीतरी कोशिश होती है कि आत्महीनता न रह जाये। पर वह उसे गलत जगह खोजता है। जब कोई आदमी युद्ध से भागना चाहता है, तब भी वह युद्ध से नहीं भागना चाहता। बहुत गहरे में संताप से, 'एंग्विश' से, चिन्ता से ऊपर उठना चाहता है। लेकिन फिर भी वह ठीक दिशा में नहीं पहुँचता।

इस बाब को कह कर कृष्ण बहुत गहरा इंगित दे रहे हैं। वे कह रहे हैं कि हे अर्जुन, तेरी मुक्ति की जिज्ञासा थी, इसलिए मैंने यह सब कहा। तू महासागर जैसा हो जा, जहाँ कुछ भी जाए, लेकिन तुझे छुए भी नहीं, स्पर्श भी न करे, 'अनटच्ड' अस्पर्शितत रह जा, तो तू ब्राह्मी-स्थिति को उपलब्ध हो जायेगा।

ब्राह्मी-स्थिति अर्थात् तब तू नहीं रह जाता, ब्रह्म ही रह जाता है। और जहाँ 'मैं' नहीं रह जाता है, ब्रह्म ही रह जाता है, वहाँ फिर कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि सभी चिन्ताएँ 'मैं' के साथ हैं। जहाँ 'मैं' नहीं रह जाता और ब्रह्म ही रह जाता है, वहाँ कोई दुख नहीं। क्योंकि सब दुख 'मैं' की उत्पत्तियाँ हैं। और जहाँ 'मैं' नहीं रह जाता, ब्रह्म ही रह जाता है, वहाँ कोई मृत्यु नहीं, क्योंकि 'मैं' ही मरता है, जन्म लेता है। ब्रह्म की न कोई मृत्यु है, न कोई जन्म है। वह है।

कृष्ण इस दूसरे अध्याय की चर्चा को सांख्य योग कह रहे हैं, पहले अध्याय को कहा था विषाद योग। विषाद के बाद एकदम सांख्य! कहाँ विषाद से घिरा चित्त अर्जुन का और कहां ब्राह्मी-स्थिति आनन्द से भरी हुई। इस सम्बन्ध में एक बात, फिर मैं अपनी बात पूरी करूँ।

धन्य हैं वे जो अर्जुन के विषाद को उपलब्ध हो जाएँ। क्योंकि उतने विषादमय से ब्राह्मी-स्थिति तक के शिखर तक उठने की चुनौती उत्पन्न होती है। कृष्ण ने अर्जुन के विषाद को ठीक से पकड़ लिया।

अगर अर्जुन किसी मनोवैज्ञानिक के पास गया होता, तो मनोवैज्ञानिक क्या करता! चूँकि मैंने यह कहा कि कृष्ण की यह पूरी गीता 'मनस-शास्त्र', साइकोलॉजी है, इसलिए यह भी मैं आपसे अंत में कह दूँ कि अगर मनोवैज्ञानिक के पास अर्जुन गया होता, तो मनोवैज्ञानिक क्या करता! मनो-

वैज्ञानिक अर्जुन को 'एडजस्ट' करता। मनोवैज्ञानिक कहता है कि समायोजित हो जा। ऐसा तो युद्ध में होता ही है, सभी को ऐसी चिन्ता पैदा होती है। यह बिलकुल स्वाभाविक है। तू नाहक ही 'एबनॉर्मल' बातों में पड़ रहा है। तू व्यर्थ की विक्षिप्त बातों में पड़ रहा है। ऐसे तो तू पागल हो जाएगा, न्यूरोटिक हो जाएगा। अर्जुन नहीं मानता, तो वह कहता कि तू फिर 'इलेक्ट्रिक शॉक' ले ले। इन्सूलिन के इन्जेक्शन ले ले।

लेकिन कृष्ण ने उसके विषाद का 'क्रियेटिव' (सृजनात्मक) उपयोग किया। उसके विषाद को स्वीकार किया कि ठीक है। अब इस विषाद को हम ऊपर ले जा सकते हैं। हम तुझे विषाद के लिए राजी न करेंगे। हम विषाद का ही उपयोग करके ही तुझे ऊपर ले जाएंगे।

असल में ज्ञान सदा ही अभिशाप को वरदान बना लेता है। अभिशाप को वरदान न बनाया जा सके, तो वह ज्ञान नहीं।

अर्जुन के लिए जो अभिशाप जैसा फलित हुआ था, कृष्ण ने उसे वरदान बनाने की पूरी चेष्टा की है। उसके दुख का भी सृजनात्मक उपयोग किया है।

इसलिए मैं यह कहता हूँ कि भविष्य का जो मनोवैज्ञानिक होगा, वह सिर्फ मरीज को किसी तरह, मरीजों के समाज में रहने योग्य नहीं बनाएगा, बल्कि मरीज की यह जो बेचैन स्थिति है, इस बेचैन स्थिति को मरीज़ की पूरी आत्मा के रूपान्तरण के लिए उपयोग करेगा। वह क्रियेटिव साइकोलॉजी होगी।

इसलिए कृष्ण का मनोविज्ञान साधारण मनोविज्ञान नहीं है, सृजनात्मक मनोविज्ञान है—जहां हम कोयले को हीरा बनाने की कोशिश करते हैं। यह अलकेमी है। जैसा अलकेमिस्ट कहते रहे हैं कि हम 'लोअर बेस मेटल' को, साधारण धातुओं को सोना बनाते हैं। पता नहीं उन्होंने कभी बनाया या नहीं बनाया, लेकिन जहां अर्जुन वड़ी 'बेस मेटल' की तरह कृष्ण के हाथ में आया था—कोयले की तरह, उस कोयले को हीरा बनाने की उन्होंने सभी कोशिश की।

धन्य हैं वे जो अर्जुन के विषाद को उपलब्ध होते हैं। क्योंकि उनकी संभावना ब्राह्मी-स्थिति तक पहुँचने की भी हो सकती है।

मेरी बातों को इतने प्रेम और आनन्द से सुना, इससे बहुत अनुग्रहीत हूं और अंत में सबके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं।

❀

भगवान् श्री रजनीश : हिन्दी साहित्य

१ ताओ उपनिषद् भाग–१ रु. ४०.००
२ ताओ उपनिषद् भाग–२ ४०.००
३ कृष्ण : मेरी दृष्टि में ४०.००
४ महावीर : मेरी दृष्टि में ३०.००
५ महावीर-वाणी भाग–१ ३०.००
६ महावीर-वाणी भाग–२ ३०.००
७ गीता-दर्शन अध्याय–४ ३०.००
८ गीता-दर्शन अध्याय–६ ३०.००
९ जिन खोजा तिन पाइयाँ २०.००
१० मैं मृत्यु सिखाता हूँ २०.००
११ ईशावास्य उपनिषद् १५.००
१२ निर्वाण उपनिषद् १५.००
१३ गीता-दर्शन अध्याय–५ १५.००
१४ गीता-दर्शन अध्याय–७ १५.००
१५ प्रेम है द्वार प्रभु का ९.००
१६ नव-संन्यास क्या? ७.००
१७ समुन्द समाना बुन्द में ७.००
१८ घाट भुलाना बाट बिनु ७.००
१९ सूली ऊपर सेज पिया की ७.००
२० सत्य की पहली किरण ७.००
२१ संभावनाओं की आहट ६.००
२२ गीता-दर्शन अध्याय–३ (पूर्वार्द्ध) ६.००
२३ प्रभु की पगडण्डियाँ ६.००
२४ मैं कहता आंखन देखी ६.००
२५ प्रेम के फूल ६.००
२६ अन्तर्वीणा ६.००
२७ ढाई आखर प्रेम का ६.००
२८ क्रान्ति-बीज ५.००
२९ साधना-पथ ५.००
३० पथ के प्रदीप ५.००
३१ मिट्टी के दीये ५.००
३२ संभोग से समाधि की ओर ५.००
३३ अन्तर्यात्रा ५.००
३४ अस्वीकृत में उठा हाथ ५.००
३५ सत्य की खोज ५.००
३६ गहरे पानी पैठ ५.००
३७ ज्योंकी त्यों धरि दीन्हीं चदरिया ५.००
३८ मुल्ला नसरुद्दीन ५.००
३९ शून्य के पार ४.००
४० समाजवाद से सावधान ४.००
४१ शान्ति की खोज ३.५०
४२ मैं कौन हूँ? ३.००
४३ शून्य की नाव ३.००
४४ अज्ञात की ओर २.००
४५ नये संकेत २.००
४६ पथ की खोज २.००
४७ युवक कोन? २.००
४८ सत्य की अज्ञात सागर का आमंत्रण २.००
४९ सूर्य के ओर उड़ान २.००
५० प्रगतिशील कौन? १.५०
५१ विद्रोह क्या है? १.५०
५२ प्रेम और विवाह १.५०
५३ ज्योतिष : अद्वैत का विज्ञान १.५०
५४ ज्योतिष अर्थात् अध्यात्म १.५०
५५ जन-संख्या विस्फोट १.५०
५६ ध्यान : एक वैज्ञानिक दृष्टि १.५०
५७ क्रान्ति की वैज्ञानिक प्रक्रिया १.५०
५८ मेडिसिन और मेडिटेशन १.२५
५९ सारे फासले मिट गये १.२५
६० कुछ ज्योतिर्मय क्षण १.००
६१ मन के पार १.००
६२ युवक और यौन १.००
६३ धर्म और राजनीति १.००
६४ अमृत-कण १.००
६५ अहिंसा-दर्शन १.००

६६ बिखरे फूल १.००
६७ नये मनुष्य के जन्म की दिशा ०.७५
६८ प्रेम के पंख ०.७५
६९ पूर्व का धर्म : पश्चिम का विज्ञान ०.५०
७० क्रान्ति के बीच सबसे बड़ी दीवार ०.३५
७१ क्रान्ति की नयी दिशा : नयी बात ०.३०
७२ संस्कृति के निर्माण में सहयोग ०.३०
७३ अवधिगत संन्यास ०.३०
७४ व्यस्त जीवन में ईश्वर की खोज ०.२५

पॉकेट बुक्स :

१ संभोग से समाधि की ओर २.००
२ अन्तर्यात्रा ३.००
३ समाजवाद से सावधान २.००
४ भारत गांधी और मैं ३.००

भगवान् श्री पर समालोचना एवं संस्मरण :

१ आचार्य रजनीश : समन्वय, विश्लेषण, संसिद्धि. डॉ. रामचन्द्र प्रसाद ७.५०
२ कामयोग, धर्म और गान्धी डॉ. रामचन्द्र प्रसाद ४.००
३ जीवन क्रान्ति की दिशा डॉ. गोविन्द दास २.००

पत्रिकाएँ :

१ संन्यास (अंग्रेजी भाषा में द्वैमासिक)	वार्षिक शुल्क	१८.००
२ रजनीश-दर्शन (हिन्दी द्वैमासिक)	वार्षिक शुल्क	१८.००
३ आनन्दिनी (हिन्दी मासिक)	वार्षिक शुल्क	१५.००
४ युक्रान्द (हिन्दी मासिक)	वार्षिक शुल्क	१२.००
५ रजनीश-दर्शन (गुजराती मासिक)	वार्षिक शुल्क	१२.००
६ योग-दीप (मराठी पाक्षिक)	वार्षिक शुल्क	१०.००

भगवान् श्री रजनीश की समस्त पुस्तकों (हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी, आदि भाषाओं में) के लिए निम्नलिखित पते पर सम्पर्क करें या लिखें :

रजनीश पब्लिकेशन्स प्राइव्हेट लिमिटेड,
C/o. सेलप्रिन्ट, २४९, ए टु जेड इन्डस्ट्रियल एस्टेट,
फर्गुसन रोड, लोअर परेल, बम्बई–४०० ०१३
फोन नं. ३९४८८७

गीता-दर्शन

पूर्णावतार भगवान् श्री कृष्ण का सन्देश एवं उनके व्यक्तित्व का सार श्रीमद्भग्वद्गीता में सूत्र रूप में संकलित है। विश्व की श्रेष्ठतम तीन-चार पुस्तकों में गीता का स्थान शीर्षस्थ मान्य है।

अपने आविर्भाव से लेकर आज तक गीता ने न केवल विचारकों, आचार्यों एवं मनीषियों को आन्दोलित एवं प्रेरित किया है, वरन् अनेक सिद्ध पुरुषों को भी कुछ कहने या लिखने के लिए प्रेरित किया है।

गीता स्वयं बहु-आयामी पुस्तक है। इसमें अनेक परस्पर विरोधी साधना-मार्गों का अलग-अलग समर्थन किया गया है। परन्तु आज तक गीता पर उपलब्ध लगभग सभी भाष्य और टीकाओं के रचयिता स्वयं के व्यक्तित्व और दृष्टिकोण को गीता पर आरोपित करते रहे हैं। और उनके मत-आग्रह के कारण गीता की व्याख्या बहु-आयामी न होकर विशिष्ट-आयामी हो गई है। जैसे आदि-शंकराचार्य ने गीता को ज्ञान-मार्ग से आच्छादित कर दिया है, रामानुजाचार्य ने भक्तिमार्ग से तथा तिलक और गांधी ने कर्ममार्ग से।

लेकिन गीता के सूत्रों के साथ वही व्यक्ति न्यायपूर्ण व्यवहार कर सकता है, जिसका स्वयं का व्यक्तित्व कृष्ण जैसा ही पूर्ण, बहु-रंगी और बहु-आयामी हो—जो अब व्यक्ति नहीं, चिन्मय-जीवन का अनन्त विस्तार ही रह गया हो—जो एक ऐसा महाशून्यरूपी दर्पण हो गया हो, जिसमें पुनः कृष्ण का व्यक्तित्व प्रतिफलित व प्रतिसंवादित हो सकता हो।

इस सन्दर्भ में भगवान् श्री रजनीश के प्रस्तुत गीता-प्रवचन कितनी दूर तक गीता और कृष्ण के व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित व प्रतिध्वनित कर पाते हैं, यह तो मनीषी एवं पारखी पाठक इस पुस्तक को पढ़कर ही अनुभव कर पायेंगे।

आशा है कि इन अनूठे एवं अद्वितीय प्रवचनों से साधकों एवं कृष्ण-प्रेमियों को अनेक मार्गों का प्रायोगिक एवं अनुभव-सिद्ध विवरण मिलेगा तथा इनके माध्यम से अध्यात्म-जगत्, कृष्ण के व्यक्तित्व को उसके बहु-आयामों में तथा समग्रता में देख सकेगा व स्वीकार कर पायेगा।

मूल्य : ३०.०० रु.

गीता-दर्शन

पूर्णावतार भगवान् श्री कृष्ण का सन्देश एवं उनके व्यक्तित्व का सार श्रीमद्भग्वद्गीता में सूत्र रूप में संकलित है। विश्व की श्रेष्ठतम तीन-चार पुस्तकों में गीता का स्थान शीर्षस्थ मान्य है।

अपने आविर्भाव से लेकर आज तक गीता ने न केवल विचारकों, आचार्यों एवं मनीषियों को आन्दोलित एवं प्रेरित किया है, वरन् अनेक सिद्ध पुरुषों को भी कुछ कहने या लिखने के लिए प्रेरित किया है।

गीता स्वयं बहु-आयामी पुस्तक है। इसमें अनेक परस्पर विरोधी साधना-मार्गों का अलग-अलग समर्थन किया गया है। परन्तु आज तक गीता पर उपलब्ध लगभग सभी भाष्य और टीकाओं के रचयिता स्वयं के व्यक्तित्व और दृष्टिकोण को गीता पर आरोपित करते रहे हैं। और उनके मत-आग्रह के कारण गीता की व्याख्या बहु-आयामी न होकर विशिष्ट-आयामी हो गई है। जैसे आदि-शंकराचार्य ने गीता को ज्ञान-मार्ग से आच्छादित कर दिया है, रामानुजाचार्य ने भक्तिमार्ग से तथा तिलक और गांधी ने कर्ममार्ग से।

लेकिन गीता के सूत्रों के साथ वही व्यक्ति न्यायपूर्ण व्यवहार कर सकता है, जिसका स्वयं का व्यक्तित्व कृष्ण जैसा ही पूर्ण, बहु-रंगी और बहु-आयामी हो—जो अब व्यक्ति नहीं, चिन्मय-जीवन का अनन्त विस्तार ही रह गया हो—जो एक ऐसा महाशून्यरूपी दर्पण हो गया हो, जिसमें पुनः कृष्ण का व्यक्तित्व प्रतिफलित व प्रतिसंवादित हो सकता हो।

इस सन्दर्भ में भगवान् श्री रजनीश के प्रस्तुत गीता-प्रवचन कितनी दूर तक गीता और कृष्ण के व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित व प्रतिध्वनित कर पाते हैं, यह तो मनीषी एवं पारखी पाठक इस पुस्तक को पढ़कर ही अनुभव कर पायेंगे।

आशा है कि इन अनूठे एवं अद्वितीय प्रवचनों से साधकों एवं कृष्ण-प्रेमियों को अनेक मार्गों का प्रायोगिक एवं अनुभव-सिद्ध विवरण मिलेगा तथा इनके माध्यम से अध्यात्म-जगत्, कृष्ण के व्यक्तित्व को उसके बहु-आयामों में तथा समग्रता में देख सकेगा व स्वीकार कर पायेगा।

मूल्य : ३०.०० रु.